ज्ञानमण्डल ग्रन्थमालाका १०२वाँ ग्रन्थ

निरुक्तम्

[श्री यास्काचार्य विरचित 'निरुक्तम्'के 'नैघण्टुककाण्ड' और 'नैगमकाण्ड' की हिन्दी व्याख्या]



व्याख्याकार
आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
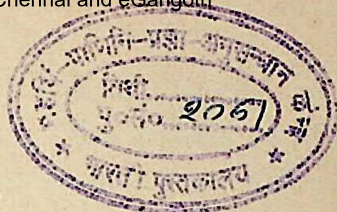
वाराणसी
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य : सोलह रुपये

प्रथम संस्करण, पौष संवत् २०२२ वि०

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-१

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी। (६३६६-२१)



दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थमें क्या है, इसका विस्तृत परिचय हिन्दी टीकाकारने इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही दे दिया है। यदि हम उसे इस ग्रन्थकी भूमिका कहें तो कदाचित् कोई अतिशयोक्ति न होगी। हिन्दी टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि दिवंगत हो गये। यदि वह जीवित होते तो निश्चय ही वह इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी भूमिकामें बहुत-कुछ लिखते। इसपर लिखनेके लिए उनके पास बहुत कुछ रहा होगा। पर अब तो उसे प्राप्त करनेका कोई उपाय नहीं। अतः वह जो कुछ लिख गये हैं उसीसे सन्तोष करना होगा।

वेदके अर्थज्ञानके लिए यास्ककृत निरुक्तका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीसे यह ग्रन्थ वेद न होते हुए भी वेदके समान ही महत्त्वपूर्ण है। निरुक्तके सिवा कोई ऐसा शास्त्र नहीं है जो तात्पर्यानुसार सब शब्दोंका निर्वचन करे। जैसे सब शास्त्रोंमें शब्दज्ञान व्याकरण आदिसे होता है, वैसे ही वेदके शब्दोंके अर्थका निर्वचन परिज्ञान एकमात्र निरुक्तसे ही होता है। अर्थ परिज्ञानमें कारणीभूत होनेके कारण निरुक्त वेदका सर्वप्रधान अङ्ग है।

यह निरुक्त 'निघण्टु'का व्याख्यान है। निघण्टु प्रधानतया ऋग्वेदके शब्दोंका संग्रह है। इस ग्रन्थके महत्त्वका पूरा परिज्ञान इसका अध्ययन करनेपर ही होगा। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थका सम्मान एवं महत्त्व मूल-ग्रन्थसे भी अधिक है। निघण्टु एक प्रकारका वैदिक शब्दकोश है। उसमें प्रधानतया ऋग्वेदके महत्त्वपूर्ण एवं क्लिष्ट शब्दोंका संग्रह किया गया है। इन शब्दोंके अर्थोंका ज्ञान हो जानेपर वेदार्थ समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। इसमें शब्दोंका संग्रह इस प्रकारसे किया गया है कि उनके अर्थका ज्ञान सरलतासे हो सके। प्रारम्भके तीन अध्यायोंमें एक-एक अर्थके वाचक अनेक शब्दोंका संग्रह किया गया है। जैसे 'गौः' इत्यादि २१ पृथिवीवाचक शब्दोंका संग्रह एक स्थानपर कर दिया गया है। इन तीन अध्यायोंको 'नैघण्टुककाण्ड' कहते हैं। इसमें एकार्थवाचक अनेक शब्द संग्रहीत हैं। इसके बाद चौथे और पाँचवें

अध्यायमें शब्द-संग्रहकी शैली इससे भिन्न है। उसमें अनेकार्थक शब्दोंका संग्रह है। इसे नैगमकाण्ड कहते हैं। इस ग्रन्थमें एक भाग और है जिसे दैवतकाण्ड कहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें टीकाकारने प्रथम दो काण्डोंकी ही टीका की है। ये ही दो काण्ड विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रममें हैं। विश्रुतकीर्त्ति टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर तीसरे काण्डकी पूर्त्तिके पूर्व ही इस असार संसारसे सदा सर्वदाके लिए विदा हो गये। पर उनकी यह अधूरी रचना होते हुए भी महत्त्वकी दृष्टिसे पूर्ण है जो पाठकोंको किसी प्रकार भी नहीं खटकेगी।

अन्तमें हमें इतना और कहना है कि प्रस्तुत ग्रन्थके 'नैघण्टुककाण्ड'का सम्पादन श्री अनन्त शास्त्री फड़केने किया है तथा 'नैगमकाण्ड'का सम्पादन श्रीकृष्ण पंतने किया है। इसमें वैदिक ऋचाएँ नहीं लिखी जा सकी थीं। श्री पंतजीने इस काण्डमें वैदिक ऋचाओंको सस्वर यथास्थान लिखा और पाण्डुलिपिका संशोधन किया एवं बड़े परिश्रम और प्रेमसे ग्रन्थका आद्योपान्त प्रूफ-संशोधन किया। एतदर्थ हम दोनों विद्वानोंके आभारी हैं।

पौष संवत् २०२२ —प्रकाशक



ओ३म्

श्रीयास्काचार्यविरचितं

निरुक्तम्

प्रथमं नैघण्टुककाण्डम्

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः ।

---

[१]

[गो शब्दसे लेकर देवपत्नी शब्दपर्यन्त १७७२ शब्दोंका समाम्नाय अर्थात्] वैदिक-शब्दकोष [समाम्नातः अर्थात्] बनाया जा चुका है, [अब] उसकी व्याख्या होनी चाहिये [इसलिए उसकी व्याख्याके रूपमें इस निरुक्त-ग्रन्थकी रचना की जा रही है] ।

अथ श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
'निरुक्तदीपिका' नाम हिन्दीव्याख्या ।

सदा कवी सुमतिमा चके वां विश्वा धियो अश्विना प्रावतं मे ।
अस्मे रयिं नासत्या बृहन्तमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथाम् ॥
(ऋग्वेद १-११७-२३)

योऽनिरुक्तं जगत्सर्वं निरुक्तं कुरुते स्वयम् ।
तं निरुक्तप्रकाशाय ज्ञानरूपं परं भजे ॥

साहित्यशास्त्रे विरचय्य टीकाः
तर्केऽथ वृत्तिं कृतवान् सयुक्तिम् ।
वेदप्रवेशाय निरुक्तमार्गं
व्याख्यामुखेनात्र समुद्धरामि ॥

निरुक्तकी भूमिका

यह 'निरुक्त' 'निघण्टु'का व्याख्याग्रन्थ है। मूलग्रन्थ 'निघण्टु' कहलाता है। वह मुख्यतः ऋग्वेदके शब्दोंका संग्रहरूप वैदिक-शब्दकोश है। उसमें पाँच अध्याय हैं। पहिले तीन अध्यायोंमें एक-एक अर्थके वाचक अनेक शब्दोंका संग्रह किया गया है। 'इत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि' अर्थात् 'गौः' इत्यादि २१ पृथिवीवाचक शब्दोंका संग्रह एक स्थानपर कर दिया गया है। इसी प्रकार 'इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामधेयानि' द्वारा मनुष्य-अर्थके वाचक २५ शब्दोंका एक स्थानपर संग्रह कर दिया गया है। 'निघण्टु'के पहिले तीन अध्यायोंमें इसी शैलीसे शब्दोंका संग्रह किया गया है। इसलिए 'निघण्टु'का प्रारम्भिक तीन अध्यायवाला भाग एक भाग माना जाता है और उसे 'नैघण्टुककाण्ड' कहते हैं। 'निघण्टु'के दूसरे अध्यायकी संग्रह-शैली इससे भिन्न है। उसमें अनेकार्थक शब्दोंका संग्रह किया गया है। इसलिए 'निघण्टु'का यह भाग 'नैगमकाण्ड' नामसे कहा जाता है। 'निरुक्त'के चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमें 'एकार्थमनेक-शब्दमित्युक्तम्'। "अथ यान्यनेकार्थानि एकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। तदैकपदिकमित्याचक्षते" लिखकर ग्रन्थकारने 'नैघण्टुककाण्ड' तथा 'नैगमकाण्ड'का यही शैली-भेद प्रदर्शित किया है। इसका अर्थ यह है कि 'नैघण्टुककाण्ड' 'एकार्थमनेकशब्दम्' अर्थात् एकार्थ-वाचक अनेक शब्दोंका संग्रहरूप है और दूसरा 'नैगमकाण्ड' 'अनेकार्थानि एकशब्दानि' अर्थात् अनेकार्थ एक-एक पदोंका संग्रहरूप है।

'निघण्टु'का तीसरा भाग उसका पञ्चम अध्याय है। इस अध्यायमें ऋग्वेद-के देवताओंका संग्रह किया गया है। इसलिए यह भाग 'दैवतकाण्ड' कहा जाता है। निरुक्तके प्रारम्भिक तीन अध्याय 'नैघण्टुककाण्ड' ४-६ तक, अगले तीन अध्याय 'नैगमकाण्ड' और अन्तिम ६ अध्याय 'दैवतकाण्ड' नामसे कहे

जाते हैं। इस प्रकार 'निरुक्त' तीन काण्डोंके रूपमें तीन मुख्य विभागोंमें विभक्त किया गया है।

निरुक्तके प्रारम्भिक तीन अध्याय यद्यपि 'नैघण्टुककाण्ड' नामसे कहे जाते हैं, किन्तु उसमें निघण्टु-पठित पदोंकी व्याख्या द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादसे प्रारम्भ हुई है। वहाँपर ग्रन्थकारने "अथातोऽनुक्रमिष्यामः" लिखकर अनुक्रमसे निघण्टुके पदोंकी व्याख्याकी प्रतिज्ञा की है। इसके पूर्व प्रथम अध्यायके चार पाद तथा द्वितीय अध्यायके तीन पादोंमें ग्रन्थकारने निरुक्तसे सम्बद्ध विषयोंका विवेचन किया है। इसलिए वह निरुक्तका भूमिकाभाग कहा गया है। निरुक्त के ७ सात पाद भूमिका माने है।

निरुक्तकी महत्ता

श्री यास्काचार्यका यह 'निरुक्त' ग्रन्थ वस्तुतः मौलिक ग्रन्थ नहीं अपितु एक व्याख्याग्रन्थ है, पर उसका सम्मान एवं महत्व मूलग्रन्थसे भी अधिक है। निरुक्तका आधारभूत मूलग्रन्थ 'निघण्टु' है। वह एक प्रकारका वैदिक-शब्दकोश है। उसमें वेदोंके और विशेष रूपसे ऋग्वेदके महत्त्वपूर्ण एवं क्लिष्ट शब्दोंका संग्रह किया गया है। इन शब्दोंके अर्थोंका परिज्ञान हो जानेपर वेदार्थका समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। इन शब्दोंका संग्रह इस प्रकारसे किया गया है कि उनके अर्थका ज्ञान सरलतासे हो सके। जैसे कि वेदोंमें पृथिवी-अर्थके बोधनके लिए जितने शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन सबका संग्रह एक साथ कर दिया है और उनकी गणना भी करके 'इति एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि' इस प्रकारका निर्देश उनके अन्तमें कर दिया गया है। इसलिए उन सब शब्दोंका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस शैलीसे वेदोंके महत्त्वपूर्ण समस्त शब्दोंका संग्रह करके 'निघण्टु' नामसे वैदिक-शब्दकोशकी रचना की गयी थी। उसकी व्याख्या करनेके विचारसे यास्काचार्यने इस 'निरुक्त' ग्रन्थकी रचना की है। इसीलिए ग्रन्थके आरम्भमें 'स व्याख्यातव्यः' लिखकर यास्काचार्यने अपने ग्रन्थके 'विषय' तथा 'प्रयोजन' रूप दो अनुबन्धोंका निर्देश किया है। वैदिक-शब्दकोशकी व्याख्या इस ग्रन्थका विषय है। इसके द्वारा वेदार्थका परिज्ञान और वेदाध्ययनको सुकर बनाना प्रयोजन है। वेदार्थके जिज्ञासु उस ग्रन्थके अध्ययन-अध्यापनके

अधिकारी हैं । विषयके साथ ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव तथा अधिकारीके साथ उसका बोध्य-बोधक-भाव सम्बन्ध है । इस प्रकार इस प्रथम पंक्तिके द्वारा ग्रन्थके अध्ययनमें प्रवृत्तिके चार कारणोंका निरूपण भी हो जाता है ।

'निघण्टु'की रचना-शैलीसे यद्यपि उन वैदिक शब्दोंके अर्थका सामान्य रूपसे ज्ञान हो जाता है, परन्तु उनका विश्लेषण करके उनके अवयवार्थकी विवेचना उसमें नहीं की गयी है, इसलिए उन शब्दोंका विशेष रहस्य उसमें नहीं खुलता है । इसी न्यूनताकी पूर्ति करनेके लिए यास्काचार्यने इस व्याख्या-ग्रन्थ 'निरुक्त' की रचना की है । यह प्रक्रिया केवल इस वैदिक-कोशके विषयमें ही नहीं अपितु 'अमरकोश' आदि लौकिक शब्दकोशोंके सम्बन्धमें भी पायी जाती हैं । 'अमरकोश'के ऊपर भट्टोजिदीक्षितके पुत्र भानुजीदीक्षितने इसी प्रकारसे 'व्याख्या-सुधा'-नामक व्याख्याकी रचना की है । 'निघण्टु' जैसे महत्त्वपूर्ण वैदिक-शब्दकोशके ऊपर तो इस प्रकारकी व्याख्याकी और भी अधिक आवश्यकता थी । यास्काचार्यने उसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए इस ग्रन्थकी रचना कर वेदाध्ययनका मार्ग अत्यन्त प्रशस्त कर दिया है ।

निरुक्तकी वेदाङ्गता

वेदाध्ययनके क्षेत्रमें निरुक्तके द्वारा किये जानेवाले इस उपकारको ध्यानमें रखकर ही उसकी गणना वेदाङ्गोंमें की गयी है । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग माने गये हैं । इनमें भी निरुक्त सबसे मुख्य है । क्योंकि वेदार्थके परिज्ञानमें साक्षात् सहायक निरुक्त ही है । अन्योंकी उपयोगिता उसकी अपेक्षा कम है । शिक्षाका उपयोग मन्त्रोंके उच्चारणमें ही होता है, अर्थज्ञानमें नहीं । 'कल्प'के आधारपर मन्त्रोंका नाना प्रकारका विनियोग आदि होता है, परन्तु अर्थज्ञानमें उसका भी साक्षात् उपयोग नहीं है । इसी प्रकार व्याकरण, छन्द और ज्योतिष भी अन्य प्रकारसे वेदके उपकारक तो हैं, परन्तु साक्षात् रूपसे अर्थज्ञानमें सहायक नहीं होते हैं । निरुक्त वेदार्थके परिज्ञानमें साक्षात् सहायक है, इसलिए समस्त वेदाङ्गोंमें उसका स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते ।

निघण्टवः कस्मात् ?

निगमा इमे भवन्ति । छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ।

इस प्रसिद्ध [तत् शब्द या उसका तं रूप यहाँ प्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त हुआ है]। वैदिक-शब्दकोश [समाम्नाय] को 'निघण्टु' [इस नामसे पूर्व आचार्य] कहते हैं।

(प्रश्न–) निघण्टु क्या [कहलाता है] ?

(उत्तर–) क्योंकि ये निश्चित रूपसे [वेदार्थके] बोधक होते हैं [अतः 'निश्चयेन वेदार्थं गमयन्ति' इस निर्वचनके अनुसार निगन्तवः या निघण्टवः अर्थात् 'निघण्टु' नामसे कहे जाते हैं]।

निघण्टुका स्थान

निरुक्तके महत्त्व एवं असाधारण वेदोपकारकत्वका अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि एक व्याख्या-ग्रन्थ होते हुए भी उसकी गणना वेदाङ्गोंमें की गयी है और उसके मूलभूत 'निघण्टु'को वेदाङ्गोंमें नहीं रखा गया है, पर 'निघण्टु'की वेदाङ्गोंमें गणना न होनेसे उसका महत्त्व कम नहीं होता है। 'निघण्टु' वैदिक-शब्दोंका कोश या संग्रह-ग्रन्थ है, इसलिए उसको वेद जैसा ही महत्त्व प्राप्त है। इसीलिए अपने ग्रन्थके आरम्भमें यास्काचार्यने उस 'निघण्टु' रूप वैदिक-शब्दकोशके लिए 'समाम्नायः' पदका प्रयोग किया है, 'आम्नाय-समाम्नायशब्दयोर्वेद एव प्रसिद्धिः'। लघुशब्देन्दुशेखरमें नागेश भट्टने प्रारम्भमें लिखा है 'आम्नाय' शब्द वेदका वाचक है। निघण्टुमें संगृहीत शब्द वेदके शब्द हैं। वे निघण्टुमें संगृहीत होकर यद्यपि अपने मूल समुदायसे अलग हो गये हैं, परन्तु यूथसे परिभ्रष्ट गौ भी गौ ही रहती है, इस 'यूथपरिभ्रष्टगवादिन्याय'से उन शब्दोंको भी वेदरूप माना जा सकता है। इसलिए 'निघण्टु'की गणना वेदाङ्गोंमें नहीं की गयी है, यह किन्हीं आचार्योंका मत है। दूसरे लोग निरुक्त नामसे ही उसके आधारभूत निघण्टुकी गणना भी वेदाङ्गोंमें करते हैं। 'समाम्नाय' शब्द

त इमे निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः ।

[निघण्टुमें संगृहीत] ये प्रसिद्ध [वैदिक शब्द निश्चयेन वेदार्थं गमयन्ति इस व्युत्पत्तिके अनुसार निश्चय-पूर्वक वेदार्थके] बोधक होनेके कारण [पहिले] 'निगन्तु' होकर ही 'निघण्टु' कहलाते हैं। यह [निघण्टुके प्राचीन व्याख्याकार] उपमन्युके अनुयायी मानते हैं।

वेदोंका बोधक होनेपर भी प्रसङ्गसे हमने यहां 'समाम्नायः समाम्नातः'में 'समाम्नाय' पदका अर्थ कोश या वैदिक-कोश किया है।

निघण्टु नाम और उसका अर्थ

इस निघण्टुमें पढ़े हुए शब्द निश्चित रूपसे वेदार्थके बोधक क्यों होते हैं, इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि क्योंकि उनका छन्दोंसे अर्थात् वेदों या मन्त्रों से चुन-चुनकर संग्रह किया गया है। [इसलिए उनको समझ लेनेसे उनके द्वारा वेदार्थका ज्ञान निश्चित रूपसे और सरलतापूर्वक हो सकता है]।

यहां मूल पंक्तिमें 'तमिमं समाम्नायं' में 'तत्' और 'इदं' दोनों पदोंका एक साथ प्रयोग किया गया है। इस प्रकारका प्रयोग प्रायः 'सोऽयं देवदत्तः' अथवा 'सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान् नाम यस्मिन्' आदि 'प्रत्यभिज्ञात्मक' प्रतीतियोंमें होता है। 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा'—'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश, पूर्वकाल-सम्बन्ध और 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश, एतत्काल-सम्बन्ध दोनाको अवगाहन करनेवाली प्रतीतिको 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' यह 'प्रत्यभिज्ञात्मक' प्रतीति है। उसमें 'सः' शब्दसे 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश, पूर्वकालका सम्बन्ध प्रतीत होता है और 'अयं' पदसे 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश एतत्कालका सम्बन्ध प्रतीत होता है, इसलिए इस प्रतीतिको 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'तमिमं' पदके द्वारा प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति मानी जा सकती है, परन्तु उसकी अपेक्षा 'तत्' पद या उसके द्वितीया विभक्तिके 'तं' रूपको यहाँ प्रसिद्धार्थक मानना अधिक उपयुक्त है। 'तत्' पद सर्वनाम है, उसका मुख्य रूपसे प्रक्रान्त, प्रसिद्ध और अनुभूत तीन अर्थोंमें प्रयोग

होता है। प्रत्यभिज्ञा-स्थलमें 'तत्' पद अनुभूतार्थमें प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ अनुभूत अर्थमें उसका प्रयोग उतना सङ्गत नहीं है जितना कि प्रसिद्धार्थमें सङ्गत होता है। 'सोऽयं देवदत्तः' में यह वही देवदत्त है जिसे हमने पहिले काशीमें देखा था, इस अभिप्रायसे 'तत्' शब्द अनुभूतार्थक ही सङ्गत होता है प्रसिद्धार्थक नहीं, परन्तु यहाँ 'तमिमं' में अनुभूतार्थकी अपेक्षा प्रसिद्धार्थकता अधिक सुन्दर और सङ्गत होती है। इसलिए हमने यहाँ 'तत्' शब्दको प्रसिद्धार्थक ही माना है; प्रक्रान्त अथवा अनुभूत अर्थमें यहाँ उसका प्रयोग नहीं माना है। इसी प्रकार 'त इमे' इस अगले वाक्यमें भी 'ते' का अर्थ प्रसिद्ध ही समझना चाहिये। परन्तु हम अनुभूत ही मानते हैं। वही वेद। वे ही वेद शब्द जो वेद में पढ़े गये हैं।

शब्दोंके तीन प्रकार

निरुक्त-सिद्धान्तके अनुसार शब्दोंका तीन प्रकारका विभाग किया गया है। (१) प्रत्यक्षवृत्ति, (२) परोक्षवृत्ति और (३) अतिपरोक्षवृत्ति। जिनमें धातु और प्रत्यय आदिका विभाग स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो जाता है, उनको 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्द कहते हैं। जैसे पाचकः, कारकः, हारकः आदि शब्द 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्द हैं। जिन शब्दोंमें धातु-प्रत्यय आदिका विभाग उतना स्पष्ट नहीं होता है, उनको 'परोक्षवृत्ति' शब्द कहते हैं। और जहाँ धातु-प्रत्यय आदिका विभाग बिल्कुल प्रतीत नहीं होता है, सर्वथा कल्पनासे प्रतीत होता है, उनको 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द कहते हैं।

इन तीनों प्रकारके शब्दोंमेंसे 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्दोंका निर्वचन करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती है। 'परोक्षवृत्ति' शब्दोंका निर्वचन भी सरलतासे हो सकता है, परन्तु 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दोंके निर्वचनमें बहुत कठिनाई होती है। इसलिए उनके निर्वचनके विषयमें यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दको पहिले 'परोक्षवृत्ति' और फिर 'प्रत्यक्षवृत्ति' बनाना चाहिये। अथवा दूसरी ओरसे चलें तो पहिले 'प्रत्यक्षवृत्ति' फिर 'परोक्षवृत्ति' रूप देकर तब 'अतिपरोक्षवृत्ति' रूप देना चाहिये। इस उपायका अवलम्बन करनेसे उनका अन्वयवार्थ स्पष्ट हो सकता है।

इसी प्रक्रियाका अवलम्बन करके यहाँ 'निघण्टु' शब्दका निर्वचन किया गया है। 'निघण्टु' शब्द 'अतिपरोक्षवृत्ति' है। 'निगन्तु' उसका 'परोक्षवृत्ति' रूप है।

अपि वा आहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति ।

यद्वा समाहृता भवन्ति ।

अथवा आङ्-पूर्वक हन-धातुसे ही [निघण्टु शब्द सिद्ध होता है], क्योंकि [निघण्टुमें वैदिक शब्द] भली प्रकारसे [चुनकर] पठित हैं ।

अथवा [निघण्टुके शब्द वेदोंमेंसे या मन्त्रोंमेंसे] चुने हुए हैं [इसलिए सम् आङ् उपसर्ग-पूर्वक हृ-धातुसे उपसर्गों तथा वर्णोंका विपर्यय होकर निघण्टु-शब्द बनता है] ।

और 'निगम' उसका 'प्रत्यक्षवृत्ति' रूप है । निघण्टुके शब्द निश्चित रूपसे वेदार्थका ज्ञान करानेवाले हैं, इसलिए वे 'निगम' कहलाते हैं। यह 'निगम' शब्दका अर्थ और धातु-प्रत्ययका विभाग स्पष्ट होनेसे वह 'प्रत्यक्षवृत्ति' रूप है । उससे 'परोक्षवृत्ति' 'निगन्तु' रूप और उसका अर्थ सरलतासे समझ लिया जाता है । फिर उसके द्वारा उसके 'अतिपरोक्षवृत्ति' रूप 'निघण्टु' शब्दका अवयवार्थ भी स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है । इसलिए 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दोंके निर्वचनमें इस प्रक्रियाका अवलम्बन किया जाता है ।

इस प्रकार निघण्टु-शब्दकी यह एक प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलायी है । इसमें नि उपसर्ग-पूर्वक गम धातुसे 'सि-त-नि-गमि-मसि-सचि-अवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन् ।' उणादि (१–६९) इस सूत्रसे तुन् प्रत्यय होकर ग के स्थानपर घ तथा त-के स्थानपर ट रूप वर्णविकारके बाद 'निघण्टु' शब्द बनता है ।

निघण्टु-शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति

दूसरे लोगोंने इस 'निघण्टु' शब्दकी व्युत्पत्ति 'आङ् उपसर्गपूर्वक हन' धातुसे की है । आङ्पूर्वक हन धातुका प्रयोग पाठ अर्थमें होता है । महाभाष्यकारने लिखा है कि 'प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः । ब्राह्मणे इदमाहतम्, सूत्रे इदमाहतम् ।' इस 'हन' धातुसे व्युत्पत्ति करनेका अभिप्राय यह है कि निघण्टुके शब्द मर्यादा-पूर्वक अर्थात् एक विशेष क्रम और विशेष नियमके अनुसार 'आहत' या पठित हैं । इस अवस्थामें आङ् उपसर्गपूर्वक अथवा सम्-आङ् उपसर्ग-पूर्वक

हन-धातुसे औणादिक तुन-प्रत्यय करनेपर 'आहन्तु' अथवा 'समाहन्तु' रूप बनता है। उस दशामें सम् आङ् उपसर्गोंके स्थानपर नि उपसर्गका और ह के स्थानपर घ तथा त के स्थानपर ट का आदेश करके निघण्टु-शब्द बनता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदोंके मर्यादा-पूर्वक पठित होनेके कारण वैदिक-कोशका नाम 'निघण्टु' रखा गया है यह अर्थ निकलता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं।

निघण्टु-शब्दकी तीसरी व्युत्पत्ति

इन दो व्युत्पत्तियोंके अतिरिक्त निघण्टु-शब्दकी एक तीसरी व्युत्पत्ति और भी की जाती है। उसमें सम्-आङ्-पूर्वक हृ-धातुसे औणादिक तुन्-प्रत्यय करके 'समाहर्तु' रूप बनाकर सम् और आङ् उपसर्गोंके स्थानपर नि उपसर्गका तथा ह-के स्थानपर घ, त-के स्थानपर ट और र-के स्थानपर ण्का आदेश करके निघण्टु-शब्द बनाया जाता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार वेदोंसे अथवा मन्त्रोंमेंसे चुन-चुनकर शब्दोंका संग्रह किये जानेके कारण इस वैदिक-कोशका नाम 'निघण्टु' रखा गया है। इस तीसरी व्युत्पत्तिको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—'यद्वा' इत्यादि।

त्रिविध व्युत्पत्तिका आधार

इस प्रकार यहाँ निरुक्तकारने निघण्टु-शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ दिखलायी हैं। इन व्युत्पत्तियोंका आधार अर्थभेद है। निघण्टु नामक वैदिक-कोशके शब्दोंमें तीन प्रकारकी विशेषताएँ पायी जाती हैं, उन्हींके आधारपर निरुक्तकारोंने उसकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ की हैं। सबसे पहली बात यह है कि निघण्टुके शब्द निश्चय-पूर्वक वेदार्थके बोधक होते हैं, इसलिए नि-उपसर्ग-पूर्वक गम्-धातुसे उसकी सिद्धि मानकर पहली व्युत्पत्ति की गयी है। उस व्युत्पत्तिके कर्ता औपमन्यव आचार्य हैं। निघण्टुके शब्द एक विशेष नियम तथा क्रमके अनुसार मर्यादा-पूर्वक पढ़े गये हैं, इसलिए पाठार्थक आङ्-पूर्वक हन-धातुसे इस शब्दकी सिद्धि मानकर दूसरी व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है। निघण्टुके शब्दोंकी तीसरी विशेषता यह है कि वे वेदोंमेंसे अथवा मन्त्रोंमेंसे चुन-चुनकर संगृहीत किये गये हैं। इस भावको सूचित करनेके लिए सम्-आङ्-पूर्वक हृ-धातुसे इस शब्दकी सिद्धि मानकर तीसरे प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है।

निरुक्तशास्त्रका पहला सिद्धान्त अर्थप्राधान्यवाद है। किसी भी शब्दका निर्वचन करते समय निरुक्तशास्त्रके आचार्य शब्दके अर्थपर ध्यान देते हैं। जिस ढंगसे शब्दके अर्थका प्रकाशन अधिकसे-अधिक सुन्दरता और पूर्णताके साथ हो सके उसी ढंगसे उस शब्दका निर्वचन करना चाहिये, यह उनके 'अर्थ-प्राधान्यवाद' का अभिप्राय है। अर्थाभिव्यक्तिके सामने वे व्याकरणके संस्कारको विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। आगे जहाँसे निर्वचनकी प्रक्रियाका वर्णन करेंगे वहाँ यास्काचार्य स्वयं इस बातको लिखेंगे कि---

'अर्थनित्यः परीक्षेत', 'न संस्कारमाद्रियेत।'

व्याकरणके संस्कारोंके अनादरका आधार

अर्थप्राधान्यवाद अर्थात् अर्थाभिव्यक्तिको प्रधानता देते हुए व्याकरणानुमोदित संस्कारकी भी उपेक्षा करनेका जो सिद्धान्त निरुक्तकारने अपनाया है, उसका कारण यह है कि व्याकरण केवल शब्दोंका व्युत्पत्तिनिमित्त हो सकता है, प्रवृत्तिनिमित्त नहीं। 'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमितं अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्' इस सिद्धान्तके अनुसार शब्दोंका व्युत्पत्ति-निमित्त तो व्याकरण होता है, परन्तु उसका प्रवृत्ति-निमित्त अर्थात् व्यवहारका नियामक व्याकरण नहीं होता है। व्यवहारका नियमन लोकसे होता है। कौन शब्द किस अर्थमें प्रयुक्त होता है इसकी व्यवस्थामें लोकव्यवहारकी प्रधानता रहती है, व्याकरणकी नहीं। भाषाके स्वरूपका निर्माण लोकव्यवहारसे होता है। व्याकरण लोकानुगामी बनकर उसके शब्दोंके संस्कार आदिमें सहायक होता है। इसलिए संस्कार गौण और अर्थ प्रधान है। इसीलिए ग्रन्थकारने निर्वचनके सम्बन्धमें अपना सबसे पहला सिद्धान्त 'अर्थप्राधान्यवाद' स्थापित किया है। और उसके सामने व्याकरण द्वारा किये जानेवाले संस्कारको गौण माना है।

व्याकरण संस्कारोंकी गौणताका क्षेत्र तथा प्रभाव

ऊपर हमने तीन प्रकारके शब्दोंकी चर्चा की थी। प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति। यह तीन प्रकारका शब्द-विभाग केवल निरुक्तमें ही नहीं, सर्वत्र माना जाता है। पर उनके नाम और जगह भिन्न-भिन्न हैं। साहित्य आदि अन्य शास्त्रोंमें जो यौगिक, योगरूढ़ तथा रूढ़ नामसे शब्दोंका तीन प्रकारका

विभाग किया गया है, वही यहाँ प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति नामोंसे कहा गया है। इन तीन प्रकारके शब्दोंमेंसे व्याकरणका क्षेत्र सामान्यतः 'प्रत्यक्षवृत्ति' अर्थात् यौगिक शब्दों तक सीमित है। अष्टाध्यायीके सूत्र किसी धातुसे अथवा किसी प्रातिपदिकसे किसी विशेष-प्रत्ययका विधान कर शब्दकी सिद्धि करते हैं। जिन पदोंमें यह प्रकृति और प्रत्ययका विभाग स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है, वे ही 'प्रत्यक्षवृत्ति' या 'यौगिक' पद कहे जाते हैं। अष्टाध्यायीके सूत्रों या व्याकरणके नियमोंके अनुसार बननेवाले सभी पदोंमें प्रकृति-प्रत्ययका विभाग प्रायः स्पष्ट हो जाता है, इसलिए वे सब प्रायः 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्द होते हैं। उन प्रत्यक्षवृत्ति-शब्दोंमें व्याकरण-संस्कारके अनादरका प्रश्न उपस्थित नहीं होता है, क्योंकि वहाँ व्याकरण स्वयं अर्थकी प्रधानताको मानकर तदनुसार ही प्रकृति-प्रत्ययकी योजना करता है। इसे हम 'अष्टाध्यायीका क्षेत्र' कहेंगे।

परोक्षवृत्ति उणादिका क्षेत्र

अष्टाध्यायीके आधार पर संस्कृत भाषाके अधिकांश शब्दोंकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु फिर भी भाषाका बहुत बड़ा भाग ऐसा रह जाता है, जो अष्टाध्यायीके सूत्रोंके नियन्त्रणमें नहीं आता है। ऐसे शब्द-विभागके लिए पाणिनि-मुनिने 'उणादयो बहुलम्' (३-३-१) सूत्र लिख कर इस प्रकारके शब्दोंको अष्टाध्यायीके सूत्रोंके बन्धनोंसे मुक्त कर दिया है। इस प्रकारके शब्दोंमें मुख्य रूपसे 'परोक्षवृत्ति' तथा सामान्य रूपसे अन्य शब्दोंका अन्तर्भाव होता है। पाणिनि-मुनिके इस 'उणादयो बहुलम्' सूत्रकी पूर्ति शाकटायन-प्रणीत पाँच पादोंमें विभक्त किये हुए ७४८ उणादि-सूत्रोंके द्वारा होती है। इन उणादि-सूत्रोंके द्वारा जिन शब्दोंकी सिद्धि होती है, उनमें भी प्रकृति-प्रत्ययका विभाग तो होता है, परन्तु वह उतना अधिक नियमोंसे बँधा हुआ नहीं है जितना अष्टाध्यायीके सूत्रों द्वारा किया जाने वाला विभाग। इसलिए हम उनको 'परोक्षवृत्ति' शब्द कह सकते हैं। उणादि-शब्दोंकी सिद्धिके विषयमें सामान्य नियमका प्रतिपादन करते हुए महाभाष्य-कारने लिखा है कि—

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि परोक्षवृत्ति संज्ञा-शब्दों अर्थात् रूढ़ पदोंमें धातुका रूप क्या है, उससे पर कौन-सा प्रत्यय हुआ है और उस प्रत्ययके अन्तमें लुप्त होनेवाला 'अनुवन्ध' कौन-सा है, इस बातको कार्यके द्वारा अर्थात् प्रयोगके द्वारा जानना चाहिए। अर्थात् उणादिसे सिद्ध होनेवाले पदोंमें धातु, प्रत्यय, अनुबन्ध आदिकी कल्पना आवश्यकताके अनुसार की जाती है। अष्टाध्यायी जैसे कठोर नियमोंका अनुसरण वहाँ सम्भव नहीं है। इस प्रकार व्याकरण-महाभाष्यकारने ही परोक्षवृत्ति शब्दोंको व्याकरणके कठोर बन्धनोंसे मुक्त कर दिया है। इसलिए उनमें भी व्याकरण-संस्कारकी गौणता हो जाती है। और वह गौणता व्याकरणके विपरीत नहीं, अपितु व्याकरणानुमोदित है। अतएव जब 'परोक्षवृत्ति' तथा 'अतिपरोक्षवृत्ति' लौकिक शब्दोंमें व्याकरणने स्वयं व्याकरण-संस्कारकी गौणताको स्वीकार कर लिया है। तब वैदिक शब्दोंके विषयमें भी उसे स्वतःसिद्ध समझना चाहिए।

अतिपरोक्षवृत्ति पद

ऊपर हमने दिखलाया है कि शुद्ध व्याकरण अथवा अष्टाध्यायीके क्षेत्रमें प्रायः प्रत्यक्षवृत्ति शब्द ही आते हैं। परोक्षवृत्ति शब्द प्रायः शिथिल-व्याकरण अर्थात् उणादिके क्षेत्रमें आते हैं। उनमें व्याकरणका नियन्त्रण शिथिल पड़ जाता है। और आवश्यकताके अनुसार धातु, प्रत्यय, अनुबन्ध आदिकी अर्थानुसारिणी कल्पनाको व्याकरणानुमोदित अवकाश मिल जाता है। पर इन दोनों प्रकारके शब्दोंसे भिन्न तीसरे प्रकारके शब्द और हैं जिनको 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द कहा जाता है। पाणिनिने इनको उणादिके क्षेत्रसे भी अलग करके 'पृषोदरादि' के क्षेत्रमें रखा है और उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदिकी चिन्ता किये बिना 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६-१-१०९) सूत्र लिखकर, वे जिस रूपमें लोकमें प्रयुक्त होते हैं उसी रूपमें ज्यों-का-त्यों उनको सिद्ध मान लिया है। इस प्रकारके पदोंमें अर्थकी प्रधानताको ध्यानमें रखकर आवश्यकताके अनुसार वर्णका आगम, वर्णका विपर्यय, अर्थात् पौर्वापर्य रूप क्रमका परिवर्तन, वर्णका लोप और वर्णका विकार अर्थात् किसी वर्णके स्थानपर अन्य वर्णका आदेश आदि अनेक प्रकारके परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे मेघका वाचक 'बलाहक' शब्द लोकमें प्रचलित है।

इस शब्दमें प्रकृति-प्रत्ययका कोई विभाग प्रतीत नहीं होता है। इसलिए वह 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द है। वह न अष्टाध्यायीके नियमोंके बन्धनमें आता है और न उणादिके क्षेत्रमें आता है। वह इस 'पृषोदरादिगण' के क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है। इसलिए उसके अर्थकी प्रधानताका ध्यान रखकर 'वारिवाहक' शब्द-से उसके 'बलाहक' रूपकी सिद्धि की जाती है। इसमें पूर्वपद 'वारि' के स्थानपर 'ब' और उत्तरपदके 'वा' के स्थानपर 'ला' आदेश होकर 'वारिवाहकः' से 'बलाहकः' रूप बन जाता है।

'पृषोदरादिगण' आकृतिगण है। पृषोदर-शब्दके समान सभी अतिपरोक्ष-वृत्ति शब्दोंका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। पृषोदरादिगणमें किस प्रकारके शब्दोंको लिया जाना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हुए महाभाष्यकारने लिखा है—

"येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते न चोच्यन्ते तानि पृषोदरादिप्रकाराणि।"

अर्थात् जिनमें लोप, आगम, वर्णविकार अर्थात् आदेश और क्रम-विपर्यय आदि सुनाई देते हैं, किन्तु किसी सूत्रके द्वारा उनका विधान नहीं किया जाता है, वे शब्द 'पृषोदरादि' के समान अर्थात् 'पृषोदरादिगण' के अन्तर्गत समझे जाते हैं। इसके अनुसार निघण्टु आदि शब्द इस पृषोदरादिगणके अन्तर्गत हो जाते हैं। इसलिए यास्काचार्यने 'निघण्टु' शब्दकी जो तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ यहाँ दिखलाई हैं, वे ऊपरी दृष्टिसे व्याकरण-विरुद्ध और अटपटी-सी प्रतीत होनेपर भी सर्वथा युक्तिसंगत तथा व्याकरणानुमोदित ही हैं।

निरुक्तका क्षेत्र

निरुक्तका क्षेत्र यहींसे प्रारम्भ होता है। 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्द अष्टाध्यायीके क्षेत्रमें आते हैं। जिनमें प्रकृति-प्रत्ययका विभाग होनेपर भी अस्पष्ट-सा होता है, उस प्रकारके 'परोक्षवृत्ति' शब्द उणादिगणके क्षेत्रमें आते हैं। और जहाँ प्रकृति-प्रत्ययका विभाग बिल्कुल प्रतीत नहीं होता है, वर्णोंका लोप, आगम, वर्णविकार अर्थात् आदेश, क्रम-विपर्यय आदि दिखलाई देता है, परन्तु किसी सूत्रादिसे उसका विधान नहीं मिलता है, वे सब 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द निरुक्तके क्षेत्रमें आते हैं। व्याकरणमें वे पृषोदरादिके क्षेत्रमें माने गये हैं। पृषोदरादि-

सूत्रकी व्याख्यामें लोप, आगम, वर्णविकार आदिका उदाहरण-सहित प्रदर्शन करते हुए लिखा है—

"भवेद् वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
गूढ़ोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरम् ॥"

(गणवार्तिकम्)

ठीक यही पद्धति निरुक्तकी है। निर्वचन-प्रक्रियाका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार-नाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥"

(दुर्गाचार्यवृत्ति)

पृषोदरादि-प्रक्रिया और निरुक्त-प्रक्रियाके प्रतिपादक इन दोनों श्लोकोंकी तुलना करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वे दोनों प्रक्रियाएँ एक ही हैं। पृषोदरादि-प्रक्रियाको पाणिनि-मुनिने अपने शास्त्रके अन्तर्गत रखनेका यत्न किया है, परन्तु वस्तुतः वह उनका अपना क्षेत्र नहीं है, निरुक्तका क्षेत्र है। उसे हम व्याकरणका सीमा-प्रान्त कह सकते हैं, जहाँ राजाका अपना प्रभाव समाप्त हो जाता है। वह प्रदेश नामको भले ही उस राजाके राज्यमें हो पर उसपर राज्यका यथार्थ नियन्त्रण नहीं रहता है। इसी प्रकार पृषोदरादिरूप 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दोंको पाणिनि भले ही अपने क्षेत्रमें रखनेका यत्न करें, पर वहाँ उनका कोई नियन्त्रण नहीं है। अष्टाध्यायीसे सिद्ध शब्द पाणिनिके नियन्त्रणमें चलते हैं, पर पृषोदरादि-शब्दोंमें पाणिनि, शब्दोंके प्रयोगोंके नियन्त्रणमें, बँध गये हैं—

"लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥"

(उत्त० रा० च०)

इसलिए हम कह सकते हैं कि जहाँ व्याकरणकी सीमा समाप्त होती है, वहाँसे निरुक्तका क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

निरुक्तकी परम्परा

निरुक्तके नामसे आज हमारे सामने यास्काचार्यका प्रकृत ग्रन्थ उपस्थित है, किन्तु केवल वही निरुक्त नहीं है। यास्कके पहले भी एक दो नहीं, दर्जनों

निरुक्तकार हो चुके थे। इसी 'निघण्टु' शब्दके निर्वचनमें तीन नैरुक्तोंके मत दिखलाये गये हैं। उनमेंसे एक 'औपमन्यव' के मतका तो नामतः उल्लेख किया गया है। शेष दो मत विना नामके प्रस्तुत किये गये हैं। इसके अतिरिक्त यास्कने अन्य स्थानोंपर अनेक नैरुक्तोंके मतका नामतः उल्लेख किया है। जिनमें आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिराः, तैटीकि, शतवलाक्ष, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि, औपमन्यव, शाकटायन, शाकल्य, कौत्स, वार्ष्यायणि—इन अठारह आचार्योंका तो नामतः उल्लेख निरुक्तमें मिलता है। इनके अतिरिक्त आख्यानम्, आचार्याः, नैदानाः, नैरुक्ताः, दक्षिणाजाः, ऐतिहासिकाः, परिव्राजकाः, वैयाकरणाः, पूर्वे याज्ञिकाः आदि पदों द्वारा नैरुक्तोंसे भिन्न अन्य आचार्यों, अथवा शब्द-विवेचक सम्प्रदायोंका उल्लेख यास्कने अपने इस ग्रन्थमें किया है। स्वयं यास्कके इस उल्लेखसे स्पष्ट हो जाता है कि यास्ककृत प्रकृत ग्रन्थ ही एकमात्र निरुक्त नहीं है, किन्तु उसके पूर्व भी अनेक निरुक्त बन चुके थे, पर आज दैवदुर्विपाकसे उनमेंसे कोई उपलब्ध नहीं है। यास्काचार्यके अतिरिक्त 'ब्राह्मण' ग्रन्थोंमें भी निरुक्त अथवा निर्वचन नामसे अनेक शब्दोंके निर्वचन पाये जाते हैं। इसलिए शब्दोंके निर्वचनकी इस विशेष शैलीका नाम निरुक्त है और उसकी परम्परा यास्कसे भी अत्यन्त प्राचीन है।

निघण्टुकी प्राचीनता

निरुक्तका आधार 'निघण्टु' है। न केवल यास्कके इस निरुक्तका, अपितु उनके पूर्ववर्ती अन्य निरुक्तकारोंका आधार भी 'निघण्टु' नामक वैदिक-कोश ही रहा है। इस निघण्टुमें संगृहीत कुछ शब्दोंके विषयमें मतभेद अवश्य पाया जाता है। जैसे किन्हींने देवताओंके विशेषणभूत पदोंका भी समावेश निघण्टुमें माना है, परन्तु यास्काचार्य विशेषण-पदोंका समावेश न मानकर केवल विशेष्य-पदोंका समावेश निघण्टुमें मानते हैं। जैसा कि उन्होंने सप्तमाध्यायके तृतीय पादके (खं-१३) अन्तमें लिखा है—

"अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—'इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्रायांहोमुचे' इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत् समामने।"

अर्थात् 'इन्द्राय वृत्रघ्ने', 'इन्द्राय अंहोमुचे' इत्यादि मन्त्रोंमें 'वृत्रघ्न' आदि विशेषणोंसे युक्त इन्द्र आदिको हवि देनेका उल्लेख मिलता है, इसलिए कुछ लोग 'वृत्रघ्न' आदि विशेषणोंको भी निघण्टुमें देवता-नामोंमें सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार विशेषणोंको भी सम्मिलित करनेसे तो संख्या बहुत अधिक हो जायगी। इसलिए मैं (यास्क) तो केवल प्रधान रूपसे जिनकी स्तुति की जाती है, उनको ही देवता रूपमें ग्रहण करता हूँ।

इस प्रकार कुछ शब्दोंको रखने और न रखनेके विषयमें भले ही मतभेद रहा हो, परन्तु अन्य निरुक्तोंके समान निघण्टु भी यास्काचार्यसे बहुत प्राचीन है। यास्काचार्यने भी उसी प्राचीन निघण्टु पर, जिसपर कि अन्य पूर्ववर्ती आचार्य व्याख्या प्रस्तुत कर चुके थे, व्याख्या लिखी है, परन्तु उन्होंने उसमें कहीं-कहीं संशोधन कर लिया है, यह बात ऊपरके उद्धरणसे प्रतीत होती है।

निघण्टुका कर्ता

निघण्टुके कर्ता कौन हैं, इसका कोई उल्लेख निरुक्त या निघण्टु दोनोंमेंसे किसीमें नहीं मिलता है, परन्तु महाभारतमें आये हुए निम्नांकित दो श्लोकोंके आधारपर वृषाकपि नामके आचार्यको निघण्टुका कर्ता माना जाता है। महाभारतमें निघण्टुके साथ वृषाकपिका सम्बन्ध इस रूपमें दिखलाया गया है—

"वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥"
(शा० प० अ० ३४२, ८८-८९)

निघण्टुका कलेवर और उसके विभाग

निघण्टु वैदिक-कोश है। उसमें कुल मिलाकर १८८३ शब्दोंका संग्रह किया गया है। ये शब्द तीन काण्डों तथा पाँच अध्यायोंमें विभक्त किये गये हैं। पहले तीन अध्याय 'नैघण्टुक-काण्ड' नामसे कहे जाते हैं। चतुर्थ अध्यायको 'नैगम-काण्ड' तथा पञ्चम अध्याय 'दैवतकाण्ड' कहा जाता है। पहले 'नैघण्टुककाण्ड'में एक अर्थके वाचक जितने शब्द वेदमें प्रयुक्त हुए हैं, उनका संग्रह

किया गया है। अर्थात् एकार्थक अनेक शब्दोंका संग्रह 'नैघण्टुक-काण्ड' के तीन अध्यायोंमें किया गया है। इनमेंसे प्रथम अध्यायमें ४१५, द्वितीय अध्यायमें ५१६ तथा तृतीय अध्यायमें ४१३, कुल मिलाकर १३४४ शब्दोंका संग्रह 'नैघण्टुक-काण्ड' में किया गया है। दूसरे 'नैगम-काण्ड' में अर्थात् निघण्टुके चतुर्थ अध्यायमें २७८ तथा पञ्चम अध्यायरूप 'दैवत-काण्ड' में १५१ शब्दोंका संग्रह पाया जाता है। इन सब शब्दोंका योग १७७३ होता हैं। इन थोड़ेसे चुने हुए शब्दोंके परिज्ञानसे सारे वैदिक-साहित्यको समझनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए वैदिक-साहित्यके प्रेमियोंके लिए 'निघण्टु' अत्यन्त उपकारक ग्रन्थ है।

निरुक्तका कलेवर और उसके विभाग

'निरुक्त' 'निघण्टु' की व्याख्या है, इसलिए 'निघण्टु'के काण्डात्मक मुख्य विभागका अवलम्बन उसमें भी किया गया है। अर्थात् 'निघण्टु' के समान निरुक्त भी 'नैघण्टुक-काण्ड', 'नैगमकाण्ड' तथा 'दैवत-काण्ड' नामके तीन काण्डोंमें विभक्त किया गया है। स्वयं निरुक्तमें कुल १२ अध्याय हैं। इनमेंसे आदिके तीन अध्याय 'नैघण्टुक-काण्ड' के अन्तर्गत होते हैं, परन्तु इनमेंसे प्रथम अध्याय सारा [६ पाद] और द्वितीय अध्यायका प्रथम पाद [कुल ७ पाद] वस्तुतः निरुक्तकी भूमिकारूप है। उनमें निघण्टुके पदोंकी व्याख्या नहीं की गई है, बल्कि प्रारम्भिक सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है। शब्दोंका निर्वचन द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादसे प्रारम्भ होता है, इसलिए ग्रन्थकारने द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादका प्रारम्भ 'अथातोऽनुक्रमिष्यामः' इस वाक्यसे किया है। इसका अभिप्राय यह है कि यहाँसे आगे निघण्टुके पदोंका क्रमशः निर्वचन प्रारम्भ करेंगे। यहाँसे आगे 'नैघण्टुक-काण्ड' के शब्दोंका निर्वचन तो प्रारम्भ किया है, परन्तु उसमें निघण्टुके सारे शब्दोंका निर्वचन नहीं किया गया है। कुछ मुख्य-मुख्य शब्दोंका ही निर्वचन किया गया है, जैसे, पृथिवीके २१ नाम निघण्टुमें दिये हैं। उनमेंसे केवल 'गौ' पदका ही निर्वचन किया है, शेषका नहीं। हाँ, 'नैगम' तथा 'दैवत' काण्डोंमें सभी पदोंका निवर्वचन किया गया है।

निरुक्तके अगले तीन अध्याय अर्थात् ४, ५, ६ अध्याय 'नैगम-काण्ड' के

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते च, उपसर्ग-निपाताश्च, तानीमानि भवन्ति ।

तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति-'भावप्रधानमाख्यातम्', 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' ।

उनमें, [लोकमें] जो ये चार नाम और आख्यात तथा उपसर्ग एवं निपात रूप चार प्रकारके पद प्रसिद्ध हैं, वे ही [अर्थात् उसी प्रकारसे चार वर्गोंमें विभक्त निघण्टुके] ये [वैदिक पद भी] होते हैं।

उनमेंसे नाम और आख्यातके [आगे कहे जानेवाले] इन लक्षणों-को [शास्त्रकार-लोग] कहते हैं। [भवतीति भावः, भावप्रधान अर्थात्] क्रियाकी जिसमें प्रधानता होती है, वह 'आख्यात' [पद] है, और जिसमें [लिङ्गकारकादिसम्बन्धयोग्यत्वं 'सत्त्वम्' सत्त्व अर्थात्] द्रव्यकी प्रधानता हो वह 'नाम' [पद कहलाता] है ।

अन्तर्गत माने जाते हैं । इस नैगम-काण्डमें अनेकार्थक शब्दों तथा अनवगत-संस्कारवाले निगम पदोंका निर्वचन दिया गया है । निरुक्तके ७ से १२ तकके शेष ६ अध्याय 'दैवतकाण्ड' कहलाते हैं । इनमें वैदिक देवताओंके विषयमें विचार किया गया है । इन १२ अध्यायोंके बाद १३-१४ दो अध्याय परिशिष्टके रूपमें और पाये जाते हैं । वे यास्ककृत हैं या नहीं, इस विषयमें विद्वानोंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है ।

नैघण्टुक पदोंका स्वरूप

'निघण्टु' की व्याख्या आरम्भ करते समय यास्काचार्यने सबसे पहले 'निघण्टु' इस नामका ही निर्वचन प्रस्तुत किया है । इन तीनों निर्वचनोंको देख कर व्याकरणके पूर्ण ज्ञानसे रहित सामान्य पाठकों या विद्यार्थियोंको उन निर्व-चनोंमें व्याकरण-विरुद्धता एवं अनियन्त्रित स्वेच्छाचारिताकी शंका हो सकती है । इसलिए हमने इतने विस्तारके साथ यह दिखलानेका यत्न किया है कि निर्वचन-

तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः ।

[और] जहाँ [अर्थात् वाक्यमें नाम और आख्यात अर्थात् संज्ञा लिङ्ग कारकादि सम्बन्ध योग्य या कर्ता और क्रिया] दोनों हों, वहाँ [भाव अर्थात्] क्रियाकी प्रधानता होती है ।

की यह प्रक्रिया व्याकरणानुमोदित और युक्तिसंगत प्रक्रिया है। अब आगे ग्रन्थकार निरुक्तमें संग्रह किये हुए शब्दोंके स्वरूपका विचार प्रारम्भ करते हैं।

पदोंका चतुर्धा विभाग

व्याकरण आदि शास्त्रोंमें लौकिक शब्दोंको नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन चार वर्गोंमें विभक्त किया गया है। इसी प्रकार निघण्टुमें संगृहीत वैदिक शब्द भी इन चार वर्गोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। इनमेंसे 'पचति' आदि 'आख्यात' पदोंमें क्रिया अंशकी प्रधानता रहती है। और उसी पच्-धातुसे बने हुए 'पाकः' आदि 'नाम' पदोंमें क्रिया गौण होकर द्रव्यांशकी प्रधानता हो जाती है। इसलिए निरुक्तकारने आगे 'भावप्रधानमाख्यातम्', और 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' ये 'नाम' और 'आख्यात' के लक्षण किये हैं। 'भाव-प्रधानं' में 'भाव' पदका अर्थ 'क्रिया' है। पचति, गच्छति आदि आख्यात-पदोंमें क्रियांशकी प्रधानता रहती है। 'सत्त्व-प्रधानानि'में 'सत्त्व' शब्दका अर्थ क्रियासे भिन्न द्रव्य है। पाकः, गतिः आदि 'नाम'पदोंमें, पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्गों तथा कारक-विभक्तियोंका योग रहता है। इसी लिङ्ग-कारकादि-सम्बन्ध-योग्यत्वको 'सत्त्व' या द्रव्यांश कहते हैं। इसलिए 'नाम' पदोंमें द्रव्यांशकी प्रधानता रहती है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखते हैं—'तद्यान्येतानि' इत्यादि।

दूसरे स्थान पर 'नाम' का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है—

"शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥"

अन्यत्र नामका लक्षण निम्नप्रकार पाया जाता है—

"अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥"

दूसरी व्याख्या

'भावप्रधानमाख्यातम्' 'सत्त्वंप्रधानानि नामानि' इस पंक्तिकी एक व्याख्या हमने ऊपर दी है। दूसरे लोग इसकी व्याख्या अन्य प्रकारसे भी करते हैं। उनका कथन है कि भाव, काल, कारक, अर्थात् पुरुष और संख्या ये चार आख्यातार्थ होते हैं। इन चारोंमेंसे 'भाव' सबसे प्रधान अर्थ है, इसलिए आख्यातको 'भावप्रधानमाख्यातम्' कहा है। इसी प्रकार सत्ता, द्रव्य, संख्या और लिङ्ग ये चार नामार्थ होते हैं। इन चारोंमें सत्ता ही प्रधान नामार्थ होता है, इसलिए 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' पद कहा गया है। यह इस पंक्तिकी दूसरी व्याख्या है, परन्तु इसकी अपेक्षा पहली व्याख्या अधिक अच्छी प्रतीत होती है।

दूसरे स्थान पर नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चारों प्रकारके पदोंका लक्षण एक ही श्लोकमें निम्न प्रकारसे किया गया है—

"क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणम्॥"

(दुर्गाचार्यवृत्ति)

नाम और आख्यातका गुण-प्रधान-भाव

इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वाक्यमें नाम और आख्यात, संज्ञा और क्रिया या कर्ता और क्रियाके बोधक पद अवश्य रहते हैं। ये दूसरे शब्दोंमें उद्देश्य और विधेय पदोंसे भी कहे जाते हैं। नाम उद्देश्य और क्रिया विधेय होतीं है। बिना उद्देश्य और विधेयके कोई वाक्य नहीं बनता है। वाक्यमें विधेयांशकी ही सदा प्रधानता रहती है। जहाँ विधेयांशकी प्रधानता किसी कारण-से नष्ट हो जाती है उस वाक्यमें 'अविमृष्ट-विधेयांश' या 'विधेयाविमर्श' दोष आ जाता है; जिसे साहित्यमें एक बड़ा दोष माना गया है। वाक्यका क्रिया-पद सदा विधेय-भागमें ही जाता है, इसलिए वाक्यमें सदा क्रियाकी प्रधानता मानी जाती है। इसी बातका निरुक्तकारने 'तद्यत्रोभे भवतः, भावप्रधाने भवतः' इस वाक्यके द्वारा प्रतिपादन किया है।

शाब्दबोधविषयक मतभेद

निरुक्तकारने यहाँ वाक्यार्थ-बोधमें आख्यातार्थ क्रियाकी प्रधानताका जो

प्रतिपादन किया है वह मीमांसक-सिद्धान्तके अनुसार है, परन्तु वैयाकरणों तथा नैयायिकोंका विचार इससे भिन्न है। शाब्दबोधके विषयमें वैयाकरणों, नैयायिकों तथा मीमांसकोंने विशेष रूपसे विचार किया है। उनमेंसे वैयाकरण शाब्दबोधमें धात्वर्थ व्यापारकी प्रधानता मानते हैं, परन्तु नैयायिक 'प्रथमान्तार्थमुख्य-विशेष्यक' शाब्दबोध मानते हैं। अर्थात् उनके मतमें वाक्यमें आख्यातार्थ अथवा क्रियाकी प्रधानता नहीं होती है, अपितु वाक्यमें जो प्रथमान्त-पद होता है उसका अर्थ मुख्य रहता है। तीसरे विचारके मीमांसक हैं। उनके मतमें शाब्दबोधमें आख्यातार्थ भावनाकी प्रधानता रहती है।

वैयाकरण-मतमें शाब्दबोध

'देवदत्तः पचति' इस वाक्यसे वैयाकरणोंके मतमें 'देवदत्ताभिन्नकर्तृकः वर्तमानकालिकः पाकानुकूलो व्यापारः' इस प्रकारका शाब्दबोध होता है। इसमें धात्वर्थ या क्रिया रूप जो व्यापार है वह मुख्य विशेष्य है। वाक्यके शेषभाग उसके विशेषणमात्र हैं। शेषभागमें 'देवदत्तः' पद है, उसका अर्थ 'देवदत्ताभिन्नकर्तृकः', इस रूपमें 'व्यापारः' का विशेषण हो जाता है। और 'तिप्' का वर्तमानकाल तथा संख्या या एक वचन रूप अर्थ 'वर्त्तमानकालिकः' इस रूपमें 'व्यापारः' का विशेषण बन जाता है। फलतः वैयाकरण मतमें वाक्यमें 'धात्वर्थ' या 'व्यापार' की प्रधानता रहती है। इसलिए उसके मतमें 'धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध' होता है।

नैयायिक-मतमें शाब्दबोध

नैयायिकोंके मतमें इसी 'देवदत्तः पचति' वाक्यसे 'वर्तमानकालिकपाका-नुकूलव्यापारवान् देवदत्तः' इस प्रकारका शाब्दबोध होता है। इसमें वाक्यका प्रथमान्त 'देवदत्तः' पद मुख्य विशेष्य है और धातु तथा प्रत्यय दोनोंका अर्थ उसमें आश्रयसम्बन्धसे विशेषण होनेसे गौण हो जाता है। इसलिए नैयायिक सिद्धान्तमें प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है।

मीमांसक-मतमें शाब्दबोध

शाब्दबोधके विषयमें तीसरा मत मीमांसकोंका है। उनके मतमें वाक्यमें 'भावना' की मुख्यता होती है। 'भावना'का लक्षण उनके यहाँ 'भवितुर्भवना-

नुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना' इस प्रकार किया गया है। यह 'भावना' दो प्रकारकी मानी गई है। एक 'शाब्दी भावना' और दूसरी 'आर्थी भावना'। किसी फलकी कामनासे जो क्रिया या व्यापार किया जाता है, वह 'आर्थी भावना' कहलाती है। और पुरुषको प्रवृत्त करानेवाला वेदादिका व्यापार 'शाब्दी भावना' नामसे कहा जाता है। वेदविहित यागादि कार्योंमें मनुष्यको प्रवृत्त करनेवाला व्यापार किसी मनुष्यमें नहीं, अपितु वेदके शब्दोंमें रहता है। इसलिए उसका नाम 'शाब्दी भावना' है। और स्वर्ग आदि फलकी प्राप्तिके लिए जो यत्न मनुष्य करता है वह 'आर्थी भावना' कहलाती है। ये दोनों प्रकारकी भावनाएँ प्रत्ययांशसे बोधित होती हैं। 'यजेत्' आदि प्रयोगोंके दो अंश हैं, एक यज-धातु और दूसरा प्रत्यय। प्रत्ययमें भी दो अंश हैं, एक सामान्यरूपसे आख्यातत्व और दूसरा लिङ्-लकार होनेसे लिङ्त्व। इनमें लिङंशसे 'शाब्दी-भावना' बोधित होती है और सामान्य आख्यातांशसे 'आर्थी भावना'। आख्यातांशसे बोधित होनेवाली यही 'भावना' वाक्यमें प्रधान होती है। इसलिए मीमांसक-मतमें आख्यातांश-प्रधान या भावना-प्रधान शाब्दबोध माना जाता है। यहाँ 'तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः' इस पंक्तिमें निरुक्तकारने वाक्यमें 'भाव' की प्रधानताकी जो बात कही है, वह भी मीमांसक-मतसे अधिक मिलती हुई है।

वैयाकरणों तथा मीमांसकोंका भेद

मीमांसकोंकी 'भावना' भी व्यापार-विशेष है जो कि वाक्यमें मुख्य मानी जाती है और वैयाकरणोंके मतमें भी शाब्दबोधमें धात्वर्थभूत 'व्यापार' मुख्य-विशेष्य रहता है। फिर भी उन दोनोंमें भेद यह है कि मीमांसककी 'भावना' आख्यातार्थ है और वैयाकरणोंका 'व्यापार' आख्यातार्थ नहीं, अपितु 'धात्वर्थ' रूप है। वैयाकरणोंके यहाँ आख्यातका अर्थ 'व्यापार' नहीं, अपितु 'व्यापाराश्रय' अर्थात् 'कर्त्ता' होता है। और जहाँ कर्ममें प्रत्यय होता है वहाँ आख्यातका अर्थ 'फलका आश्रय' अर्थात् 'कर्म' होता है। यह बात 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (पा० सू० ३-४-६९) इस सूत्रमें कर्म तथा कर्त्ता अर्थमें लकारके विधानसे सूचित होती है। 'व्याकरणभूषणसार' में भी "फल-व्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः" लिखकर इसी बातका प्रतिपादन किया है कि फल तथा व्यापार

पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् ।

आगे-पीछे किये जानेवाले [पूर्वापरीभूतं] आदिसे लेकर अन्त-तक [उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं] व्यापार-समुदायको 'जाता है', 'पकाता है' आदि आख्यात-पदोंसे कहा जाता है ।

धातुके अर्थ होते हैं और फलाश्रय अर्थात् कर्म और व्यापाराश्रय अर्थात् कर्त्ता ये दोनों तिङ् अर्थात् आख्यातके अर्थ होते हैं । इसलिए भावप्रधान अर्थात् आख्यातार्थप्रधान शाब्दबोध मीमांसक-मतमें ही बनता है, वैयाकरण-मतमें नहीं । अतः यास्कका यह वचन मीमांसक-मतके साथ ही संगत होता है ।

भावका विशेष रूप

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने यह बतलाया कि आख्यातमें भाव अर्थात् क्रियाकी प्रधानता होती है और नाममें 'सत्त्वं' अर्थात् लिङ्ग-कारक-सम्बन्ध-योग्यत्व रूप द्रव्यकी प्रधानता होती है । इसी बातको और अधिक स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकार अगली पंक्तियाँ लिख रहे हैं । 'पचति' आदि क्रियाएँ आपाततः एकक्रियारूप प्रतीत होती हैं, परन्तु वह वस्तुतः एकक्रियारूप नहीं, अपितु अनेक क्रियाओंका समुदाय रूप होती हैं । 'पचति' इस एक क्रियाके भीतर चूल्हा जलानेसे आरम्भ करके बटलोई रखना, दाल डालना, नमक आदि डालना, चलाना आदि उतारने तकके सारे व्यापार आ जाते हैं । इसी प्रकार 'व्रजति' जाता है, यह देखनेमें एक क्रिया प्रतीत होती है, परन्तु इसके भीतर जानेकी तैयारीसे लेकर उद्दिष्ट-स्थानपर पहुँचने तक किये जानेवाले नाना व्यापार समाविष्ट हो जाते हैं । इसलिए क्रिया व्यापार-समदायात्मक होती है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं — 'पूर्वापरीभूतम्' इत्यादि ।

इसी 'भाव' या व्यापारको जब पौर्वापर्यसे रहित एकीभूत रूपमें कहना होता है तब आख्यात-पदसे न कहकर 'व्रज्या', 'पक्तिः' इत्यादि कृदन्त नाम-पदोंके द्वारा कहा जाता है । वैयाकरणोंका भी यही सिद्धान्त है । 'कृदभिहितो

मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति ।

(सत्त्वभूतं अर्थात् लिङ्ग-संख्या-कारक-योग्यत्व रूप) द्रव्यके समान [मूर्तं अर्थात् पौर्वापर्यसे रहित] एकीभूत [भाव] को द्रव्य-वाचक (लिंग-संख्या-कारकादियुक्त) पदोंके द्वारा (कहते हैं)।

'भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इस वचनका यही अभिप्राय है कि जब 'भाव' अथवा क्रियाको कृदन्त नाम-पदोंके द्वारा कहा जाता है तब वह क्रियाके रूपमें नहीं, अपितु द्रव्यके रूपसे प्रतीत होता है। द्रव्यके रूपमें प्रतीत होनेका अर्थ यह है कि उसके साथ लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदिका प्रयोग होने लगता है। इसी बातको ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें इस प्रकार लिखा है—'मूर्तं सत्त्वभूतम्' इत्यादि।

इस वाक्यमें 'सत्त्वभूतं' पदमें 'भूत' पद सादृश्यका वाचक है, जैसे, पितृभूतमें 'भूत' सादृश्यका द्योतक है। इसी प्रकार 'सत्त्वभूत' का अर्थ द्रव्यके समान यह करना चाहिए। द्रव्य-वाचक शब्द पुल्लिंग आदि तीनों लिंगोंसे युक्त होते हैं। अर्थात् कृदन्त पदोंमें लिंग-संख्या आदिका सम्बन्ध हो जाता है, इसलिए उनको 'द्रव्य' अर्थात् द्रव्य शब्दके समान ही माना जाता है। आख्यात पदोंसे और कृदन्त पदोंसे कहे जानेवाले 'भाव' या क्रियाके इसी भेदको निम्न श्लोकों द्वारा निम्न प्रकारसे दिखलाया गया है—

"क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः॥"

अर्थात् अनेक क्रियाओंमें रहनेवाला पूर्वापरीभूत व्यापार-कलाप आख्यात-पदके द्वारा कहा जाता है।

"क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्याविभक्तिव्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥"

अर्थात् वही 'भाव' या व्यापार जब कृदन्त शब्दोंके द्वारा कहा जाता है तब संख्या और विभक्तियोंके परिवर्तन तथा लिंग आदिसे युक्त होकर द्रव्य-पदोंके समान प्रतीत होता है।

यहाँ ग्रन्थकारने 'व्रजति', 'पचति' ये आख्यातपदके और 'व्रज्या', 'पक्तिः'

अद इति सत्त्वानामुपदेशो गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।
भवतीति भावस्य, आस्ते, शेते व्रजति, तिष्ठतीति।

'अदः' [अर्थात् अदस् इदम् आदि सर्वनाम पदों] के द्वारा [सत्त्व अर्थात्] द्रव्योंका [सामान्य रूपसे] निर्देश [किया जाता] है। और गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति आदि (संज्ञावाचकपदों) से द्रव्यों-का [विशेष रूपसे निर्देश होता] है।

[इसी प्रकार] भू-धातुसे [भवति-पदसे यहाँ भू धातुका ग्रहण करना चाहिए] भाव [अर्थात् क्रिया] का [सामान्य रूपसे तथा] आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठति आदिसे [विशेष रूपसे क्रियाका निर्देश होता है]।

ये कृदन्तपदके दोनोंके दो-दो उदाहरण दिये हैं। ये दोनों उदाहरण सकर्मक धातुओंके हैं, परन्तु उनमेंसे एक 'कर्तृस्थभावक' और दूसरा 'कर्मस्थभावक' है। जहाँ क्रियाका फल कर्तामें ही समाप्त हो जाता है कर्ममें उसकी क्रियासे कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह 'कर्तृस्थभावक' क्रिया कहलाती है। यहाँ 'व्रजति' क्रिया 'कर्तृस्थभावक' है, क्योंकि देवदत्तके व्रजनसे कर्मभूत ग्राममें कोई परिवर्तन नहीं होता है। 'पचति' क्रियासे कर्मभूत तण्डुलोंमें 'विक्लित्ति' रूप परिवर्तन होता है, इसलिए वह 'कर्मस्थभावक' क्रिया है। 'अकर्मक' धातुओंका कर्म होता ही नहीं है, इसलिए वे सब 'कर्तृस्थभावक' ही होती हैं।

द्रव्य और क्रियाके निर्देशके दो प्रकार

ऊपर नाम तथा आख्यातके लक्षण किये जा चुके हैं। और यह भी बत-लाया जा चुका है कि पूर्वापरीभूत व्यापार-कलापको आख्यात-पदके द्वारा कहा जाता है तथा एकीभूत व्यापारको कृदन्त नामपदोंके द्वारा कहा जाता है। अब आगे यह बतलाते हैं कि इन 'सत्त्व' और 'भाव' दोनोंको सामान्य रूपसे तथा विशेष रूपसे दो प्रकारसे निर्दिष्ट किया जा सकता है। द्रव्योंका सामान्य रूपसे निर्देश 'अदस्' 'इदम्' आदि सर्वनामोंके द्वारा किया जाता है और 'गौः', 'अश्वः' आदि विशेष नाम लेकर उनका विशेष रूपसे निर्देश किया जाता है। इसी

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य

क्रियाओंके छः भेद—

[मुख्य रूपसे] छः प्रकारके क्रियाओंके भेद [विकार] होते हैं, यह 'वार्ष्यायणि' [आचार्य] का मत है। १. 'जायते' उत्पन्न होता है, २. 'अस्ति' रहता है, ३. 'विपरिणमते' परिवर्तित होता है, ४. 'वर्धते' बढ़ता है, ५. 'अपक्षीयते' क्षीण होता है और ६. 'विनश्यति' नष्ट होता है। [इनमेंसे] १ उत्पन्न होना [वस्तुके] प्रथम आविर्भावके आरम्भको सूचित करता है, बादकी क्रियाओं [या अवस्थाओं] को न कहता है और न निषेध करता है। २. यह उत्पन्न हुए पदार्थकी स्थितिको कहता है। ३. विपरिणाम तत्त्वका नाश

प्रकार 'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः' अर्थात् क्रियाको सामान्य रूपसे कहनेके लिए कृ, भू या अस् धातुका प्रयोग होता है। इस नियमके अनुसार 'भवति' अर्थात् भू-धातुके द्वारा क्रियाका सामान्य रूपसे और 'आस्ते' 'शेते' आदिके प्रयोगके द्वारा क्रियाका विशेष रूपसे निर्देश किया जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—'अद इति' इत्यादि।

पाठ-समीक्षा—निरुक्तकारके ये दोनों वाक्य अधूरे हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि अदस् आदि सर्वनामोंके द्वारा द्रव्योंका सामान्यरूपसे निर्देश होता है और गौ, अश्व आदि पदार्थोंके नाम लेकर उनका विशेष रूपसे निर्देश किया जाता है। इसी प्रकार भू-धातुसे क्रियाका सामान्य रूपसे निर्देश होता है और आस्ते, शेते आदि विशेष क्रियाओंके द्वारा उसका विशेष रूपसे निर्देश किया जाता है। इस अर्थकी अभिव्यक्तिके लिए इन वाक्योंमें 'सामान्येन' और 'विशेषेण' पदोंका प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए था। उसके बिना अर्थकी स्वारसिक संगति नहीं लगती है। खींच-तान करनी पड़ती है। और व्याख्याकार को स्वयं उन पदोंका अध्याहार करना पड़ता है। यह अच्छी लेखन-शैली नहीं है।

सत्त्वस्यावधारणम् । विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम् । वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयोगिकानां वार्थानाम् । वर्धते शरीरेण वर्धते विजयेनेति (वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा)। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम् । विनश्यति इत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति । अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह । ते यथावचनमभ्यूहितव्याः ॥१॥

हुए बिना उसमें होनेवाले परिवर्तनको कहता है। ४. वृद्धि [दो प्रकारकी होती हैं । एक तो] अपने शरीरकी वृद्धि, अथवा [दूसरी] सांयोगिक [बाहरी] पदार्थोंकी । [जैसे] शरीरसे बढ़ रहा है [यह स्वांगाभ्युच्चय है] और विजयसे बढ़ रहा है [यह सांयोगिक अर्थोंकी वृद्धि है]। ५. इसीको उलटा कर देनेसे क्षीण होनेकी व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए। [अर्थात् अपक्षय भी दो प्रकारका होता है]। ६. विनाश अन्तिम क्रियाके आरम्भको कहता है, पूर्व क्रियाको न कहता है, न उसका निषेध करता है। [मुख्य रूपसे ये छः ही क्रियाओंके भेद होते हैं] इनसे भिन्न दूसरे क्रियाओंके सारे भेद 'निष्पद्यते, विकसति, पच्यते आदि' इनके ही भेदोंमें आ जाते हैं, ऐसा [वार्ष्यायणि आचार्यने] कहा है। उनको यथोक्त-रीतिसे इन छः के भीतर] समझ लेना चाहिए ॥ १ ॥

त्रिविध पाठ दोष

क्रम-समीक्षा—निरुक्तके पूर्व-संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ कुछ भिन्न प्रकारसे छपा है। इसमें मुख्य रूपसे क्रम-सम्बन्धी दो प्रकारके दोष हैं। उन सब संस्करणोंमें 'भवतीति भावस्यास्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति' इस पाठके बाद—

"इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ॥१॥

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते युगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो

योगश्च । व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य । अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके । तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम् ।"

इस प्रकारका पाठ छपा है। यह क्रम निरुक्तके सभी संस्करणोंमें पाया जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि जिस पाण्डुलिपिसे मूल पाठ लिया गया है उसमें इसी प्रकारका पाठ दिया गया था। इसलिए पाण्डुलिपिकी दृष्टिसे वह शुद्ध है, परन्तु विषयकी दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह क्रम ठीक नहीं है।

हमारी दृष्टिमें पूर्व संस्करणों तथा उनकी आधारभूत पाण्डुलिपियोंमें दिया हुआ यह पाठक्रम अप्रामाणिक और अशुद्ध है। इसमें दो प्रकारकी त्रुटियाँ हैं। पहली त्रुटि तो यह है कि 'भवतीति भावस्य आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति' से भाव या क्रियाओंका वर्णन चल रहा है। आगे "षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः" आदिसे लेकर 'ते यथावचनमभ्यूहितव्याः' तक फिर क्रिया या भावविकारोंका वर्णन आया है। ये दोनों वर्णन परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए उन दोनोंको एक साथ आना चाहिए, परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें उनको एक-साथ न रखकर उनके बीचमें 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः' इत्यादि एक बिल्कुल नया विषय डाल दिया गया है। यह उचित नहीं है। यदि हम 'इन्द्रियनित्यं' से लेकर 'पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।' तकका पाठ यहाँसे हटा दें तो 'भाव' के ये दोनों वर्णन एक साथ आ जाते हैं। और प्रकरणकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इसके साथ ही यहाँ एक प्रकरण समाप्त हो जाता है। 'इन्द्रियनित्यं' आदिसे अगला प्रकरण प्रारम्भ होता है और वह भी फिर यथास्थान समाप्त हो जाता है। इस प्रकार दोनों प्रकरण सङ्गत और सुबोध हो जाते हैं। अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठक्रमको मुद्रित किया है।

दूसरा खण्डविभाजन दोष

इस स्थलके पाठक्रममें दूसरा दोष खण्ड-विभाजनसे सम्बन्ध रखता है। निरुक्तके अध्यायोंका विभाजन खण्डोंमें भी किया गया है। प्रथम अध्यायमें बीस खण्ड हैं। अध्यायके अन्तमें उन खण्डोंके आरम्भ होनेवाले स्थानोंके प्रतीक भी दिये गये हैं, परन्तु लेखकके प्रमादवश प्रतीकोंमें कुछ गड़बड़ हो गई है,

जिसके कारण निरुक्तके सारे संस्करणोंका खण्ड-विभाजन अशुद्ध रूपसे मुद्रित हो गया है। पूर्व-संस्करणोंके अनुसार 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः' ॥१॥ इस स्थलपर प्रथम खण्ड समाप्त होता है, परन्तु विषयको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ विषय समाप्त नहीं, अपितु नया विषय प्रारम्भ होता है। इसलिए यहाँपर प्रथम खण्डकी समाप्ति नहीं, अपितु द्वितीय खण्डका आरम्भ होना चाहिए। इसलिए पूर्व-संस्करणोंमें जहाँ प्रथम-खण्डकी समाप्ति की गई है, वह उचित नहीं है।

तब प्रश्न यह होता कि उस प्रथम-खण्डकी समाप्ति कहाँ होनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि उस खण्डके अन्तिम भागमें भाव या क्रियाका वर्णन चल रहा है। जहाँ वह वर्णन पूर्ण हो वहाँ प्रथम-खण्डकी समाप्ति होनी चाहिए। यह भावका वर्णन 'अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति' इस स्थानपर जाकर समाप्त होता है। इसलिए वहीं प्रथम खण्ड समाप्त होना चाहिए। इस युक्तिक्रमसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तके पूर्व-संस्करणोंमें जिस क्रमसे पाठ छपा है, वह विषयकी दृष्टिसे ठीक नहीं है। अतः हमने संशोधित रूपमें पाठ यहाँ मुद्रित किया है। खण्ड-विभाजनवाली इस त्रुटिके विषयमें एक विशेष बात यह है कि यास्कने इस प्रकारका व्यवहार अनेक स्थलोंपर किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि अगले प्रकरणका सूत्रपात पूर्व-प्रकरणके अन्तमें ही कर देना यह उनकी विशेष शैली रही है, किन्तु विषयकी दृष्टिसे यह शैली उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। अतः हमने खण्ड-विभाजनमें सर्वत्र इस प्रकारका संशोधन कर दिया है कि जिससे एक सम्पूर्ण विषय इकट्ठा एक स्थानपर आ जाय। इसी दृष्टिसे हमने द्वितीय खण्डका आरम्भ 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः' इस पंक्तिसे किया है।

तीसरी त्रुटि

इसी प्रकारकी एक अशुद्धि 'वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा' इस मूल पाठमें भी पायी जाती है। स्कन्दस्वामीके भाष्यमें इसके स्थानपर 'वर्धते शरीरेण वर्धते विजयेनेति' यह पाठ माना गया है। स्वाङ्गाभ्युच्च तथा सांयोगिक अर्थकी वृद्धिके क्रमशः उदाहरण होनेके कारण इसी क्रमसे पाठ होना उचित

[२]

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ।

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च ।

---

[२]

वचन [अर्थात् शब्द] इन्द्रियमें नियत है [अर्थात् जब तक वक्ता बोलता है तब तक उसकी वागिन्द्रियमें और जब तक श्रोता सुनता है तब तक उसकी श्रोत्रेन्द्रियमें विद्यमान रहता है। न उसके पहिले था और न बादको रहता है। इसलिए] अनित्य है, यह औदुम्बरायण ['उदुम्बर' का अपत्य औदुम्बरि उसका अपत्य औदुम्बरायण] का मत है।

उसमें [अर्थात् शब्दको अनित्य माननेवाले पक्षमें तीन दोष आते हैं। पहिला दोष यह है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूपसे शब्दोंका जो चार प्रकारका विभाग किया गया है, वह] चार प्रकारका विभाग नहीं बनता है [क्योंकि जब वर्ण-समुदायात्मक पद ही नहीं बनता है तब चार पद इकट्ठे होकर उनका चार प्रकारका विभाग किया जाना सर्वथा असम्भव है। शब्दके अनित्यत्व-पक्षमें दूसरा दोष यह है कि] क्रमशः [अयुगपत्] उत्पन्न होनेवाले [और क्षणिक अनित्य होनेसे तुरन्त ही नष्ट हो

था। अतः हमने स्कन्द-भाष्यके अनुसार ही यहाँ पाठ रखा है, दुर्गाचार्य आदिके अनुसार नहीं ॥१॥

शब्दका नित्यत्वानित्यत्वविचार

निरुक्तके विगत प्रथम खण्डमें शब्दके नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार भेद किए थे। उसके बाद नाम तथा आख्यात इन दोनों भेदोंके लक्षण तथा उदाहरण आदि दिये थे। और यह भी कहा गया था कि

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य

जानेवाले] शब्दोंका एक-दूसरेके साथ [गुण-प्रधानभावसे] उपदेश [अर्थात् सम्बन्ध] भी नहीं बनता है। [और तीसरा दोष यह आता है कि] शास्त्रके द्वारा किया गया [प्रकृति-प्रत्ययादिरूप] सम्बन्ध [भी नहीं बनता है। इस प्रकार इस अनित्यत्व-पक्षमें तीन दोष आते हैं]।

शब्दके व्याप्तिमान् [कालिक-व्याप्तिसे युक्त सब कालोंमें व्याप्त या विद्यमान अर्थात् नित्य] होनेसे तो [पूर्वपक्षका निराकरण हो जाता है। अर्थात् १. पदोंके चार विभागोंकी अनुपपत्ति, २. गुण-प्रधान-भावकी अनुपपत्ति तथा ३. प्रकृति-प्रत्ययविभागकी अनुपपत्ति रूप जो तीन दोष दिए थे उनका निराकरण हो जाता है]।

वाक्यमें जहाँ नाम और आख्यात दोनोंका प्रयोग साथ-साथ होता है, वहाँ भाव अर्थात् आख्यातकी प्रधानता रहती है। इसपर शब्दको अनित्य माननेवाले 'औदुम्बरायण' आचार्यका यह पूर्वपक्ष है कि शब्दके अनित्य होनेके कारण न तो शब्दोंका चार प्रकारका विभाग बन सकता है और न गुण-प्रधान-भाव। इस द्वितीय खण्डमें ग्रन्थकार उस पूर्वपक्षको उठाकर उसका खण्डन करेंगे। पहिले औदुम्बरायणके पूर्वपक्षको प्रस्तुत करते हैं---'इन्द्रियनित्यम्' इत्यादि।

यहाँ 'अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानानां' इस वाक्यमें आए हुए वा पदको समुच्चयार्थक अर्थात् चकारके अर्थमें मानना चाहिए विकल्पके अर्थमें नहीं। निरुक्तकार आगे [१।५।१ में] स्वयं 'अथापि समुचयार्थे भवति' लिखकर 'वा'की समुचयार्थकताका प्रतिपादन करेंगे। 'वा विकल्पोपमानद्वन्द्वस-मुच्चयार्थेषु' लिखकर अन्यत्र भी 'वा' की समुच्चयार्थकताका प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार शब्दको इन्द्रियमें नियत अर्थात् अनित्य माननेमें तीन दोष आ जाते हैं, यह कहा गया है। आगे इन दोषोंके निवारणके लिए 'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य' इस पङ्क्तिसे शब्दकी नित्यताके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। तु-शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है।

इस प्रकरणकी अन्य व्याख्याएँ

अन्य टीकाकारोंने इस प्रकरणकी भिन्न प्रकारसे व्याख्याएँ की हैं। उन सबमें बहुत खींचातानी की गई है, इसलिए वे सब अत्यन्त क्लिष्ट हो गई हैं। 'इन्द्रियनित्यं' पदका अर्थ जैसा कि हमने किया है 'अनित्य' और 'व्याप्तिमत्त्वात्' का अर्थ नित्य होता है। इस अर्थको माननेसे यह प्रकरण बहुत सरलतासे लग जाता है। इसलिए यह व्याख्या अधिक उपादेय है।

अन्य व्याख्यानकारोंमेंसे निरुक्तके स्कन्दभाष्यमें एक व्याख्या विचित्र प्रकारकी दी गई है। उसके अनुसार 'तत्र पदचतुष्टं नोपपद्यते' केवल इतना भाग पूर्वपक्षका है। अर्थात् पहिली व्याख्यामें शब्दको अनित्य माननेवाले पक्षमें जो तीन दोष दिखलाए गए हैं, वे ठीक नहीं हैं। केवल चतुर्विध पदविभागकी अनुपपत्ति रूप एक ही दोष है। इसके आगेकी पङ्क्ति पूर्वपक्षकी नहीं अपितु सिद्धान्तपक्षको उपस्थित करती है। और उसका पाठ 'अयुगपदुत्पन्नानाम्' के स्थान पर 'युगपदुत्पन्नानां' माना गया है। इसके साथ ही इस व्याख्यामें 'वा' पदको पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिका सूचक माना है। 'अस्य प्रतिसमाधानार्थमुक्तम्—युगपदुत्पन्नानामित्यादि। वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। यदुक्तं इन्द्रियनित्यत्वात् पदचतुष्टानुपपत्तिरिति तन्न, युगपदुत्पन्नानामितरेतरोपदेशः।' इस पङ्क्तिसे इस व्याख्याको सूचित किया गया है।

इस व्याख्यामें इतनी बात तो हमारी व्याख्याके समान ही है, 'इन्द्रियनित्यं' पदका अर्थ 'अनित्य' माना है। शब्दको अनित्य मान कर पदचतुष्टकी अनुपपत्तिका पूर्वपक्ष किया है। और शब्दको नित्य मान कर उसका समाधान किया है। शब्दोंको युगपत् उत्पन्न अर्थात् एक साथ अभिव्यक्त मानकर पदचतुष्टका उपपादन शब्दकी नित्यतापक्षमें बन जाता है। और न केवल पदविभाग ही बन जाता है अपितु 'शास्त्रकृतो योगश्च' शास्त्रकृत योग अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययका विभाग भी बन जाता है। इस प्रकार इस व्याख्याकारने 'युगपदुत्पन्नानां वा शब्दानां इतरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च [उपपद्यते]' इस भागको सिद्धान्तपक्षमें लगाया है। इसके बादके 'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य' इस हेतुमें तु शब्दको समुच्चयार्थक मानकर नए हेतुकी संगति लगाई है। और अगले

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।

[सबसे अधिक] लाघव-युक्त होनेके कारण [ही] लोकमें व्यवहारके लिए शब्दके द्वारा संकेत स्थापित किये गये हैं ['सम्यक् ज्ञायते अर्थो यया इति संज्ञा संकेतः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार संज्ञा पदका अर्थ संकेत करना चाहिये। शब्द-व्यवहार भी सांकेतिक व्यवहार है। संकेतके द्वारा ही शब्दसे अर्थकी प्रतीति होती है। यह शब्दरूप संकेत केवल मनुष्योंमें ही नियत नहीं है अपितु] मनुष्योंके समान उन [शब्दों] का देवताओंमें [भी अभिधान अर्थात् कथन अर्थात्] प्रयोग होता है।

'अणीयस्त्वाच्च' को भी इसीके साथ जोड़कर 'व्याप्तिमत्त्वाद् अणीयस्त्वाच्च' अर्थात् व्याप्त होने और सूक्ष्म होनेके कारण नित्य शब्द विद्यमान होनेपर भी उच्चारणके विना प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकारकी व्याख्या इस व्याख्याकारने की है। परन्तु वह सब अत्यन्त खींच-तानयुक्त होनेके कारण अनुपादेय है। हमने जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह अत्यन्त सरल और स्वाभाविक होनेसे उपादेय है।

शब्द-व्यवहारकी उपयोगिता

यहाँ यह शंका हो सकती है कि शब्दका आश्रय लेनेसे ये अनेक प्रकारके झगड़े उत्पन्न हो गये हैं। मनुष्य शब्दके बिना संकेत आदिके द्वारा भी अपना व्यवहार चला सकता है, तब शब्दकी प्रक्रियाका अवलम्बन ही क्यों किया जाय? यदि शब्दके आश्रयको छोड़कर संकेत आदिके आधारपर व्यवहारका संचालन किया जाय तो पदविभागकी चिन्ता, व्याकरण, निरुक्त आदिके अध्ययन और वेदके पठन-पाठनके कठिन परिश्रम आदि सबसे बचा जा सकता है। इसलिए शब्द-व्यवहारको छोड़कर व्यवहारके लिए सांकेतिक प्रणालीका अवलम्बन करना चाहिये। इस शंकाका समाधान करनेके लिए निरुक्तकारने अगली पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका आशय यह है कि शब्दको छोड़कर संकेत आदिके द्वारा व्यवहार करनेमें सरलता नहीं, और अधिक कठिनाई होगी। शब्द-

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥२॥

पुरुषोंके ज्ञान [विद्या] के अनित्य [अपूर्ण और अपर्याप्त] होनेसे [केवल अपने लौकिक ज्ञानके द्वारा सफलता नहीं मिल सकती है। इसलिए मनुष्यके] कार्योंकी सफलता प्रदान करानेवाला मन्त्र [उपदेश] वेदमें [दिया गया] है ॥२॥

व्यवहारमें कम संकेतों या वर्णोंसे सारा काम चल जाता है। उनके स्थानपर यदि किसी अन्य संकेतका अवलम्बन किया जायगा तो उसमें अत्यन्त गौरव हो जायगा। संकेत-चिह्नोंकी संख्या इससे कहीं अधिक हो जायगी। इसलिए संकेतके स्थानपर शाब्द-व्यवहारका ही ग्रहण मनुष्यने किया है। केवल मनुष्यने ही शाब्द-प्रक्रियाका अवलम्बन नहीं किया है, किन्तु देवताओंने भी इसी शाब्द-प्रक्रियाका अवलम्बन किया है। रही यह बात कि शाब्द-व्यवहारको यदि छोड़ दिया जाय तो वेदाध्ययनके परिश्रमसे बचा जा सकता है। सो उसका उत्तर यह है कि वेदाध्ययनके परिश्रमको बचाना भी लाभदायक नहीं होगा। यों तो संसारके अधिकतर व्यक्ति वेदोंका अध्ययन नहीं करते हैं। इसलिए शाब्द-व्यवहारका अवलम्बन करनेपर भी उससे बचा जा सकता है। किन्तु वह अपना हितकर नहीं है। वेदका अध्ययन मानवके लिए अत्यन्त कल्याण-प्रद है। क्योंकि उसकी विद्या, उसका ज्ञान अनित्य और अपर्याप्त है। वेदोंका अध्ययन उसके ज्ञानको पूर्ण बनाता है और उस ज्ञानकी पूर्णताके द्वारा मनुष्यको अपने कार्योंमें सफलता मिलती है। इसलिए वेदका अध्ययन आवश्यक है। इसी बातको ग्रन्थकार 'अणीयस्त्वाच्च' इत्यादि अगली पंक्तियोंमें कहते हैं।

पाठान्तर

स्कन्द-स्वामीके भाष्यमें 'पुरुषविद्या अनित्यत्वात्' के स्थानपर 'पुरुषविद्या-नित्यत्वात्' पाठ माना गया है। इसके अनुसार 'पुरुषविद्या' का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् वेद किया गया है। अर्थात् वेदके नित्य होनेसे कर्मोंको सफल बनानेवाले मन्त्र वेदमें पाये जाते हैं, यह इस पंक्तिका अर्थ होता है ॥२॥

[३]

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति ।

उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः । तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तम् । नामाख्यातयोरर्थविकरणम् ।

---

[३]

[नाम तथा आख्यातोंसे] अलग करके गुम्फित किये हुए [निर्बद्धा नामाख्याताभ्यां निष्कृष्य बद्धाः, नाम और आख्यातसे अलग करके वाक्यमें प्रयुक्त किये हुए] उपसर्ग, अर्थोंको [न निराहुः निश्चयेन न आहुः] निश्चित रूपसे नहीं कहते हैं। नाम और आख्यातके अर्थ [कर्म शब्द निरुक्तमें सर्वत्र 'अर्थ'का वाचक होता है]को उनके साथ मिल कर [उपसंयोगेन द्योतकाः उपसंयोगद्योतकाः] द्योतन करनेवाले होते हैं, यह शाकटायनका मत है।

[इन उपसर्गोंके भी उच्चावच अर्थात्] नाना प्रकारके [उच्चावच शब्द निरुक्तमें नाना प्रकारके इस अर्थमें प्रयुक्त होता है] अर्थ होते हैं। इसलिए इनका जो अर्थ होता है [नाम तथा आख्यातसे अलग प्रयुक्त होनेपर भी] नाम और आख्यातके अर्थमें परिवर्तन करनेवाले उस अर्थको ये [उपसर्ग] कहते ही हैं, यह गार्ग्यका मत है।

उपसर्ग-निरूपण

निरुक्तके प्रथम खण्डमें नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात रूपमें शब्दोंके चार विभाग किये थे। उन चार प्रकारके शब्दोंमेंसे नाम तथा आख्यातका विवेचन पिछले दो खण्डोंमें हो चुका है, अब इस तृतीय-खण्डमें शब्दके तीसरे भेद उपसर्गोंका विवेचन प्रारम्भ करते हैं। 'प्रादयः', 'उपसर्गाः क्रियायोगे' [अष्टा० १-४-५८ तथा ५९] सूत्रोंके अनुसार क्रियाके योगमें १ प्र, २ परा, ३ अप, ४ सम्, ५ अनु, ६ अव, ७ निस्, ८ निर्, ९ दुस्, १०

दुर्, ११ वि, १२ आङ्, १३ नि, १४ अधि, १५ अपि, १६ अति, १७ सु, १८ उत्, १९ अभि, २० प्रति, २१ परि तथा २२ उप–इन २२ की उपसर्ग संज्ञा होती है। इन उपसर्गोंका अपना अर्थ होता है या नहीं इस विषयमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। कुछ लोग उपसर्गोंको 'वाचक' मानते हैं और कुछ वाचक न मानकर 'द्योतक' मानते हैं। वाचक पक्षमें उपसर्गोंका अपना अर्थ होता है और वे उस अर्थके 'वाचक' होते हैं। यह मत नैरुक्तोंमें गार्ग्यका है। शाकटायन उपसर्गोंको वाचक न मानकर 'द्योतक' मानते हैं। द्योतक-पक्षमें उपसर्गोंका अपना अर्थ नहीं होता है। वे जिसके साथ मिलते हैं उसके अर्थमें विशेषताका बोध कराते हैं। दार्शनिकोंमें नैयायिक और मीमांसक दोनों उपसर्गोंको द्योतक और निपातोंको वाचक मानते हैं। वैयाकरण लोग उपसर्ग और निपातके बीच इस प्रकारके भेदका समर्थन नहीं करते हैं, वे दोनोंको 'द्योतक' मानते हैं। भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थमें मध्यमार्गको अपनाकर वाचक तथा द्योतक दोनों पक्षोंमें अपनी सहमति प्रकट करते हुए लिखा है—

स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा।

यहां ग्रन्थकार पहिले शाकटायन 'वैयाकरण'के द्योतकत्व-पक्षको प्रस्तुत करके, बादको नैरुक्त गार्ग्यके वाचकत्व-पक्षको प्रस्तुत करेंगे और आगे उपसर्गोंके अलग-अलग अर्थ भी दिखलावगे, इसलिए यह प्रतीत होता है कि वे वाचकत्व-पक्षके समर्थक हैं। क्रमशः इन दोनों पक्षोंको प्रस्तुत करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं—'न निर्बद्धा' इत्यादि।

उपसर्गार्थ-निरूपण

इस प्रकार नैरुक्त गार्ग्यके मतमें उपसर्ग द्योतक नहीं अपितु वाचक हैं, इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करके यास्कने नैरुक्त होनेके नाते स्वयं भी उस सिद्धान्तके साथ सहमति प्रकट की है। इसलिए निरुक्त-मतमें उपसर्गोंकी वाचकताका सिद्धान्त ही माना जाता है। तब उपसर्गोंके क्या-क्या अर्थ होते हैं इसका निरूपण करनेका प्रश्न उपस्थित होता है, इसलिए यास्काचार्य आगे उपसर्गोंके अर्थोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं। इस प्रसंगमें यास्कने उपसर्गोंके केवल एक-एक अर्थका प्रतिपादन किया है। पर उनके अतिरिक्त भी उपसर्गोंके

'आ' इत्यर्वागर्थे । 'प्र', 'परा' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् ।

'आ' [अर्थात् आङ्] यह [उपसर्ग अर्वाक् अर्थात्] समीप या सम्मुख अर्थमें [प्रयुक्त होता] है। 'प्र' तथा 'परा' [ये दोनों उपसर्ग] इसके [अर्थात् 'आ' उपसर्गके] प्रातिलोम्य [अर्थात् विपरीत अर्थ]को कहते हैं।

अनेक अर्थ होते हैं। यास्कने यहां केवल उदाहरणके रूपमें उनके एक-एक अर्थका प्रदर्शन किया है।

'आ' उपसर्गके समीप या 'अर्वाग्' अर्थमें प्रयोगका वैदिक उदाहरण 'सर्वे नन्दन्ति यशसा आगतेन' सब लोग समीप आये यशसे प्रसन्न होते हैं। अर्थात् यशको प्राप्त करके सबको प्रसन्नता होती है। [ऋ० १०-७१-१०] यह है। 'प्र' और 'परा' उपसर्ग इसके विपरीत अर्थको कहते हैं, इसका वैदिक उदाहरण 'याश्च दूरं परागताः' [ऋ० १०-९७-२१] यह है। 'अर्वाक्' शब्दका अर्थ यहां समीप ही करना चाहिये। प्राचीन टीकाकारोंमें केवल एक स्कन्दस्वामीने 'अर्वागर्थः सन्निकर्षः' लिखकर 'अर्वाक्'का सन्निकर्ष या सामीप्य अर्थ किया है। दुर्गाचार्यने 'अर्वाक्' शब्दका कोई अर्थ नहीं किया है। परन्तु उसका उदाहरण 'आपर्वतात्' दिया है। परन्तु यहां 'आ'का अर्थ सामीप्य नहीं 'मर्यादा' है। 'आङ्'का प्रयोग 'मर्यादा' और 'अभिविधि' अर्थोंमें भी होता है। 'मर्यादा' और 'अभिविधि' ये दोनों शब्द सीमाके वाचक हैं। सीमाका निर्देश दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक सीमा-भागको सम्मिलित करके और दूसरे सीमाके उधरके भागको छोड़कर। जब अन्तिम भागको सम्मिलित करके कहा जाता है तब 'अभिविधि' अर्थ होता है और जब अन्तिम भागको छोड़कर कहा जाता है तब 'मर्यादा' अर्थ होता है। अंग्रेजीमें इसको 'इन्क्लूडिंग' और एक्सक्लूडिंग' पदोंसे निर्दिष्ट किया जाता है। 'आमुक्तेः संसारः' यह 'मर्यादा'का उदाहरण है। मुक्ति-पर्यन्त संसार है। मुक्ति उस संसारमें सम्मिलित नहीं है। मुक्तिसे पहिले-पहिलेतक संसार रहता है। मुक्ति होनेपर संसार नहीं रहता है, यह इसका अर्थ है। 'आबालं हरिस्नेहः' बालकों पर्यन्त कृष्णके प्रति स्नेह है। यहाँ कृष्णके स्नेहकी सीमा बालकोंको कहा है। परन्तु बालक उससे अलग

नहीं है। बालकोंमें भी हरि-स्नेह पाया जाता है, यह इसका अर्थ है। इसलिए यहाँ 'आ' 'अभिविधि'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों उदाहरणोंमें 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' [अष्टा० २-१-१३] इस सूत्रसे पंचम्यन्त 'मुक्तेः' तथा 'बालेभ्यः' पदोंके साथ 'आङ्'का अव्ययीभाव समास हुआ है।

दुर्गाचार्यने जो 'आसमुद्रात्' यह उदाहरण दिया है, वह भी इसी प्रकारका उदाहरण है। उसमें 'आङ्'का प्रयोग 'अर्वाग्' अर्थमें नहीं अपितु 'मर्यादा' अथवा 'अभिविधि' अर्थमेंसे किसी एक अर्थमें माना जा सकता है। यदि समुद्रको परे छोड़कर उससे इधर-इधरकी सीमाका निर्देश अपेक्षित है तो उसे मर्यादा-वाचक मानना होगा और यदि समुद्रको भी सम्मिलित करके समुद्र-पारतक अर्थ लेना है तो वह 'अभिविधि'का वाचक होगा। इन दोनों अर्थोंमें 'आङ्'की उपसर्ग-संज्ञा न होकर 'आङ् मर्यादावचने' [अष्टा० १-४-८९] सूत्रसे कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होती है और कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होनेके कारण पंचम्यप-आङ्-परिभिः [अष्टा० २-१-१०] इस सूत्रसे पंचमी विभक्ति होकर 'आसमुद्रात्' यह प्रयोग बनता है।

इस स्थितिमें हम देखते हैं कि दुर्गाचार्यका यह उदाहरण यहाँ ठीक नहीं बैठ रहा है। 'आ'के उपसर्ग रूपमें प्रयोगका उदाहरण देना चाहिये था। परन्तु इस उदाहरणमें 'आ'का प्रयोग उपसर्गरूपमें नहीं अपितु 'कर्मप्रवचनीय'के रूपमें हुआ है। 'उपसर्गाः क्रियायोगे' [अष्टा० १-४-५९] इस सूत्रके अनुसार केवल क्रियाके योगमें ही 'आङ्'की उपसर्ग-संज्ञा हो सकती है। 'आसमुद्रात्' प्रयोगमें 'आङ्'का क्रियाके साथ योग नहीं है। अतः यहाँ 'आङ्'की उपसर्ग-संज्ञा ही नहीं हो सकती है। इसलिए यह उदाहरण नितान्त असंगत है। उसमें न तो 'आङ्' उपसर्गरूपमें प्रयुक्त हुआ है और न 'अर्वाक्' अर्थमें। दुर्गाचार्यने यह उदाहरण भ्रमवश ही दे दिया है।

दुर्गाचार्यके इस उदाहरणका प्रभाव अन्य टीकाकारोंपर भी पड़ा है। उन्होंने महाकवि कालिदासके मेघदूतसे 'आकैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः' आदिको इसके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत कर दिया है। और इसी आधारपर 'अर्वाग्'का अर्थ 'वरे', 'इधर-इधर' आदि कर दिया है। उत्तरवर्ती टीकाकारोंकी ये दोनों बातें अशुद्ध हैं। न तो 'अर्वाक्'का अर्थ 'वरे' या 'इधर-इधरतक' है

'अभि' इत्याभिमुख्यम् । 'प्रति' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् ।

'अति', 'सु' इत्यभिपूजितार्थे । 'निर्', 'दुर्' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् ।

'अभि' यह [उपसर्ग] आभिमुख्य [अर्थात् साम्मुख्य या नम्रता] को कहता है। 'प्रति' [उपसर्ग] इसके विरुद्ध अर्थको [कहता है]।

'अति' तथा 'सु' ये [दोनों उपसर्ग] प्रशंसा-परक हैं। 'निर् तथा 'दुर्' [ये दोनों उपसर्ग] इन दोनों ['प्रति' तथा 'सु' उपसर्गोंके अभिपूजित अर्थ]के विपरीत [निन्दा-परक] हैं।

और न 'आकैलासात्' या 'आपर्वतात्' आदि उसके उपसर्ग-रूपमें प्रयोगके उदाहरण हैं। जहाँ 'आङ्'का वरे या इधर-इधरतक मर्यादारूप अर्थ होता है वहाँ 'आङ्'की उपसर्ग-संज्ञा नहीं अपितु कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होती है। और इस प्रकारके प्रयोगोंमें क्रियाका योग न होनेसे 'आङ्'की उपसर्ग-संज्ञा हो भी नहीं सकती है। इसलिए पूर्ववर्ती सारे टीकाकारोंने इस स्थलपर ठीक उदाहरण नहीं दिया है। केवल एक स्कन्दस्वामीने इस विषयको ठीक समझकर अर्वाग्का अर्थ 'सन्निकर्ष' या सामीप्य किया है और उसका ठीक उदाहरण दिया है। हमने भी स्कन्दके अनुसार ही 'अर्वाक्'का अर्थ समीप किया है और वेदसे उसका उदाहरण दिया है।

'अन्यश्चेन्नाभिगच्छति' [ऋ० १०–१४६–५] में 'अभि' उपसर्ग आभिमुख्य [सम्मुख] अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और 'अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन् भागमीमहे' [ऋ० १–२४–३] यहाँ 'अभि' उपसर्गका प्रयोग नम्र-भावका सूचन करनेके लिए हुआ है। 'अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम्' [ऋ० १०–१२८–६] यहाँ प्रति उपसर्गका प्रयोग आभिमुख्य-से विपरीत दूर करने रूप अर्थमें हुआ है।

'तिरो धन्वा अतिरोचते' [ऋ० १०–१८७–२] यहाँ 'अति' उपसर्ग तथा 'सु देवो असि' [ऋ० ८-६९-१२] इसमें 'सु' उपसर्ग अभिपूजित अर्थमें प्रयुक्त हैं। 'मनसा निरूहथुः' [ऋ० १–१८२–५] यहाँ 'निर्' उपसर्ग निन्दार्थक है। 'दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय' [ऋ० ७–६५–३] यहाँ 'दुर्' उपसर्ग निन्दा-परक है।

'नि' 'अव' इति विनिग्रहार्थीयौ। 'उत्' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्।

'सम्' इत्येकीभावम्। 'वि', 'अप' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्।

'अनु' इति सादृश्यापरभावम्। 'अपि' इति संसर्गम्॥

'नि' और 'अव' ये [दोनों उपसर्ग विनिग्रह अर्थात् नीचे दबाने] अभिभूत करनेके अर्थमें आते हैं। और 'उत्' [उपसर्ग] इन दोनोंसे विपरीत [उन्नत होने अर्थमें] आता है।

'सम्' यह [उपसर्ग] एकीभावको कहता है और 'वि' तथा 'अप' इसके विपरीत [भेद]को कहते हैं।

'अनु' यह [उपसर्ग] सादृश्य तथा पश्चात् [अपरभाव] अर्थको कहता है। 'अपि' यह [उपसर्ग] संसर्गको। 'उप' यह [उपसर्ग]

'तनुष्व न्यमित्रान्' [ऋ० ४-४-४] यहाँ अमित्रान् नि-तनुष्व शत्रुओंको पराजित-अभिभूत करो इस रूपमें 'नि' उपसर्ग विनिग्रह अर्थात् अभिभवके अर्थमें आया है। इसी प्रकार 'अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिम्' [ऋ० ४-४-५] यातुजूनां जामिं स्थिरा अव-तनुहि इस रूपमें 'अव'-उपसर्ग अभिभवार्थमें प्रयुक्त है और 'उदग्ने तिष्ठ' [ऋ० ४-४-४] यहाँ 'उत्' यह उपसर्ग उससे उलटे उत्तिष्ठ अर्थका बोधक है। 'विनिग्रह' पदका अर्थ सभी टीकाकारोंने 'दबाना' किया है। इसलिए हमने भी अभिभव या दबाना अर्थ ही लिया है।

'सं गच्छध्वम् सं वदध्वम्' [ऋ० १०-१९१-२] यहाँ 'सम्' उपसर्ग एकीभावको कहता है। 'वि शत्रून् ताळिह वि मृधो नुदस्व' [ऋ० १०-१८०-२] यहाँ 'वि' उपसर्ग तथा 'आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरम्' [ऋ० १०-४२-७] यहाँ 'अप' उपसर्ग उससे उलटे अर्थको कहता है।

'यदस्य वातो अनुवाति शोचिः [ऋ० ४-७-१०] इसमें 'अनु' उपसर्गका प्रयोग सादृश्य अर्थमें हुआ है और 'पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीराः' [ऋ० १०-१३०-७] यहाँ 'अनु' उपसर्गका प्रयोग अपरभाव या पश्चात् इस अर्थमें हुआ है।

३ 'अप' इत्युपजनम् । 'परि' इति सर्वतोभावम् ।
'अधि' इत्युपरिभावमैश्वर्यं वा ।
एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः । त उपेक्षितव्याः ॥३॥
इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

वृद्धि [उपजन] को । 'परि' यह [उपसर्ग] सर्वतोभावको । 'अधि' यह [उपसर्ग] उपरिभाव अथवा ऐश्वर्यको [कहता है] ।

इस प्रकार [उपसर्ग] भिन्न-भिन्न [उच्चावच] अर्थोंको कहते हैं । उनको भली प्रकार समझ लेना चाहिये ॥३॥

'ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि' [ऋ० ४–४०–४] यहाँ 'अपि' उपसर्गका प्रयोग संसर्ग अर्थमें हुआ है । लोकमें 'अपि स्तुहि, अपि सिंच' ये 'अपि'के संसर्गार्थमें प्रयोगके उदाहरण हैं ।

'उप' उपसर्ग वृद्धिके अर्थमें आता है । उसका उदाहरण 'उप बर्बृहि वृषभाय' [ऋ० १०–१०–१०] इस मन्त्र-खण्डमें है ।

'परि' उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थमें प्रयुक्त होता है । उसका उदाहरण 'परीतो षिंचता सुतं सोमो य उत्तमं हविः' [ऋ० ९–१०७–१] यह मन्त्र है ।

'अधि' उपसर्गके उपरिभाव तथा ऐश्वर्य दो अर्थ यहाँ दिखलाये हैं । उनमेंसे उपरिभाव अर्थमें 'अधि' उपसर्गके प्रयोगका उदाहरण 'यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत्' [ऋ० १–१६३–९] इस मन्त्रमें और 'यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' [ऋ० १०–८१–४] इस मन्त्रमें ऐश्वर्य अर्थमें 'अधि' उपसर्गका प्रयोग हुआ है ।

'उपेक्षा' शब्द लोकमें जिस अर्थमें प्रयुक्त होता है, निरुक्तमें बिल्कुल विपरीत अर्थमें उसका प्रयोग पाया जाता है । लोकमें 'उपेक्षा करने'का अर्थ ध्यान न देना होता है । परन्तु यहाँ 'त उपेक्षितव्याः'का अर्थ उनपर विशेष ध्यान देना चाहिये, उनको भली प्रकारसे समझना चाहिये, यह है । 'उप समीपम् एत्य ईक्षितव्याः'का अर्थ भली प्रकार समझना चाहिये, यह किया गया है ।

प्राचीन टीकाकारोंमें प्रायः सभीने इन उपसर्गोंके भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट अर्थोंमें प्रयोगके लौकिक उदाहरण ही दिये हैं । और उनमें भी यह ध्यान नहीं रखा है

द्वितीयः पादः

[४]

अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे, अपि कर्मोपसंग्रहार्थे, अपि पदपूरणाः।

[४]

अब निपातोंका [वर्णन करते हैं]। [वे] भिन्न-भिन्न अर्थोंका बोध कराते हैं [इसलिए 'निपात' कहलाते हैं। नि + पत धातुसे 'ज्वलति-कसन्तेभ्यो णः' [अष्टा० ३-१-१४०] सूत्रसे कर्त्तामें ण-प्रत्यय होकर निपातशब्द बनता है। उन निपातोंके तीन भेद हैं। कुछ निपात] १ उपमार्थक [होते हैं। कुछ] २ अर्थोंका संग्रह करानेवाले [कर्मोप-संग्रहार्थक अर्थात् समुच्चयार्थक] भी [होते हैं। और कुछ केवल] ३ पदपूरक भी [होते हैं]।

कि क्रियायोगमें ही उपसर्गोंके उदाहरण दिये जावें। दुर्गाचार्यने 'आङ्'का उदाहरण तो 'आपर्वतात्' दिया ही है, पर उसके अतिरिक्त 'अतिधनः सुब्राह्मणः, निर्धनः दुर्ब्राह्मणः' आदि अन्य भी इस प्रकारके उदाहरण दिये हैं जिनमें क्रियायोग न होनेसे 'अति'-आदिकी उपसर्ग संज्ञा नहीं हो सकती है। इसलिए वे उदाहरण ठीक उपयुक्त नहीं हैं। यही हाल अन्य सब टीकाकारोंका है। स्कन्दस्वामीने अवश्य वैदिक उदाहरण देनेका और क्रिया-योगका ध्यान रखा है। हमने सारे उदाहरण वेदमन्त्रोंसे छांटे हैं। कुछ स्कन्दभाष्यसे भी लिये हैं, पर प्रायः स्वयं निकाल कर नये उदाहरण दिये हैं और उनमें क्रियायोगका विशेष ध्यान रखा है ॥३॥

यह प्रथम अध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ ॥

निपातोंका निरूपण

इस प्रथम अध्यायके प्रथम खण्डमें पदोंके नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार विभाग किये थे। इनमेंसे पिछले तीन खण्डोंमें नाम, आख्यात और उपसर्ग रूप तीन प्रकारके शब्दोंकी विवेचनाकर चुके। अब इस चतुर्थखण्डमें पदोंके चतुर्थ भेद निपातोंका निरूपण करते हैं। उपसर्गोंकी संख्या तो केवल २२ थी, परन्तु उन सबके भी उदाहरण यास्कने नहीं दिये थे। निपातोंकी संख्या बहुत अधिक है। अष्टाध्यायीमें 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' [१-४-५६] सूत्रसे निपातका

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च। अग्निरिव, इन्द्र इव इति।

उनमेंसे ये निम्नांकित चार [निपात] उपमार्थमें प्रयुक्त होते हैं। (१) इव यह [निपात भाषामें अर्थात्] लोकमें भी और [अध्याये इति अन्वध्यायं अर्थात्] वेदमें भी [उपमार्थमें प्रयुक्त होता है]। जैसे 'अग्निरिव इन्द्र इव' [अग्निके समान, इन्द्रके समान]।

अधिकार प्रारम्भ होता है और 'अधिरीश्वरे' [१-४-९७] सूत्रतक जाता है। इनमें मुख्यरूपसे 'चादयोऽसत्त्वे' [१-४-५७] और 'प्रादयश्च' [१-५-५८] इन सूत्रोंके अनुसार चादि तथा प्रादि गणमें पठित शब्दोंकी 'निपात' संज्ञा होती है। प्रादि-गण-पठित शब्द तो २२ ही हैं और उनकी 'उपसर्ग' संज्ञा भी होती है। परन्तु चादिगण बहुत लम्बा है। उसमें २०७ शब्दोंका संग्रह किया गया है। उन सब शब्दोंके अर्थोंका विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं है, इसलिए यास्काचार्य-ने उनमेंसे कुछके अर्थोंका ही विवेचन किया है। विवेचनाके सौकर्य्यके लिए उन्होंने निपातोंका तीन वर्गोंमें वर्गीकरण किया है। १ उपमार्थक-निपात, २ कर्मो-पसंग्रहार्थक अर्थात् समुच्चयार्थक-निपात और ३ पदपूरक-निपात। वैयाकरण लोग उपसर्गोंके समान निपातोंको भी 'द्योतक' मानते हैं 'वाचक' नहीं। नैयायिक उपसर्गोंको तो 'द्योतक' मानते हैं, परन्तु निपातोंको 'वाचक' मानते हैं। नैरुक्त उपसर्ग तथा निपात दोनोंको 'वाचक' मानते हैं। इसलिए यास्काचार्य आगे निपातोंके अर्थोंका वर्णन करते हैं।

१ उपमार्थक निपात

उपमार्थक 'इव' के पूर्वोक्त दोनों उदाहरण लोक और वेद दोनोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं। वेदमें 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' [ऋ० १०-८४-२] में 'अग्निरिव' इस उपमाका प्रयोग किया गया है]। इसी प्रकार 'इन्द्र इव' यह उपमा भी वेदमें 'इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ' [ऋ० १०-१७३-२] में पाई जाती है। इसलिए 'इव' निपातके उपमार्थमें प्रयोगके ये दोनों उदाहरण लोक और वेदमें समान रूपसे माने जा सकते हैं। परन्तु ग्रन्थकारने उनको यहाँ मुख्य रूपसे वैदिक उदाहरणके रूपमें ही प्रस्तुत किया है।

'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्। 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीयः। उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते।

'चित्' इत्येषोऽनेककर्मा। 'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्' इति पूजायाम्। आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति। आचिनोति बुद्धिमिति वा।

---

(२) 'न' यह [निपात] लोकमें निषेधार्थक होता है और वेदमें [निषेध तथा उपमा] दोनों अर्थोंमें [प्रयुक्त होता] है। जैसे 'नेन्द्रं देवममंसत' [ऋ० १०-८६-१] 'इन्द्रको देव नहीं मानते थे' इसमें। [इसमें विशेष नियम यह है कि] जिसका निषेध किया जाता है उसके पूर्व [न का] प्रयोग होता है। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' [ऋ० ८-२-१२] शराबमें मत्तोंके समान [यहां उपमार्थमें 'न' का प्रयोग है। विशेष नियम यह है कि] जिसके साथ उपमा दी जाती है उस [उपमान] के बाद [न का] प्रयोग होता है।

(३) 'चित्' यह [निपात] अनेकार्थक है। जैसे 'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्' इस [अत्यन्त गूढ़ विषय] को आचार्य ही कह सकते हैं, यह पूजार्थमें [चित्का प्रयोग है। प्रसंगतः आचार्य पदका निर्वचन कर देते हैं] 'आचार्य क्यों? [आचार्य पदसे कहा जाता है यह प्रश्न है। इसका उत्तर देनेके लिए उसका निर्वचन करते हैं] कि वह आचारको

उपमार्थक निपातोंमें इवके बाद दूसरा स्थान 'न' निपातका है। 'न' यह निपात लोकमें निषेधके अर्थमें प्रयुक्त होता है, उपमाके अर्थमें नहीं। परन्तु वेदमें निषेध तथा उपमा दोनों अर्थोंमें उसका प्रयोग पाया जाता है। उसके उन दो प्रकारके प्रयोगोंमें भी विशेष नियम यह पाया जाता है कि जब निषेध अर्थमें उसका प्रयोग होता है तब जिसका निषेध करता है उसके पहिले प्रयुक्त होता है। और उपमार्थमें प्रयुक्त होनेपर उपमानके बाद उसका प्रयोग होता है। इसी बातको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं—'नेन्द्रम्' इत्यादि।

'दधिचित्' इत्युपमार्थे । 'कुल्माषांश्चिदाहर' इत्यवकुत्सिते । कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति ।

ग्रहण कराता है [आचारकी शिक्षा देता है।] अथवा [जानने योग्य] अर्थोंका संग्रह करता है। अथवा [शिष्यकी] बुद्धिका विकास कराता है।

'दधिचित्' दहीके समान [शुभ्र] यह उपमार्थमें [चित्का लौकिक प्रयोग है। और तो तू क्या खिलावेगा, जा] कुल्माष [निकृष्ट धान्य] ही ले आ। यह निन्दा [अवकुत्सित] अर्थमें [चित्का प्रयोग है]। कुल्माष [पदका निर्वचन करते हैं कि वे] कुलोंमें [अर्थात् घरोंमें] रहते हैं।

यहाँ कुल्माष शब्दका अर्थ और उसका निर्वचन दोनोंकी व्याख्या अत्यन्त अस्पष्ट और विवादास्पद है। प्राचीन टीकाकार इसके विषयमें बिल्कुल मौन हैं। कुल्माष-शब्दका जो निर्वचन यहाँ किया गया है उसकी व्याख्या न दुर्गाचार्यने की है और न स्कन्दस्वामीने। 'शब्दार्थचिन्तामणि' नामक कोष-ग्रन्थमें कुल्माष-शब्दका अर्थ अधपके गेहूँ आदि किया है और उसके समर्थनमें निम्न श्लोक कहींसे उद्धृत किया है—

अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः।
कुल्माषा इति ख्यायन्ते शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः॥

आचार्य पदका जो निर्वचन यास्कने दिया है उसकी व्याख्या भी न दुर्गाचार्यने की है और न स्कन्दस्वामीने।

'इव' और 'न' इन दोनों निपातोंके उदाहरण वेदमन्त्रोंसे यास्कने उद्धृत किये थे। परन्तु 'चित्' निपातके तीनों अर्थोंमें केवल लौकिक उदाहरण ही यास्कने दिये हैं। वैदिक उदाहरण दिये जाते तो अच्छा होता। उपमार्थमें 'चित्'के प्रयोगके 'कुमारश्चित् पितरं वन्दमानम्' [ऋ० २-३३-१२] पिताकी वन्दना करते हुए कुमारके समान आदि अनेक वैदिक उदाहरण मिल सकते

'नु' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्वपदेशे । 'कथं नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे । 'न न्वेतदकार्षीत्' इति च ।

---

(४) 'नु' यह [निपात भी 'चित्'के समान] अनेकार्थक है। 'इदं नु करिष्यति' यह जो करेगा, यहाँ हेतुके कथनमें [नु-का प्रयोग है। किसीने देवदत्तको सवेरे-सवेरे खाते देखकर पूछा कि देवदत्त इस समय क्यों खा रहा है। तब उत्तर देनेवाला कहता है कि 'ग्रामं नु गमिष्यति' गाँवको जो जायगा, इसलिए खा रहा है, यह इसका हेत्वर्थक उदाहरण है। इसीको यहाँ 'इदं नु करिष्यति'से यास्कने कहा है।] 'कथं नु करिष्यति' क्यों करेगा ? [देवदत्त ग्रामको क्यों जायगा ?] यहाँ अनुप्रश्न [एक प्रश्नका उत्तर मिलनेके बाद उसी पर दूसरा पूरक प्रश्न करनेपर भी नु-का प्रयोग होता है] और 'न नु एतदकार्षीत्' क्या उसने यह [काम] नहीं किया यह भी [अनुप्रश्न अर्थमें नु-का प्रयोग है]।

हैं। पर कदाचित् निन्दा तथा प्रशंसार्थमें वैदिक उदाहरण सुलभ नहीं हो सकते, इसलिए यास्कने उसके सभी लौकिक उदाहरण दे दिये हैं। 'अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनाम्' [ऋ० ६-३०-३]में तथा 'सद्यश्चित्रः शवसा' [ऋ० १०-१७८-३] 'यः शवसा बलेन सद्योऽपि' यहाँ 'अपि'के अर्थमें भी 'चित्'का प्रयोग वेदमें पाया जाता है।

इस अनुच्छेदमें 'न न्वेतदकार्षीदिति च' यह भी अनुप्रश्नमें प्रयोगका एक उदाहरण दिया है। इसका पाठ सब जगह 'न' और 'नु'को मिलाकर 'नन्वेतदकार्षीदिति च' छपा है परन्तु वह ठीक नहीं है। 'न नु' दोनोंको अलग करके छापना चाहिये। दोनोंको मिला देनेपर तो 'ननु' अलग निपातका धोखा हो सकता है। यह 'ननु' निपातका प्रयोग नहीं है। ननुका प्रयोग होनेपर 'ननौ पृष्टप्रतिवचने' [अष्टा० ३-२-१००] सूत्रसे यहाँ लङ्-लकारका प्रयोग होना चाहिये था। यहाँ 'न नु' दो अलग-अलग निपातोंका प्रयोग है, इसलिए यहाँ 'नन्वोर्विभाषा' [अष्टा० ३-२-१२१] सूत्रसे लुङ्-लकारका प्रयोग होता है। अतः

अथाप्युपमार्थे भवति ।

'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' [ऋ० ६-२४-३] वृक्षस्य इव ते पुरुहूत शाखाः । वयाः शाखाः, वेतेर्वातायना भवन्ति । शाखाः खशयाः । शक्नोतेर्वा ॥१४॥

और उपमार्थमें भी [नु—का प्रयोग] होता है । जैसे 'सबके द्वारा स्तुत [पुरुहूत] हे इन्द्र ! वृक्षकी शाखाओंके समान तुम्हारी रक्षाएँ अर्थात् रक्षाकार्य सब ओर फैली हुई हैं' [ऋ० ६-२४-३] । हे बहुस्तुत [पुरुहूत], वृक्षके समान तुम्हारी शाखाएँ [अर्थात् वृक्षकी शाखाओंके समान तुम्हारी कृपाएँ] [मन्त्रमें आये हुए] 'वयाः [पदका अर्थ] शाखा है । [वयाः शब्द] वी-धातुसे बना है । वायुसे हिलनेवाली [वात अयन] होती है । शाखाएँ [खे आकाशे शेरते इति खशयाः] आकाशमें फैली हुई । [इसलिए शाखा कहलाती हैं] । अथवा शक्नोति धातुसे [पृषोदरादिगणकी प्रक्रियासे शाखा शब्द बनता है] ॥१४॥

'न नु' दोनोंको अलग करके 'न न्वेतदकार्षीदिति च' इस प्रकारका पाठ छापना चाहिये ॥४॥

खण्ड-विभाजन

पिछले प्रथम तथा द्वितीय खण्डके परम्परागत विभाजनके दूषित होनेके कारण हमने उसमें कुछ संशोधन किया था । यहाँ चतुर्थ तथा पञ्चम खण्डोंके विभाजनमें भी इसी प्रकारके संशोधनकी आवश्यकता प्रतीत होती है । पूर्व संस्करणोंमें चतुर्थ खण्डकी समाप्ति अगले पृ० ५० पर दी हुई 'अथापि समुच्चयार्थे भवति' इस पंक्तिपर की गयी है । और उसके बाद उसी ५० पृष्ठपर दी हुई अगली पंक्ति 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इस पंक्तिसे पञ्चम खण्डका आरम्भ किया गया है । विषयकी दृष्टिसे देखा जाय तो न यह समाप्ति उचित है और न यह आरम्भ ठीक है । इसका कारण यह है कि चतुर्थ खण्डके अन्तिम वाक्यमें 'वा' निपात समुच्चयार्थक भी होता है यह बात कही गई है । उसका समुच्चयार्थमें प्रयोग

दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने एक उदाहरण भी दिया है। किन्तु परम्परागत खण्ड-विभाजनमें यह उदाहरण अगले खण्डके आरम्भ में आता है। यह बात ठीक नहीं है। उदाहरणवाली केवल एक पंक्ति है—'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा'। इस पंक्तिको पूर्व खण्डके साथ ही रखना चाहिए। सिद्धान्त या नियम दूसरे खण्डमें डाला जाय और उसका केवल एक पंक्तिका उदाहरण भिन्न खण्डमें लिखा जाय यह बात नितान्त असंगत है। अतः यहाँ संशोधन अपेक्षित है।

यह तो हमने परम्परागत खण्ड-विभाजनकी एक त्रुटिकी ओर ध्यान दिया है। विषय-विवेचनकी दृष्टिसे खण्ड-विभाजनको सुव्यवस्थित करनेके लिए अभी दो बातें और भी देखनी हैं। चतुर्थ खण्डसे निपातोंका विवेचन आरम्भ हुआ है। उसमें निपातोंके १ उपमार्थक, २ कर्मोपसंग्रहार्थक तथा ३ पदपूरण नामसे तीन भेद दिखलाये हैं। उसके बाद प्रत्येक भेदके अन्तर्गत अनेक निपातोंको गिनाकर उनके उदाहरण दिये हैं। इसलिए निपातोंका यह विवेचन पर्याप्त लम्बा हो गया है। परम्परागत खण्ड-विभाजनके अनुसार ४ से ११ तक आठ खण्डोंको भी विविध निपातोंके निरूपणके लिए तीन भागोंमें विभक्तकर लेना चाहिये। उपमार्थक निपातोंका वर्णन एक [चतुर्थ] खण्डमें समाप्त समझना चाहिये। दूसरे कर्मोपसंग्रहार्थक निपातोंके वर्णनके लिए ५ से ९ तक पाँच खण्ड तथा तीसरे पदपूरण-निपातोंके वर्णनके लिए १० और ११ दो खण्ड लगते हैं। परम्परागत विभाजनमें विषय-विवेचनका कोई ध्यान नहीं रखा गया है, इसलिए किसी विषयका कुछ भाग भिन्न खण्डमें चला गया है। हम विषय-विवेचनको प्रधानता देते हुए इन खण्डोंके विभाजनको पुनर्गठित करके दे रहे हैं। चतुर्थ खण्डमें निपातोंका सामान्य परिचय तथा उपमार्थक निपातोंका सामान्य परिचय तथा उपमार्थक निपातोंका सोदाहरण वर्णन समाप्त हो जाता है। अब हमने जहाँसे पञ्चम खण्डका आरम्भ किया है वहाँसे कर्मोपसंग्रहार्थक निपातोंका वर्णन प्रारम्भ होता है। इसके प्रारम्भमें 'अथ' शब्द भी दिया गया है, इससे एक नवीन विषयके आरम्भकी सूचना मिलती है। यद्यपि परम्परागत विभाजनमें यहाँसे नवीन खण्डका आरम्भ नहीं हुआ है। किन्तु विषय-विवेचनकी दृष्टिसे और 'अथ' शब्दके प्रयोगको ध्यानमें रखकर हमने यहाँसे नवीन [पञ्चम] खण्डका आरम्भ किया है।

[५]

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः।

'च' इति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते। 'अहं च त्वं

[५]

[कहीं शब्दतः पठित और कहीं शब्दतः अपठित] जिस [निपात] के बीचमें आनेसे [आगमात्] अर्थोंमें पृथक्ता प्रतीत होने लगती है [औद्देशिक अर्थात् मूलरूपमें 'रामलक्ष्मणौ' इस अभिन्नरूपमें पठित होनेपर भी बीचमें कर्मोपसंग्राहक 'च' का समावेश करके 'रामश्च लक्ष्मणश्च' इस प्रकारके] विग्रहके द्वारा पृथक् हो जानेसे मूलरूप [औद्देशिकरूप] नहीं रहता है, वह 'कर्मोपसंग्रहार्थक' [निपात] है।

१—'च' यह [कर्मोपसंग्रहार्थक प्रथम निपात] समुच्चय अर्थमें [समुच्चित होनेवाले] दोनों [अर्थों] के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे

इस पञ्चम खण्डमें ग्रन्थकार कर्मोपसंग्रहार्थक निपातोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, 'कर्म' शब्द निरुक्तमें 'अर्थ' के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए 'कर्मोपसंग्रह' का अर्थ हुआ 'अर्थोंका संग्रह'। च, आ, वा, अह, ह और उ आदि १४ निपात यहाँ कर्मोपसंग्रहार्थक निपात माने गये हैं। इनका वर्णन इस पंचम खण्डसे लेकर नवम खण्डतक पाँच खण्डोंमें समाप्त होता है। इन निपातोंका सम्बन्ध केवल एक अर्थसे नहीं अपितु दो अर्थोंसे या अधिक अर्थोंसे रहता है। इसलिए इनको कर्मोपसंग्रहार्थक निपात कहते हैं। ग्रन्थकार पहिले 'कर्मोपसंग्रह' का अर्थ करते हैं - 'अथ' इत्यादि।

यह 'कर्मोपसंग्रह' का लक्षण यास्काचार्यने किया है। इस प्रकारके कर्मोपसंग्रहार्थक निपात कभी शब्दतः वाक्यमें प्रयुक्त रहते हैं और कभी 'राम-लक्ष्मणौ' के समान द्वन्द्व समासमें अप्रयुक्त भी रहते हैं। दोनों अवस्थाओंमें ये 'कर्मोपसंग्रहार्थक' कहलाते हैं। क्योंकि केवल एक अर्थका कथन होनेपर उनका प्रयोग संगत नहीं होता है। उनके प्रयोगकी संगतिके लिए दूसरे अर्थका संग्रह आवश्यक है। इसी आधारपर 'वा' आदिको भी 'कर्मोपसंग्रहार्थक' निपात माना जा सकता है। इन निपातोंको उदाहरण सहित दिखलाते हैं—'च' इत्यादि।

च वृत्रहन्' इति [ऋ० ८-६२-११]। एतस्मिन्नेवार्थे 'देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' इति [ऋ० १०-१६-११] 'आ'कारः।

'वा' इति विचारणार्थे। 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वा इह वा' इति। [ऋ० १०-११९-९] अथापि समुच्चयार्थे भवति। 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इति [कृ० यजु० १-७-७]।

'अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव' [ऋ० ८-६२-११] हे इन्द्र। मैं और तुम [सुखकी प्राप्तिके लिए मिल जावें]।

२—इसी [समुच्चय] अर्थमें 'देवभ्यश्च पितृभ्य आ' देवताओं और पितरोंके लिए [ऋ० १०-१६-११] यह 'आ' [निपात च के स्थान पर प्रयुक्त हुआ] है।

३—'वा' यह [तीसरा निपात] संकल्प-विकल्प [विचार] के अर्थ में [प्रयुक्त होता] है। जैसे—['हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वा इह वा'] 'कहो मैं पृथिवीको [उठाकर] यहाँ रख दूँ या वहाँ रख दूँ।' [ऋ० १०-११९-९। 'हन्त' पद यहाँ संबोधनार्थक है]।

और समुच्चय अर्थमें भी [वा निपातका प्रयोग] होता है। जैसे 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' वायु और मनु तुमको [वेग प्रदान करें]।

यहाँ चकार 'अहं' और 'त्वं' दोनोंका सम्बन्ध सूचित करता है और दोनोंके साथ उसका प्रयोग किया गया है।

'अहं च त्वं च वृत्रहन्' यह टुकड़ा जिस मंत्रमेंसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है—

अहं च त्वं च वृत्रहन्त्संयुज्याव सनिभ्य आ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥[ऋ०८-६२-११]

'देवभ्यश्च पितृभ्य आ' यह भाग जहाँसे उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है—

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥ [ऋ० १०-१६-११]

'हन्ताहं पृथिवी' आदि जहाँसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्न प्रकारहै—

'अह' इति च 'ह' इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। 'अयमह इदं करोतु अयमिदम्'। 'इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति' इति।

४-५—'अह' और 'ह' ये दोनों [कर्मोपसंग्रहार्थक निपात विनिग्रहार्थक अर्थात्] नियमार्थक हैं और [जिन दोके विषयको वे नियन्त्रित करते हैं उनमेंसे] पहिलेके साथ प्रयुक्त होते हैं। जैसे यह [देवदत्त] ही इस [निर्दिष्ट विशेष कार्यको करे और यह [यज्ञदत्त आदि दूसरा व्यक्ति] इस [दूसरे कार्य] को करे।'

[देवदत्त आदि कोई व्यक्ति] इस [निर्दिष्ट विशेष कार्य] को ही करेगा और इस [यहाँसे भी 'अह' और 'ह' निपातोंका दो अर्थोंसे सम्बन्ध है, अतः इन दोनोंको अर्थोपसंग्रहार्थक कहा गया है इस दूसरे कार्य] को नहीं करेगा।

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वे ह वो।

कुवित् सोमस्यापामिति ॥ [ऋ० १०-११९-९]

वायुर्वा त्वा' आदि उदाहरण जहाँसे लिया गया है वह पूरा मंत्र निम्न प्रकार है—

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।

ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्ते अस्मिञ्जवमाऽदधुः ॥ [कृ० यजु० १-७-७]

इदमु' तथा 'तदु' ये दोनों पद जहाँ प्रयुक्त हुए वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं—

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुना' वदस्थात्।

नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृण्वन्नुषसो जनाय ॥ [ऋ० ४-५१-१]

तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः।

उप ह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः ॥ [ऋ० १-६२-६]

यास्कने अब तक सारे उदाहरण ऋग्वेदसे दिये थे। यह उदाहरण यजुर्वेद से लिया है। यजुर्वेदमें भी यह पाठ तैत्तिरीय-संहिता [कृष्णयजुर्वेद] १-७-७ में

अथापि 'उ'कार एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण । 'मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्ति' इति । अथापि पदपूरणः 'इदमु' 'तदु' ॥५॥

[६]

'हि' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे ।

६—और इसी [विनिग्रह अर्थात् विशेष नियन्त्रणरूप] अर्थमें 'उ' कार [यह निपात] बादमें आने वालेके साथ [प्रयुक्त होता है] जैसे—'ये लोग झूठ बोल रहे हैं और वे सत्य बोल रहे हैं और ['उ' निपात] पदपूर्तिमें भी [प्रयुक्त होता] है जैसे—'इदमु' 'तदु' [यहाँ 'उ' का कोई अर्थ नहीं है] ॥५॥

[६]

७—'हि' यह [निपात] अनेकार्थक है । जैसे—क्योंकि इस कामको करेगा [इसलिए दण्ड अथवा पुरस्कारका भागी होगा] यह हेतुके कथनमें ['हि'का प्रयोग] है । '[ऐसा] क्यों करेगा' यह अनुप्रश्नमें

पाया जाता है । माध्यन्दिन-संहितामें उसके स्थानपर 'वातो वा मनो वा' इस प्रकारका पाठ [९-७] पाया जाता है । 'वा' निपातके वहाँ १ विचार और २ समुच्चय दो अर्थ दिखलाये हैं । इनमेंसे प्रकरणानुसार समुच्चयार्थको ही मुख्य समझना चाहिये । उसके साथ दूसरा अर्थ भी हो सकता है, यह दिखा दिया है ।

इसमें 'अह' का नियमन अर्थमें प्रयोग दिखलाया है । आगे 'ह' का उदाहरण देते हैं—'इदं ह' इत्यादि ।

'अह' तथा 'ह' दोनोंके प्रयोगके ये लौकिक उदाहरण दिये हैं । वैदिक उदाहरण खोजने होंगे ।

यहाँ भी दो अर्थोंके साथ सम्बन्ध होनेसे 'उ' निपात कर्मोपसंग्रहार्थक निपात कहा गया है । पदपूर्ति उसका दूसरा और गौण अर्थ है ॥५॥

'कथं हि करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'कथं हि व्याकरिष्यति' इत्यसूयायाम्।

'किल' इति विद्याप्रकर्षे। 'एवं किल' इति। अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां संप्रयुज्यते अनुपृष्टे। 'न किलैवम्' 'ननु किलैवम्'।

'मा' इति प्रतिषेधे। 'मा कार्षीः', 'मा हार्षीः' इति च।

['हि'का प्रयोग] है। यह क्या बतलायेगा [अर्थात् इस कठिन विषयको बतला सकना इसके वशकी बात नहीं है] यह असूया ['अर्थमें] 'हि'का प्रयोग है। 'गुणेषु दोषाविष्करणं असूया' गुणोंमें भी ईर्ष्यावश दोष निकालनेका नाम 'असूया' है।

८—'किल' यह [निपात] ज्ञानके उत्कर्षका सूचक है। जैसे—यह बात ऐसी ही है, यहाँ ['किल' निपात वक्ताके ज्ञानके प्रकर्षका सूचक है]। और 'न' तथा 'ननु'[निपातों]के साथ मिलकर अनुप्रश्नमें [प्रयुक्त होता] है। जैसे—'न किलैवम्' क्या यह बात नहीं है? और 'ननु किलैवम्' क्या वास्तवमें ऐसा है? ['इन दोनों उदाहरणोंमें 'किल'का प्रयोग अनुप्रश्नके अर्थमें है। एक प्रश्नका उत्तर मिलनेके बाद जो दूसरा पूरक-प्रश्न किया जाय उसको 'अनुप्रश्न' कहते हैं]।

९—'मा' यह [निपात] प्रतिषेध [अर्थ]में [प्रयुक्त होता] है। जैसे—'मत करो', 'मत ले जाओ'। [यहाँ मा निषेधार्थमें आया है]।

कर्मोपसंग्रहका दूसरा अर्थ

पिछले खण्डमें 'कर्मोपसंग्रहार्थक' निपातोंका वर्णन चल रहा था। ग्रन्थकारने स्वयं 'कर्मोपसंग्रह'का लक्षण पृष्ठ ४९ पर किया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे 'कर्मोपसंग्रह' पदका प्रयोग समुच्चयार्थमें कर रहे हैं। चतुर्थ खण्डमें इव, नु, चित् और न इन चार उपमार्थक निपातोंका वर्णन किया था। उसके बाद पञ्चम खण्डमें १ च, २ आ, ३ वा, ४ अह, ५ ह और ६ उ इन छः कर्मोपसंग्रहार्थक निपातोंका वर्णन किया गया है। इनके उदाहरण भी इस प्रकारके दिये गये हैं

'खलु' इति च । 'खलु कृत्वा' 'खलु कृतम्' । अथापि पद-पूरणः । 'एवं खलु तद् बभूव' इति ।

'शश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । 'शश्वदेवम्' इत्यनुपृष्टे । 'एवं शश्वत्' इत्यस्वयंपृष्टे ॥६॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

१०—और 'खलु' यह [निपात] भी [प्रतिषेध अर्थमें आता है] जैसे—'नहीं करना चाहिये' 'मत करो' । और पदपूर्तिमें भी [खलु प्रयुक्त] होता है । जैसे—'वह कार्य इस प्रकार हुआ' । [यहाँ 'खलु' का कोई अर्थ नहीं है । वह केवल वाक्यालंकार या पदपूर्तिके लिए प्रयुक्त हुआ है] ।

११—'शश्वत्' यह [निपात] लोकमें निश्चय [अर्थ]में [प्रयुक्त होता] है । 'एवं शश्वत्' 'क्या सदा ऐसा ही होता है'? यह अनुप्रश्नमें [सन्देहका—अनिश्चयका व्यंजक है] । और 'एवं शश्वत्' 'हाँ सदा ऐसा ही होता है' यह दूसरेके द्वारा पूछे जानेपर [दिये हुए उत्तरमें निश्चय के सूचक 'शश्वत्' शब्दका प्रयोग] है ॥६॥

जिनमें उनकी समुच्चयार्थकता स्पष्ट हो जाती है । किन्तु अब यहाँसे आगे जिन निपातोंका वर्णन प्रारम्भ हो रहा है उनके उदाहरणोंमें अन्य अन्य अर्थोंमें उनका प्रयोग दिखलाया गया है, किन्तु समुच्चयार्थमें उनके प्रयोगका न तो कोई निर्देश ही किया है और न कोई उदाहरण ही दिया है । इनको निपातोंके तीसरे भेद पदपूरणार्थक निपातोंके अन्तर्गत नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आगे पृष्ठ ७९ पर "ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु, अनर्थकाः । कम्, ईम्, इत्, उ इति ।" यह पदपूरणार्थक निपातोंका लक्षण किया है और कम्, ईम्, इत् और उ ये चार निपात पदपूरणार्थक दिखलाये हैं । और आगे उनके उदाहरण भी दिये हैं, इसलिए इस छठे खण्डसे जिन निपातोंका विवेचन प्रारम्भ हो रहा है उनको हम न पदपूरणार्थक निपातोंमें गिन सकते हैं

और न उपमार्थक निपातोंमें उनको गिना गया है। ऐसी दशामें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर इन निपातोंका यहाँ बीचमें उल्लेख क्यों कर दिया गया है? जब तक इसका उचित कारण नहीं मालूम होता है तब तक यहाँ विद्यार्थी बड़े सन्देह और दुविधामें पड़ जाता है। निरुक्तके और टीकाकार इस प्रश्नपर बिल्कुल मौन हैं। किसीने भी न तो इस प्रश्नको सोचा है और न इसका कोई उत्तर दिया है। किन्तु इसका उत्तर पाये बिना तो जिज्ञासा शान्त नहीं हो सकती है। हमारी दृष्टिमें उसका जो कुछ समाधान निकल सकता है वह निम्न प्रकार है—

ऊपर हमने इन सब निपातोंको कर्मोपसंग्रहार्थक निपात माना है। किन्तु इस 'कर्मोपसंग्रह' शब्दके हमें दो अर्थ करने होंगे। एक अर्थ तो यास्कने स्वयं दे दिया है, उसके अनुसार 'कर्मोपसंग्रह' पद समुच्चय अर्थका वाचक है। समुच्चार्थक निपातका सम्बन्ध परस्परसंबद्ध दो अर्थोंसे होता है। किन्तु 'कर्मोसंग्रह' या 'समुच्चय' शब्दका दूसरा अभिप्राय 'अनेकार्थक' भी हो सकता है। यहाँसे आगे जिन निपातोंका वर्णन प्रारम्भ हो रहा है उनके अनेक अर्थ ग्रन्थकारने दिखलाये है। यह दूसरे प्रकारका 'समुच्चयार्थत्व' या 'कर्मोपसंग्रहार्थत्व' है।

यद्यपि उपमार्थक निपातोंके भी अनेक अर्थ दिखलाये हैं, किन्तु उनमें उपमार्थकी प्रधानता होनेसे उन्हें उपमार्थक निपात कहा गया है। द्वितीय प्रकारके कर्मोपसंग्रहार्थक निपातोंमें उनकी गणना नहीं की गयी है।

आगेका विवेचन इन दूसरे प्रकारके 'कर्मोपसंग्रहार्थक' शब्दोंसे सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार 'कर्मोपसंग्रह' शब्दके दो अर्थ मानकर ही इस विवेचनकी संगति लग सकती है। अतः हमने इस दूसरी व्याख्याको लेकर ही इस प्रसङ्गकी सङ्गति लगानेका यत्न किया है। 'कर्मोपसंग्रहार्थक' निपातोंके ये दो भेद स्पष्ट हैं, इसलिए हमने पहिले पञ्चम खण्डको समाप्त करके यहाँसे नवीन छठे खण्डका आरम्भ किया है।

'हि', 'किल', 'मा', 'खलु' तथा 'शश्वत्' इन पाँचों निपातोंके लौकिक उदाहरण ही यहाँ ग्रन्थकारने प्रस्तुत किये हैं। उनके वैदिक उदाहरण खोजने होंगे ॥६॥

तृतीयः पादः

[७]

'नूनम्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्, विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च । अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सांचकार । स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम् ।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥ [ऋ० १-१७०-१]

---

[७]

'नूनम्' यह [निपात] लोकमें निश्चयार्थक है और वेदमें निश्चयार्थक एवं पदपूरक दोनों प्रकारका होता है ।

अगस्त्य [ऋषि या विज्ञानवेत्ता]ने इन्द्र [राजा या वैभवशाली धनिकवर्ग]के लिए विविध प्रकारकी भोग-सामग्री [हवि]का निर्माण करके [निरुप्य, उनके बजाय मरुतों अर्थात्] प्रजावर्ग [सामान्य जनों]को देनेका विचार किया तब वह राजा या धनिकवर्ग [इन्द्र] विज्ञानवेत्ताके पास] आकर दुःख प्रकट करते हुए कहने लगा कि—

[यह सुन्दर भोग-सामग्री] आज तो निश्चय ही हमको नहीं मिलती और कल भी मिलनेकी आशा नहीं है । क्योंकि जो बात अभी भविष्यके गर्भमें है [हुई ही नहीं है] उसको कौन जान सकता है । सामान्य लोगों का चित्त चंचल होता है, इसलिए उनका निश्चय [अधीतं] भी बदल जाता है [विनश्यति] ।

पञ्चम खण्डका आरम्भ जिस प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें अनुचित स्थानसे किया गया था उसी प्रकार उसकी समाप्ति भी अनुचित स्थानपर की गई है। पञ्चम खण्डकी समाप्ति यहीं हो जानी चाहिये । क्योंकि आगे नये निपात 'नूनम्' का वर्णन प्रारम्भ होता है । पूर्व-संस्करणोंमें 'नूनम्' निपातके प्रयोगका जो उदाहरणविषयक 'न नूनमस्ति' आदि मंत्र दिया है उसके पहिले खण्डको समाप्त कर दिया है । यह अनुचित है ।

यह प्रथम अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त हुआ ॥

खण्ड-समीक्षा

निरुक्तके पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित परम्परागत खण्ड-विभाजनमें यहाँपर भी त्रुटि है। परम्परागत खण्ड-विभाजनके अनुसार इस नवीन खण्डका आरम्भ 'न नूनमस्ति नो श्वः' इत्यादि मंत्रसे होता है। यह मंत्र 'नूनम्' पदका 'विचिकित्सा'के अर्थमें प्रयोग दिखलानेके लिए उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है। 'नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्'से लेकर 'स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे' तककी तीन पङ्क्तियां 'नून' पदसे ही सम्बन्ध रखनेवाली और इस उदाहरण-मंत्रकी अवतरणिकारूप हैं। इसलिए इन अवतरणिकारूप पंक्तियों और उदाहरणभूत मंत्र दोनोंका पाठ एक ही खण्डमें होना चाहिये था। किन्तु परम्परागत खण्ड-विभाजनमें अवतरणिकाभूत तीनों पङ्क्तियोंको छठे खण्डके अन्तमें रखा है और उदाहरणभूत मन्त्रसे नये सातवें खण्डका आरम्भ किया है। यह सर्वथा अनुचित है। फिर यहाँ केवल खण्ड-विभाजनकी ही बात नहीं है, यहाँ तो नया 'पाद' प्रारम्भ हो रहा है। ऐसे स्थलपर तो यह दोष और भी अधिक खटकनेवाला है। इसलिए हमने अवतरणिकाभूत तीनों पङ्क्तियोंको पूर्व-खण्डसे हटाकर नये खण्ड और नये पादके आरम्भमें रखा है।

इसके पूर्व 'शश्वत्' निपात भी विचिकित्सार्थीय कहा गया है। 'विचिकित्सा' शब्दका अर्थ लोकमें 'संशय' माना जाता है। परन्तु यहाँ उससे उलटा निश्चय ही 'विचिकित्सा' पदका अर्थ है। स्कन्दस्वामीने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते, 'धर्मे न विचिकित्सा कार्या' 'वेदवचने का विचिकित्सा'इति तथापीहोदाहरणेष्वसम्भवात् न सन्देहो विचिकित्सा उच्यते। किन्तर्हि–निश्चयः।"

दुर्गाचार्यने 'विचिकित्सा' शब्दका अर्थ करते हुए लिखा है—'विचिकित्सा नाम विवेकपूर्वकोऽवधारणाभिप्रायः'। इस व्याख्याके अनुसार भी 'विचिकित्सा' पदका अर्थ 'निश्चय' ही रहता है। अतः हमने यही अर्थ किया है।

क्या यह ऐतिहासिक प्रकरण है

यह मन्त्र यास्कने ऋग्वेदसे [ऋ० १-१७०-१] उद्धृत किया है। इसकी जो अवतरणिका यास्कने दी है उससे प्रतीत होता है कि इसमें अगस्त्य और इन्द्रका इतिहास पाया जाता है। वेदमें अनित्य इतिहास है या नहीं इसके विषयमें मीमांसा-दर्शनमें बहुत विस्तारके साथ विचार किया गया है और यह निर्णय किया गया है कि वेदोंमें अनित्य इतिहास सम्भव नहीं है। उसमें जिन स्थलोंपर इतिहासकी छाया-सी प्रतीत होती है वे स्थल वस्तुतः आलंकारिक-रूपसे या प्रतीकरूपसे किसी नित्य चिरन्तन सत्यको प्रकाशित करते हैं।

इस दृष्टिसे देखें तो हमें इस मन्त्र और इस सूक्तपर—जिसमेंसे यह मन्त्र लिया गया है—विशेषरूपसे विचार करना होगा। यास्कने जिस रूपमें अव-तरणिकाकी पङ्क्तियाँ यहाँ दी हैं उनसे स्पष्टरूपसे मन्त्रमें अनित्य इतिहासकी झलक मालूम होती है। किन्तु वेदमें अनित्य इतिहास माननेपर वेदकी प्रामा-णिकता एवं गौरवकी क्षति होती है। इसलिए हमें इस मन्त्र और इस सारे सूक्तको प्रतीकात्मक सूक्त मानकर उसकी विशेष व्याख्या करनी होगी। इस सूक्तमें 'इन्द्र' पद राजा या वैभवका प्रतीक है। मरुद्गण प्रजाजनोंके प्रतीक हैं। अगस्त्य विज्ञानवेत्ताका और हविपद भोग्य-सामग्रीका प्रतीक है। इस प्रकार इस सारे सूक्तमें प्रतीकात्मक शैलीसे वैभव और गरीबीके बीच चिर-अनादिसे चलनेवाले शाश्वत संघर्षका बड़ा सुन्दर चित्र देखनेको मिलता है। सूक्त बहुत छोटा-सा है। उसमें केवल पाँच मन्त्र हैं। पर है एकदम तीखे और नग्न-सत्यको सामने रख देनेवाले। यास्कने इसको इन्द्रका परिदेवन कहा है, पर हमें दीखता है कि यह इन्द्रका परिदेवन नहीं मरुतों अर्थात् प्रजाजनोंका परिदेवन है। इन्द्रको—राजाको अर्थात् वैभवको परिदेवनकी आवश्यकता ही कब हुई है? परिदेवन तो सदासे ही शोषित और गरीब प्रजाजनोंके बाँटमें आता रहा है। यहाँ भी वही शाश्वत-सत्य अंकित किया गया है। इसलिए यास्कके पाठमें कुछ भूल प्रतीत होती है। 'इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार' के स्थान पर 'मरुद्भ्यो न सम्प्रदि-त्सांचकार'। तथा 'स इन्द्र एत्य'के स्थान पर 'त इन्द्रम् एत्य परिदेवयांचक्रिरे' इस प्रकारका पाठ सूक्तकी भावनाके अनुरूप और अधिक अच्छा होता। पर हमने

मूल पाठमें परिवर्तन नहीं किया है। हम केवल उन मन्त्रोंकी प्रतीकात्मक व्याख्या यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। सूक्तके पाँचों मन्त्रोंमें बड़ी सुन्दर काव्यमयी भाषामें इस शाश्वत-सत्यका निरूपण किया गया है। सूक्तके प्रथम मन्त्रका अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। शेष चार मन्त्र और उनका अर्थ निम्न प्रकार है—

किं नं इन्द्र जिघांससि भ्रातंरो मुरुतुस्तवं ।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नंः समरंणे वधीः ॥२॥

हे परम ऐश्वर्यवान् [इदि परमैश्वर्ये धातुसे 'इन्द्र' शब्द बनता है] राजन् ! हम [गरीब प्रजाजन] आपके भाई हैं हमें क्यों मारना चाहते हैं। हमारे साथ आप कृपया साधुताका व्यवहार करनेकी कृपा करें और संग्राममें शत्रुकी तरह हमको न मारें।

किं नो' भ्रातरगस्त्यु सखा सन्नति' मन्यसे ।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमित्स दित्ससि ॥३॥

हे भाई विज्ञानवेत्तः [अगस्त्य], हमारे मित्र होते हुए भी आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं। हम आपके मनकी बात जानते हैं कि आप इस [आविष्कृत भोग-सामग्री] को हमको देना नहीं चाहते हैं। [उसे धनिक-वर्ग तक ही सीमित रखना चाहते हैं]।

अरं' कृण्वन्तु वेदिं सम्ग्निमिन्धतां पुरः ।
तत्रामृतंस्य चेतनं युज्ञं ते' तनवावहै ॥४॥

आओ हम और आप मिल कर एक समान वेदिकाका निर्माण करें और उसपर ज्ञानकी अग्निको प्रदीप्त करें। और उसपर समस्त अमर आत्माओंको एक साथ खड़े होनेका अवसर प्रदान करें। गरीब और अमीर सबको समान रूपसे ज्ञान-विज्ञानका लाभ उठानेका अवसर मिले।

त्वमी'शिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां' मित्रपते धेष्ठं ।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः संवदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ॥५॥

हे वैभवशाली राजन् ! आप वसुपति हो, सम्पत्तिके अधीश्वर हो, सम्पत्ति आपकी दासी है और हे मित्रपते ! आप विद्वानोंके श्रेष्ठ मित्र हो। इसलिए आप

न नूनमस्त्यद्यतनं नो एव श्वस्तनम् । अद्य अस्मिन् द्यवि । द्युरित्यह्नो नामधेयं द्योतत इति सतः । श्व उपाशंसनीयः कालः । ह्यो हीनः कालः । कस्तद्वेद यदद्भुतम् । कस्तद् वेद यदभूतम् ।

आगे निरुक्तकार मन्त्रके पदोंकी व्याख्या करते हैं

निश्चय ही आजकी [उत्पादित 'सामग्री' अर्थात् सुख-भोग-सामग्री हमारे लिए] नहीं है और कलकी [आगे उत्पन्न होनेवाली] भी [हमारे लिए] नहीं है। 'अद्य' [का अर्थ] इस [वर्तमान] दिनमें [है]। 'द्यु' यह दिवसका पर्यायवाचक है। द्योतन [क्रिया]से युक्त होनेके कारण ['द्यु' दिनका नाम है]। 'श्वः' [अर्थात् आनेवाला अगला कल] आशा करने योग्य काल [होनेसे 'श्वः' शब्दसे कहा जाता] है। ['श्वः' आनेवाले कलके सम्बन्धसे प्रसंगतः बीते हुए कलके वाचक ह्यः शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं] 'ह्यः' बीता हुआ काल होनेसे [ह्यः कहा जाता है]। 'जो अद्भुत बात है उसको कौन जानता है। [अद्भुत पदका अर्थ अभूत करते हुए इस मन्त्र-खण्डकी

अपने साथी प्रजाजनों मरुतोंके साथ मिलकर प्रेमका व्यवहार कीजिये और उनके साथ ही समयके अनुसार [ऋतुथा] समस्त भोग्य-वस्तुओं [हवींषि] का समानरूपसे उपभोग कीजिये तथा उनको भी उसका अवसर दीजिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्तके मन्त्रोंमें आदिसे अन्ततक गरीबी और अमीरीके बीच चले आनेवाले शाश्वत संघर्षका चित्रण कर उस संघर्षको बचानेके मार्गका उपदेश किया गया है। 'इन्द्र' यहाँ वैभव या राजाका प्रतीक है और मरुत प्रजाजन या गरीबीके प्रतीक हैं। अगस्त्य सुख-साधनोंके उत्पादक शिल्पी या वैज्ञानिक आदिका प्रतिनिधि है। इस प्रकारकी प्रतीकात्मक शैलीसे सामाजिक जीवनके शाश्वत-सत्यका चित्रण यहाँ किया गया है और उसको दूर करनेका मार्ग केवल भ्रातृ-भावनाका उदय है। संसारके सारे व्यक्ति भाई-भाई हैं, इस भावनाका उदय होनेपर ही सब लोग एक वेदिपर एकत्र होकर

इदमपीतरद् अद्भुतम् अभूतमिव । अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यम् अभिसंचारि । अन्यो नानेयः । चित्तं चेततेः । उताधीतं विनश्यति इत्यप्याध्यातं विनश्यति । आध्यातम् अभिप्रेतम् ॥७॥

व्याख्या करते हैं] जो [अभी हुआ नहीं है] भविष्यके गर्भमें है, उसको कौन जानता है [कौन जान सकता है कोई नहीं जान सकता है]। अन्योंका [अर्थात् सामान्य-जनोंका] चित्त अस्थिर होता है। 'अन्य' अर्थात् [विशिष्ट-पुरुषोंमें न आनेयः गणनाके योग्य नहीं [अर्थात् अन्य साधारण पुरुष]। 'चित्त' [शब्द] चिती [चिती संज्ञाने] धातुसे [बना] है। 'उताधीतं विनश्यति' भली प्रकार सोचा हुआ भी बदल जाता है। [अधीतंका अर्थ है] आध्यातं अर्थात् अभिप्रेत [चाहा हुआ अर्थ भी चित्तकी अस्थिरताके कारण स्थिर नहीं रहने पाता है— बदल जाता है] ॥७॥

'ऋतुथा हवींषि प्राशान' संसारके सुखोंका समान रूपसे भोगकर सकते हैं। यह इस प्रतीकात्मक सूक्तका अभिप्राय है।

शाश्वत-सत्योंके निरूपणके लिए वेदोंमें अनेक स्थानोंपर इस प्रकारकी प्रतीकात्मक शैलीका अवलम्बन किया गया है। सामान्य व्याख्याकार ऐसे स्थलोंपर लौकिक इतिहासका वर्णन मान बैठते हैं। परन्तु मीमांसक लोग वेदमें लौकिक इतिहास न मानकर ऐसे स्थलोंपर किसी शाश्वत सत्यकी अभिव्यक्ति ही मानते हैं। उसी सिद्धान्तके अनुसार हमने यह व्याख्या की है।

यास्कने यहाँ जो ऐतिहासिक विवरण दिया है वह उनका अभिमत पक्ष नहीं है, अपितु 'बृहद्देवता'के आधारपर ही उन्होंने इस इतिहासको यहाँ दिया है। इस प्रसङ्गकी विवेचना करते हुए 'बृहद्देवता'में शौनकाचार्यने लिखा है—

इतिहासः पुरावृत्तं ऋषिभिः परिकीर्त्यते ।
समागच्छन्मरुद्भिस्तु चरन् व्योम्नि शतक्रतुः ॥४६॥
दृष्ट्वा तुष्टाव तानिन्द्रस्ते चेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ।
तेषामगस्त्यः संवादं तपसा वेद तत्त्वतः ॥४७॥

[८]

अथापि पदपूरणः ।

नूनं सा ते प्रतिवरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी ।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥
(ऋ० २-१६-९)

---

[८]

और ['नूनं' यह निपात] पदपूरक भी होता है [जैसे निम्न मन्त्रमें]—

हे इन्द्र धनसे युक्त, [मघोनी] आपकी [आपको दी जानेवाली] यह दक्षिणा स्तुति करनेवाले भक्तको अभीष्ट फल [वरं] को प्रदान करे। आप स्तुति करनेवाले [भक्तों]को प्रचुर धन-सम्पत्ति आदि ['शिक्ष' अर्थात्] प्रदान करें, किन्तु हमारी उपेक्षा करके [अर्थात् हमको छोड़कर] न दें। [अर्थात् उसके साथ हमको भी प्रदान करें, क्योंकि हम भी आपके भक्त हैं। [आपकी कृपासे] हमें धन-धान्यकी प्राप्ति हो और वीर पुत्र-पौत्रादिसे युक्त हम [सदा] यज्ञोंमें आपकी अधिकाधिक स्तुति करते रहें।

स तानभिजगामाशु निरुप्यैन्द्रं हविस्तदा ।
मरुतश्चाभितुष्टाव सूक्तैस्त्न्विति च त्रिभिः ॥४८॥
महश्चिदिति चैवेन्द्रं सहस्रमिति चैतया ।
निरुप्तं तद्धविश्चैन्द्रं मरुद्भ्यो दातुमिच्छति ॥४९॥
विज्ञायावेक्ष्य तद्भावं इन्द्रो नेति तमब्रवीत् ।
न श्वो नाद्यतनं ह्यस्ति वेद कस्तद्यदद्भुतम् ॥५०॥
कस्यचित्त्वर्थसंचारे चित्तमेव विनश्यति ।
किन्न इत्यब्रवीदिन्द्रं अगस्त्यो भ्रातरस्तव ॥५१॥
मरुद्भिः संप्रकल्पस्व वधीर्मा नः शतक्रतो ।
किन्नो भ्रातरिति तस्यामिन्द्रो मान्यमुपालभत् ॥५२॥

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा मघोनी मघवती। मघम् इति धननामधेयं मंहते-र्दानकर्मणः। दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः। व्यृद्धं समर्धयतीति।

आपकी वह [दक्षिणा 'जरिता' अर्थात्] स्तुति-कर्ताको [वरं अर्थात्] अभीष्ट फल [प्रतिदुग्धां अर्थात्] बदलेमें प्रदान करे। 'वर' [उसको कहते हैं जो कि] वरण करने योग्य ['व्रियते इति वरः' माँगने योग्य] होता है। 'जरिता' अर्थात् 'गरिता' स्तुति करनेवाला [यह 'जरिता' शब्दका अर्थ है]। 'मघोनी' [शब्दका अर्थ] धनसे युक्त है। 'मघ' यह धनका नाम है, क्योंकि [मघशब्द] दानार्थक मंह-धातुसे बना है [दानार्थमें कोई मंह धातु, धातु-पाठमें नहीं आई है। धातू-नामनेकार्थत्वम्'के सिद्धान्तको मान कर ही यहाँ [वहि महि वृद्धौ

इत्यादि रूपमें शौनकाचार्यने इन मंत्रोंकी इतिहासपरक संगति लगानेका यत्न किया है। उसी पक्षको यास्काचार्यने यहाँ 'तत्रेतिहासमाचक्षते'से उद्धृत कर दिया है ॥७॥

खण्ड-समीक्षा

परम्परागत खण्ड-विभाजन पिछले स्थलोंके समान यहाँ भी त्रुटिपूर्ण है। पूर्व-संस्करणोंमें "अथापि पदपूरणः 'इस वाक्यसे पूर्व [सप्तम] खण्डकी समाप्ति होती है और 'नूनं सा ते' आदि मन्त्रसे अगले नये [अष्टम] खण्डका आरम्भ होता है। वास्तवमें 'अथापि पदपूरणः'। यह पङ्क्ति इस मन्त्रकी अवतरणिकारूपमें लिखी गई है। उसमें यह कहा गया है कि 'नूनम्' निपात पदपूर्तिके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरणरूपमें 'नूनं सा ते' आदि मन्त्र दिया गया है। इसलिए इस अवतरणिकाकी पङ्क्ति और उसके उदाहरण मूल मन्त्र दोनों एक ही खण्डमें रखे जाने चाहिये। अतः हमने अवतरणिकावाली पङ्क्तिसे ही इस नये [अष्टम] खण्डका आरम्भ किया है।

इस मन्त्रमें 'नूनम्' पदका कोई अर्थ नहीं है। वह केवल पदपूर्तिके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। आगे यास्क मन्त्रके पदोंकी व्याख्या स्वयं करते हैं—'सा' इत्यादि।

अपि वा प्रदक्षिणागमनात् । दिशमभिप्रेत्य । दिक् हस्तप्रकृतिः । दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः दाशतेर्वा स्यात् दानकर्मणः । हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने । देहि स्तोतृभ्यः कामान् । मा अस्मान् अतिदंहीः, मा अस्मान् अतिहाय दाः । भगो नो अस्तु । बृहद्वदेम स्वे वेदने । भगो भजतेः । बृहदिति महतो नामधेयम् । परिवृढं भवति । वीरवन्तः कल्याणवीरा वा । वीरो वीरयत्यमित्रान् । वेतेर्वा स्यात् गतिकर्मणः । वीरयतेर्वा ।

स्वादि] वह धातु दानार्थक धातु कही गयी है]। 'दक्षिणा' [शब्द] समृद्ध करनेके अर्थवाले 'दक्ष' [दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च भ्वादि०] धातुसे बना है। क्योंकि [दक्षिणा यज्ञमें जो कुछ] न्यून होता उसको [दूर करके यज्ञको] पूर्ण करती है। और ['अपिवा का अर्थ यहाँ 'और' करना चाहिए 'अथवा' नहीं। क्योंकि आगे दक्षिणाका दूसरा निर्वचन नहीं कर रहे हैं अपितु 'दक्षिणा' शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाले 'प्रदक्षिणा' शब्दका निवचन कर रहे हैं] 'प्रदक्षिणा' [दक्षिण] दिशाको लक्ष्यमें रखकर चलनेसे [प्रदक्षिणा कहलाती है। दक्षिण] दिशा [दक्षिण] हाथ [की ओर होने]के कारणसे है। दाहिना हाथ उत्साहार्थक 'दक्ष' धातुसे बना है। अथवा दान अर्थवाले [धातु दाश दाने स्वा०] दाश-धातुसे [बना है]। 'हस्त' [शब्द गत्यर्थक] हन धातुसे बना है। क्योंकि गति करने में अथवा [मारनेमें] वेगवान् होता है। स्तोताओंकी कामनाओंको दो [अर्थात् पूर्ण करो। 'शिक्षा'का अर्थ यहाँ 'देहि' है, यह अभिप्राय है]। हमको अतिक्रमण करके मत दो। हमें छोड़कर मत दो [क्योंकि हम भी आपके भक्त हैं, इसलिए हमारी उपेक्षा न करें। आपकी कृपासे] हमें ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो। अपने यज्ञ [वेदन]में हम [आपकी] बहुत स्तुति करें। 'भग' [शब्द भज सेवायाम्] भज-धातुसे [बनता] है [सेवन करने योग्य ऐश्वर्य धनादि को 'भग' कहते हैं]। 'बृहत्' यह महान्का पर्यायवाचक है, क्योंकि

'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।

'प्र सीमादित्यो असृजत्' [ऋ० २-२८-४]।

प्रासृजत् इति वा, प्रासृजत् सर्वत इति वा।

'वि सीमतः सुरुचो वेन आवः' [शु० य० १३-३] इति च।

व्यवृणोत् सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्यरश्मयः सुरोचनात्। अपि वा 'सीम्' इत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमी-

---

[वृहि वृद्धौ-धातुसे बना होनेके कारण] सब ओर बढ़ा हुआ होना है। [मन्त्रमें आये हुए 'सुवीराः' पदका अर्थ] वीरोंसे युक्त अथवा उत्तम वीरोंसे युक्त है। 'वीर' [वि उपसर्गपूर्वक 'ईर गतौ कम्पने च' (अदादि) धातुसे बना है। उसका अर्थ] शत्रुओंको भगानेवाला या कँपानेवाला है। अथवा गत्यर्थक वी-धातुसे [वीर शब्द बना है]। अथवा ['शूर वीर विक्रान्तौ' चुरादि] वीर-धातुसे [बना] है।

१३-'सीम्' यह [निपात] 'सब ओरसे' इस अर्थमें आता है। अथवा पदपूर्तिमें भी आता है। जैसे—'सीमत आदित्यो असृजत् आदित्यने [अपनी रश्मियोंको] सब ओर फैलाया' इसमें [यदि 'सीम्' को अनर्थक पदपूर्त्यर्थक मानें तो इसका अर्थ] 'फैलाया' [यह होगा। और यदि 'सीम्'को परिग्रहार्थक मानें तो] 'सब ओर फैलाया' [यह अर्थ होगा। इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण देते हैं] 'वि सीमतः सुरुचो वेन आवः' यह भी ['सीम्' निपातके द्विविध प्रयोगका उदाहरण है। 'सीम्' को परिग्रहार्थक माननेपर 'वेनः' अर्थात्] 'सूर्यने अपनी रश्मियोंको चारों ओर फैलाया।' [यह अर्थ होगा] या [अनर्थक या पादपूर्त्यर्थक मानने पर] 'फैलाया' [यह अर्थ होगा]। सुन्दर चमकवाली होनेसे सूर्यकी रश्मियाँ 'सुरुचः' कहलाती हैं। अथवा [उक्त मन्त्रमें] पंचम्यर्थक अनर्थक [तसिल्] प्रत्यय [यहाँ

इस प्रकार 'नूनम्' इस निपातके दो अर्थोंको कहकर आगे 'सीम्' इस निपातका अर्थ कहते हैं—'सीम्' इत्यादि।

कर्माणम् । सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः । सीमा मर्यादा, विषीव्यति देशौ इति ॥८॥

[९]

'त्व' इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम् । अर्धनाम इत्येके ।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

[ऋ० १०-७१-११]

'वि सीमतः' निपातके साथ] अनर्थक रूपमें जोड़ा गया है । 'सीम्नः' [इस पंचम्यन्त पदका अर्थ] 'सीमतः' अर्थात् सीमासे मर्यादासे [ग्रह होता है] । मर्यादा सीमा [कहलाती] है, क्योंकि यह दो देशोंको जोड़ती है । [इसलिए दो देशोंकी मर्यादा-रेखा सीमा 'नाम'से कही जाती है ॥८॥

[९]

१४–'त्व' यह [निपात विशेष नियन्त्रण अलग-अलगकर निगमन करनेके अर्थमें प्रयुक्त होनेवाला सर्वनाम और अनुदात्त [स्वरवाला] है । किन्हींके मतसे अर्ध–आधेका वाचक है । [जैसे]–

[यज्ञमें सम्मिलित होनेवाले होता, उद्गाता, ब्रह्मा तथा अध्वर्यु इन चार ऋत्विजोंमेंसे 'त्वः' अर्थात् 'एकः' अर्थात् होता] एक [ऋग्वेद-का ज्ञाता 'होता'] ऋचाओंकी पुष्टि करता हुआ बैठता है । और ['त्वः' अर्थात्] एक [सामका ज्ञाता 'उद्गाता'] शक्वरी-नामक ऋचाओंमें गायत्र [गायत्री छन्दवाले मन्त्रों] का गान करता है । [चारों वेदोंका पण्डित तीसरा ऋत्विक् अर्थात् 'ब्रह्मा' जाते-जाते मनि अर्थात्] अवसर आनेपर विद्याको कहता है [अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश देता है] । और एक [यजुर्वेदका ज्ञाता 'अध्वर्यु'] यज्ञके [मात्रा अर्थात्] स्वरूपका निर्माण करता है ।

इति ऋत्विक्-कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता। ऋग् अर्चनी।

गायत्रमेको गायति शक्वरीषु उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः। तद् यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्करीणां शक्करीत्वमिति विज्ञायते।

इस [मन्त्र] से [यज्ञमें काम करनेवाले चारों] ऋत्विजोंके कार्योंका विनियोग कहा जा रहा है। एक [अर्थात् 'होता'] ऋचाओंकी पुष्टि करता हुआ बैठता है। यह 'होता' [का कार्य कहा] है। ['अर्च्यते देवविशेषः क्रियाविशेषो वानया सा ऋक्। जिसके द्वारा किसी विशेष देवता या किसी विशेष क्रियाकी स्तुति की जाय' वह] अर्चना करनेवाली 'ऋक्' [कहलाती] है।

और दूसरा [एकः ऋत्विक् अर्थात् उद्गाता] शक्वरी नामक ऋचाओंमें गायत्र [गायत्री छन्दवाले मन्त्र] का गान करता है उद्गाता। 'गायत्रं' पद स्तुत्यर्थक गै-धातुसे बना है। शक्वरी [विशेष] ऋचाएँ हैं। [शक्वरी शब्द] शक्लृ-धातुसे बना है। क्योंकि इन [ऋचाओं] के द्वारा [इन्द्र] वृत्रका वध करनेमें समर्थ हुए। यही इन 'शक्वरियों' अर्थात् शक्वरी नामक ऋचाओंका'] शक्वरीत्व है अर्थात् इसी कारण ये 'शक्वरी' नामसे कही जाती हैं] यह [शक्वरी शब्दका निर्वचन ऐतरेय ब्राह्मणसे] भी ज्ञात होता है।

परम्परागत खण्ड-विभाजन यहाँ भी पहिलेके समान ही त्रुटिपूर्ण है। उसमें अवतरणिकावाली 'त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम्। अर्धनाम इत्येके।' इस पङ्क्तिको पूर्व [अष्टम] खण्डमें, और उसके उदाहरणभूत 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' आदि मन्त्रको नवीन [नवम] खण्डके आरम्भमें रखा गया है। विषयकी दृष्टिसे इन दोनों भागोंको एक ही खण्डमें रखना उचित प्रतीत होता है। अतः हमने अवतरणिकावाली पङ्क्ति से ही इस नवम खण्डका आरम्भ किया है।

ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः।

यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः अध्वर्युः। अध्वर्युः अध्वरयुः अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा। अपि वा अधीयाने युरुपबन्धः। अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरति-हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः ॥९॥

[तीसरे किन्तु प्रधान ऋत्विक् ब्रह्माके कार्यका निर्देश करते हैं] एक अर्थात् ब्रह्मा [जाते-जाते सति अर्थात्] अवसर आनेपर [प्रत्येक अवसरपर] विद्याको बतलाता है [अर्थात् कर्त्तव्य आदिका उपदेश करता है]। ब्रह्मा क्योंकि [सर्वविद्यः] सब वेदोंको जानने वाला होता है, [इसलिए] सब कुछ [अर्थात् सब ऋत्विजों के कर्त्तव्य आदिको जाननेमें समर्थ होता है। [चारों वेदोंका पण्डित होनेसे ब्रह्मा ज्ञानमें सबसे बड़ा होता है] इसीलिए 'वृह वृद्धौ' धातुसे बना हुआ ब्रह्म-शब्द उसके लिए प्रयुक्त होता है। 'ब्रह्म' सबसे बड़ा होता है [इसलिए वह भी 'ब्रह्मा' कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्म-शब्द भी इसी 'वृहि वृद्धौ' धातु-से बना है]।

[चौथे चरणसे 'अध्वर्यु' नामक चौथे ऋत्विक्के कार्यका विनियोग बताते हुए कहा है कि और [त्वः अर्थात्] एक, अध्वर्यु यज्ञकी मात्रा [अर्थात् स्वरूप]का निर्माण करता है। [आगे 'अध्वर्यु' शब्दका निर्वचन करते हैं—] अध्वर-यु अर्थात् 'अध्वर'को युक्त करनेवाला, अध्वरका नेता, 'अध्वर्यु' [कहलाता] है। अथवा अध्वरको चाहनेवाला। अथवा [अध्वर-शब्दसे] अध्ययन करनेवाला इस अर्थमें यु-प्रत्यय [होकर अध्वर्यु शब्द बनता] है। [इसलिए अध्वरका अध्ययन करने-वाला 'अध्वर्यु' कहलाता है]। अध्वर यज्ञको कहते हैं। क्योंकि ध्वरति धातु हिंसाके अर्थमें [धातूनामनेकार्थत्वात्] है। [जैसे 'ध्वृ हूर्छने' धातु है], उस [हिंसा]का जिसमें निषेध है [उस यज्ञको 'अध्वर' कहते हैं] ॥९॥

[१०]

निपात इत्येके । तत् कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् ?

[१०]

कुछ लोग [त्व] निपात है यह कहते हैं। इसलिए यह अनुदात्त-प्रकृतिवाला नाम कैसे हो सकता है। [अर्थात् प्रथम पक्षमें 'त्व'को अनुदात्त तथा सर्वनाम जो माना गया है वह उचित नहीं है। क्योंकि नाम अनुदात्त नहीं अपितु 'फिषोऽन्त उदात्तः' इस सूत्रके अनुसार सभी नाम अन्तोदात्त होते हैं।

खण्ड-समीक्षा

परम्परागत खण्ड-विभाजन पिछले स्थलों के समान यहाँ भी त्रुटिपूर्ण है। उसमें अगले पृष्ठपर दी हुई 'अथापि प्रथमाबहुवचने' इस पंक्तिपर इस खण्डको समाप्त किया गया है, और 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः' आदि मन्त्रसे अगले [दशम] खण्डका आरम्भ किया गया है। यह अनुचित है। 'अथापि प्रथमा-बहुवचने' वाली पंक्ति मन्त्र की अवतरणिका है। उसमें कहा गया है कि 'त्व'का प्रयोग प्रथमाके बहुवचनमें भी पाया जाता है। इस प्रकारके प्रयोग दिखलानेके लिए यह मन्त्र उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। इसलिए अवतरणिका-वाली पंक्तिको मन्त्रके साथ एक ही खण्डमें रखा जाना चाहिये। पूर्व-संस्करणोंमें जो उन दोनों भागोंको अलग-अलग खण्डों में छापा गया है वह अनुचित है। इसलिए हमने संशोधन करके अवतणिकावाली पंक्तिको भी इस दशम खण्डमें ही स्थान दिया है।

इस खण्डमें हमने एक और परिवर्तन किया है। वह परिवर्तन यह है कि हमने 'निपात इत्येके' इस पंक्तिसे इस खण्डका आरम्भ किया है। पूर्वसंस्करणोंमें यहाँसे खण्डका आरम्भ नहीं किया गया है। हमने जो यहाँ नवीन खण्डका आरम्भ किया है उसका कारण यह है कि यहाँसे एक नये विषयका विवेचन प्रारम्भ होता है। पिछले खण्ड में 'त्व' को सर्वनाम कहा गया था अर्थात् युष्मद्, अस्मद् आदि शब्दोंके समान 'त्व' भी एक सर्वनाम पद है और उसका अर्थ आधा—कुछ या एक होता है। इस नये खण्डमें उसको

दृष्टव्ययं तु भवति ।

'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः' [ऋ० १०-७१-५] इति द्वितीयायाम् ।

'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' [ऋ० १०-७१-४] इति चतुर्थ्याम् ।

["त्व" सर्वनाम हो सकता है, क्योंकि उसका] व्यय [अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपोंमें परिवर्तन] देखा जाता है। जैसे 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः' यहाँ 'त्वम्' यह द्वितीया विभक्तिमें।' 'उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे' यहाँ चतुर्थीमें ['त्व'का रूप-परिवर्तन पाया जाता है। इसलिए 'त्व' सर्वनाम हो सकता है। आगे और भी उसके रूपोंका परिवर्तन दिखलाते हैं—]

'निपात' बतानेवाले दूसरे मतकी चर्चा की गयी है। अतः विषयके भेदसे यह खण्डका भेद है। उस दशामें नवीन खण्डका आरम्भ इसी स्थानसे होना उचित है, अन्य किसी स्थानपर नहीं। अतः हमने यहीं से इस दशम खण्डका आरम्भ किया है।

'त्व' को निपात माननेवाला पूर्वपक्ष

इस ऊपरके नवम-खण्डमें 'त्व' को सर्वनाम और अनुदात्त कहा गया है, किन्तु अन्य लोग इसको सर्वनाम न मानकर निपात मानते हैं। उनका कहना है कि 'फिषोऽन्त उदात्तः' [फि० सू० १—१] इस फिट्-सूत्रके अनुसार सभी नाम अन्तोदात्त होते हैं। वे अनुदात्त नहीं हो सकते। जिस 'त्व' को आप अनुदात्त कहते हैं वह नाम कैसे हो सकता है। इसलिए वह नाम नहीं अपितु निपात है।

इसका उत्तर इस खण्ड १० में यह देते हैं कि यदि 'त्व' निपात होता तो उसे अव्यय होना चाहिये था। अर्थात् अव्यय-शब्दोंका लिंग, विभक्ति आदिमें रूपका कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसा कि उसके लक्षणमें कहा गया है—

"सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥"

अथापि प्रथमाबहुवचने—

'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ।'

[ऋ० १०-७१-७]

और प्रथमा विभक्तिमें भी ['त्व'का प्रयोग निम्न मन्त्रमें पाया जाता है]—

आँखों और कानों [आदि अंगोंकी रचनाकी दृष्टि] से समान स्थितिवाले [विद्यार्थी] भी मनके वेगमें [अर्थात् बुद्धिकी तीव्रताकी दृष्टिसे] बराबर नहीं होते हैं। [कोई] मुख तक पानी आनेवाले, [कोई] बगल तक पानी आनेवाले और [कोई] स्नानके योग्य [अर्थात् थोड़े पानीवाले, जिनमें आरामसे विना किसी भयके स्नान किया जा सके इस प्रकारके] तालाबोंके समान [भीतर भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हुए भी ऊपरसे एकसे] दिखलायी देते हैं।

इस लक्षणके अनुसार 'त्व' को यदि निपात माना जाय तो उसके रूपोंमें किसी भी अवस्थामें परिवर्तन नहीं होना चाहिये। किन्तु हम उसके विभिन्न विभक्तियों एवं वचनों में रूपोंका प्रयोग वेदमें पाते हैं। जैसे कहीं 'त्वम्' यह द्वितीयाका, कहीं 'त्वस्मै' यह चतुर्थीका और कहीं 'त्वे' यह प्रथमाके बहुवचनका रूप प्रयुक्त किया गया है। इसलिए 'त्व'को सर्वनाम माननेमें कोई अनौचित्य नहीं है। इसी बातको पुष्ट करनेके लिए 'त्व' के अनेक विभक्तियोंमें विभिन्न रूपोंके प्रयोग अगले उदाहरणमें दिखलाते हुए यास्क आचार्य 'त्व'को सर्वनाम माननेके विषयमें उठायी हुई शंकाका समाधान करनेके लिए इस खण्डका आरम्भ करते हैं। इसमें पहिली पंक्तिमें शंका उठा कर आगे उसका समाधान करेंगे। शंका प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—'निपात' इत्यादि।

सर्वनामवादी सिद्धान्त-पक्ष

इस पूर्वपक्षका समाधान करनेके लिए अगली पंक्तियोंमें 'त्व'के व्यय अर्थात् विभिन्न विभक्तियोंमें रूप-परिवर्तनको दिखलाते हैं।

आगे प्रथमा विभक्तिके बहुवचनोंमें भी 'त्व'का प्रयोग दिखलानेके लिए मन्त्र उद्धृत करते हैं—'अक्षण्वन्तः' इत्यादि।

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेः, अनक्तेरित्याग्रायणः। 'तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवतः' इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्ततेः, निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः। 'ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम्' इति ह विज्ञायते।

[आँखोंवाले और कानोंवाले सखा अर्थात्] आँख-कान में एक जैसे। अक्षि [शब्द 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि', 'अक्ष दर्शनेऽपि' धातुसे 'चष्टे अनेनेति चक्षुः' इस निर्वचनमें] चक्षिङ्-धातुसे बनता है। आग्रायण अंजू-धातु ['अंजू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' रुधादि] से मानता है। इसलिए ये अधिक व्यक्त होती हैं [मुखमें सबसे अधिक चमकती हैं] यह [ब्राह्मणमें चक्षु शब्दका निर्वचन] पाया जाता है। कर्ण [शब्द] 'कृती छेदने' धातुसे [बनता] है। [क्योंकि उसका द्वार कटा हुआ होता है। आग्रायण ऋच्छ-धातुसे ['ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु' तुदादि] मानता है। शिरसे बाहर निकले हुए '[उद्गन्तां उद्गच्छन्तौ] ये आकाशमें जाते हुएसे [प्रतीत होते] हैं' यह [ब्राह्मणग्रन्थमें कर्णपदका निर्वचन] पाया जाता।

आग्रायणके मतके समर्थनमें जो दो वचन यहाँ उद्धृत किये गये हैं वे किस ब्राह्मणसे लिये गये हैं इसका पता नहीं चलता है। दुर्गाचार्य आदिने 'आकाशमें उत्पन्न हुए शब्द इनकी ओर जाते हैं और ये भी उनको ग्रहण करनेके लिए आकाशमें जाते हैं' यह अर्थ इस वाक्यका किया है। स्कन्दस्वामीने 'खे उदगन्ताम्' यहाँ 'खे' को सप्तमीका एकवचन न मानकर प्रथमाका द्विवचन माना है। क्योंकि उसी दशामें 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' [अष्टा० १-१-११] सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिवद्भाव हो सकता है। सप्तमी माननेपर तो 'खे'के ए का लोप होकर 'ख उद्गन्ताम्' यह प्रयोग होना चाहिये। इस कारण 'ऋच्छन्ति' को क्रिया न मान कर उन्होंने ऋच्छन्ती यह शतृ-प्रत्ययान्त प्रथमाका द्विवचन माना है। अतः स्कन्दस्वामीके मतमें कर्णबिलरूप दो आकाश इनके भीतर जाते हुएसे हैं, यह अर्थ इस वाक्यका होता है।

मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः। आस्यदघ्ना अपरे, उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यम् अस्यतेः। आस्यन्दत एतदन्नमिति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः, दस्यतेर्वा स्यात्, विदस्ततरं भवति। प्रस्नेया ह्रदा इवैके ददृशिरे। प्रस्नेयाः स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्लादतेर्वा स्यात् शीतीभावकर्मणः।

मनोंके वेगमें असम [भिन्न-भिन्न प्रकारके] होते हैं। कोई आस्यदघ्न और कोई उपकक्षदघ्न। आस्य [शब्द 'असु क्षेपणे' इस] असु-धातुसे [बनता है क्योंकि उसमें अन्न फेंका-डाला-जाता है] अथवा [आङ्-पूर्वक 'स्यन्दू प्रस्रवणे' धातुसे भी आस्य शब्द बन सकता है क्योंकि] यह अन्नको द्रव बनाता है। दघ्न [पद] बहनेके अर्थवाली ['दघ घातने पालने च' स्वादिको अनेकार्थक मानकर] दघ-धातुसे अथवा ['तसु उपक्षये' 'दसु च' दिवादि०] क्षयार्थक दसु धातुसे [बना] है। क्योंकि [विदस्ततरं] क्षीणतर होता है। कोई स्नान करने योग्य [स्वल्प जल वाले] तालावोंके समान दिखलायी देते थे। प्रस्नेय अर्थात् स्नान करने योग्य। ह्रद [शब्द] शब्दार्थक ['ह्राद अव्यक्ते शब्दे' भ्वा०] ह्राद धातुसे अथवा 'ह्लादी सुखे च' शीतीभाव अर्थवाले ह्लाद-धातुसे बना है।

इस मन्त्रको यास्कने 'त्व' पदका प्रथमाके बहुवचनमें प्रयोग दिखलानेके लिए उदाहरणरूपमें उद्धृत किया है। और इस प्रकार 'त्व' पदके विभिन्न विभक्तियोंमें होनेवाले रूप-परिवर्तनोंको दिखाकर उन्होंने यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि 'त्व' यह अव्यय नहीं हो सकता है। इसलिए यह निपात न होकर सर्वनाम है। सर्वनाम न मानकर निपात माननेवालोंने सर्वनाम न माननेमें यह युक्ति दी थी कि 'फिषोऽन्त उदात्तः' इस फिट्-सूत्रके अनुसार नाम अन्तोदात्त होने चाहिये अनुदात्त नहीं। तब यह अनुदात्त प्रकृतिवाला 'त्व' नाम कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि अन्य नाम अन्तोदात्त ही होते हैं, किन्तु 'त्व, त्य, नेम, सम, सिम, इत्यनुच्चानि [फि० ४-९] इस फिट्-सूत्रसे 'त्व'

अथापि समुच्चयार्थे भवति ।

'पर्याया इव त्वदाश्विनम्' । [कौषीतकीब्राह्मण १७-४] । आश्विनं च पर्यायाश्चेति ॥१०॥

और ['त्व' यह निपात] समुच्चय अर्थमें भी [प्रयुक्त] होता है । जैसे—

पर्याय और आश्विन [ये दोनों यज्ञपात्रोंके नाम हैं] ।

पर्याय और आश्विन । [यहाँ 'त्व' के स्थान पर 'त्वत्' निपातका प्रयोग है । चादिगणमें इन दोनोंमेंसे किसीका पाठ नहीं है । त्वा और त्वे का पाठ है] ॥१०॥

को विशेषरूपसे अनुदात्त कहा गया है । अतः यह अनुदात्त होकर भी सर्वनाम हो सकता है । और सर्वनाम होनेकी अवस्थामें ही उसमें विभक्तियोंमें रूपों का परिवर्तन हो सकता है ।

इस प्रकार यास्कने यहाँ 'त्व' की सर्वनामताका विशेषरूपसे समर्थन किया है । किन्तु उसका पाठ सर्वादिगण और चादिगण दोनोंमें पाया जाता है । अतः सर्वादिगणमें पठित होनेसे वह सर्वनाम और त्वा एवं त्वे के रूपमें चादि गणमें पठित होनेसे वह निपात दोनों ही कहलाता है ।

इस प्रकार यहाँ तक 'त्व' का विनिग्रह—विशेष नियमन या अलग करना रूप अर्थ दिखला कर उसके उदाहरण दिये हैं । अब उसका समुच्चयरूप दूसरा अर्थ कहते हैं—'अथापि' इत्यादि ।

दुर्गाचार्यने 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्' इस वाक्यका पता ऋक्-प्रातिशाख्य १२-१० दिया है । उसीके आधारपर उत्तरवर्ती टीकाकारोंने भी यही पता दे दिया है । परन्तु यह वचन ऋक्-प्रातिशाख्यमें कहीं नहीं आया है—वह 'कौषीतकी-ब्राह्मण' का वचन [१७-४] है ।

द्वितीय पाद या चतुर्थ खण्डसे निपातोंका निरूपण प्रारम्भ हुआ है, वहाँ निपातोंके तीन भेद किये थे । १ उपमार्थक, २ समुच्चयार्थक और ३ पदपूरक । उनमेंसे उपमार्थक चार निपातोंका वर्णन चतुर्थ खण्डमें हो चुका है । उसके बाद पाँचवें खण्ड से यहाँ दशम खण्ड तक २य प्रकारके कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों-

[११]

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु, अनर्थकाः। कम् ईम् इत् उ इति।

[११]

[प्रवृत्ते अर्थे अर्थात् वाक्यके अन्य पदोंके द्वारा ही] अर्थके पूर्ण हो जाने पर [अमिताक्षर अर्थात् जिनमें अक्षरोंकी गणनाका नियम नहीं होता है उस प्रकारके] गद्य-ग्रन्थोंमें जो वाक्यपूर्ति [अर्थात् वाक्यालंकारके रूप] में प्रयुक्त होते हैं वे ही नियत अक्षरोंवाले [अर्थात् पद्यबद्ध] ग्रन्थोंमें पदपूरक-अनर्थक-[निपात] होते हैं। जैसे—१ कम्, २ ईम्, ३ इत्, और ४ उ ये [चार निपात मुख्य रूपसे पदपूरकरूपमें आते हैं।

का वर्णन हुआ है। इनकी संख्या १४ है। इन समुच्चयार्थक निपातोंके निरूपणमें ५,६ और ७ खण्डोंमें खलु, नून और सीम्का पदपूरक रूपमें भी प्रयोग दिखलाया है, परन्तु वह प्रासंगिकमात्र है। पदपूरक निपातोंका मुख्य वर्णन अगले खण्ड से किया जाता है ॥१०॥

पदपूरक निपातोंका वर्णन

इस अध्यायके आरम्भमें प्रथम खण्डमें १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग और ४ निपात रूप पदोंके चार भेदोंका प्रतिपादन किया था। और उसके साथ ही नाम तथा आख्यातका सामान्य विवेचन भी उसी प्रथम खण्डमें कर दिया था। द्वितीय खण्डमें शब्दकी नित्यताका विचार किया गया था। उसके बाद तृतीय खण्डमें उपसर्गों एवं चतुर्थ खण्डमें निपातोंका सामान्य विवेचन किया था। उसमें निपातोंके १ उपमार्थक-निपात, २ कर्मोपसंग्रहार्थक-निपात तथा ३ पदपूरक-निपात ये तीन भेद दिखलाये थे। इनमेंसे उपमार्थक चार निपातोंका सोदाहरण वर्णन भी उसी चतुर्थ खण्डमें हो गया था। पाँचवेंसे दसवें तक छः खण्डोंमें २य प्रकारके कर्मोपसंग्रहार्थक १४ निपातोंकी विवेचना की जा

'शिशिरं जीवनाय कम्' ।

शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा ।

[निष्ट्वक्त्रासः] अर्थात् वस्त्रहीन तथा भूरितोकाः अधिक सन्तानोंवाले चिदिन्नरा कुछ दरिद्र लोग हेमन्तके शीतसे अत्यन्त भयभीत होकर [जीवनाय कम्] 'जीवन [की रक्षा]के लिए शिशिरको [ववाशिरे] आवाहन करते हैं [यहाँ 'कम्' यह निपात अनर्थक है। इसलिए इस वाक्यका अर्थ उस 'कम्' को निकाल कर केवल] 'शिशिरं जीवनाय' [इतना ही रह जाता है। 'कम्' अनर्थक है]। शिशिर [शब्द 'शॄ हिंसायाम्' क्र्यादि०] शॄ-धातुसे बना है [क्योंकि वह वृक्षोंकी पत्तियोंको नष्ट कर देता] अथवा [शमु हिंसायाम् क्र्या०] शम-धातुसे बना है [उस पक्षमें भी उसका अर्थ वही रहता है]।

चुकी है। अब निपातोंका तीसरा भेद (पदपूरक-निपात) विवेचनाके लिए शेष रह जाता है। उसकी विवेचना ग्रन्थकार इस ग्यारहवें खण्डमें आरम्भ करते हैं। इसमें कम्, ईम्, इत् और उ इन चार निपातोंको मुख्य रूपसे पदपूरक निपातके रूपमें दिखलाया है। हि, खलु आदि अन्य निपात भी पदपूरकके रूपमें प्रयुक्त होते हैं, किन्तु वेदमें ये चारों निपात पदपूरकके रूपमें ही प्रयुक्त होते हैं, अन्य अर्थोंमें नहीं, इसीलिए यास्कने इन्हें विशेषरूपसे पदपूरक निपात माना है। इनके उदाहरण आदि देनेके पहिले ग्रन्थकार पदपूरक निपात किनको कहते हैं, यह बतलाते हुए लिखते हैं—'अथ ये' इत्यादि।

आगे इन चारों पदपूर्त्यर्थक निपातोंके उदाहरण देते हैं—'शिशिरम्' इत्यादि।

पदपूरक निपातके रूपमें 'कम्'का प्रयोग दिखलानेके लिए यहाँ ग्रन्थकार यास्कने 'शिशिरं जीवनाय कम्' यह उदाहरण दिया है। यह उदाहरण कहाँसे लिया गया है इसका पता नहीं चलता। ऋग्वेद १०-१६१-२ में इससे मिलता-जुलता 'हविषा जीवनाय कम्' यह टुकड़ा मिलता है। इसमें भी 'कम्' निपात पदपूर्तिके लिए ही प्रयुक्त हुआ है अतः यह भी उसका उदाहरण बन सकता है। किन्तु 'शिशिरं जीवनाय कम्' यह उदाहरण ऋग्वेदमें कहीं नहीं मिलता है।

'एमे॑नं सृजता सुते' [ऋ० १-९-२]
आसृजत एनम् सुते
'तमिद्व॑र्धन्तु नो॒ गिरः' [ऋ० ९-६१-१४]

[पहिले सोमके] रस निकल जानेपर इसको डालो।

३-हमारी स्तुतियाँ उस [सोम] को बढ़ावें। [यहाँ 'इत्' अनर्थक है। अतः हमारी वाणी उसको बढ़ावे [यह अर्थ होता है] वाणीका अर्थ स्तुति है।

वास्तवमें तो बात यह है कि ऋग्वेदमें कहीं 'शिशिर' पदका भी प्रयोग नहीं हुआ है।

दुर्गाचार्यकी टीकामें केवल 'शिशिरं जीवनाय कम्' इतने ही अंशको मूल पाठमें माना है। और लिखा है कि 'शाखान्तरेषु शेषो मृग्यः।' अर्थात् मंत्रका शेष पूरा पाठ ऋग्वेदकी किसी दूसरी शाखामें खोजना चाहिये। किन्तु दुर्गाचार्यके समयके पूर्व ही कुछ लोगोंने मन्त्रके शेष भागको जोड़कर—इस रूपमें मन्त्रकी पूर्ति कर दी थी। इसका संकेत करते हुए दुर्गाचार्यने लिखा है कि—'केचिदेव कृतशेषमधीयते'

निध्रुवक्त्रासंश्रिदिन्नरो॒ भूरि॑तो॒का वृ॒कादि॑व।
बि॒भ्य॒स्यन्तो॑ ववाशि॒रे शिशि॑रं॒ जीवना॒य कम्॥

किन्तु पूर्ति करनेवालोंने यह पाठ कहाँसे किस शाखासे लिया है इसका कुछ पता नहीं लगता। ऋग्वेदमें न यह पूरा मंत्र पाया जाता है और न 'शिशिरं' पद।

२ 'ईम्'का उदाहरण आगे 'एमेनं' पदमें दिखलाते हैं। इस पदमें आ + ईम् + एनं इस प्रकारका पदच्छेद होता है। उसमें 'ईम्' अनर्थक है। इसलिए 'एनं आसृजत' इतना ही वाक्य सार्थक रह जाता है। उसका ऊपर लिखा अर्थ होता है।

'एमेनं सृजता सुते' यह टुकड़ा जहाँसे उद्धृत किया गया है वह पूरा मंत्र निम्न प्रकार है—

एमे॑नं सृजता सु॒ते म॒न्दिमिन्द्रा॑य म॒न्दिने॑।
चक्रिं॒ विश्वा॑नि॒ चक्र॑ये। [ऋ० १-९-२]

तं वर्द्धयन्तु नो गिरः, स्तुतयः। गिरः गृणातेः।
'अयमु ते समतसि' [ऋ० १-३०-४]।
अयं ते समतसि।
इवोऽपि दृश्यते। 'सुविदुरिव', 'सुविज्ञायेते इव'।

४– 'यह आपका गमन-स्थान [सम् अतसि, 'अत सातत्य गमने'] है। [यहाँ 'अयमु'में का 'उ' अनर्थक पदपूरक-मात्र है। अतः उसको निकालकर] 'अयं ते समतसि' [यह वाक्य रह जाता है]।

५–[कहीं-कहीं] 'इव' [यह निपात] भी [अनर्थक या पदपूरक-मात्र] पाया जाता है। जैसे–'वे [ब्राह्मण लोग यज्ञको] अच्छी तरह जानते हैं और ['विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा] वे दोनों [अर्थात् यज्ञ तथा नक्षत्र] अच्छी तरह जाने जाते हैं।

'तमिद्वर्धन्तु नो गिरः' यह टुकड़ा निम्न मंत्रसे लिया गया है।

'तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव।
य इन्द्रस्य हृदं सनिः। [ऋ० ९-६१-१४]

'अयमु ते समतसि' यह वाक्य निम्न मंत्रसे लिया गया है—

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।
वचस्तच्चिन्न ओहसे। [ऋ० १-३०-४]

अन्य पदपूरक निपात

इस प्रकार पदपूरक मुख्य चार निपातोंका वर्णन हुआ। उसके अतिरिक्त अन्य निपात भी पदपूरकके रूपमें प्रयुक्त हो सकते। आगे उनको दिखलाते हैं– 'इवोऽपि' इत्यादि।

'सुविदुरिव' और 'सुविज्ञायेते इव' ये दो अलग-अलग उदाहरण हैं। दूसरेको पहिलेकी व्याख्यामात्र न समझ लेना चाहिये। इन दोनोंमें ही 'इव' निपात अनर्थक है, केवल पदपूर्तिके लिए उसका प्रयोग हुआ है।

अनेक निपातोंका एक साथ प्रयोग

अनर्थक या पदपूरक निपातोंका वर्णन यहाँ समाप्त हो जाता है। आगे दो-दो निपातोंके साथ प्रयोगके दो उदाहरण दिखलाते हैं।

अथापि 'न' इत्येष 'इत्' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये।

'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम'

[ऋ० १०-१०६-१]

नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानं अल्पमप्यस्तीति वा।

अथापि 'न च' इत्येष 'इत्' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते अनुपृष्टे 'न चेत् सुरां पिबन्ति' इति। सुरा सुनोतेः।

१—और 'न' यह [निपात] 'इत्' इस [अनर्थक निपात] के साथ मिलकर परिभय अर्थ में [अर्थात् 'कहीं ऐसा न हो कि' इस अर्थमें] प्रयुक्त होता है। जैसे—

कहीं ऐसा न हो कि कुटिल आचरण करके हम लोग नरक में गिरें।

नरकका अर्थ न्यरक अर्थात् नीचेकी ओर गमन है। अथवा जिसमें तनिक-सा भी सुन्दर स्थान नहीं है [वह नरक कहलाता है]।

२ और 'न च' यह [दो निपात इकट्ठे] 'इत्' इस [अनर्थक निपात]के साथ मिलकर अनुप्रश्न [एक प्रश्नका उत्तर प्राप्त होनेके बाद किये गये दूसरे पूरक प्रश्न]के अर्थमें प्रयुक्त होता है। जैसे 'न चेत् सुरां पिबन्ति' कहीं शराब तो नहीं पी रहे हैं।

'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम्' यह टुकड़ा जहाँसे लिया गया है वह पूरा वैदिक मन्त्र यों है—

'हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
अर्चोर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम'

अर्थात् —कुछ लोग [हविर्भिः अर्थात्] हवियागोंके द्वारा [इतः स्वः सचन्ते] यहाँसे स्वर्गको प्राप्त करते हैं, और दूसरे लोग [सवनेषु सोमान् सुन्वन्तः] यज्ञोंमें सोमरसका निष्पादन करके [अर्थात् सोमयागोंके अनुष्ठानसे, 'स्वरितः सचन्ते'का अन्वय यहाँ भी होगा] स्वर्गको प्राप्त करते हैं। अथवा अन्य लोग दक्षिणाओंके द्वारा शचीको प्रसन्न करके [स्वर्गको प्राप्त करते हैं] कहीं ऐसा न हो कि कुटिल आचरण करके हम लोग नरकमें गिरें।

एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । त उपेक्षितव्याः ॥११॥
इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

इस प्रकार [निपात उच्चावच अर्थात्] भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं [निपतन्ति]। उनको भली प्रकारसे समझ लेना चाहिये [त उपेक्षितव्याः उप समीपमेत्य ईक्षितव्याः] ॥११॥

यहाँ किसीने किसी व्यक्ति विशेषके विषयमें यह पूछा कि वे लोग आये या नहीं। यह प्रथम प्रश्न हुआ। इसका उत्तर यह मिला कि अभी तो नहीं आये। इसपर दूसरा पूरक प्रश्न या अनुप्रश्न हुआ कि कहीं सुरा तो नहीं पी रहे हैं। इस प्रकार यहाँ न + च और + इत् ये तीन निपात इकट्ठे मिलकर अनुप्रश्न अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। इससे पूर्वके उदाहरणमें न और इत् ये दो निपात इकट्ठे मिलकर प्रयुक्त हुए थे। इस उदाहरणमें दोके बजाय तीन निपात इकट्ठे मिलकर प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार अनेक निपातोंके एक साथ प्रयोगके ये दो उदाहरण दिये गये हैं।

'न' तथा 'इत्' इन दो निपातोंके एक साथ परिभय अर्थमें प्रयोगका 'नेजिह्मायन्त्यो नरकं पताम' यह जो उदाहरण यहाँ दिया गया है वह मन्त्रका केवल एक चरणमात्र है। पूरा मन्त्र हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।

यह पूरा मन्त्र निरुक्तके मूल पाठमें नहीं दिया गया है। मूल पाठमें केवल चतुर्थ चरण ही दिया गया है। परन्तु कुछ संस्करणोंमें पूरे मन्त्रको निरुक्तके मूल पाठमें छाप दिया गया है। यह उचित नहीं है। विशेष कर दुर्गाचार्यकी टीकामें पूरा मन्त्र मूल पाठमें दे दिया गया है। परन्तु दुर्गाचार्य स्वयं इस मन्त्रके पूरे पाठको मूलमें नहीं मानते थे। उन्होंने इसके विषयमें टिप्पणी करते हुए लिखा कि 'मृग्यः शेषः' शेष भाग खोजना चाहिए। पर उसके बाद 'केचित्त्वेतं कृतशेषमत्राधीयते' अर्थात् कुछ लोग इसको पूरा करके यहाँ पढ़ते हैं। यह लिखकर पूरा मन्त्र दिया है। इससे प्रतीत होता है कि उनके मतमें मूल निरुक्तमें केवल एक चरणका ही पाठ होना चाहिये। इसलिए हमने भी मूल पाठमें पूरा मन्त्र नहीं दिया है।

इस प्रकार यहाँ तक तीन पादों अथवा ११ खण्डोंमें यास्काचार्यने नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात इन चारों प्रकारके शब्दोंका विभाग करके उनका परिचय करानेका यत्न किया है। अब अगले पादमें नामोंके आख्यातज होनेके विषय में लिखेंगे ॥११॥

यह प्रथम अध्यायका तृतीय पाद समाप्त हुआ ॥

चतुर्थः पादः

[१२]

इतीमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि, नामाख्याते च उपसर्गनिपाताश्च।

तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्त-समयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

चतुर्थ पाद

[१२]

इस प्रकार [अबतक तीन पादों या ११ खण्डोंमें] नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन चारों प्रकार के पदोंका [अनुक्रान्तानि] क्रमशः विवेचन कर दिया है।

[सारे ही] नाम 'आख्यातज [यौगिक] हैं यह [वैयाकरणोंमेंसे उणादिकार] शाकटायन और नैरुक्तोंका सिद्धान्त है। सब नाम [आख्यातज या यौगिक] नहीं है यह [नैरुक्तोमेंसे गार्ग्य और कुछ वैयाकरण मानते हैं।

सिंहावलोकन

निरुक्त 'निघण्टु'की टीका है। 'निघण्टु' वैदिक पदोंका एक शब्दकोश है। उसकी व्याख्या आरम्भ करते हुए निरुक्तकारने अपने इस ग्रन्थके प्रथम खण्डमें पदोंके चार प्रकार दिखलाये थे। १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग और ४ निपात। उसी प्रथम खण्डमें उन्होंने नाम तथा आख्यातका सामान्य परिचय भी करा दिया था। इस चार प्रकारके पद-विभाजनकी दृष्टिसे उन्होंने दूसरे खण्डमें शब्दकी नित्यताका विचार किया था। उसके बाद तृतीय खण्डमें उपसर्गोंका सामान्य विवेचन किया था। फिर चौथे खण्डमें निपातोंका सामान्य स्वरूप तथा उनके १ उपमार्थक, २ कर्मोपसंग्रहार्थक एवं ३ पदपूरक तीन भेद करके उपमार्थक निपातोंका विवेचन किया था। फिर ५–१० तक छः खण्डोंमें

(१) तद्यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। [न पुनः] गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।

पूर्वपक्ष की युक्तियाँ

(१) जहाँ [अर्थात् जिन शब्दोंमें उदात्त, अनुदात्त आदि] स्वर और संस्कार [अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययका विभाग, समर्थ अर्थात्] अर्थके अनुकूल हों और [प्रदिश्यते द्रव्यमनया इति प्रदेशः क्रिया तत्सम्बन्धिना गुणेन] क्रियासम्बन्धी गुणसे युक्त हों वे [नाम आख्यातजत्वेन] प्रसिद्ध हैं [अर्थात् उनको सभी लोग आख्यातज मानते हैं, जैसे कारकः, हारकः, पाचकः, पाठकः आदि किन्तु जहाँ प्रकृति-प्रत्ययका विभाग स्पष्ट नहीं है और प्रादेशिक-गुण नहीं पाया जाता है उनको आख्यातज या यौगिक नहीं कहा जा सकता है वे तो रूढ़-शब्द ही होते हैं जैसे] गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि। [ये शब्द आख्यातज नहीं अपितु रूढ़ शब्द ही हैं। यह कुछ वैयाकरण और नैरुक्तोंमें गार्ग्यका मत है]।

कर्मोपसंग्रहार्थक निपातोंका विस्तारपूर्वक विवेचन करके ११ वें खण्डमें पद-पूरक निपातोंका वर्णन किया है। इस प्रकार यहाँतक तीन पादों अथवा ११ खण्डोंमें ग्रन्थकारने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चारों प्रकारके पदोंका परिचय करा दिया है। इसलिए अब वे स्वयं अपने अबतकके किये हुए कार्यका सिंहावलोकन करते हुए नवीन चतुर्थ पाद और नवीन खण्ड [१२] का आरम्भ करते हैं—'इतीमानि' इत्यादि।

नामोंके आख्यातज होनेके विषयमें मतभेद

पिछले तीन पादोंमें नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार प्रकारके पदोंका सामान्य रूपसे विवेचन किया गया था। इस पादमें नामोंके आख्यातजत्वके विषयमें विचार करना है। इस विषयमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। निरुक्त-सिद्धान्तके अनुसार सभी नाम 'आख्यातज' या यौगिक हैं। कोई नाम रूढ़ नहीं है। वैयाकरणोंमें उणादिकार शाकटायन भी इसी 'सिद्धान्त'को मानते

(२) अथ चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथाचक्षीरन् । यः कश्चाध्वानमश्नुवीत अश्वः स वचनीयः स्यात् । यत् किंचित् तृन्द्यात् तृणं तत् ।

---

(२) और यदि सारे नाम आख्यातज हों तो जो कोई भी उस कर्मको करें उन सबको उस नामसे कहा जावेगा। जैसे [अश्व शब्दको आख्यातज माननेवाले उसको 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से बनाकर 'अश्नुते अध्वानमिति अश्वः' यह उसका निर्वचन करते हैं। यदि यह निर्वचन मान लिया जाय तो] जो कोई भी मार्गका व्यापन करे [अर्थात् मार्ग में चले] वह अश्व कहलाना चाहिये। ['तृदि हिंसानादरयोः' धातु से 'तृण' शब्दकी सिद्धि होनेसे] जो कुछ पीड़ा-दायक हो वह तृण [कहलाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए ये पद आख्यातज नहीं अपितु रूढ़-पद हैं]।

हैं। इसके विपरीत कुछ वैयाकरण और नैरुक्तोंमेंसे गार्ग्यका मत यह है कि सारे नाम तो 'आख्यातज' नहीं हैं। कुछ नाम आख्यातज हैं अर्थात् यौगिक हैं और कुछ नाम ऐसे भी हैं जो 'आख्यातज' अर्थात् यौगिक नहीं अपितु रूढ़ हैं। इसलिए इस विषयका निर्णय करना आवश्यक हो जाता है, इसी दृष्टिसे ग्रन्थकार इस पादमें इस विषयकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं।

यहाँ सारे नाम 'आख्यातज' हैं यह निरुक्त-सिद्धान्त है, इसलिए 'न सर्वाणि' यह पूर्वपक्ष समझना चाहिये। इसलिए ग्रन्थकार पहिले पूर्वपक्षके समर्थनमें उनकी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं फिर उनका खण्डन कर सिद्धान्त-पक्षकी स्थापना करेंगे।

इसी पूर्वपक्षके समर्थनमें दूसरी युक्ति देते हैं—'अथ चेत्' इत्यादि।

इस दूसरी युक्तिमें एकक्रियानिमित्तक अनेकके लिए एक शब्दके प्रयोगकी प्राप्तिरूप दोष दिया। अब आगे तीसरी युक्तिमें एकके लिए अनेक शब्दोंके प्रयोगरूप दूसरा दोष देते हैं—'अथापि चेत्' इत्यादि।

(३) अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः, यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा दरशया वा संजनी च स्यात्।

(३) और भी, यदि सारे नाम आख्यातज हों तो, [एक वस्तुका] जितनी क्रियाओं [भावैः]के साथ सम्बन्ध हो उन सब [क्रियाओं]के द्वारा उसका नामकरण होना चाहिये। इस प्रकार माननेपर [स्थूणा–थुनिया–छप्पर जिसपर रखा जाता है वह लकड़ीका] खम्भा [अथवा पशु बांधनेका खूँटा 'दरे श्वभ्रे शेते इति दरशया' इस निर्वचनके अनुसार] 'दरशया' और ['सज्यतेऽस्यां वंशः पशुर्वा इति संजनी' इस निर्वचनके अनुसार उसपर छप्परके बांस टिकते हैं अथवा पशु बांधे जाते हैं, इसलिए] 'संजनी' भी कहलाना चाहिये। [परन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए ये शब्द आख्यातज नहीं हैं]।

पाठ-समीक्षा

निरुक्तके कुछ संस्करणोंमें 'तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।' इस प्रकारका पाठ छपा है। इस पाठसे यह प्रतीत होता है कि 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' ये सब आख्यातज नामोंके उदाहरण हैं। कुछ संस्करणोंमें इसी बातको और अधिक स्पष्ट करनेके लिए 'संविज्ञातानि तानि'के बाद 'यथा' पाठ और बढ़ाकर यह बात स्पष्टकर दी है कि उनके मतमें गौ, अश्व आदि आख्यातज नामोंके उदाहरण ही हैं। परन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। वास्तवमें ये आख्यातज नामोंके उदाहरणके रूपमें यहाँ प्रस्तुत नहीं किये गये हैं। अपितु उसके प्रत्युदाहरण अर्थात् जो नाम आख्यातज नहीं हैं उन रूढ़ नामोंके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं। हमने जो यह परिणाम निकाला है उसका आधार इसी प्रकरणकी अगली पंक्तिमें मिल जाता है। अगली ही पंक्तिमें यह युक्ति दी गयी है कि यदि सब नामोंको आख्यातज माना जायगा तो 'यः कश्चनाध्वानमश्नुवीत अश्वः स वचनीयः' जो कोई मार्गको व्याप्त करेंगे मार्गमें चलेंगे वे सभी अश्व के नाम से कहे जाने चाहिये। उस दशामें मनुष्यको भी अश्व कहा

(४) अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः, यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः तथा एनान्याचक्षीरन्। पुरुषं 'पुरिशय' इत्याचक्षीरन्। 'अष्टा' इत्यश्वम्, तर्दनमिति तृणम्।

(४) इन [सब शब्दों]का जो [न्यायवान् अर्थात्] व्याकरण-सूत्रोंके अनुसार प्राप्त एवं [कार्मनामिकः अर्थात्] क्रियानिमित्तक [कर्मणि निमित्ते सति नाम कर्मनाम तत्र भवः कार्मनामिकः] [संस्कारः प्रकृति-प्रत्ययके विभाग द्वारा सिद्ध] स्वरूप हो उस प्रकारसे, और जिस प्रकारसे ये स्पष्टार्थक हो सकें उस प्रकारसे इनको कहना चाहिये। [इस प्रकार क्रिया-निमित्तक संस्कार तथा अर्थकी स्पष्टताको ध्यानमें रखकर तो] 'पुरुष'को 'पुरिशयः' यह कहना चाहिये [क्योंकि पुरुष शब्दको यौगिक माननेवाले 'पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः' यह उसका निर्वचन करते हैं। इस निवर्चनके मूलभूत प्रकृति-प्रत्ययके विभाग और अर्थकी स्पष्टताकी दृष्टिसे 'पुरिशयः' प्रयोग ही उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'अश्नुते अध्वानमिति अश्वः' इस निर्वचनके आधारपर 'अश्व'को 'अष्टा' और 'तृण'को 'तर्दन' यह [कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए ये शब्द आख्यातज अर्थात् यौगिक नहीं अपितु रूढ़ हैं]।

जा सकेगा। जो कि सम्भव और उचित नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'अश्व' पद 'आख्यातज' या यौगिक पद नहीं अपितु रूढ़ पद है। इसलिए मनुष्यको अश्व नहीं कहा जा सकता है। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि अश्व आदि पद यहाँ आख्यातज नामोंके उदाहरण रूपमें नहीं, अपितु उसके प्रत्युदाहरण रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं। इसलिए उनके पहिले 'न पुनः' इतना पाठ और होना चाहिये था। जो लुप्त हो गया जान पड़ता है। अतः हमने कोष्ठमें 'न पुनः' पाठ मूलमें बढ़ा दिया है। इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है। कुछ लोगोंने जो इस स्थानपर 'यथा' पाठ बढ़ाया है वह सर्वथा अनुचित है। और अर्थको बिल्कुल न समझनेके कारण ही रखा गया है।

इसी पूर्वपक्षके समर्थनमें चौथी युक्ति देते हैं—'अथापि य' इत्यादि।

(५) अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति। 'प्रथनात् पृथिवी' इत्याहुः। क एनां अप्रथयिष्यत्, किमाधारश्चेति ?

---

(५) [सारे नामोंको 'आख्यातज' या यौगिक माननेवाले नैरुक्त तथा शाकटायन किसी अभिव्याहार अर्थात्] नामके प्रसिद्ध [लोकमें प्रचलित] हो जानेके बाद [उसके निर्वचनके विषयमें] विचार करते हैं [कि यह शब्द कैसे बना है] जैसे ['पृथिवी' शब्दके लोकमें प्रसिद्ध हो जानेके बाद उसका निर्वचन इस प्रकार करते हैं कि] 'प्रथनात् पृथिवी' फैलायी गयी होनेसे पृथिवी है यह [पृथिवी शब्दका निर्वचन] कहते हैं। [ऐसा निर्वचन करनेवाले नैरुक्तों और शाकटायनसे यह पूछना चाहिये कि] किसने इसको फैलाया और [जिस समय फैलानेवाला इसको फैला रहा था तो उस समय] किस आधार-पर खड़ा [होकर वह पृथिवीको फैला रहा] था ? [इसका कोई उत्तर नैरुक्त या शाकटायन नहीं दे सकते हैं। इसलिए पृथिवी-शब्दका इस प्रकारका निर्वचन करना उचित नहीं है। पृथिवी-शब्द वास्तवमें 'आख्यातज' या यौगिक नहीं अपितु रूढ़ शब्द है। उसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता है। अतः शाकटायन आदिका सब नामोंको आख्यातज माननेवाला सिद्धान्त उचित नहीं है]।

पूर्व-संस्करणोंमें यहाँ १२ वाँ खण्ड समाप्तकर दिया गया है। परन्तु अभी तो विषय अधूरा है। इसी विषयके समर्थनमें और युक्तियाँ आगे दे रहे हैं, इसलिए यहाँपर खण्ड समाप्त नहीं होना चाहिए। अपितु पूर्वपक्षके पूरा हो जानेपर ही खण्ड समाप्त होना उचित है। अतः हमने यहाँ उसको समाप्त नहीं किया है।

सब नामोंको 'आख्यातज' या यौगिक माननेवाले नैरुक्त-पक्षके खण्डनमें पाँचवीं युक्ति देते हैं—'अथापि निष्पन्ने' इत्यादि।

(६) अथ अनन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतराद्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम् , अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

(७) अथापि सत्त्वपूर्वो भावः इत्याहुः।

---

(६) [सारे नामोंको 'आख्यातज' या यौगिक सिद्ध करनेकी धुनमें] शाकटायनने [शब्दके साथ] अर्थका कोई सम्बन्ध न होने और [शब्दमें 'प्रदेश' अर्थात] क्रियासे सम्बद्ध किसी विकार [अर्थात् रचना] के न होनेपर अनेक शब्दोंसे अन्य पदोंके आधे-आधे भागोंकी रचना की है। जैसे ['सत्य' शब्दको जब शाकटायन किसी धातुसे सिद्ध न कर सके तो उन्होंने उसे 'इण गतौ' और 'अस् भुवि' दो धातुओंसे मिलाकर इस प्रकार बनाया है कि 'इण गतौ' धातुके णिजन्त [कारित रूप आययति] में के यकारादि भागको लेकर [सत्य शब्दके] अन्तमें रख दिया और 'अस् भुवि' धातुके शुद्ध [अर्थात् णिजन्तके नहीं अपितु शुद्धरूप सत्]के सकारादि भागको [पूर्व रखकर सत्य शब्दकी सिद्धि की है और उसका निर्वचन 'सन्तम् अर्थम् आययति इति सत्यम्' इस प्रकारसे किया है। यह अत्यन्त अनुचित है। इस प्रकार एक शब्दके आधे-आधे भागोंको भिन्न-भिन्न धातुओंसे सिद्ध करनेसे यही सिद्ध होता है कि सारे नाम आख्यातज नहीं हो सकते हैं। शाकटायन आदि आग्रहवश सब नामोंको आख्यातज सिद्ध करनेकी धुनमें इस प्रकारका अनर्थ कर रहे हैं।

(७) [शाकटायन आदि] क्रिया द्रव्यपूर्वक होती है [अर्थात् पहिले द्रव्य उत्पन्न होता है तब बादको उसमें क्रिया (भाव) उत्पन्न

सब नाम आख्यातज या यौगिक नहीं हो सकते हैं अपने इस पूर्वपक्ष को सिद्ध करने के लिए छठीं युक्ति देते हैं—'अथ अनन्वितेऽर्थे' इत्यादि।

अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति ॥१२॥

होती है] यह मानते हैं। तब वादमें उत्पन्न हुई क्रियासे पहिले उत्पन्न हुए [द्रव्य]का नामकरण [प्रदिश्यते द्रव्यमनेन इति प्रदेशो नामकरणम्] करना उचित नहीं है [संगत नहीं होता है। इसलिए भी सारे नामोंको आख्यातज अथवा यौगिक माननेवाला शाकटायन तथा नैरुक्तोंका सिद्धान्त ठीक नहीं है] ॥१२॥

इसी सिद्धान्तके समर्थनमें अगली सातवीं युक्ति देते हैं—'अथापि' इत्यादि।

'सत्त्वपूर्वो भावः' अर्थात् क्रियाके पूर्व द्रव्य रहता है। बादको उसमें क्रिया उत्पन्न होती है। यह बात जो यहाँ कही गई है वह न्याय-सिद्धान्तके अनुसार है। न्याय-सिद्धान्तमें प्रथम क्षणमें निर्गुण घट आदि द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। उसमें उत्पन्न होनेवाले गुण तथा क्रियारूप धर्मोंकी उत्पत्ति अगले क्षणमें होती है। इसलिए उनके मतमें घटादि द्रव्य स्वगत रूपादि गुणों तथा क्रियाके प्रति समवायि कारण होते हैं। 'तर्कभाषा' आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस खण्डमें सब नामोंको आख्यातज न माननेवाले गार्ग्यकी ओरसे अपने मतके समर्थनमें सात युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। इन सातों युक्तियोंके द्वारा सब नामोंको आख्यातज माननेवाले सिद्धान्तका खण्डन किया गया है। इसलिए अब अगले खण्डमें इन युक्तियोंका निराकरण करते हुए निरुक्तकार अपने सब नामोंको आख्यातज माननेवाले सिद्धान्त-पक्षका समर्थन करेंगे।

पूर्व-संस्करणोंमें इस पूर्वपक्षको १२-१३ दो खण्डोंमें दिया था। और यहां खण्डकी समाप्ति भी नहीं की थी। 'तदेतन्नोपपद्यते' इस अगले वाक्यके वाद खण्डकी समाप्ति की थी। परन्तु वहाँसे तो नया विषय प्रारम्भ हो जाता है, अतः खण्ड यहीं समाप्त होना उचित मानकर हमने यहाँपर ही समाप्त कर दिया है ॥१२॥

(१३)

तदेतन्नोपपद्यते ।

(१) यथो हि नु वा एतत् । तद्यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम् । सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति ।

---

(१३)

यह जो पूर्वपक्षमें कहा गया है, वह ठीक नहीं है।

(१) सबसे पहिले जो यह कहा है कि—'जहाँ जहाँ [उदात्त आदि] स्वर और प्रकृति-प्रत्ययका विभाग [रूप संस्कार] अर्थके अनुकूल [समर्थ] और क्रियासम्बन्धी गुणसे युक्त होते हैं। [वे नाम आख्यातज माने ही जाते हैं] [हमारे मतमें] सारे [ही नाम] क्रिया-सम्बन्धी गुणोंसे युक्त [व्याकरण-नियमोंके अनुसार] हैं, ऐसा कहने-पर यह दोष नहीं बनता है।

पिछले बारहवें खण्ड में सब नामों को 'आख्यातज' या यौगिक न मानने-वाले अर्थात् रूढ़पदोंकी सत्ता स्वीकार करनेवाले गार्ग्यादिकी ओरसे पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया था। और उसमें सात युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया था कि सब नामोंको 'आख्यातज' या यौगिक मानना उचित नहीं है। अब इस तेरहवें खण्डमें ग्रन्थकार उस पूर्वपक्षका खण्डन करके सब नामोंको 'आख्यातज' या यौगिक माननेवाले नैरुक्त-पक्षकी स्थापना करेंगे।

इस प्रकार सामान्यरूपसे पूर्वपक्षकी असंगतिको दिखलाकर अब पूर्वपक्षके समर्थनमें जो सात युक्तियाँ दी गयी हैं उनमेंसे एक-एक युक्तिको उसी क्रमसे लेकर खण्डन करेंगे। उसको प्रारम्भ करते समय 'यथो हि नु वा एतत्' यह बड़ा विचित्र-सा वाक्य ग्रन्थकारने लिखा है। इस छः शब्दोंके वाक्यमें एक साथ पाँच निपात पदोंका प्रयोग किया गया है। यथा-उ-हि-नु-वा ये पाँचों निपात पद एक साथ प्रयुक्त हैं। इनमेंसे एक 'यथा'को 'यत्'के अर्थमें और

(२) यथो एतद् यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथाचक्षीरन् इति, पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां, नैकेषाम् । यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति ।

---

२ और जो यह कहा है कि—'जो कोई उस कार्यको करेगा उन सब पदार्थोंको उस नामसे कहा जायगा' [उसका उत्तर यह है कि जिन नामोंको आप आख्यातज मानते हैं उनमें ही यह नियम लागू नहीं होता है तब अन्योंमें उसको लागू करनेका प्रश्न आप कैसे उठा सकते हैं। क्योंकि [समान कार्य करनेवालोंमें भी किन्हींको] उस क्रियाके आधारपर] नामकी प्राप्ति होती है और किन्हींको नहीं। जैसे तक्षा [नाम आख्यातज है। पर प्रत्येक तक्षण क्रियाका करनेवाला तक्षा नहीं कहलाता है केवल बढ़ई ही तक्षा कहलाता है। इसी प्रकार] परिव्राजक [संन्यासी], जीवन [जल] और भूमिज [मंगल-ग्रह या वृक्ष] ही उन नामोंसे कहे जाते हैं।]

'हि' या 'नु' में से एक निपात 'तावत्'के अर्थमें है। और शेष वाक्यालंकारमें हैं, यह व्याख्या स्कन्दस्वामीने की है। 'नु वा एतत्' इसके स्थानपर उन्होंने 'न्वा एतम्' यह पाठ माना है। 'न्वा'में नु और आ दो निपात उन्होंने लिये हैं। उनके अनुसार इस निपातमय वाक्यका अर्थ 'यत् तावदेतदुक्तम्' यह होता है। यहाँसे एक-एक युक्तिका अनुवाद करते हुए खण्डन प्रारम्भ करते हैं—'यथो हि' इत्यादि।

अर्थात् पूर्वपक्षी जो यह कहता है कि जिन शब्दोंमें प्रादेशिक गुण (प्रकृति प्रत्ययका विभाग) पाया जाता है वे आख्यातज हैं शेष नहीं। इसके सम्बन्धमें शाकटायन आदिका उत्तर यह है कि सभी नामोंमें प्रकृति-प्रत्ययका विभागरूप प्रादेशिक गुण पाया जाता है, इसलिए आपने जो दो भागोंमें शब्दोंका विभाजन करनेका यत्न किया है वह उचित नहीं है। आगे दूसरी युक्तिका उत्तर देते हैं—'यथो एतत्' इत्यादि।

(३) एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः ।

(४) यथो एतत् 'यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्' इति, सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्येकपदिकाः । यथा व्रततिः, दमूना, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दर्विहोमी इति ।

---

(३) इसी [दूसरी युक्तिके खण्डनमें दिखलायी हुई प्रक्रिया]से अगली [युक्ति]का भी खण्डन हो जाता है।

(४) और जो यह कहा था कि—[जिस प्रकारसे इन शब्दोंका अर्थ स्पष्ट हो जाय इस प्रकारसे इनको कहना चाहिये ।] [उसका उत्तर यह है कि कम प्रयुक्त होनेवाले कुछ] प्रकृति-प्रत्ययके विभागसे युक्त, कृदन्त भी [एकपदिकसे अर्थात्] प्रकृति-प्रत्ययके विभागसे रहित-से [अस्पष्टार्थक] पाये ज ते हैं। जैसे व्रततिः [लता], दमूना, [अतिथि या अग्नि], जाट्यः [जटिल], आट्णारः [अटनशील], जागरूक और [दर्व्या जुहोतीति] दर्विहोमी [चम्मच से हवन करनेवाला] आदि शब्द कृदन्त पद हैं। उनमें प्रकृति-प्रत्ययका विभाग है, परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है] ।

इसका आशय यह है कि पूर्व-पक्षकी दूसरी और तीसरी युक्तियाँ समान न्यायपर आश्रित हैं। इसलिए उनका खण्डन भी एक ही न्यायसे हो जाता है। पूर्व-पक्षकी दूसरी युक्तिका सारांश यह था कि यदि सब नामोंको 'आख्यातज' माना जाय तो जो कोई उस कामको करेगा, उन सबका उस नामसे व्यवहार होगा। अर्थात् एक नाम अनेक व्यक्तियोंके लिए प्रयुक्त होगा। इसके विपरीत तीसरी युक्तिका सार यह था कि जिस पदार्थमें जितनी क्रियाएँ पायी जावेंगी। उन सबके आधारपर उस एक व्यक्तिके अनेक नाम होंगे। इन दोनोंके खण्डनके लिए सिद्धान्त-पक्षकी ओरसे एक ही युक्ति दी गयी है कि जिन नामोंको आप 'आख्यातज' मानते हैं उनमें ही यह नियम लागू नहीं होता है। परिव्रजन क्रिया सब ही करते हैं किन्तु सबको 'परिव्राजक' नहीं कहा जाता है केवल संन्यासीको ही परिव्राजक कहते हैं। इसी प्रकार जिन शब्दोंको आप आख्यातज नहीं मानते

हैं उनको भी यदि 'आख्यातज' मान लिया जाय तो भी एक क्रियाके आधारपर अनेक व्यक्तियोंका एक नाम नहीं होगा और न जिस पदार्थमें जो-जो क्रिया पायी जाती है उस-उसके आधारपर उस एक व्यक्तिके अनेक नाम होंगे। इसलिए पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत की गयी दूसरी तथा तीसरी युक्तियोंका खण्डन एक ही युक्तिसे हो गया, यह 'एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः' इस वाक्यका आशय है।

जो यह कहा था कि जिस प्रकारसे शब्दोंका अर्थ स्पष्ट हो जाय उस प्रकारसे इनको कहना चाहिये। 'पुरुष'को 'पुरिशयः', अश्वको 'अष्टा' कहना चाहिये। इस युक्तिका उत्तर यह है कि आप जिन कृदन्त पदोंमें प्रकृति-प्रत्ययका विभाग मानते हैं उनमें अभी कुछ ऐसे शब्द हैं जो प्रतीतार्थक नहीं। 'कारकः' 'हारकः' आदिके समान सुनते ही उनका अर्थ प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार जिन शब्दोंको आप 'आख्यानज' नहीं मानते परन्तु हम 'आख्यातज' मानते हैं वे यदि स्पष्टार्थ नहीं हैं तो कोई दोष नहीं है। उससे उनके आख्यातजत्वका खण्डन उसी प्रकार नहीं हो सकता। जैसे आपके अस्पष्टार्थक कृदन्त पदोंके प्रकृति-प्रत्ययके विभागका खण्डन नहीं होता है। इस प्रकारके शब्दोंके उदाहरण देते हुए खण्डन करते हैं—'यथो एतत्' इत्यादि।

ये सब कृदन्त पद हैं जिनमें प्रकृति-प्रत्ययका विभाग है। व्रतति शब्द प्र उपसर्ग-पूर्वक 'तनु विस्तारे'धातुसे 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' [अष्टा० ३-३-१७४] सूत्रसे क्तिच्-प्रत्यय करके और 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' [अष्टा० ६-३-१०९] सूत्रसे 'प्र' के स्थानपर 'व्र' होकर बनता है। 'दमूना' पद 'दमु उपक्षये' धातुसे 'दमेरूनसिः' ['उणादि ४-६७४] सूत्रसे ऊनसि-प्रत्यय होकर बनता है। 'जाट्यः' पद 'जटा' शब्दसे 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' [अ० ५-२-१२०] इस सूत्रपरके 'अन्यभ्योऽपि दृश्यते' इस वार्तिकसे मतुवर्थमें यप् प्रत्यय और फिर स्वार्थमें अण्-प्रत्यय होकर 'जट्य एव जाट्यः' यह बनता है। 'आट्णारः' अटन-शब्दसे शील अर्थमें औणादिक आरक-प्रत्यय होकर बनता है। जागृ-धातुसे 'जागर्तेरूकः' [अष्टा० ३-२-१६५] सूत्रसे सिद्ध होता है। इस प्रकार ये सब कृदन्त शब्द हैं, परन्तु स्पष्टार्थक नहीं हैं। इसीलिए निरुक्तमें भी उनकी गणना नैगम-काण्डमें एकपदिकोंमें की गयी है। और उनके अर्थोंकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता पड़ी

(५) (अ) यथो एतत्—"निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति" इति। भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः।

(आ) "प्रथनात् पृथिवी" इत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेति। अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेदप्यन्यैः।

---

(५) (अ)—जो यह कहा है कि शब्दोंके प्रसिद्ध हो जानेके बाद उनके निर्वचनके विषयमें विचार करते हैं [सो यह तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि सब ही शब्दोंमें] शब्दोंके प्रसिद्ध हो जानेपर ही ['योग [अर्थात् उसके] अवयवार्थका ['परीष्टिः अर्थात] परीक्षाकी जाती है।' [अर्थात् लोक-व्यवहारमें प्रचलित हो जानेपर ही उनके अर्थकी परीक्षा आदि की जाती है। पहिले नहीं। इसलिए यह कोई दोष नहीं है।]

(आ) इस शंकाका दूसरा भाग यह है कि—और जो यह कहा है कि फैलायी हुई होनेसे पृथिवी [कहलाती] है, ऐसा [सब शब्दोंको आख्यातज माननेवाले] कहते हैं। तो किसने इसको फैलाया और कहाँ खड़े होकर [फैलाया] ? [इस शंकाका उत्तर देते हैं कि] वह देखनेसे फैली हुई [प्रतीत होती है यदि किसी औरने नहीं फैलायी है [तो भी 'प्रथनात् पृथिवी' यह उसका निर्वचन किया जा सकता है]।

है। तब 'पुरुषः' आदि पदोंको 'पुरिशयः' आदि प्रतीतार्थक रूपमें पढ़े जानेका प्रश्न उठाना उचित नहीं है, यह इसका अभिप्राय है।

पूर्वपक्षकी पाँचवीं युक्तिका उत्तर आगे दो भाग करके देते हैं—'यथो एतत्' इत्यादि।

इस प्रकार पूर्वपक्षमें जो पाँचवीं युक्ति दी गई थी उसका दो भागोंमें विश्लेषण करके उत्तर दिया है। अभी इसीके उत्तरमें एक बात और कहते हैं—'प्रथनात्' इत्यादि।

(५) अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते ।

(६) यथा एतत्—'पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् संचस्कार' इति । योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः । सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा इति ।

५—[किसने फैलायी ? आदि इस प्रकारके आक्षेप यदि किये जाने लगे तो फिर इस प्रकार तो] सभी प्रत्यक्ष वचनोंका बाध हो जायगा ।

६—और जो यह कहा कि—[भिन्न-भिन्न] पदोंसे [सत्य आदि] पदोंके आधे-आधे भागोंको [शाकटायनने] बनाया है । [इसका उत्तर यह है कि] जिसने [इस प्रकार अनुचित ढंगसे शब्दोंको] बनाया है उससे उस व्यक्तिको दोष मिलना चाहिये । क्योंकि यह तो पुरुषका दोष है शास्त्रका दोष नहीं है ।

अर्थात् इस युक्तिसे तो यह कहना भी कठिन है कि देवदत्त विष्णुमित्रका पुत्र है । क्योंकि उसे विष्णुमित्रसे उत्पन्न होते किसने देखा है ? यह इस कथनका अभिप्राय है ।

पूर्वपक्षकी अगली छठी युक्तिका उत्तर आगे देते हैं—'यथो एतत्' इत्यादि ।

पूर्वपक्षमें सातवीं युक्ति यह दी गयी थी कि द्रव्य पहिले उत्पन्न होता है और क्रिया बादको उत्पन्न होती है । इस दशामें बादको उत्पन्न होनेवाली क्रियाके आधारपर पूर्वोत्पन्न द्रव्यका नामकरण उचित नहीं है । इसलिए सब शब्दोंको आख्यातज नहीं मानना चाहिये । इस शंकाका उत्तर ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें देते हैं । उसका आशय यह है कि इस प्रकारका व्यवहार हम लोकमें भी देखते हैं कि बादमें उत्पन्न होनेवाली क्रियाके आधारपर पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थका नामकरण किया जाता है । इसके दो उदाहरण 'बिल्वाद' और 'लम्बचूड़क' यहाँ दिये हैं । इन शब्दोंका अर्थ पूर्वटीकाकारोंने स्पष्टरूपसे नहीं किया है । वे किन्हीं प्राणियोंके नाम प्रतीत होते हैं । 'बिल्वाद' कदाचित् बैलका नाम है क्योंकि वह बेलके फलको रुचिसे खाता है । और लम्बचूड़का सम्बन्ध कदाचित्

(७) यथो एतत्—'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते' इति। पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्माद् भावात् नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां न एकेषाम्। यथा बिल्वादो लम्बचूड़क इति। बिल्वं भरणाद् वा भेदनाद् वा ॥१३–४॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

---

(७)—जो यह कहा है कि—'बादको उत्पन्न होनेवाली क्रियासे पहिले उत्पन्न हुए [द्रव्य]का नामकरण उचित नहीं है। [इसका उत्तर यह है कि] कहीं पहिले उत्पन्न हुए पदार्थोंका भी बादमें उत्पन्न होनेवाली क्रिया से नामकरण देखा जाता है, और कहीं नहीं देखा जाता है। जैसे 'बिल्वाद' और 'लम्बचूड़'। [आदिमें बिल्वभक्षण और लम्बी चूड़ाकी उत्पत्ति बादको होती है परन्तु उनके आधारपर इन नामोंका प्रयोग जन्मसे ही होने लगता है] ॥१३॥

मयूरके वाचक शिखी शब्दसे है। स्कन्दस्वामीने इन दोनों पदोंको पुरुषविशेषका विशेषण माना है। पर वह उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ये विशेषण जन्मसे पुरुषके साथ जुड़े हुए नहीं होते हैं। क्रियाके बाद ही जुड़ते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार कहते हैं—'यथो एतत्' इत्यादि।

इस प्रकार सब नामोंको आख्यातज माननेके विरोधमें जो सात युक्तियाँ गार्ग्य-पक्षकी ओर से दी गई थीं उन सबका निराकरण हो जाने से सब नामोंको आख्यातज माननेवाला नैरुक्त पक्ष तथा शाकटायनका मत सम्पुष्ट हो जाता है ॥१३॥

यह प्रथम अध्यायका चतुर्थपाद समाप्त हुआ।

पञ्चमः पादः

(१४)

अथापादमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते । अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः । तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च ।

पञ्चम पाद

(१४)

और इस [निरुक्त] के विना मन्त्रोंमें अर्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थके जाने बिना [पदोंके] स्वर तथा संस्कार [प्रकृति-प्रत्ययका विभाग आदि] का निरूपण नहीं हो सकता है। [क्योंकि स्वर-संस्कारादि सब अर्थोंके ऊपर निर्भर होता है। अर्थके अनुसार उसकी व्यवस्था होती है]। इसलिए यह [निरुक्त] शास्त्र [विद्यास्थान] व्याकरणका पूरक भी है [क्योंकि मन्त्रार्थके परिज्ञान द्वारा स्वर-संस्कारके विधानमें व्याकरणकी सहायता करता है] और अपने [निर्वचनरूप] अर्थका साधक भी है।

पूर्व-सङ्गति

प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें उसके विषय, प्रयोजन आदिका निर्देश कर देना उपयुक्त होता है, उससे ग्रन्थको समझनेमें सुविधा होती है, इसीलिए शास्त्रकारोंने शास्त्रारम्भमें अनुबन्ध-चतुष्टयके निर्देशकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥"

[श्लोकवार्तिक प्रथमसूत्र]

निरुक्त, निघण्टुकी टीका है । उसका प्रथमाध्याय [६ पाद] तथा द्वितीयाध्यायका प्रथम पाद [कुल मिलाकर सात पाद] उसकी भूमिका रूपमें लिखे गये हैं ।

'निघण्टु'के पदोंकी नियमित व्याख्या द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादसे आरम्भ होती है। इसलिए प्रारम्भके सातों पादोंको शास्त्रकी भूमिका कहा जा सकता है। इसी प्रारम्भिक भागमें ग्रन्थकारने अनुबन्ध-चतुष्टयका निर्देश किया है। प्रथम पादमें 'समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः।' लिखकर यास्कने अपने ग्रन्थके विषय-रूप प्रथम अनुबन्धका निर्देश किया है। नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपातरूप चार प्रकारके शब्दोंका वर्णन भी उसी प्रसंगमें किया गया है। उसके बाद चतुर्थ पादमें जो नामोंके आख्यातजत्वका प्रतिपादन किया है। वहींसे ग्रन्थ के प्रयोजन-रूप द्वितीय अनुबन्धका निरूपण प्रारम्भ हो जाता है। और छठे पाद अर्थात् प्रथम अध्यायके अन्त तक ग्रन्थके प्रयोजनोंका निरूपण चलता है। निरुक्तके अधिकारी रूप तृतीय अनुबन्धका निरूपण द्वितीय अध्यायके प्रथम पाद 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' आदि भागसे किया है। इस प्रकार तीन अनुबन्धोंका विस्तारपूर्वक वर्णन हो जानेके बाद सम्बन्धरूप चतुर्थ अनुबन्ध शेष रह जाता है। सो शास्त्रका विषयके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध तथा अधि-कारीके साथ बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार यास्कने अपने भूमिका-भागमें 'अनुबन्ध चतुष्टय'का निर्देश अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है। इस समय प्रयोजनरूप द्वितीय 'अनुबन्ध'के निरूपणका प्रसंग चल रहा है।

निरुक्तके प्रयोजन

पिछले पादमें ग्रन्थकारने समस्त नामोंको आख्यातज या यौगिक सिद्ध करने-का यत्न किया था। जब सब नाम आख्यातज या यौगिक ही हैं तो उन सबके अवयवार्थोंका निरूपण भी आवश्यक है। इसीको निर्वचन कहते हैं। यही निरुक्तशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है। इसलिए इस पादमें जो नामोंके आख्यात-जत्वको सिद्ध करनेका यत्न किया गया है वह भी निरुक्तके प्रयोजनका प्रति-पादन करनेके लिए ही किया गया है। यह बात इस पादके प्रारम्भमें आये हुए 'अथापि' पदके 'अपि' भागसे सूचित होती है। उसका अभिप्राय यह है कि निर्व-चनरूप निरुक्तका मुख्य प्रयोजन तो पिछले पादमें दिखला आये हैं। उसके अतिरिक्त निरुक्तके और भी अनेक प्रयोजन हैं उनको इस पादमें दिखलाते हैं।

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थका हि मन्त्राः । तदेतेनोपेक्षितव्यम् ।

(१) नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।

यदि मन्त्रोंके अर्थका बोध करानेके लिए [ही निरुक्त बनाया गया] है तो यह व्यर्थ है, यह कौत्सका मत है । क्योंकि मन्त्रोंका कोई अर्थ नहीं होता है । यह बात निम्न युक्तियोंसे समझनी चाहिये ।

कौत्सके मतसे मन्त्रोंके आनर्थक्यकी युक्तियाँ

१ [मन्त्र] निश्चित शब्दोंकी योजनासे युक्त होते हैं और [उन निश्चित शब्दोंकी आनुपूर्वी अर्थात्] क्रम भी नियत होता है ।

निर्वचनके बाद निरुक्तका दूसरा प्रयोजन मन्त्रोंके अर्थोंका ज्ञान कराना है । उस प्रयोजनका निरूपण यहाँ करते हैं—'अथापीदम' इत्यादि ।

मन्त्रोंकी अनर्थकताका पूर्वपक्ष

इस प्रकार यहाँ यास्कने मन्त्रोंके अर्थका बोध करना निरुक्तका दूसरा मुख्य प्रयोजन बतलाया है । इसपर 'कौत्स' आदि कुछ लोगोंका कहना है कि मन्त्रोंका कोई अर्थ ही नहीं होता है । उनका जो कुछ फल है वह तो उनके उच्चारण-मात्रसे ही प्राप्त हो जाता है । इसलिए यदि मन्त्रार्थका बोध ही निरुक्तका प्रयो-जन है तब तो निरुक्त व्यर्थ ही है । इसी पूर्वपक्षको युक्तियों द्वारा पुष्ट करते हैं—'यदि' इत्यादि ।

इसका अभिप्राय यह है कि लौकिक-वाक्य जो सार्थक होते हैं उनमें न तो शब्द निश्चित होते हैं और न क्रम ही निश्चित होता है । हम 'उदकम् आनय' भी कह सकते हैं और उसके स्थान पर 'जलमाहर', 'तोयमानय' आदि वाक्य भी बोल सकते हैं । इसलिए सार्थक वाक्यमें पदोंके निश्चित होनेका नियम नहीं होता है । इसी प्रकार 'जलम् आयन'के स्थानपर क्रमको बदल कर 'आनय जलम्' इस प्रकार भी बोला जा सकता है । पर 'अग्निमीले पुरोहितम्' आदि वैदिक मन्त्रोंमें न तो 'अग्निमीले' शब्दोंको बदलकर 'वह्निं स्तौमि' बोला जा सकता है और न उनके क्रम [आनुपूर्वीरूप] को बदलकर 'ईले अग्निम्' ही बोला जा सकता

(२) अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति', 'प्रोहामि इति प्रोहति।'

२ और ब्राह्मण [ग्रन्थ] के द्वारा ['मन्त्र रूपसम्पन्न' अर्थात् कार्यमें विनियुक्त किये जाते हैं। [अथवा रूपसम्पन्न अर्थात् लिंग-युक्त होनेपर भी 'ब्राह्मणेन विधीयन्ते' ब्राह्मणके द्वारा उस कर्ममें विनियुक्त किये जाते हैं]। जैसे—'उरु प्रथस्व [यजु० १-२२] इससे [पुरोडाशको] फैलाता है' [इस प्रकार पुरोडाशके फैलानेमें शतपथ ६-८ ब्राह्मण द्वारा विनियुक्त किया गया है और 'प्रोहामि' इत्यादि [मन्त्र यजु० २-१५] से [पुरोडाशको पूर्वकी ओर] प्रेरित करता है।

है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इन्हीं शब्दोंको इसी क्रमसे बोलना अनिवार्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन शब्दोंका कोई अर्थ नहीं है अपितु केवल उनके उच्चारणमात्रसे कुछ अपूर्व फल उत्पन्न होता है। यह मन्त्रोंके आनर्थक्यकी सिद्धि-के लिए प्रथम युक्ति कौत्सकी ओरसे दी गयी है। अन्य युक्तियाँ आगे देते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि 'उरु प्रथस्व' इत्यादि 'उरुप्रथा उरु प्रथस्वो-रु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' इत्यादि [यजु० १-२२] मंत्रसे यह टुकड़ा लिया गया है। यजु० १-२२ मन्त्रका विनियोग शतपथ ब्राह्मणने पुरोडाशके फैलानेके कार्यमें करते हुए "उरु प्रथस्व इति प्रथयति' यह लिखा है। यदि यह मन्त्र सार्थक होता तो उसके 'उरु प्रथस्व' पदोंको पढ़ते ही यह विदित हो जाना चाहिये था कि इसको पढ़कर पुरोडाशका प्रथन करना—फैलाना—है। उस दशामें ब्राह्मणको 'इति प्रथयति' यह लिखनेकी आवश्यकता न होती। परन्तु ब्राह्मणमें 'इति प्रथयति' यह लिखा गया है इससे यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थकी दृष्टिमें मन्त्रमें इस अर्थका बोध करानेकी सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि मन्त्र अनर्थक है। इसीलिए ब्राह्मणने उसको 'रूपसम्पन्न' किया है, उसका विनियोग किया है। अतः मन्त्र अनर्थक ही हैं।

दूसरा 'प्रोहामि इति प्रोहति' वाला टुकड़ा यजुर्वेदके द्वितीयाध्यायके १५ वें मंत्रमेंसे लिया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

(३) अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति । 'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्याह हिंसन् ।

---

३ और ['यदि मन्त्रोंको सार्थक माना जाय तो वे] असंगत अर्थ-वाले होते हैं [यह कहना चाहिये] जैसे 'हे ओषधि, तू इसकी रक्षा कर' 'हे कुठार ! तू इसको मत मार [मत काट]' यह काटते हुए भी [इस मन्त्र के द्वारा] कहा गया है ।

"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि ।
अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ।
इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि ।
इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ॥

इस मन्त्रमें 'प्रोहामि' पद (यजु० २—१५) दो जगह आया है। उसका अर्थ प्रेरित करना है । इस मन्त्रको पढ़कर यज्ञीय पुरोडाशको पूर्वकी ओर सरकाने या फैलानेका विधान शतपथब्राह्मणमें किया गया है। 'प्रोहामि इति प्रोहति' यह वाक्य शतपथ-ब्राह्मण ग्रंथ से लिया गया है। इसका अर्थ है—इस मन्त्रमें 'प्रोहामि' पद आता उसको पढ़कर पुरोडाशको पूर्वकी ओर प्रेरित करे । ब्राह्मण ग्रन्थका यह विनियोग इस बातको सूचित करता है कि इस मन्त्रका अपना कोई अर्थ नहीं है । यदि मन्त्रका अर्थ होता तो उसके 'प्रोहामि' आदि पदोंको पढ़कर स्वयं ही प्रोहनक्रिया करनेकी प्रेरणा मिलती और ब्राह्मणग्रन्थको 'इति प्रोहति' लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती । अतः मन्त्र अनर्थक हैं, यह कौत्सकी इस दूसरी युक्तिका अभिप्राय है ।

मंत्रोंको अनर्थक सिद्ध करनेके लिए 'कौत्सकी तीसरी युक्ति निम्न प्रकार है ।

(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति ।

'अ—एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः' । 'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् ।'

---

४ और [यदि मन्त्रोंको सार्थक माना जाय तो वे] परस्पर विरुद्ध अर्थोंको कहनेवाले [ठहरते] हैं । [जैसे—तैत्तिरीयसंहिता १-८-६-१ में] 'एक ही रुद्र स्थित है दूसरा नहीं ।' [इसमें द्वितीयरहित केवल एक रुद्रकी सत्ताका प्रतिपादन किया है । परन्तु दूसरी जगह वाजसनेयसंहिता १६-५४ में] 'इस पृथिवीपर असंख्य सहस्रों रुद्र हैं' [इस प्रकार असंख्य रुद्रोंकी सत्ताका प्रतिपादन किया गया है । ये दोनों मन्त्र यदि अर्थवान् माने जावें तो परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक ठहरते हैं । इसलिए वे सार्थक नहीं अपितु अनर्थक हैं ।]

यज्ञमें स्थापित किये जानेवाले यूपके निर्माणार्थ वृक्षको काटनेकी क्रियामें इन [यजु० ४-१ । ६-१५] मन्त्रोंका विनियोग किया गया है । वृक्षके ऊपर कुश रख कर कुठार द्वारा उसको काटा जाता है । उस समय कुशको सम्बोधन करके 'ओषधे त्रायस्व' इस प्रकार वृक्षकी रक्षाकी प्रार्थना की जाती है । और कुठारसे काटते समय 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इस प्रकार हिंसा न करने अर्थात् वृक्षको न काटनेकी प्रार्थना की जाती है । यदि इन मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो जब इनको पढ़कर वृक्षको काटा जा रहा है उस समय 'ओषधे त्रायस्व' और 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इस प्रकारकी प्रार्थनाएँ बिल्कुल असङ्गत हो जाती हैं । इसलिए यह सिद्ध होता है कि मन्त्रोंका वास्तवमें कोई अर्थ नहीं है । उस समय इन मन्त्रोंके पाठ अथवा उच्चारण-मात्रसे ही फल होता है । उसके साथ अर्थका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

मन्त्रोंके आनर्थक्यकी सिद्धिके लिए कौत्स चौथी युक्ति निम्न प्रकारसे प्रस्तुत करते हैं—'अथापि' इत्यादि ।

आ—अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे ।' 'शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः'
इति ।

इ—अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' इति ।

आ—[इसी प्रकार ऋ० १०-१३३-२] इन्द्रका कोई शत्रु नहीं है [यह कहा गया है। इसके विपरीत ऋ० १०-१०३-१ में] इन्द्रने एक साथ सैकड़ों सेनाओंको विजय किया यह [कहा गया है]। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं]।

इ—और जाननेवाले [होता]को [अध्वर्यु] प्रेरणा करता है कि 'प्रदीप्त होनेवाले अग्निकी स्तुतिके लिए [अनुवाक्या मन्त्रोंको] पढ़ो'।

यदि मन्त्रोंको सार्थक माना जाय तो इन परस्पर विपरीत बातोंकी कोई संगति नहीं लगती है। अतएव मन्त्रोंको अनर्थक मानना ही उचित है। यह कौत्सका अभिप्राय है।

अपने मतके समर्थनके लिए कौत्सकी ओरसे पाँचवीं युक्ति निम्न प्रकारसे प्रस्तुत की गई है—'अथापि जानन्तम्' इत्यादि।

'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' यह यजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिता ६-३-७-१ का वचन है। इसमें अध्वर्युकी ओरसे होताको यह प्रेरणा दी जा रही है कि अग्निके भली प्रकार प्रदीप्त हो जानेपर 'अनुवाक्या' मन्त्रोंका उच्चारण करो। होता तो स्वयं वेदका और अपने कर्तव्यका ज्ञाता है। उसको इस प्रकारकी प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए प्रतीत होता है कि यह 'मन्त्रका अर्थ नहीं है। मन्त्र अनर्थक है। उसके उच्चारणमात्रसे यहाँ फल होता है। यह 'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इस चतुर्थ युक्तिके स्पष्टीकरणमें तीसरा उदाहरण है। उसीके प्रसंगमें चौथा उदाहरण आगे देते हैं—'अथाप्याह' इत्यादि।

ई—अथाप्याह 'अदितिः सर्वम्' इति । 'अदितिर्द्यौः अदितिरन्तरिक्षम्' इति । तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

५ अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति । अम्यग्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इति ॥१४॥

और यह भी कहा है कि अदिति [ही] सब कुछ है। [इसके समर्थनके लिए (ऋ० १-८९-१०) मन्त्रका भाग उद्धृत करते हैं जैसे कि] अदिति द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है।' इस ['अदितिर्द्यौः अदितिरन्तरिक्षम्' इत्यादि मन्त्र]की व्याख्या हम आगे [चतुर्थाध्यायके चतुर्थ पादमें] करेंगे।

५—[यदि मन्त्रोंको सार्थक माना जाय तो बहुतसे मन्त्र ऐसे हैं जो] अविस्पष्ट अर्थवाले होते हैं। जैसे अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका ये [शब्द मन्त्रोंमें आते हैं। इन शब्दोंका अर्थ ही स्पष्ट नहीं है। इसलिए जिन मन्त्रोंमें ये शब्द आये हैं वे मन्त्र भी अस्पष्ट अर्थवाले हैं] ॥१४॥

यह भी मन्त्रोंके विप्रतिषिद्धार्थ अर्थात् परस्पर विपरीत अर्थोंके प्रतिपादक होनेका एक उदाहरण है। एक ही वस्तु माता भी बन जाय, पिता भी बन जाय यह नहीं हो सकता है। अदितिको ही द्यौ और अन्तरिक्ष दोनों बतलाना इसी प्रकारका विरुद्ध कथन है। यदि इन मन्त्रोंको सार्थक माना जाय तो उनमें विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन मानना होगा। जो कि उचित नहीं है। इसलिए मन्त्र अनर्थक ही मानने चाहिये। यह कौत्सका अभिप्राय है।

मन्त्रोंकी अनर्थकता सिद्ध करनेके लिए छठी युक्ति यह देते हैं—'अथाप्य०' इत्यादि।

इन चारों शब्दोंका प्रयोग निम्न मन्त्रोंमें हुआ है—

अम्यक् [ऋ० १-१६९-३] अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः।

यादृश्मिन् [ऋ० ५-४४-८] यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्।

जारयायि [ऋ० ६-१२-४] पितेव जारयायि यज्ञैः।

काणुका [ऋ० ८-७७-४] इन्द्रः सोमस्य काणुका।

इन युक्तियोंसे सिद्ध होता है कि मन्त्र अनर्थक हैं। यह कौत्सका मत है॥१४॥

[१५]

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् । 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर्वा अभिवदति' इति च ब्राह्मणम् । 'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' इति ।

---

[१५]

[लौकिक] शब्दोंकी समानताके कारण मन्त्र अर्थवान् हैं। और [मन्त्रोंकी सार्थकताका सूचन करते हुए] यह ब्राह्मण [-वाक्य] भी मिलता है कि—'यज्ञकी यही विशेषता [समृद्धि] है कि जिस रूपसे युक्त जो कर्म किया जाता है उसीका [उस यज्ञमें पढ़े जानेवाले] ऋग्वेद और यजुर्वेद [के मन्त्र] भी प्रतिपादन करते हैं'। जैसे [सन्तानोत्पत्तिके लिए किये जानेवाले विवाहके अवसरपर पढ़े जानेवाले मन्त्रोंमें वर-वधूको यह आशीर्वाद दिया जाता है कि—] 'तुम दोनों पुत्र-पौत्रोंके साथ आनन्द करते हुए' [अपने गृहस्थ-जीवनको व्यतीत करो]। [ऋ० १०-८५-४२]

मन्त्रोंकी सार्थकताका उपपादन

पिछले खण्डमें कौत्सने मन्त्रोंको अनर्थक सिद्ध करनेका यत्न किया था। इस खण्डमें उसके मतका निराकरण करके ग्रन्थकार मन्त्रोंको सार्थकतावाले सिद्धान्त-पक्षकी स्थापना करेंगे। इस प्रयोजनके लिए वे पहिले सिद्धान्त-पक्षकी स्थापना करते हुए लिखते हैं—'अर्थवन्तः' इत्यादि।

जिस सन्तानोत्पादनरूप कार्यके लिए विवाह किया जाता है उसीका वर्णन इस मन्त्रमें किया गया है। इससे मन्त्रोंकी सार्थकता सिद्ध होती है। और उक्त ब्राह्मण-वचन भी मन्त्रोंकी सार्थकताको ही सूचित करता है। इसलिए मन्त्रोंको अनर्थक नहीं सार्थक ही मानना चाहिये। पूरा मन्त्र इस प्रकार है —

इ॒हैव स्त॒ं मा वियौ॑ष्टं वि॒श्वमायु॒र्व्य॑श्नुतम् ।
क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ॒ स्वे गृ॒हे ॥ (ऋ० १०-८५-४२)

(१) यथो एतत्—'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—'इन्द्राग्नी' 'पिता-पुत्रौ' इति।

---

(१) जो यह [कौत्सने कहा था कि—मन्त्रोंमें] शब्दोंकी योजना निश्चित [अपरिवर्तनीय] और उनका क्रम भी नियत [अपरिवर्तनीय] होता है [इसलिए मन्त्र अनर्थक हैं] यह [युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि] लौकिक [वाक्यों]में यह बात [अर्थात् पदों और उनके क्रमकी अपरिवर्तनीयता] पायी जाती है। जैसे 'इन्द्राग्नी' और 'पिता-पुत्रौ' ये [लौकिक प्रयोग हैं। इनमें 'इन्द्राग्नी' के स्थानपर अग्नीन्द्रौ और 'पिता-पुत्रौ' के स्थानपर पुत्र-पितरौ प्रयोग नहीं होता है]।

इस प्रकार अपने सिद्धान्त-पक्षकी स्थापनाके लिए ग्रन्थकारने 'शब्दसामान्यात्' रूप एक युक्ति और एक ब्राह्मण-वाक्य प्रमाणके रूपमें उपस्थित किया है। युक्तिका आशय यह है कि जैसे लोकमें अग्नि आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं वैसे ही, अग्नि आदि शब्द वेदमें भी प्रयुक्त होते हैं। तब वे लोकमें तो सार्थक हों और वेदमें अनर्थक हो जायँ यह तो नहीं हो सकता है। जैसे लोकमें अग्नि आदि शब्द सार्थक हैं इसी प्रकार वेदमें भी उनको सार्थक मानना होगा। इसलिए मन्त्र भी लौकिक वाक्योंके समान सार्थक ही हैं। इस युक्ति द्वारा मन्त्रोंकी सार्थकताको सिद्ध करके उसके समर्थनके लिए ऐतरेयब्राह्मण [१-४, १-१३, १-१६, १-१७] तथा गोपथब्राह्मण [२-६, ४-२] आदि अनेक स्थानोंपर आये हुए अतएव प्रबल एवं असन्दिग्धरूपसे मन्त्रोंकी सार्थकताको सिद्ध करनेवाले ब्राह्मण-वचन उद्धृत किये हैं। इस प्रकार युक्ति और प्रमाणोंके द्वारा अपने सिद्धान्त-पक्षकी स्थापना कर देनेके बाद, पूर्व-पक्षी कौत्सने मन्त्रोंकी अनर्थकता सिद्ध करनेके लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की थीं उनका एक-एक करके आगे खण्डन करते हैं।

इसका आशय यह है कि लौकिक शब्दोंमें भी द्वन्द्वसमासमें अनेक स्थानों पर पूर्वनिपात और परनिपातका नियम पाया जाता है। और शब्दोंका भी

(२) अथो एतत्—'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' इति। उदितानुवादः स भवति।

(३) अथो एतत्—'अनुपपन्नार्था भवन्ति' इति। आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत।

---

(२) और जो यह कहा है कि—'ब्राह्मणके द्वारा [मन्त्र रूपसम्पन्न अर्थात्] कार्यमें विनियुक्त किये जाते हैं [इसलिए मन्त्रोंका अपना अर्थ नहीं होता है। इसका उत्तर [यह है कि ब्राह्मण द्वारा जो मन्त्रका विनियोग है] वह कहे हुए अर्थका अनुवाद है।

(३) और जो यह कहा है कि—[मन्त्रोंको यदि सार्थक माना जाय तो वे] असंगत अर्थवाले ठहरते हैं सो वहाँ वेदके कथनसे अहिंसाकी प्रतीति होती है।

नियम पाया जाता है कि अमुक शब्दोंका द्वन्द्वसमास होनेपर अमुक शब्द नियमसे पहिले आवेगा और अमुक शब्द बादको आवेगा। जैसे 'अजाद्यदन्तम्' [अष्टा० २-२-३३] इस सूत्रमें अजादि और अदन्त पदके पूर्वप्रयोगका नियम किया गया है। इस नियमके अनुसार 'ईश-कृष्णौ' यह प्रयोग ही होता है 'कृष्ण-ईशौ' नहीं हो सकता है। इसी प्रकार इसी सूत्रके अन्तर्गत 'घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन' इस वार्तिक द्वारा 'इन्द्राग्नी' यह प्रयोग नियन्त्रित होता है। इसके स्थानपर 'अग्नीन्द्रौ' पद नहीं हो सकता है। इसलिए क्रम या पदोंके नियत होनेसे जैसे ये लौकिक प्रयोग अनर्थक नहीं होते हैं इसी तरह वैदिक मन्त्र भी अनर्थक नहीं हो सकते हैं।

कौत्सकी दूसरी युक्तिका खण्डन करते हुए कहते हैं—'अथो एतत्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि उन स्थलोंमें वास्तविक अर्थका प्रतिपादन तो वस्तुतः मूल वेदमन्त्र ही करता है। ब्राह्मण-वाक्य तो उस वेद द्वारा प्रतिपादित अर्थका अनुवादमात्र करता है। अनुवादकी प्रक्रिया लोकमें भी पायी जाती है। उससे मूल ग्रन्थका आनर्थक्य नहीं माना जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण द्वारा अनूदित होनेसे वेदमन्त्रको अनर्थक नहीं कहा जा सकता है।

कौत्सकी तीसरी युक्तिका उत्तर देते हुए लिखते हैं—'अथो एतत्' इत्यादि।

(४) यथो एतत्—'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इति । लौकिकेष्वप्येतत् । यथा 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः', 'अनमित्रोऽयं राजा' इति ।

(४) और जो यह कहा है कि—[बहुत-से मन्त्र] परस्पर विरुद्ध अर्थको कहनेवाले होते हैं [जैसे कहीं रुद्रको एक ही बतलाया है और कहीं असंख्य । इसका उत्तर यह है कि] लोक में भी यह [अर्थात् इस प्रकार का प्रयोग] पाया जाता है । जैसे—'इस ब्राह्मणका कोई शत्रु नहीं है', यह [युधिष्ठिर आदि] राजा 'अजातशत्रु' है ।

इसका अभिप्राय यह है कि जब वेदमन्त्र काटे जानेवाले वृक्षके लिए यह कहता है कि 'ओषधे त्रायस्व' 'स्वधिते मैनं हिंसीः' तो इस वेद-वचनसे यह प्रतीत होता है कि वृक्षके काटे जानेपर भी यह उसकी हिंसा नहीं । इससे उसका अपकर्ष नहीं अपितु उत्कर्ष ही होता है । बहुजनहिताय—बहुजनसुखाय किये जानेवाले किसी महत् कार्यमें व्यक्तिका आत्मोत्सर्ग भी उसके गौरवका कारण माना जाता है । इसी प्रकार यज्ञके निमित्त होनेवाले इस वृक्षच्छेदनको उसके उत्कर्षका हेतु मानकर ही उस कर्तनको भी त्राणरूप मानकर वेदने 'ओषधे त्रायस्व' आदि कहा है । उसी प्रकार 'स्वधिते मैनं हिंसीः'से उसकी हिंसाका अभाव अर्थात् जीवनकी सार्थकता सूचित होती है । इसलिए इस युक्तिके द्वारा कौत्स जो मन्त्रोंका विरोध दिखलाकर उनको अनर्थक सिद्ध करना चाहते हैं, वह उचित नहीं है ।

कौत्सकी चौथी युक्तिका उत्तर देते हुए लिखते हैं—'अथो एतत्' इत्यादि ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकारके प्रयोग प्रशंसा-परक लाक्षणिक प्रयोग होते हैं । लोकमें भी उनको विरोधी प्रयोग नहीं माना जाता है । जैसे रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदिके लिए 'अजातशत्रु' विशेषणका प्रयोग किया जाता है । पर रावण, दुर्योधन आदि उनके शत्रु तो विद्यमान थे । तब ये लाक्षणिक प्रयोग शत्रुओंकी विरलता एवं नगण्यताका सूचन करनेके लिए आते हैं । इसी प्रकार वेदमें जो इन्द्रको कहीं अशत्रु और कहीं सैकड़ों सेनाओंका विजेता कहा

(५) यथो एतत्—'जानन्तं सम्प्रेष्यति' इति। जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राह इति।

(६) यथो एतत्—'अदितिः सर्वम्' इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा—'सर्वरसा अनुप्राप्ता पानीयम्' इति।

---

(५) और जो यह कहा है—'जानते हुए को प्रेरणा करता है। [इससे मन्त्र अनर्थक हैं। इसका उत्तर यह है कि लोकमें भी] जानते हुए [गुरु]को [शिष्य आदि अपना नाम उच्चारण करके 'अभिवादयेऽहं देवदत्तः' इत्यादि रूपसे] अभिवादन करता है और जानते हुएको मधुपर्क प्रस्तुत करता है।

(६) और जो यह कहा है कि—'अदितिः सर्वम्' अदिति ही सब कुछ द्यौ, अन्तरिक्ष आदि है [सो एक वस्तु अनेकरूप कैसे हो सकती है। इसलिए मन्त्र अनर्थक हैं। इसका उत्तर यह है कि (लौकिकेषु)लौकिक प्रयोगों में भी यह होता है। जैसे—'पानीमें सारे रस आ गये हैं'।

गया है। तथा रुद्रको कहीं एक और कहीं असंख्य कहा गया है वे उनके अपूर्व-महत्त्वके अभिव्यञ्जक लाक्षणिक प्रयोग हैं। उनसे न परस्पर-विरोध सिद्ध होता है और न मन्त्रोंका आनर्थक्य सिद्ध होता है।

कौत्सकी अगली युक्तिका उत्तर देते हुए लिखते हैं–'अथो एतत्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन कालकी शिष्टाचार-व्यवस्थामें गुरु आदिको जब शिष्य आदि अभिवादन करते हैं तो उसके साथ सदा अपना नाम लेकर ही अभिवादन करते हैं। इसका कारण यह है कि शिष्य-बाहुल्यके कारण कदाचित् गुरुको उसका नाम विस्मृत हो गया हो, इसलिए शिष्य अभिवादनके समय अपना नाम लेकर ही नमस्कार करता है। इसी प्रकार जिसको मधुपर्क दिया जाता है वह जानता है कि यह मधुपर्क दिया जा रहा है फिर भी विधानके अनुसार 'मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्' तीन बार मधुपर्क पदका उच्चारण करके मधुपर्क दिया जाता है। यह उसकी ओर विशेषरूपसे

(७) यथो एतत्—'अविस्पष्टार्था भवन्ति' इति। नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।

---

(७) और जो यह कहा कि—[बहुतसे मन्त्रोंके अर्थ स्पष्ट नहीं होते हैं] जैसे [अम्यक्, जारयायि, काणुका] आदि शब्द जिन मन्त्रोंमें आये हैं उनका अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसका उत्तर यह है कि—यह स्थाणु [वृक्षके ठूँठ] का तो दोष नहीं है कि जो अन्धा उसको देख नहीं पाता है। यह तो पुरुषका दोष है।

ध्यान आकृष्ट करनेके लिए किया जाता है। इसी प्रकार अपने कर्तव्यको जाननेवाले 'होता' को जो 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' आदि सम्प्रेष या प्रेरणा की जाती है उसका आशय यह है कि यदि मनके किसी अन्य ओर चले जानेसे उसको अपने कार्यका ध्यान न रहे तो उसकी ओर उसका ध्यान दिला दिया जाय। इस आधारपर मन्त्रोंको अनर्थक नहीं कहा जा सकता है।

कौत्सकी अगली युक्तिका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—'अथो एतत्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि रसोंका एकमात्र या मुख्य आधार जल ही है इस बातके सूचनके लिए 'सर्वे रसाः पानीयमनुप्राप्ताः' इस प्रकारका प्रयोग होता है। इसी प्रकार अदितिकी प्रधानताके सूचनके लिए 'अदितिर्द्यौः' आदि कहा गया है। इसी प्रकारका लौकिक श्लोक भी अत्यन्त प्रसिद्ध पाया जाता है।

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

(भागवत)

इसका आशय यह है कि अन्धेको स्थाणु दिखलायी नहीं देता है तो यह स्थाणुका दोष नहीं है अपितु पुरुषका दोष है। इसी प्रकार मन्त्रोंमें विद्यमान अर्थ जिसको दिखलायी नहीं देता है उस पुरुषका दोष है।

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥१५॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

जैसे (जानपदी) अर्थात् शिल्प आदि विद्याओंमें ज्ञानसे अनुभवके वैशिष्ट्यके आधारपर ही अनुभवी [पुरुष विशेष] माना जाता है इसी प्रकार [पारोवर्येण विदन्ति आचार्यपररूपरया ते पारोवर्यविदः] अर्थात् गुरु-परम्परासे [वेदोंको] जाननेवालोंमें [भूयोविद्यः] अधिक जानकार बहुश्रुत पुरुष ही [प्रशस्यः] आदरणीय समझा जाता है ॥१५॥

इसका अभिप्राय यह है कि आप जो मन्त्रोंके अर्थकी प्रतीति न होने, अतः मन्त्रोंके अस्पष्टार्थक होनेसे मन्त्रोंको अनर्थक कहना चाहते हैं, यह उचित नहीं है। मन्त्रोंका अर्थ तो पढ़नेसे ज्ञात होगा। आपने यदि अभी इतनी योग्यता प्राप्त नहीं की है कि कठिन मन्त्रोंके अर्थको समझ सकें तो यह आपका दोष है। आपको चाहिये कि आप और अधिक ज्ञान प्राप्त कर अपनेको उन मन्त्रोंका अर्थ समझने योग्य बनावें। मन्त्रोंका अर्थ आपकी योग्यताके आधारपर ही आपको प्रतीत हो सकता है। आपमें यदि योग्यता नहीं है तो आपको मन्त्रोंका अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता है। किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि मन्त्र अनर्थक हैं—मन्त्रोंका कोई अर्थ नहीं है। जैसे अन्धा पुरुष यदि किसी वस्तुको नहीं देख पाता है तो इससे वस्तुका अस्तित्व नहीं मिट जाता है। वह पुरुषका दोष समझा जाता है। इसी प्रकार ज्ञान-नेत्रोंसे विहीन होनेके कारण यदि किसीको किन्हीं मन्त्रोंका अर्थ नहीं प्रतीत होता है तो उससे मन्त्रोंका अर्थ नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है। मन्त्र सार्थक हैं। जो जितना-जितना ज्ञानार्जन करता जाता है उसे उसी उसी क्रमसे वेदोंके अर्थका भान होता जाता है।

यह बात केवल वेदोंके ही विषयमें नहीं अपितु सारी लौकिक विद्याओं तथा शिल्पकला आदिके विषयमें भी लागू होती है। ज्ञान और अभ्यास के आधिक्यसे ही मनुष्य उस विद्याका अनुभवी व्यक्ति माना जाता है। इसी प्रकार वेदोंके विषयमें समझना चाहिये। वेदोंमें अनेक विद्याओंका समावेश होनेपर भी अधिकांश विद्वानोंने जो उनके केवल यज्ञपरक अर्थ किये हैं उसका कारण भी यही

षष्ठः पादः

[१६]

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते । 'अवसाय पद्वते'

षष्ठ पाद

[१६]

और इस (निरुक्त) के विना (मन्त्रोंके) पदोंका विभाग नहीं किया जा सकता है। जैसे—'हे रुद्र' [हमारे] पैरोंसे युक्त पाथेय [अवस]को सुखी रखो'। यहाँ पद्वद् अवस [पैरोंसे युक्त, पाथेय

है कि वेदके आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि अन्य प्रकारके अर्थोंको जाननेकी क्षमता उनमें नहीं थी, इसलिए उन्हें एक ही प्रकारके अर्थका भान हो सका। अन्य ज्ञान-विज्ञान आदिके विशेषज्ञ विद्वान् यदि वेद-भाषाको समझनेकी योग्यता प्राप्त कर उनके अर्थोंका मनन करें तो विविध प्रकारके नूतन ज्ञान-विज्ञानके मूल सिद्धान्तोंको भी प्राप्त कर सकते हैं।

'यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' इस वाक्यकी रचना कुछ अटपटी-सी प्रतीत होती है। पहिले वाक्यमें 'यथा शब्दके प्रयोगके कारण दूसरे वाक्यमें 'तथा' या एवं आदि किसी पदका प्रयोग होना चाहिए था। और 'तु' शब्दका प्रयोग यहाँ अनावश्यक सा प्रतीत होता है। इसलिए तु-शब्दको यहाँ 'एवं'के अर्थमें मानना उचित होता है। यदि 'तु'-शब्दको 'एवं'के अर्थमें मान लिया जाय तो वाक्यका अर्थ ठीक लग जाता है। अन्यथा वह ठीक नहीं बनता है। अतः हमने 'तु'-को एवं अर्थमें मानकर ही अर्थ किया।

'पारोवर्यवित्सु' पदका प्रयोग भी कुछ आर्ष-प्रयोग-सा ही प्रतीत होता है। क्योंकि अन्यत्र लौकिक भाषामें इस पदका प्रयोग नहीं मिलता है।

इस प्रकार कौत्स द्वारा प्रस्तुत की गयीं पूर्वपक्षकी सातों युक्तियोंका खण्डन करके ग्रन्थकारने यहाँ मन्त्रोंकी अर्थवत्ता सिद्ध कर मन्त्रार्थका परिज्ञान निरुक्तका प्रयोजन है यह कहा है ॥१५॥

यह प्रथम अध्यायका पञ्चम पाद समाप्त हुआ।

रुद्र मृड' इति। पद्वद् अवसं गावः, पथ्यदनम्। अवतेर्गत्यर्थस्य असौ नामकरणः। तस्मान्नावगृह्णन्ति।

मार्गका भोजन] गाय है [क्योंकि यात्राके अवसरपर मार्गमें उसका दूध पीकर जीवन-निर्वाह किया जाता है। इसलिए] मार्गका पाथेय गौको कहा है। 'अव रक्षण-गतिकान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याचन-किया--इच्छा-दीप्ति-आलिंगन-हिंसा--दान-भाग-वृद्धिषु' भ्वादिगणकी इस] गत्यर्थक अव-धातुसे ['अति-अवि-चमि-तमि-नमि-रभि-लभि-नभि-तपि-पति-पनि-पणि-महिभ्योऽसच्' उणादि० ३-३९७ इस सूत्रके द्वारा] असप्रत्यय [नामकरणः निरुक्तमें 'नामकरण' पद 'प्रत्यय'के अर्थमें प्रयुक्त होता] है। इसलिए 'अवसाय' एक पद होनेसे उसमें [अवग्रह अर्थात्] पदच्छेद नहीं करते हैं।

निरुक्तका तीसरा प्रयोजन

निरुक्तके प्रयोजनरूप द्वितीय अनुबन्धके निरूपणका प्रसङ्ग चल रहा है। उसी प्रसङ्गसे अब यहाँ निरुक्तके तृतीय प्रयोजनका प्रतिपादन करते हैं। चतुर्थ पादमें सब नामोंको आख्यातज सिद्ध करनेका यत्न किया था। उसका अभिप्राय यह था कि सब नामोंके आख्यातज होनेसे जो अति-परोक्षवृत्ति नाम हैं उनका निर्वचन निरुक्तके द्वारा ही हो सकता है। इसलिए इस प्रकारके शब्दोंका निर्वचन करना निरुक्तका प्रथम प्रयोजन है।

उसके बाद पञ्चम पादमें मन्त्रोंके अर्थका परिज्ञान करना निरुक्तका दूसरा प्रयोजन बतलाया गया है। निरुक्तके इस मुख्य प्रयोजनकी पुष्टिके लिए ही ग्रन्थकारने मन्त्रोंकी अर्थवत्ताकी सिद्धिका यह प्रयास किया था। मन्त्रोंके अर्थज्ञानसे सम्बद्ध रूपमें ही निरुक्तका तीसरा प्रयोजन पदविभाग इस पादमें बतलाते हैं—'अथापीदम्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि 'अवसाय पद्वते रुद्र मृड' (ऋ० १०-१६९-१) तथा 'अवसाय अश्वान्' (ऋ० १०-१०४-१) इन दोनों स्थानों पर 'अवसाय' यह समानरूपका पद प्रयुक्त हुआ है। परन्तु ऋग्वेदके

'अवसाय अश्वान्' इति स्यतिरुपसृष्टो विमोचने। तस्मादवगृह्णन्ति।

'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' इति पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा आःकारान्तम्।

[इसके विपरीत ऋ० १-१०४-१ मन्त्रमें आये हुए] 'अवसाय अश्वान्' इसमें अव उपसर्ग-पूर्वक षो-धातु विमोचनके अर्थमें [प्रयुक्त हुआ] है। इसलिए उसमें [पदपाठकार पदच्छेद] अवग्रह करते हैं।

'यह [कपोतरूप] दूत दूरसे [या दूरका] यहाँ आया है, इसमें आकार है वह जिसके अन्तमें हो वहाँ पंचमीके अर्थका प्रतिपादन या षष्ठीके अर्थका प्रतिपादन समझना चाहिये [अर्थात् 'निर्ऋत्याः' यह पंचम्यन्त या षष्ठ्यन्त पद है]।

पदपाठकार शाकटायनने पहिले मन्त्रमें अवसायको एक पद माना है उसका अवग्रह नहीं किया है। परन्तु दूसरे मन्त्रमें अव+साय इस प्रकार दो भागोंमें उसका अवग्रह किया है। यह भेद निरुक्तके द्वारा अर्थज्ञानके आधारपर ही किया गया है। उसके बिना नहीं हो सकता है। अतः यह अवग्रह या पद-विभाग भी निरुक्तका तीसरा प्रयोजन है। इसीका एक उदाहरण और आगे देते हैं—'दूतो' इत्यादि।

इस मन्त्रमें कपोतके द्वारा किये जानेवाले दूत-कार्यका वर्णन है। 'निर्ऋति' का अर्थ दूर है। यह भाग जिस मन्त्र (१०-१६५-१) से लिया गया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्, दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥
[ऋ० १०-१६५-१]

'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व' इति चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा ऐकारान्तम्। 'परः सन्निकर्षः संहिता' 'पदप्रकृतिः संहिता।' पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

[इसके विपरीत हे दुःस्वप्न तुम मेरे मनको छोड़कर यहाँसे] दूर परे भाग जाओ। यहाँ [पदपाठकार ऐकारान्त चतुर्थीका] 'निर्ऋत्यै' यह पदका रूप मानते हैं।

[मन्त्रोंमें पदोंके] अत्यन्त सन्निकर्षको संहिता कहते हैं [यह संहिताका लक्षण अष्टाध्यायी [१-४-१०८] में किया है और प्रातिशाख्यमें [२-१-१०५ 'पदप्रकृतिः संहिता' इस सूत्रमें उसी अभिप्रायका] पदके आश्रित संहिता है, यह संहिताका लक्षण किया है। पद और सब शाखाओं [चरणों]के प्रातिशाख्य [पार्षदरूप व्याकरण] पदोंके ऊपर ही आश्रित हैं [पद ही उनकी प्रकृति है। इसलिए केवल संहितापाठसे काम नहीं चल सकता है। पदपाठका ज्ञान आवश्यक है और वह निरुक्तसे ही होता है। अतः पदविभाग निरुक्तका तीसरा प्रयोजन है।]

इसका अर्थ यह है कि जैसे पहिले मन्त्रमें 'निर्ऋत्या' इस प्रकारका संहिता-पाठ पाया जाता है उसी प्रकार इसपर [ऋ० १०-१६४-१] मन्त्रमें भी 'निर्ऋत्या' यह पद संहिता-पाठमें उसी रूपमें पाया जाता है, परन्तु पदपाठकारने उसका पदच्छेद भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। यह भेद निरुक्तके द्वारा अर्थज्ञानके आधारपर ही किया गया है। निरुक्तके बिना नहीं किया जा सकता है। इसलिए इस प्रकारका पद-विभाग या अवग्रह भी निरुक्तका तीसरा प्रयोजन है। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

अपेहि मनसस्पते अपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ [ऋ० १०-१६४-१]

यहाँ अवग्रह या पद-विभागके प्रसंगमें यह शंका हो सकती है कि इस पद-विभागकी आवश्यकता ही क्या है। वेदका मूलपाठ तो संहितारूपमें है। इस

[१६]

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति । तदेतेनोपेक्षितव्यम् । ते चेद् ब्रूयुः, लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति—

[१६]

और यज्ञके प्रसंगमें बहुत-सी विधियाँ [प्रदेशाः] देवताओंके निर्देशसे ही होती हैं । उन सबको इस [निरुक्त अथवा याज्ञिक]के द्वारा भली प्रकारसे समझ लेना चाहिये ।

यदि वे [निरुक्तको अनावश्यक माननेवाले याज्ञिक] यह कहें कि हम तो [मन्त्रमें आये हुए देवताओंके नामरूप] लिङ्ग ['सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते ।'] को जाननेवाले हैं [उसीसे देवताओंका निर्णय कर लेंगे । तो उनका यह समझ लेना भूल है, क्योंकि]

शंकाके समाधानके लिए ग्रन्थकारने अगली पंक्ति लिखी है । पदपाठ या पदच्छेदके बिना मन्त्रोंके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिए पहिलेसे ही वेदके दो प्रकारके पाठ पाये जाते हैं एक संहितापाठ है और दूसरा पदपाठ । मन्त्रोंके पदपाठके कर्ता शाकटायन माने जाते हैं । पदोंको अत्यन्त मिला देनेसे संहिता बनती है । इसलिए संहितापाठके साथ पदपाठका ज्ञान भी आवश्यक है । और सारी वैदिक शाखाओंके पार्षद अर्थात् प्रातिशाख्य, जो कि उन शाखाओंके व्याकरणरूप हैं, पदोंके आधारपर ही चलते हैं इसलिए पदपाठका ज्ञान आवश्यक है । इसीलिए आगे ग्रन्थकार कहते हैं—'अथापि' इत्यादि ।

निरुक्तका चौथा प्रयोजन

(१) निर्वचनका ज्ञान, (२) मन्त्रार्थका ज्ञान और (३) पदपाठका ज्ञान निरुक्तके ये तीन प्रयोजन पिछले प्रकरणोंमें कहे जा चुके हैं । अब इस खण्डमें देवता-ज्ञानरूप निरुक्तके चौथे प्रयोजनका प्रतिपादन करते हैं ।

'आग्नेय्या अग्नीध्रमुपतिष्ठते', 'वैष्णव्या हविर्धानम्' अर्थात् आग्नेयी ऋचासे अग्नीध्रका उपस्थान करता है । वैष्णवी ऋचासे हविखका स्थापन करता है ।

'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' इति वायुलिङ्गं च इन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे। 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' इति तथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे।

त्विषितः ज्वलितः। त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति ॥१६

'इन्द्रके समान और वायुके समान तुझ [अग्नि]को देवता लोग अपने बलसे प्रसन्न करते हैं' इस आग्नेय [अर्थात् अग्नि जिसका देवता है इस प्रकारके] मन्त्रमें इन्द्रका और वायुका नाम [लिङ्ग] पाया जाता है। [यदि निरुक्तके विना केवल लिङ्ग अर्थात् नामको देखकर देवताका निर्णय करोगे तो इस [ऋ० ६-४-७] मन्त्रका देवता आप इन्द्र या वायुमेंसे किसीको ठहरावेंगे जो अनुचित होगा]।

'हे मन्यो ! तू अग्निके समान प्रज्वलित होकर [शत्रुओंका] नाश कर' [ऋ० १०-८४-२] इस मन्यु-देवताक मन्त्रमें अग्नि [का भी नाम या लिङ्ग होनेसे। अग्नि उसका देवता हो जावेगा]।

त्विषितः अर्थात् प्रज्वलित। 'त्विट्' इसका दूसरा नाम दीप्ति भी होता है ॥१६॥

इत्यादि बहुत-सी विधियां यज्ञके प्रसंगमें ऐसी मिलती हैं जिनका विधान 'आग्नेयी, वैष्णवी' आदि देवता-परक शब्दोंसे ही होता है। अग्नि जिसका देवता है वह आग्नेयी ऋचा है। इसी प्रकार विष्णु जिसका देवता है वह 'वैष्णवी' ऋचा हुई। दोनोंके अग्नि, विष्णु आदि देवताओंका ज्ञान निरुक्तके बिना नहीं हो सकता है। इसलिए देवता परिज्ञानके निमित्त भी निरुक्तका ज्ञान आवश्यक है, यह निरुक्तका चौथा प्रयोजन है।

इसपर यह शंका हो सकती है कि देवताका परिज्ञान तो मन्त्रमें आये हुए उनके लिंग या परिचायक शब्दोंसे भी हो सकता है। उसके लिए निरुक्तकी क्या आवश्यकता है। इसका समाधान करनेके लिए अगला प्रकरण लिखा गया है।

[१७]

अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति, अज्ञाननिन्दा च ।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

[१७]

और [शास्त्रमें वेदके अर्थके] ज्ञानकी प्रशंसा तथा [अर्थके] अज्ञानकी निन्दा मिलती है। जैसे—

जो वेदको पढ़कर [भी उसके] अर्थको नहीं जानता है वह केवल बोझा ढोनेवाला [यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। गर्दभ केवल भारको समझता है चन्दनको नहीं या फलोंका बोझ उठानेवाले इसी प्रकार] अर्थको समझे बिना केवल मन्त्रोंको रट लेनेवाला वृक्षका ठूंठ जैसा [मूर्ख] है। जो [पढ़े हुए वेदके] अर्थको समझता है वह ही [उसके द्वारा] समस्त कल्याणोंको प्राप्त कर सकता है और [वेदोंसे प्राप्त] ज्ञानके द्वारा पापोंका नाश करके [पापोंसे बचकर] स्वर्गको प्राप्त करता है।

निरुक्तका पाँचवाँ प्रयोजन

१ निर्वचन, २ मन्त्रार्थ-ज्ञान, ३ पदविभाग-ज्ञान और ४ देवता-परिज्ञान रूप चार प्रयोजन पहिले कहे जा चुके हैं अब अर्थज्ञ होनेके नाते प्रशंसाकी प्राप्ति भी हो सकती है यह प्रशंसाप्राप्ति निरुक्तका पाँचवाँ प्रयोजन बतलाते हैं।

यह कोई मन्त्र नहीं है। कहींका प्रसिद्ध श्लोक है। इसमें स्पष्टरूपसे वेदके अर्थ-ज्ञानको आवश्यक बतलाया है। अर्थज्ञानके बिना केवल वेदको कण्ठस्थ कर लेनेमात्रसे कल्याण नहीं हो सकता है। अर्थको न जानकर केवल वेदको घोट लेनेवाला व्यक्ति भारवाही गर्दभके समान है। इस प्रकार इसमें मन्त्रार्थके अज्ञानको अत्यन्त निन्दित बतलाया है और ज्ञानकी प्रशंसा की गयी

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

स्थाणुस्तिष्ठतेः । अर्थो अर्तेः । अरणस्थो वा ॥१७॥

जो [विषय, अर्थको] विना समझे कण्ठ कर लिया जाता है [गृहीतम्] और पाठमात्रसे ही उच्चारण किया जाता है वह विना अग्निमें रखी हुई सूखी समिधाओंके समान कभी भी प्रज्वलित [सफल] नहीं हो सकता है ।

'स्थाणु'—[शब्द 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' भ्वा०] स्था-धातुसे बना है । अर्थ [शब्द 'ऋ सेवने' अदादि०] ऋ-धातुसे बना है । अथवा [अरणे ज्ञाने तिष्ठतीति अर्थः, अरणे स्वामिमरणे इहैव तिष्ठतीति अर्थः धनम्] अरणमें [ज्ञानमें या स्वामीका मरण होनेपर] स्थित होनेसे अर्थ है ॥१७॥

है । वह वेदार्थका ज्ञान निरुक्तके विना नहीं हो सकता है, इसलिए निरुक्तका पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है । निरुक्तको पढ़कर और वेदार्थको जानकर प्रशंसा प्राप्त करना निरुक्तका पाँचवाँ प्रयोजन है ।

अर्थके अज्ञानकी निन्दा अगले श्लोकमें भी निम्न प्रकारसे की गयी है— 'यद्' इत्यादि ।

यह भी उसी प्रकारका दूसरा श्लोक है । इसमें अज्ञानकी निन्दा की गयी है । विना अर्थके समझे केवल वेदको कण्ठ कर लेना व्यर्थ है । जैसे विना अग्निके सूखीसे सूखी भी समिधा प्रज्वलित नहीं हो सकती है । इसी प्रकार अर्थज्ञानके विना वेद जैसी महत्त्वपूर्ण विद्या भी विफल व्यर्थ हो जाती है । अतः वेदार्थका ज्ञान आवश्यक है । और उसके लिए निरुक्तकी शरण लेना अनिवार्य है । अतः अज्ञानी होनेकी निन्दासे बचकर वेदज्ञ होनेकी प्रशंसाकी प्राप्ति करना निरुक्त शास्त्रका पाँचवाँ प्रयोजन कहा गया है ॥१७॥

[१८]

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

[ऋ० १०-७१-४]

अप्येकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् इति । अविद्वांसमाह अर्धम् । अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे

[१८]

[जो वेदको कण्ठस्थ करके भी उसके अर्थको नहीं समझता है वह 'उत त्वः' एकः] वाणीको देखता हुआ भी नहीं देखता है और [वही] एक सुनते हुए भी उसको नहीं सुनता है। [अर्थात् उसका स्वयं अपनी आँखोंसे देखकर पढ़ना या गुरु-मुखसे सुनकर याद करना सभी कुछ बिल्कुल व्यर्थ है। और जो अर्थको समझनेवाला है उस] एक [अर्थज्ञ] के लिए वाणी अपने स्वरूपको इस प्रकारसे खोलकर रख देती है जैसे कि [ऋतुकालमें] कामयमान और सुन्दर वस्त्रोंसे सजी हुई पत्नी अपने पतिके लिए [अपने सम्पूर्ण स्वरूपको प्रकाशित कर देती है। खोल देती है]।

एक [अर्थात् अर्थको समझे विना स्वयं पुस्तक देखकर याद करनेवाला व्यक्ति] देखते हुए भी वाणीको नहीं देखता है। और [अर्थको समझे विना गुरुमुखसे सुनकर कण्ठस्थ करनेवाला व्यक्ति] इसको सुनते हुए भी नहीं सुनता है। यह [मन्त्रका] आधा भाग अविद्वान् [अर्थात् अर्थके न जाननेवाले]को कहता है। [अर्थात् अविद्वान्की निन्दासे सम्बन्ध रखता है]। और [जो अर्थको जाननेवाला

ज्ञानप्रशंसाके विषयमें तीसरा वचन

अज्ञानकी निन्दा एवं ज्ञानकी प्रशंसाके विषयमें ऊपर दो वचन प्रमाणरूपसे उद्धृत किये गये हैं। ये दोनों वेदमन्त्र न होकर कहीं अन्यत्रके श्लोक हैं। इसलिए अब इसी सम्बन्धमें दो वेदमन्त्र भी प्रस्तुत करते हैं। उनमेंसे

इति। स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्य आह अनया वाचा। उपमा उत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति, स शृणोति इत्यर्थज्ञप्रशंसा।

[१९]

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

है उस] एकके लिए वाणी अपने स्वरूपको खोल देती है। ['तन्वं विसस्रे' अनया वाचा] इस वाणीसे [अर्थात् तृतीय पादसे] अर्थके ज्ञानका प्रकाशन कहा गया है। और [उत्तमया वाचा अर्थात्] अन्तिम चरणसे [पत्ये जाया इव यह] उपमा [कही गयी है]। ऋतुकालोंमें कामयमान सुन्दर वस्त्रोंसे अलंकृत पत्नी जैसे पतिके सामने अपने स्वरूपको खोल देती है। जैसे वह [पति] इस [अपनी कामयमाना पत्नीके निखिल स्वरूप] को देखता है और वह [पति ही] उस [पत्नीकी वाणी] को सुनता है [इस प्रकार अर्थको जाननेवाला ही वस्तुतः वेदवाणीको देखता है और सुनता है] यह अर्थज्ञकी प्रशंसा है।

[१९]

चौथा प्रमाण

उस [ज्ञानकी प्रशंसा तथा अज्ञानकी निन्दा] के और अधिक स्पष्ट करनेके लिए अगली [ऋचा भी] है—

पहिला मन्त्र 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादि दिया है। उसका अर्थ ऊपर दिया है। यह मन्त्र 'त्वः' निपातके प्रयोगके प्रसङ्गमें पहिले भी दिया जा चुका है।

इस प्रकार ज्ञानकी प्रशंसा तथा अज्ञानकी निन्दाके विषयमें यह वेदमन्त्र तीसरे प्रमाणके रूपमें उद्धृत किया गया है। इसी विषयमें एक मन्त्र और उद्धृत कर उसकी पुष्टि करते हैं।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥
(ऋ० १०-७१-५]।

अप्येकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहुः। रममाणं विपीतार्थम्। देवसख्ये रमणीये स्थान इति वा। विज्ञातार्थं यं नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रति-

---

[वेदके अर्थोंको जाननेवाले] एकको [वाणीकी] मित्रतामें पक्का कहते हैं। इसलिए अन्य लोग वाणीके द्वारा जानने योग्य [अर्थात् शास्त्र-सम्बन्धी] कठिन विषयोंमें इसके पास नहीं फटक सकते हैं [इसकी बराबरी नहीं कर सकते हैं। इसके विपरीत] जो अर्थको न जानकर केवल वेदको कण्ठस्थमात्र कर लेता है [फल और पुष्प-से रहित वाणी अर्थात् वेदका श्रवण करता है] वह [असली गायके धोखेमें अर्थात् मैंने वास्तवमें वेदका अध्ययन कर लिया है इस धोखेमें] बनावटी [मायाकी बनी हुई] गाय [जो वास्तवमें गाय नहीं है] के साथ विचरण करता है [वेदज्ञानका मिथ्या अभिमान लिये फिरता है]।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ इसीको वृत्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं—

एक [अर्थात् वेदार्थके ज्ञाता] को वाणीके साथ मित्रतामें पक्का [स्थिरपीत] कहते हैं। [स्थिरपीत अर्थात् वेदज्ञानमें] आनन्द करने-वाले, अर्थको पूर्णरूपसे ग्रहण कर लेनेवाले [विपीतार्थ] को ['स्थिर-पीत' कहते हैं]। ['वाक्सख्ये'का अर्थ है] देवताओंकी मित्रतामें अथवा रमणीय स्थानमें। क्योंकि अर्थके जाननेवालेको [अन्य अर्थात् वेदार्थको न जाननेवाले] वाणीके द्वारा जानने योग्य कठिन [शास्त्रीय] विषयोंमें भी [उसके पास नहीं फटकते हैं उसकी बराबरी नहीं कर पाते हैं]। जिसने फल और पुष्पसे रहित वाणीको सुना होता है [अर्थात् अर्थको जाने बिना वेदको कण्ठ किया हुआ होता है] वह

रूपया । नास्मै कामान् दुग्धे वाग् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु । यो वाचं श्रुतवान् भवति अफलामपुष्पामिति । अफलाऽस्मा अपुष्पा वाग् भवतीति वा । किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले । देवताध्यात्मे वा ॥१९॥

[२०]

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्यो असाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे

बनावटी वाणीरूप मायामयी अधेनुके साथ विचरण करता है [अर्थात् वेदज्ञानका मिथ्या अभिमान लिये फिरता है] । वह मनुष्य-स्थानोंमें [अर्थात् सामान्य जनतामें] और देवस्थानोंमें [अर्थात् विद्वानोंके बीच कहीं भी] इसको, वाणीसे प्राप्त होनेवाले फलको, प्रदान नहीं करती है । उसके लिए वाणी फल तथा पुष्पसे रहित ही रहती है । अथवा [नञ्का प्रयोग ईषदर्थमें मानकर] कुछ थोड़ा-सा फल देनेवाली होती है । अर्थको वाणीका पुष्प और फल कहा है । अथवा यज्ञसम्बन्धी ज्ञान और देवता-परिज्ञान पुष्प और फल हैं । अथवा देवता तथा अध्यात्म [जीवात्मा या परमात्मा] का ज्ञान [वाणीके पुष्प और फल हैं] । ॥१९॥

[२०]

[प्रारम्भमें 'साक्षात्कृतधर्माणः' अर्थात्] वेदार्थको स्वयं समझ लेने वाले ऋषिगण होते थे । [जब आगेके लोगोंमें यह सामर्थ्य कम हो गयी तो] उन [साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों] ने धर्मका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ अपनेसे बादके अथवा अपनेसे छोटे लोगोंको उपदेश द्वारा मन्त्रोंको प्रदान किया [अर्थात् मन्त्रोंके अर्थोंका उपदेश दिया । उसके बाद उस] उपदेशसे ग्रहण करनेमें भी असमर्थ बादके लोगोंने

बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः । वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा ॥२०॥

[वेदके अर्थोंके] स्पष्टरूपसे ग्रहण कर सकनेके लिए इस ग्रन्थ [अर्थात् 'निघण्टु' रूप वैदिक-कोश] की रचना की। [उन्होंने केवल इस वैदिककोशरूप निघण्टुकी ही रचना नहीं की अपितु उसके साथ] वेद और वेदांगोंको भी [लिपिबद्ध किया]।

बिल्म-भिल्म-अर्थात् स्पष्ट अथवा प्रतीत कराने [के लिए निघण्टु-की रचना की, यह अभिप्राय है] ॥२०॥

निघण्टुकी उत्पत्तिका इतिहास

पिछले खण्डोंमें निरुक्तके प्रयोजनोंका प्रतिपादन कर चुके हैं। इस खण्डमें निरुक्तके आधारभूत निघण्टुकी उत्पत्ति कैसे हुई इसका इतिहास बतलाते हैं। वह इतिहास इस प्रकार है कि पहिले सृष्टिके आदिमें ऋषिगण वेदोंके अर्थोंको योगाभ्यास द्वारा साक्षात् कर लेते थे।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि आरम्भमें ऋषिगण वेदार्थको स्वयं योग-बलसे साक्षात्कार करके जान लेते थे। उसके बाद जब लोगोंमें इस प्रकारकी सामर्थ्य कम हो गयी तब उन ऋषियोंने उत्तरकालके न्यूनसामर्थ्यवाले मुनियोंको मन्त्रोंके अर्थोंका उपदेश करना अर्थात् अध्यापन करना प्रारम्भ किया। उसके बाद सामर्थ्यमें और भी न्यूनता होनेपर पढ़ानेपर भी अर्थका स्मरण रखना उनके लिए कठिन हो गया तब स्पष्टरूपसे शीघ्रतासे मन्त्रोंका अर्थ समझमें आ जाय इसके लिए इस 'निघण्टु' रूप वैदिककोशकी रचना उन्होंने की। और इसके साथ ही वेद जो अब तक श्रुतिरूपमें गुरु-परम्परासे चला आ रहा था उसको भी लिपिबद्ध किया और उसके साथ ही अर्थज्ञानमें उपयोगी वेदाङ्गोंकी रचना भी की। 'वेदं च वेदाङ्गानि च' का अर्थ सत्यव्रत सामाश्रमीने वेदपदसे ब्राह्मण-ग्रन्थोंका ग्रहण किया है। दुर्गाचार्यने वेदकी शाखाओंका ग्रहण किया है। स्कन्दस्वामीने 'कृत्स्नवेदग्रन्थग्रहणार्थं समाम्नातवन्तः' यह किया है।

इसका मुख्य भाव यही है कि वेदको कण्ठ करने तथा उसका अर्थ जाननेके लिए सारे वेदको उन्होंने लिपिबद्ध किया।

'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च, वेदाङ्गानि च' इस वाक्यमें 'इमं ग्रन्थं' से स्पष्टरूपसे 'निघण्टु'का ही ग्रहण होता है। उसके साथ प्रयुक्त 'वेदं च' की व्याख्या दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी और सत्यव्रत सामाश्रमीने भिन्न-भिन्न प्रकारसे की है उसे हमने ऊपर दिखा दिया है। इनके अतिरिक्त एक और व्याख्या है, वह अधिक उपयोगी भी जान पड़ती है। 'निघण्टु' मूल ग्रन्थ है और 'निरुक्त' उसकी टीका है। किन्तु ६ वेदाङ्गोंमें 'निघण्टु' की गणना न करके निरुक्तकी गणना की गयी है। इसका क्या कारण है, इसका स्पष्टीकरण इस 'वेदं च' पदसे होता है। यहाँ 'वेदं च' को 'इमं ग्रन्थं' का विशेषण मान लिया जाय तो उसका अभिप्राय यह हो जायगा कि 'निघण्टु' स्वयं वेदरूप है, इसलिए उसकी गणना वेदाङ्गोंमें नहीं की गयी है। यों 'निघण्टु' वैदिक शब्दोंका कोश है। उसमें वेदके शब्दोंका संग्रह किया गया है। किन्तु वे वैदिक शब्द अपने समुदायसे अलग होकर भी 'यूथपरिभ्रष्ट गवादि न्यायसे' वेद ही कहे जा सकते हैं। जैसे अपने झुण्डसे बिछुड़ जाने पर भी गाय, गाय ही रहती है, बदल नहीं जाती, इसी प्रकार 'निघण्टु' में संगृहीत वैदिक शब्द अपने यूथसे परिभ्रष्ट होकर भी वेद ही कहे जा सकते हैं। 'इमं ग्रन्थं' के साथ 'वेदं च' को जोड़कर यह अर्थ किया जा सकता है। उस दशामें 'निघण्टु' की गणना वेदाङ्गोंमें क्यों नहीं की गयी, इस प्रश्नका समाधान हो जाता है। अतः यह व्याख्या स्कन्द, दुर्गाचार्य तथा सामाश्रमीकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। किन्तु हमने ऊपर जो अर्थ दिया है कि 'वेदोंको भी लिपिबद्ध किया तथा वेदाङ्गोंकी रचना की' परन्तु यह अर्थ इन सबसे अधिक उचित प्रतीत होता है।

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः' में धर्म शब्दसे वेदार्थका ग्रहण करना चाहिये। इसीमें 'अवरेभ्यः' पदका अर्थ 'छोटा' न करके 'उत्तरकालके' 'बादके' लोगोंको यह करना चाहिये। 'बिल्म' शब्द अतिपरोक्षवृत्ति है। 'भिल्म' उसका परोक्षवृत्ति रूप है। उसका अर्थ स्पष्ट अथवा शीघ्र करना चाहिये॥ २०॥

[२१]

१. एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः। एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि।

[२१]

१ अ– इतने एक अर्थके वाचक धातु [वेदमें आये] हैं। धातु-शब्द [‘दध धारणे’ भ्वा० से होता है। अर्थात् जो अर्थको धारण करता है वह धातु कहलाता है]।

आ– इतने इस द्रव्यके [पर्यायवाचक] नाम हैं।

निघण्टुका विषय और विभाग

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ‘निघण्टु’ वैदिक-कोश है। उसमें शब्दोंका संग्रह आज-कलके कोश-ग्रन्थोंके समान अकारादि-क्रमसे नहीं अपितु अन्य क्रमसे किया गया है। इस संग्रह-कमके अनुसार वह तीन भागों या तीन ‘काण्डों’ में विभक्त है। पहिले काण्डका नाम ‘नैघण्टुक-काण्ड’, दूसरेका ‘नैगम-काण्ड’ और तीसरेका नाम ‘दैवत-काण्ड’ रखा गया है। अध्यायोंको दृष्टिसे निघण्टुमें पाँच अध्याय हैं। जिनमेंसे पहिले तीन अध्यायोंको मिला कर ‘नैघण्टुक-काण्ड’ बनता है। चौथा अध्याय ‘नैगम-काण्ड’ तथा पाँचवाँ अध्याय ‘दैवत-काण्ड’ के अन्तर्गत आता है। इनमेंसे सबसे पहिले ‘नैघण्टुक-काण्ड’ में समानार्थक अर्थात् एक अर्थके वाचक समस्त शब्दोंका और इसी प्रकार एक अर्थका प्रतिपादन करने वाली समस्त धातुओंका एक जगह संग्रह किया गया है। अर्थात् वेदमें इतने शब्द या इतनी धातुएँ इस अर्थमें प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार समानार्थक शब्दों तथा समानार्थक धातुओंका संग्रह किया गया है। दूसरे ‘नैगम-काण्ड’ में अनेकार्थक शब्दोंका संग्रह किया गया है। अर्थात् यह शब्द इतने अर्थोंका वाचक हो सकता है इस प्रकारके अनेकार्थक शब्द ‘निगम’ कहलाते हैं और उनका संग्रह ‘नैगम-काण्ड’ में हुआ है। तीसरे ‘दैवत-काण्ड’ में मन्त्रोंमें प्रयुक्त देवताओंके प्राधान्य, अप्राधान्य आदिका विवेचन किया गया है। इसलिए उसको ‘दैवत-काण्ड’ कहते हैं। इसी क्रमसे ग्रन्थकार ‘निघण्टु’ का विषय तथा उसका विभाजन इस खण्डमें दिखलाते हुए आगे लिखते हैं—‘एतावन्तः’ इत्यादि।

२. एतावतामर्थानां इदमभिधानम् ।

३. नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येन इदम् इति ।

तदन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् । 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' । अश्वमिव त्वा वालवन्तम् । वाला दंशवारणार्थाः भवन्ति । दंशो दशतेः ।

२—यह नाम इतने अर्थोंका [वाचक] है [इस प्रकारके अनेकार्थक नामों तथा अनेकार्थक धातुओंका संग्रह जिसमें किया गया है वह निघण्टुका दूसरा काण्ड है । और उसको 'नैगम-काण्ड' कहा जाता है] ।

३—यह अप्रधान [नैघण्टुक] देवताका नाम है और यह प्रधानरूपसे [वर्णित देवताका नाम है । इसका विवेचन निघण्टुके 'दैवत-काण्ड' नामक तीसरे काण्डमें किया है] ।

इनमेंसे जो [देवता] अन्य देवतावाले मन्त्रमें आता है वह नैघण्टुक [देवता—अप्रधान देवता—कहलाता] है । जैसे—

'वालोंसे युक्त अश्वके समान [हे अग्ने !] तुम्हारा [हम प्रणामों द्वारा आराधन करते हैं' [ऋ० १-२७-१] ।

[मन्त्रमें आये हुए 'वार' शब्दका अर्थ 'वाल' है । और बाल डांसोंका वारण करनेके लिए होते हैं, [अर्थात् डांसों मच्छरोंका वारण करनेवाले होनेके कारण वारणार्थक धातुसे बनते हैं] दंश [शब्द भ्वादिगण-पठित 'दंश दशने' इस दंश-धातुसे बना है ।

ये दोनों मिलकर 'नैघण्टुक-काण्ड' के विषय होते हैं । अर्थात् 'नैघण्टुक-काण्ड' में वेदमें आनेवाले समानार्थक धातुओं तथा समानार्थक शब्दोंका संग्रह किया गया है ।

निरुक्तमें १—३ तक तीन अध्याय 'नैघण्टुक-काण्ड', ४-६ तक तीन अध्याय 'नैगम-काण्ड' तथा ७-१२ तक ६ अध्याय 'दैवत-काण्ड' में हैं ।

'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'। मृग इव भीमः कुचरो मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। भीमो बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानं क्वायं न चरति इति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी।

पर्वतपर रहनेवाले [गिरिष्ठाः] और भयंकर गतिवाले [कुचरः] मृग [अर्थात् सिंह] के समान [इस मन्त्र खण्डका उत्तरार्द्ध यों है— 'परावत आजगन्था परस्याः' ऋ० १०।१८०।२]।

'मृग' शब्द गत्यर्थक 'मृज' धातुसे ['मृजू शुद्धौ' अदादि० और 'मृजू शौचालंकारयोः' चुरादि० धातु हैं। गत्यर्थमें उसका प्रयोग 'धातूनामनेकार्थत्वात्' ही होता है] भीम शब्दका अर्थ है जिससे डरते हैं। भीष्म [शब्द] भी इसी [कारण तथा इसी धातुसे बनता है। अर्थात् जिससे डरा जाय उसको भीष्म भी कहते हैं]। 'कुचर' यह कुत्सित गति अर्थका वाचक है [कुत्सितं चरति इति कुचरः]। और यदि देवताका नाम है [अर्थात् इन्द्रके पक्षमें इसका निर्वचन है तो] 'यह कहाँ नहीं जा सकता है' [अर्थात् सर्वत्र इसकी गति है यह अर्थ होता है]। 'गिरिष्ठा [का अर्थ गिरि अर्थात्] पर्वतपर रहनेवाला है।

निघण्टुके इस विषय-विभागके अनुसार 'दैवत-काण्ड' में नैघण्टुक-देवताके नाम और प्रधान देवताके नामका विवेचन किया गया है। अर्थात् जिन मन्त्रोंमें अनेक देवताओंके नाम आये हैं उनमेंसे अमुक नाम नैघण्टुक अर्थात् अप्रधान देवताका है और अमुक नाम प्रधान देवताका है इसका निर्णय आदि दैवत-काण्डमें किया गया है। इनमें नैघण्टुक-देवता किसको कहते हैं और प्रधान देवता किसको कहते हैं इसका स्पष्टीकरण ग्रन्थकार उदाहरण द्वारा समझाते हुए अगले अनुच्छेदोंमें निम्न प्रकारसे कहते हैं—'तदन्य' इत्यादि।

यहाँ मन्त्रका मुख्य देवता 'अग्नि' है। उसमें 'अश्व' का नाम भी आया है। परन्तु वह अन्य देवतावाले मन्त्रमें अप्रधानरूपसे आया है इसलिए वह यहाँ मुख्य देवता नहीं अपितु 'नैघण्टुक-देवता' है। इस अभिप्रायसे यह उदाहरण दिया है।

गिरिः पर्वतः, समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व देवानस्मिन् प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीतरत् सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

'गिरि' का अर्थ पर्वत है। [क्योंकि वह] 'समुद्गीर्णो भवति' अर्थात् ऊपर उठा हुआ होता है। और वह 'पर्ववान्' पर्वों [अर्थात् पत्थरोंके जोड़ों] से युक्त होता है इसलिए [उसको 'पर्वत' कहते हैं] और पर्व [शब्द 'पृण प्रीणने' (तुदादि), 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' क्र्यादि०] पृ-धातुसे अथवा प्री-धातुसे बनता है। मासके अर्ध भाग [अर्थात् पूर्णिमा तथा अमावास्या]को 'पर्व' कहते हैं, क्योंकि इनमें [दर्श पौर्णमास यागोंके द्वारा] देवताओंको तृप्त करते हैं। इसीके आधार-पर सन्धिकी समानताके कारण अन्य [अर्थात् बाँसकी या गन्नेकी गाँठ आदिको भी 'पर्व' कहते हैं। क्योंकि जैसे पूर्णिमा तथा अमावस दो पक्षोंकी सन्धिपर होती है इसी प्रकार बाँसकी गाँठ आदि सन्धि-स्थल पर होती है। मन्त्रके 'गिरिष्ठाः' पदका दूसरा अर्थ जो इन्द्र पक्षमें लगता है] मेघमें रहनेवाला है। मेघ भी इसी कारण से अर्थात् समुद्गीर्ण आकाशमें उठा हुआ होनेसे] 'गिरि' [कहलाता] है।

इसी नैघण्टुक-देवताका दूसरा उदाहरण [ऋ० १०-१८०-२] देते हैं—

इस मन्त्रका प्रधान देवता 'इन्द्र' है और मृग नाम उसके भीतर पढ़ा गया है इसलिए वह नैघण्टुक देवता है। आगे मन्त्रमें आये हुए शब्दोंके निर्वचन करते हैं—

ये दो उदाहरण नैघण्टुक देवताके दिखलाये। इस प्रकार नैघण्टुक-देवता तथा प्रधान-देवता दो प्रकारके देवता होते हैं यह प्रतिपादन किया है। इनमेंसे दैवत-काण्डमें नैघण्टुक देवताओंका नहीं अपितु प्रधान देवताओंका ही मुख्य-रूपसे विवेचन किया है। इसी बातको कहते हुए और अगले कार्यक्रमको दर्शाते हुए आगे कहते हैं—'तद्यानि' इत्यादि।

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतानां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । तदुपरिष्टात् व्याख्यास्यामः । नैघण्टुकानि नैगमानि इह इह ॥२१॥

इति प्रथमाध्यायस्य षष्ठः पादः समाप्तः ।

---

(१) समाम्नायः, (२) इन्द्रियनित्यं [तत्र चतुष्ट्वं],(३) न निर्बद्धाः [अतोऽन्ये], (४) अथ निपाताः, (५) अथ यस्यागमात् [वायुर्वा त्वा], (६) न नूनमिति, (७) अथापि पदपूरणः [नूनं सा ते], (८) त्व इति [ऋचां त्वः], (९) निपात इत्येके [अक्षण्वन्तः], (१०) अथ ये [निष्ट्वक्त्रासः], (११) इतीमानि चत्वारि [हविर्भिं०], (१२) तदेतन्नो (इतीमानि], (१३) अथापीदं [अथापि यो], (१४) अर्थवन्तः [यथो हि], (१५) अथापीदमन्तरेण पदविभागो [अथापीदं], (१६) अथापि याज्ञे [अथवन्तो], (१७) अथापि ज्ञानप्रशंसा [अथापीदं], (१८) उत त्वः [स्थाणुः], (१९) तस्योत्तरा [स्थाणु],(२०) साक्षात्कृत [उत त्वं],(२१) एतावन्तः । इत्येकविंशतिः ॥

इति प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥

उनमेंसे जो नाम प्रधान स्तुतिवाले देवताओंके [होते] हैं उनको 'दैवत' कहते हैं [अर्थात् दैवत-काण्डमें उनका विवेचन किया गया है]। उनका विवेचन बादको [दैवत-काण्डमें] करेंगे। [उसके पूर्व क्रमशः] नैघण्टुक तथा नैगम [काण्डोंके प्रतिपाद्य विषयोंको क्रमशः] यहाँ [कहते हैं। अर्थात् अगले अध्यायोंमें नैघण्टुक-काण्डके और उसके आगे ४—६ अध्यायोंमें नैगम-काण्डके पदोंकी व्याख्या करेंगे। उसके बाद ६—१२ अध्यायोंमें दैवत-काण्डके पदोंकी व्याख्या करेंगे।]

यह प्रथम अध्यायका षष्ठ पाद समाप्त हुआ।

खण्डविभाजनका स्पष्टीकरण

इस अध्यायका विभाजन २१ खण्डोंमें किया गया है। पूर्वसंस्करणोंमें अध्यायके अन्तमें उनके प्रतीकोंका उल्लेख किया हुआ है। हमने इनमें कुछ संशोधन किया है। पुराने परम्परागत खण्डविभाजनमें खण्डोंके आरम्भके जो प्रतीक दिये गये हैं उन्हें हमने यहाँ कोष्ठमें दिखला दिया है। परम्पराको न मानकर हमने विषयकी दृष्टिसे खण्डविभाजन किया है। किन्तु खण्डोंकी कुल संख्या परम्परा-विभाजनके अनुसार २१ ही रखी है। उसके अनुसार खण्डोंके आरम्भके प्रतीक निम्न प्रकार बनते हैं—

१ समाम्नायः, २ इन्द्रियनित्यं [तत्र चतुष्ट्वं], ३ न निर्बद्धा [अतोऽन्ये], ४ अथ निपाताः, ५ अथ यस्यागमात् [वायुर्वा त्वा], ६ नूनमिति, ७ अथापि पदपूरणः [नूनं सा ते], ८ त्व इति [ऋचां त्वः], ९ निपात इत्येके [अक्षण्वन्तः], १० अथ ये [निष्टक्त्रासः], ११ इतीमानि चत्वारि [हविर्भिः] १२ तदेतन्नो [इतीमानि] १३ अथापीदं [अथापि यो], १४ अथवन्तः [यथो हि], १५ अथापीदमन्तरेण पदविभागो [अथापीदं] १६ अथापि याज्ञे [अर्थवन्तो], १७ अथापि ज्ञानप्रशंसा [अथापीदं], १८ उत त्वः [स्थाणु], १९ तस्योत्तरा [उत त्वं], २० साक्षात्कृत [उत त्वः], २१ एतावन्तः इत्येकविंशति।

यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[१]

अथ निर्वचनम् ।

(१) तद्येषु पदेषु स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् ।

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

[१]

अब निर्वचन [विधिका प्रतिपादन किया जाता] है ।

(१)– जिन पदोंमें स्वर [उदात्त, अनुदात्त आदि] तथा संस्कार [अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययका विभाग और संश्लेषण, समर्थ [अर्थात् व्याकरणके नियमोंसे समर्थित और अर्थानुगामी] हों उन [प्रत्यक्षवृत्ति शब्दों] का उसी प्रकारसे [व्याकरणकी प्रक्रियाके अनुसार] निर्वचन करना चाहिये ।

निर्वचनविधि

प्रथम अध्याय यास्कने विषय-प्रवेशके लिए भूमिकारूपमें लिखा है। उसमें 'निघण्टु'से सम्बन्ध रखनेवाले सामान्य विषयोंकी चर्चा की है। अब द्वितीय अध्यायमें 'निघण्टु' की व्याख्या या निर्वचन प्रारम्भ करेंगे। किन्तु इसमें भी इस पहिले पादमें निर्वचनके सामान्य नियमोंका वर्णन कर रहे हैं। इसलिए यह भी उसी भूमिकाका भाग है। अन्तर यह है कि यह पाद निर्वचन-

प्रक्रियासे साक्षात् सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसको प्रथम अध्यायसे अलग कर इस द्वितीय अध्यायके आरम्भमें रखा है।

यह पाद निरुक्तका प्राणभूत है। शेष सारा ग्रन्थ इसका कलेवरमात्र है। ग्रन्थकार यास्कने अपने ग्रन्थके आधारभूत मौलिक निर्वचनके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन इसी पादमें किया है। पादके प्रथम वाक्य 'अथ निर्वचनम्'में निर्वचनके आधारभूत सिद्धान्तोंके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा की है। उसके बाद निर्वचनके ६ मौलिक सिद्धान्त इस पादमें दिखलाये हैं। इनमेंसे पाँचवाँ सिद्धान्त 'न संस्कारमाद्रियेत' है। इसका भाव यह है कि निर्वचन करते समय व्याकरणके द्वारा होनेवाले शब्द-संस्कारकी चिन्ता न करे। यह न सोचे कि यह शब्द व्याकरणसे कैसे बनेगा ? बनेगा भी या नहीं। इस बातकी चिन्ता किये बिना 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थको प्रधान मानकर निर्वचनका मार्ग निकाले। जिस मार्गसे अपेक्षित अर्थ प्राप्त हो सकता हो उसके अनुसार निर्वचन करे। व्याकरण द्वारा होनेवाले शब्द-संस्कारकी चिन्ता न करनेकी जो बात यहाँ कही है, वह अनर्गल बात नहीं है। उसका शास्त्रीय आधार है। इसी बातका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकारने अगली पङ्क्ति 'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' लिखी है। इसमें 'हि' पद हेत्वर्थक है। क्योंकि व्याकरणकी वृत्तियाँ भी नाना प्रकारकी और संशयजनक होती हैं। इसलिए निर्वचन करते समय व्याकरणके बन्धनोंसे भयभीत नहीं होना चाहिये। इसी बातके समर्थनके लिए ग्रन्थकारने इस पादमें व्याकरणके नियमोंके अनुसार होनेवाले लोप, आगम, वर्णविकार, आद्यन्त विपर्यय आदि सम्बन्धी ११ प्रकारकी वृत्तियोंका प्रदर्शन उदाहरणों द्वारा कराया है। उनके द्वारा यास्कने यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि जब व्याकरणके क्षेत्रमें आनेवाले 'प्रत्यक्षवृत्ति' शब्दोंमें इस प्रकारके यथेष्ट परिवर्तन हो सकते हैं तो निरुक्तके क्षेत्रमें आनेवाले 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्दोंके निर्वचनमें यदि उनका अवलम्बन किया जाय तो वह सर्वथा उचित ही होगा। यहाँ दिखलाये हुए नियमोंको ही संक्षेपमें संग्रह करके निरुक्त या निर्वचन शैलीका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले निम्न श्लोककी रचना की गयी है।

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥"

(२) अथ अनन्वितेऽर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन ।

(३) अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् ।

(४) न त्वेव न निर्ब्रूयात् ।

(५) न संस्कारमाद्रियेत । विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति ।

(६) यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ।

---

(२)- जहाँ [किसी धातु-प्रत्ययके साथ स्पष्टरूपसे) अर्थका सम्बन्ध न प्रतीत हो और [प्रादशिक विकार अर्थात्] व्याकरणानुकूल परिवर्तन व ['प्रदिश्यन्ते साध्यन्ते शब्दा अनेन इति प्रदेशो व्याकरणम्, उससे प्रतिपादित लोप, आगम, आदेश आदि रूपपरिवर्तन विकार स्पष्टरूपसे] न पाये जाते हों वहाँ [अर्थनित्यः अथ नियतः) अर्थको प्रधान मानकर [निर्वचनकी] परीक्षा करे। [अर्थात् निर्वचन करे]। किसी भी प्रकारकी वृत्ति [लोप, आगम, आदेश आदि) की समानतासे [निर्वचन करे]।

(३)- [प्रकृति-प्रत्यय-लोप, आगमज आदेश आदिकी] कोई भी समानता न रहनेपर [अक्षर और वर्ण अर्थात्] स्वर या व्यंजनकी समानतासे ही निर्वचन करे।

(४) निर्वचन न करे ऐसा [कभी भी] नहीं कहना चाहिये। निर्वचन अवश्य ही करना चाहिए।

(५) और उसमें [व्याकरणके अनुसार होनेवाले] संस्कारकी चिन्ता न करे। क्योंकि [व्याकरणके अनुसार होनेवाले प्रकृति-प्रत्यय, लोप, आगम आदि रूप] वृत्तियाँ भी [अनेक स्थलोंपर अत्यन्त] सन्देहजनक होती हैं।

(६) अर्थके अनुसार विभक्तियोंमें परिवर्तन [व्यत्यय भी] कर लेना चाहिये।

क–प्रत्तम्, अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते।

ख–अथाप्यस्तेर्निर्वृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति। स्तः, सन्ति इति।

क–प्रत्तम्, अवत्तम् [आदि प्रयोगों]में धातुके आदि भाग ही शेष रह जाते हैं।

ख–और [गुण वृद्धिके] 'निवृत्ति-स्थानों' अर्थात् निषेध-स्थलोंमें [अर्थात् कित् ङित् प्रत्यय परे होनेपर 'श्नसोरल्लोपः' अष्टा० ६-४-१११ सूत्रसे] अस्-धातुके आदि [वर्ण]का लोप होता है। जैसे—स्तः सन्ति। [इसी प्रकार परोक्षवृत्ति शब्दोंमें भी धातुके आदि भागका लोप माना जा सकता है]।

लोप, आगम आदि वृत्तियोंका समर्थन

पिछली पंक्तियोंमें कहा था कि व्याकरणके अनुसार होनेवाली प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार आदि वृत्तियाँ भी अनेक स्थानोंपर संशयोत्पादक होती हैं। तो जब व्याकरणके क्षेत्रमें आनेवाले प्रत्यक्षवृत्ति शब्दोंमें लोप, आगम, आदि संशय-जनक होते हैं तो फिर परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति शब्दोंमें उनको माननेमें औचित्यका उल्लंघन नहीं होता है। इसी बातको दिखलानेके लिए आगे व्याकरणके कठोर नियमोंके अन्तर्गत सिद्ध होनेवाले प्रत्यक्षवृत्ति शब्दोंमें 'विशयवती वृत्तियों' अर्थात् संशयजनक लोप, आगम, वर्णविकार आदि-को उदाहरण सहित दिखलाते हैं।

प्र उपसर्गपूर्वक दा–धातुसे 'प्रत्तम्' पद सिद्ध होता है। प्र+दासे क्त प्रत्यय होनेपर 'अच उपसर्गात्तः' [अष्टा० ७-४-४७] सूत्रसे 'दा'के 'आ'के स्थानपर 'त्' होकर प्र+द्+त्+त इस स्थितिमें 'झरो झरि सवर्णे' [अष्टा० ८-४-६५] सूत्रसे उस 'त्'का लोप होकर प्र+द्+तके शेष रहनेपर 'खरि च' [अष्टा० ८-४-५५] सूत्रसे 'द्'को त् होकर 'प्रत्तम्' पद बनता है। इससे दा-धातुका आदि भाग 'द्' और वह भी 'त्'के रूपमें शेष रहता है। 'प्रत्तम्'का अर्थ 'दत्तम्' होता है। इसी प्रकार किसी परोक्षवृत्ति शब्दमें धातुके एक भाग-मात्रके शेष रहनेसे शब्दसिद्ध होता है तो कोई हानि नहीं।

ग–अथाप्यन्तलोपो भवति । गत्वा, गतम् इति ।

घ–अथाप्युपधालोपो भवति । जग्मतुः, जग्मुः इति ।

ङ–अथाप्युपधाविकारो भवति । राजा, दण्डी इति ।

ग–और [कहीं कित् ङित् प्रत्यय परे रहते] 'अनुदात्तोपदेशवनोतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' [अष्टा० ६-४-३७] सूत्रसे अन्तका लोप होता है । जैसे—गत्वा, गतम् ।

[इसी प्रकार परोक्षवृत्ति शब्दोंमें व्याकरणसूत्रके लगाये बिना भी धातुके अन्तका लोप माना जा सकता है] ।

घ–और कहीं [कित् ङित् प्रत्यय परे रहते गम धातुके ही 'गम-हनजन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि' [अष्टा० ६-४-९८] सूत्रसे 'उपधा' का लोप होता है । जैसे—'जग्मतुः' 'जग्मुः' । ['अलोऽन्त्यात् पूर्वमुपधा' अष्टा० १-१-६५ अन्तिम वर्णसे पूर्व वर्णको 'उपधा' कहते हैं] ।

ङ–कहीं उपधामें विकार भी होता है जैसे—राजा, दण्डी ।

दूसरा 'अवत्तम्' पद अव उपसर्गपूर्वक 'दो अवखण्डने' धातुसे बना है । इसमें दो धातुके ओकारके स्थानपर 'आदेच उपदेशे शिति' [अष्टा० ६-१-४५] सूत्रसे आकार हो जाता है । शेष सिद्धि पूर्ववत् है । 'अवत्तम्'का अर्थ 'खण्डितम्' होता है ।

'गम' धातुसे क्रमशः 'क्त्वा तथा क्त प्रत्यय करके अनुदात्तोपदेश० [अष्टा० ६-४-३७] आदि उक्त सूत्रसे अन्त 'म्'का लोप होकर 'गत्वा' तथा 'गतम्' पद सिद्ध होते हैं ।

'राजन्' तथा 'दण्डिन्' शब्दोंसे 'सु' विभक्तिके आनेपर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' [अष्टा० ६–४–८] सूत्रसे 'आ' और 'ई'को क्रमशः दीर्घ तथा 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य [अष्टा० ८–२–७] से न् का लोप होकर यह बनते हैं ।

च–अथापि वर्णलोपो भवति 'तत्त्वा यामि' इति ।
छ–अथापि द्विवर्णलोपः, तृच इति ।

च–और कहीं [एक] वर्णका लोप होता है। जैसे 'तत्त्वा यामि'।
छ–और कहीं दो वर्णोंका लोप होता है। जैसे 'तृचः'।

दुर्गाचार्य आदि सभी व्याख्याकारों ने 'तत्त्वा यामि' इस उदाहरणको
'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेड़मानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ (ऋ० १-२४-११)
इस मन्त्रसे लिया हुआ माना है। और 'यामि' का अर्थ 'याचामि' माना है। याच् धातुके च-कारका लोप होकर 'याचामि' के अर्थमें 'यामि' प्रयोग बनता है। इसलिए यह वर्णलोपका उदाहरण है। यह उनका आशय है।

परन्तु स्कन्दस्वामीने इस व्याख्याको अशुद्ध–'अपव्याख्यान'–बतलाया है। उनका कहना है कि यह उदाहरण 'याच' धातुके च-कारके लोपको दिखलानेके लिए नहीं दिया गया है। क्योंकि यदि 'याच्'-धातुसे इसका सम्बन्ध जोड़ा जायगा तो यह एक वर्णके लोपके स्थानपर द्विवर्णलोपका उदाहरण बनेगा। क्योंकि 'याचामि' में के 'च' तथा उसके साथके 'आ' इन दो वर्णोंका लोप होकर यामि पद बनेगा। अतः यह द्विवर्णलोपका उदाहरण होगा। वर्णलोपका नहीं। और 'यामि' पद स्वयं ही निघण्टुमें याचामि' के अर्थ में पढ़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि यहाँ तो सारे उदाहरण लौकिक प्रयोगोंके दिये जा रहे हैं, इसलिए बीचमें इस एक वैदिक उदाहरणके आनेका कोई अवसर नहीं है। अतः यह उदाहरण पूर्वोक्त मन्त्रसे नहीं लिया गया है। अपितु वह लौकिक भाषाका ही उदाहरण है।

उनके मतमें इस वाक्यमें 'यामि' यह अंश उदाहरणरूपमें अभिप्रेत नहीं है अपितु 'तत्त्वा' यह अंश उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। 'तत्त्वा यामि' का अर्थ 'तनित्वा यामि' वस्त्र आदिका विस्तार करके जाता हूँ, यह है। 'तनु विस्तारे' धातुसे क्त्वाप्रत्यय करने 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' [अष्टा० ६-४-३७] सूत्रसे 'न' का लोप और 'उदितो वा'

ज—अथाप्यादिविपर्ययो भवति। ज्योतिः, घनः, बिन्दुः वाट्य इति।

ज—और कहीं [वर्ण]का परिवर्तन [विपर्यय] होता है। जैसे—ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्यः।

[अष्टा० ७-२-५६] सूत्र से 'इट्'का वैकल्पिक निषेध' हो जानेसे 'तत्वा' पद बनता है। इनमेंसे न-का लोप तो 'अन्तलोपो भवति'का उदाहरण होगा। और 'इट्' लोप या इट्का अभाव इस वर्ण-लोपके उदाहरणमें आवेगा। यह स्कन्द-स्वामीका अभिप्राय है।

द्विवर्ण-लोपका उदाहरण 'तृच' यह दिया गया है। इसमें 'ऋ' इस स्थितिमें 'बहुलं छन्दसि' [६-१-३४] सूत्रके 'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि' इस वार्तिकसे 'त्रि'के 'र' को 'ऋ' सम्प्रसारण 'इ' को 'सम्प्रसारणाच्च' [अष्टा० ६-३-१३९] से पूर्वरूप और उत्तरपदके आदि ऋ-कारका लोप होकर 'तृच' पद बनता है। इसमें 'इ'-को पूर्वसे लुप्तकल्प, तथा 'ऋ'का लोप मानकर द्विवर्णलोपका उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है।

आदि वर्णमें होनेवाले परिवर्तनके दिखलानेके लिए ये चार उदाहरण दिये हैं। इनमेंसे 'ज्योति' शब्द 'द्युत दीप्तौ' धातुसे 'द्युतेरिसन्नादेशश्च जः' [उणादि [२—२६७] सूत्रसे इसन्-प्रत्यय तथा आदि द्—के स्थानमें ज्—आदेशके होकर बनता है। अतः यह आदि विपर्ययका उदाहरण है। 'घनः' शब्द 'हन हिंसा-गत्योः' धातुसे बना है। इसमें 'मूर्त्तौ घनः' [अष्टा० ३—३—७७] सूत्रसे अप्-प्रत्यय तथा 'ह' को 'घ' होकर घनः शब्द निपातित होता है। अतः यह भी आदिविपर्ययका उदाहरण है। 'बिन्दु' शब्द व्याकरणमें 'बिदि अवयवे' धातुसे 'शृ—स्वृ—स्नि—हि—त्रपि—असि—वसि—हनि—क्लिदि—बन्धि—मनिभ्यश्च'(उणादि १—१०) सूत्रके अन्तमें आये हुए च—शब्दसे 'बिदि' आदि अन्य धातुओंका भी संग्रह मानकर उ—प्रत्यय करके उणादिगणमें बनाया गया है। परन्तु नैरुक्त लोग उसे 'भिदिर् विदारणे' धातुसे बनाते हैं। निरुक्तके टीकाकारोंने 'भिदिर' धातुसे ही बिन्दु-शब्दकी सिद्धि मानी है। बिदि धातुसे मानें या भिदिर्-धातुसे, दोनों ही

झ–अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति । स्तोका, रज्जुः, सिकता, तर्कुः इति ।

ञ–अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति । औघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मधु, इति ।

झ–और कहीं आदि और अन्त [के वर्णों]का उलट-पलट [विपर्यय] होता है । जैसे—स्तोका, रज्जु, सिकता, तर्कु ।

ञ–और कहीं अन्तका परिवर्तन [व्यापत्ति] होता है । जैसे—ओघ, मेघ, [में ह–को घ] नाधः गाधः [में अन्तिम ह–को ध], वधू मधु [में ह को ध] ।

अवस्थाओंमें आदिके 'ब' या 'भ' के स्थानपर, 'व' करना होता है । इसलिए यह आदिविपर्ययका उदाहरण बन जाता है । 'वाह्यः' पद 'भट भृतौ' धातुसे ण्यत्-प्रत्यय होकर और आदि भकार के स्थान पर वकार होकर बनता है । अतः वह भी आदि-विपर्ययका उदाहरण है ।

'स्तोका' पद 'श्च्युतिर क्षरणे' धातुसे 'य' का लोप होकर 'स्कोता' इस रूपमें बनता है । परन्तु उसमें 'क' और 'त' के क्रमको उलट देनेसे 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' [अष्टा० २–१–३९] सूत्रके अनुसार निपातित होकर स्तोक बनता है । 'रज्जु' शब्द 'सृज विसर्गे' धातुसे 'सर्जु' का 'रसजु' और फिर 'रज्जु' इस रूपमें आद्यन्त-विपर्ययसे बनता है । 'सिकता' शब्द 'कस विकसने' धातुसे 'कसिता' और फिर 'क' तथा 'स' के क्रमका आद्यन्त-विपर्यय होकर 'सिकता' इस रूपमें बनता है । इसी प्रकार 'कृती छेदने' धातुसे 'कर्तु' और फिर आद्यन्त-विपर्यय द्वारा 'तर्कु' (चरखेका तकुआ) बनता है ।

स्कन्दस्वामीने इस वर्गको अपनी व्याख्यामें बिल्कुल ही छोड़ दिया है ।

'ओघ' शब्द 'वह प्रापणे' धातुसे, 'मेघ' शब्द 'मिह सेचने' धातुसे बनते हैं । इन दोनोंमें अन्तिम 'ह' के स्थान पर 'घ' होता है । नाधः, गाधः ये दोनों शब्द क्रमशः 'वह बन्धने' 'गाहू विलोडने' धातुओंसे बनते हैं । इन दोनोंमें अन्तिम

ट–अथापि वर्णोपजनः। आस्थद्, द्वारः, भरूजा इति ॥१॥

[२]

ठ–तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां

ट–और कहीं वर्णका आगम [उपजन] होता है। जैसे आस्थत् [अस धातुसे लुङ् लकारमें 'अस्यतेस्थुक्' [अष्टा० ७–४–१७] सूत्रसे 'थुक्'का आगम], द्वार [पदमें वारयतीति द्वारः वार के वकारसे पूर्व द्–का आगम] और भरूजा ['भ्रस्ज पाके' धातुमें भ–के बाद अ और 'र'–के बाद 'ऊ'–का] आगम होता है] ॥१॥

[२]

और जहाँ स्वरसे अव्यवहित अन्तस्थ वर्ण ['यणोऽन्तस्थाः' अर्थात् य र ल व ये चार वर्ण 'अन्तस्थ' वर्ण कहलाते हैं] जिस धातुके मध्यमें आते हों उसको द्विप्रकृति [दो प्रकारके स्वभाववाले अर्थात् उनमें कहीं सम्प्रसारण होता है कहीं सम्प्रसारण नहीं होता,

---

'ह' का 'ध' हो जाता है। और वधूः, मधु शब्द क्रमशः 'वह प्रापणे' तथा 'मद तृप्तौ' धातुओंसे बनते हैं। इनमेंसे पहिली जगह अन्तिम 'ह' को 'ध' तथा दूसरी जगह अन्तिम द को 'ध' होता है। अतः ये छहों 'अन्तव्यापत्ति' के उदाहरण हैं।

'आस्थत्' पद 'असु क्षेपणे' धातुसे 'थुक्'का आगम होकर, 'द्वार' पद 'वृङ संभक्तौ' धातुसे 'द'का आगम होकर और 'भरूजा' पद 'भ्रस्ज पाके' धातुसे 'रू' का आगम होकर बनते हैं। इसलिए ये तीनों पद 'वर्णोपजनः' के उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रकार यहाँतक यास्कने ११ नियम ऐसे दिखलाये हैं जिनमें व्याकरण क्षेत्रके अन्तर्गत आनेवाले शब्दोंके भी लोप, आगम, वर्णविकार, आद्यन्त-विपर्यय आदि कार्य होते हैं। अतएव निरुक्तके क्षेत्रमें आनेवाले 'अतिपरोक्ष-वृत्ति' शब्दोंमें तो इस प्रकारके परिवर्तन अत्यन्त स्वाभाविक हैं।– अतः निर्वचन करते समय इस प्रकारके परिवर्तनोंका यथेष्टरूपसे सहारा लिया जा सकता है। उसमें कोई अशास्त्रीयता नहीं होगी, यह यास्कका अभिप्राय है।

स्थानमिति प्रदिशन्ति । तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत् । तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति ।

तद्यथैतत्—ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुम् इति ।

इसलिए दो प्रकारके स्वभाववाले] स्थान कहते हैं । उनमें एक प्रकारसे [अर्थात् सम्प्रसारण मानने या न माननेसे] सिद्धि न होनेपर दूसरे प्रकारसे सिद्धि करनेका यत्न करे । उन [द्विप्रकृतिक धातुओं]मेंसे भी कुछ [धातु सम्प्रसारण-युक्त रूपमें] कम प्रयुक्त होनेवाले हैं । जैसे—ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः और कुणारुम् ।

दूसरे अध्यायके इस प्रथम पादमें विवेचनशैलीके मौलिक सिद्धान्तोंके विवेचनका प्रकरण चल रहा है । गत प्रथम खण्डमें निर्वचन-शैलीके ६ मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया था । जिनमें 'न संस्कार-माद्रियेत' वाला सिद्धान्त सबसे मुख्य सिद्धान्त था । निर्वचन करते समय व्याकरण सूत्रोंके अनुसार होनेवाले शब्द-संस्कारकी चिन्ता न करे इस बातके समर्थनके लिए 'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' यह हेतु दिया गया था । और इस हेतुकी पुष्टिके लिए ग्रन्थकारने ११ उद्धरण पिछले खण्डमें दिये थे । जिन्हें क, ख आदि क से लेकर ट तक ११ अक्षरों द्वारा दिखलाया था । यही क्रम आगे द्वितीय खण्डमें भी चालू है । इस खण्डमें इसी प्रकारके चार उदाहरण और दिखलायेंगे । जिससे इनकी संख्या १५ हो जावेगी । इस खण्डमें पहली बात यह कह रहे हैं कि कुछ धातु द्विप्रकृतिक होते हैं । उन धातुओंसे बननेवाले शब्द कभी धातु के मूलरूपसे बनते हैं, और कभी उसके यण्के स्थानमें इक् सम्प्रसारण होकर बनते हैं । जैसे यज धातुसे बिना सम्प्रसारण किये हुए 'यज्ञ' पद बनता है और 'य' के स्थानपर 'इ' सम्प्रसारण होकर 'इष्टि' पद भी उसी 'यज' धातुसे ही बनता है, इसलिए कोई 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द इनमेंसे जिस प्रकारसे भी बनना सम्भव हो उस प्रकारसे बनानेका यत्न करे । इसी बातको आगे लिखते हैं—'तद्यत्र' इत्यादि ।

इसका अभिप्राय यह है कि जिन धातुओंके बीचमें स्वरके आगे या पीछे अव्यवहित रूपमें अन्तस्थ-अर्थात् य र ल व इन वर्णोंमेंसे किसीका प्रयोग होता

है उनके दो प्रकारके रूप हो सकते हैं। एक तो वह जिसमें धातु अपने स्वरूपमें ही बना रहता है। यज धातुसे जैसे 'यज्ञः' 'यष्टा' 'यष्टुं' इत्यादि रूप विना सम्प्रसारणके बनते हैं। और दूसरी जगह 'य'को सम्प्रसारण होकर 'इ' हो जाता है। जैसे 'इष्टि', 'इज्या' आदि। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' [अष्टा० १-१-४५] सूत्रके अनुसार 'यण्' अर्थात् य र ल व के स्थानपर होनेवाले 'इक्' अर्थात् इ, ऋ, ऌ और उको सम्प्रसारण कहते हैं। इसलिए जिन धातुओंमें सम्प्रसारण होता है वे दो प्रकारके स्वभाववाले बन जाते हैं। उनमें एक प्रकारसे सिद्धि न बने तो दूसरे प्रकारसे सिद्धि करनेका यत्न करे। इनमेंसे कुछ धातुओंका सम्प्रसारणयुक्त प्रयोग कम पाया जाता है। उसके दिखानेवाले पाँच उदाहरण यहाँ दिये गये हैं।

इनमेंसे 'ऊतिः' शब्द 'अव रक्षणे' धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' [अष्टा० ३-३-९४] सूत्रसे 'क्तिन् प्रत्यय' करके व्याकरणमें 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' [अष्टा० ६-४-२०] सूत्रसे उपधासहित 'वकार' अर्थात् 'अव' दोनोंके स्थानपर 'ऊठ' आदेश करके सिद्ध किया जाता है। यास्कने उसको सम्प्रसारण और पररूप दीर्घादेश करके सिद्ध किया है। ऐसा कुछ लोगोंका कहना है। परन्तु यास्क यहाँ सम्प्रसारण ही मानते हों यह आवश्यक नहीं है। वे तो इसे द्विप्रकृतिक धातुका उदाहरण दिखला रहे हैं। उसमें 'व' का रूपान्तर हो जाना ही द्विप्रकृतिकत्वका सूचक है। वह रूपान्तर चाहे 'सम्प्रसारण' द्वारा हो अथवा 'ऊठ' द्वारा इससे उसके द्विप्रकृतिकत्वमें अन्तर नहीं आता है।

'मृदु' और 'पृथु' शब्द 'म्रद मर्दने' और 'प्रथ प्रख्याने' धातुओंसे 'प्रथि-म्रदि-भ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' [उणादि १-२८] सूत्रसे कु-प्रत्यय तथा सम्प्रसारण द्वारा 'र्' के स्थानपर 'ऋ' करके बनते हैं। 'पृषतः' पद 'पृष सेचने' धातुसे 'पृषि-रञ्जिभ्यां कित्' [उणादि ३-१११] सूत्रसे 'अतच्' प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है। उसके अर्थ बिन्दु और मृग दो होते हैं। पर यहाँ यास्कने 'प्रुषु' धातुसे उसकी सिद्धि मान कर उसे द्विप्रकृतिक धातुओंके उदाहरणरूपमें दिखलाया है। धातुपाठमें 'प्रुषु' और 'पृषु' दोनों धातु पाये जाते हैं।

'कुणारु' मेघका नाम है। 'क्वण शब्दे' धातुसे 'पीयुक्वणिभ्यां कालन् ह्रस्वः सम्प्रसारणं च' [उणादि० ३-८६०] सूत्रसे बाहुलक-विधिके अनुसार 'कालन्' के स्थानपर कारु-प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है।

ङ–अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते । दमूनाः, क्षेत्रसाधाः इति ।

ढ– अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः । उष्णम्, घृतम् इति ।

ङ–और [भाषिक अर्थात्] लोकमें प्रयुक्त होनेवाले धातुओंसे वैदिक कृत्प्रत्यय होते हैं। जैसे—'दम उपशमे' [इस लौकिक] धातुसे 'दमेरूनसिः' [उणादि० ४-६७४] सूत्रसे वैदिक ऊनसि-प्रत्यय होकर बनता है] दमूनाः और क्षेत्रसाधाः ।

ढ–और वैदिक धातुओंसे लौकिक प्रत्यय भी कहे जाते हैं। जैसे—उष्णं और घृतं [पदोंमें]।

इनमेंसे 'दमूनाः' यह वैदिक प्रयोग 'दम उपशमे' इस लोकमें मुख्यरूपसे प्रयुक्त होनेवाले धातुसे 'दमेरूनसि' [उणादि ४-६७४] सूत्रसे 'ऊनसि' वैदिक प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। और क्षेत्रसाधा शब्द 'साधि' धातुसे 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' [उणादि ४-६३८] सूत्रसे असुन् प्रत्यय होकर बनता है। इनमें 'दम' तथा 'साध' धातुओंको लौकिक धातु तथा उनसे होनेवाले 'ऊनस्' तथा 'असुन्' प्रत्ययोंको वैदिक प्रत्यय कहा है।

इसी प्रकार अगली पंक्तिमें 'उष दोहे' और 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातुओंको वैदिक धातु और उनसे होने वाले 'नक्' तथा 'क्त' प्रत्ययको लौकिक प्रत्यय कह कर 'उष्णम्' तथा 'घृतम्' उदाहरण दिये हैं। 'जुहोत्यादिगण' के अन्तमें 'अथ, आगणान्ताः परस्मैपदिनश्छान्दसाश्च' लिखकर ११ छान्दस धातु गिनाये हैं। आपिशलि-व्याकरणमें 'उष' और 'घृ' धातुओंको छान्दस धातु माना है। और उनसे बने 'उष्ण' तथा 'घृतं' पदोंसे होनेवाले 'नक्' तथा 'क्त' प्रत्यय लौकिक प्रत्यय कहे हैं।

यह जो धातुओं तथा प्रत्ययोंका लौकिक तथा वैदिक दो प्रकारका विभाग किया गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि अमुक धातु या अमुक प्रत्यय केवल लोकमें या केवल वेदमें ही प्रयुक्त होते हैं। दोनों ही धातु और दोनों ही प्रत्यय

ण—अथापि प्रकृतय एव एकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु ।'
शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु एव भाष्यते । कम्बोजाः कम्बलभोजाः

ण—और किन्हीं देशोंमें ['नामानि आख्यातजानि' इस सिद्धान्तके अनुसार आख्यात नामकी प्रकृति हैं और नाम आख्यातकी विकृति हैं, इसलिए यहाँ प्रकृति शब्दसे आख्यात अर्थात् तिङन्तरूप और विकृति शब्दसे नाम अर्थात् सुवन्तरूपका ग्रहण होता है] केवल तिङन्तरूप [प्रकृति या आख्यात] ही बोले जाते हैं। और किन्हीं [देशों]में सुवन्त [विकृति, नाम] रूप [भी या ही बोले जाते हैं]।

गतिके अर्थमें 'शव-धातु' [का तिङन्त 'शवति' रूप] केवल 'कम्बोज' देशमें ही बोला जाता।

कम्बोज [देश विशेष रूपसे] कम्बलोंका भोग करनेवाले होनेसे [कम्बल भोज पदोंमेंसे 'ल' तथा 'भ' दो वर्णोंका लोप होकर 'कम्बोज'

दोनों जगह प्रयुक्त होते हैं। परन्तु प्राधान्यके आधारपर उस प्रकारका निर्देश किया गया है। इसीको आगे कहते हैं—

'उष दाहे' धातुसे 'इणुसिञ्जिदीङ्-उषि-अविभ्यो नक्' [उणादि ३-२८९] सूत्रसे 'नक्' प्रत्यय होकर 'उष्णम्' पद बनता है।

देशभेदसे प्रयोगभेद

निर्वचनके सम्बन्धमें विशयवती वृत्तियोंके १० नियम इससे पूर्व बतला चुके हैं। ग्यारहवाँ नियम जिसका निर्वचन करते समय ध्यान रखना चाहिये वह यह है कि शब्दोंका भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रयोग भी देखा जाता है। उस देशभेद-मूलक प्रयोग-भेदका प्रभाव भी निर्वचनपर पड़ सकता है। निर्वचन-कर्ताको अपने सुविधानुसार इससे भी लाभ उठाना चाहिये। इस बातके दिखलानेके लिए अगली पंक्तियोंमें ग्रन्थकार देशभेदसे प्रयोगभेदके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं।

कमनीयभोजा वा । कम्बलः कमनीयो भवति । विकारमस्यार्येषु भाषन्ते । शव इति ।

दाति-र्लवनार्थे प्राच्येषु । 'दात्रम्' उदीच्येषु ।
एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् ॥२॥

पद बना है । यह इस निर्वचनका अभिप्राय है] । अथवा कमनीय [पदार्थोंका] भोग करनेवाले होनेसे [कम + भोजमें 'भ'के स्थानपर 'ब' होकर 'कम्बोज' शब्द बनता है यह इस दूसरे निर्वचनका अभिप्राय है] । 'कम्बल' कमनीय [अर्थात् शीतार्त पुरुषोंके द्वारा प्रार्थनीय] होता है ।

और इस [शव-धातुके] [विकार अर्थात् आख्यातज नामके] सुबन्तरूप 'शव'को आर्यों [आर्य देशों] में बोला जाता है ।

इसीका दूसरा उदाहरण देते हैं— 'दाति' धातु [तिङन्तरूपमें] काटनेके अर्थमें पूर्वीय देशोंमें और [उसका कृदन्तरूप] 'दात्रम्' उत्तरीय देशोंमें [बोला जाता है] ।

इस प्रकारसे एकपदों [अर्थात् जहाँ प्रकृति-प्रत्ययका विभाग स्पष्ट न हो ऐसे परोक्षवृत्ति पदों]का निर्वचन करना चाहिये ॥२॥

इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं । जैसे—'शवति' इत्यादि ।

प्रसंगतः 'कम्बोज' शब्द और फिर 'प्रसक्तानुप्रसक्त' रूपसे उसमें आये हुए 'कम्बल' शब्दका निर्वचन आगे करते है—'कम्बोजाः' इत्यादि ।

इस प्रकार प्रसक्तानुप्रसक्त निर्वचनोंको दिखलाकर शव-धातुके सुबन्त या विकारभूत रूपका प्रयोग दिखलाते हैं—'विकार' इत्यादि ।

[३]

१. अथ तद्धित-समासेषु एकपर्वसु चानेकपर्वसु च, पूर्वं पूर्वम्, अपरम् अपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् । 'दण्ड्यः पुरुषः' । दण्डमर्हति इति वा, दण्डेन सम्पद्यत इति वा । दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः । 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते । दमनादित्यौपमन्यवः । दण्डमस्याकर्षत इति गर्हायाम् ।

---

[३]

१. अब एक जोड़वाले और अनेक जोड़ोंवाले तद्धित और समासों [के निर्वचन] में पहिले प्रथम [अर्थात् तद्धित-प्रत्ययके अर्थ अथवा समस्त-पदमें समास] का [निर्वचन करके] बादको दूसरे [अर्थात् तद्धितके मूल शब्दका और समासके घटक पदों] का निर्वचन करना चाहिये । जैसे—'दण्ड्यः पुरुषः' ।

[यह 'दण्ड्यः पुरुषः' तद्धितका उदाहरण है । इसमें पहिले तद्धित प्रत्ययका निर्वचन होगा फिर मूल 'दण्ड' पदका] दण्डमर्हति अर्थात् दण्ड पानेके योग्य है [इस अर्थमें 'दण्डादिभ्यो यत्' [अष्टा० ५-१-६६] सूत्र द्वारा दण्डशब्दसे यत्-प्रत्यय करके 'दण्ड्यः' पद सिद्ध होता है] अथवा दण्डसे सम्पन्न—युक्त—होता है [वह 'दण्ड्यः' कहलाता है] ।

'दण्ड' [शब्द] धारणार्थक 'दद' धातु से बना है । [दद धातुका धारणार्थमें कहाँ प्रयोग होता है, इसके लिए कहते हैं] 'अक्रूरो ददते मणिम्' [यहाँ धारणार्थमें 'दद' धातुका प्रयोग मानकर] यह कहते हैं ।

'उपमन्यु' के शिष्य [औपमन्यवः] 'दम' धातुसे [दमन करनेके कारण दण्डशब्द बनता है, यह कहते हैं] 'इसको दण्ड दो' यह निन्दा अर्थमें [दण्डका प्रयोग] है ।

तद्धित-समासोंका निर्वचन

इस पादके आरम्भसे इस खण्डके पूर्वतक अर्थात् प्रथम तथा द्वितीय खण्डोंमें निर्वचनके छः मुख्य सिद्धान्त बतलाये थे। वे सिद्धान्त मुख्यरूपसे 'एकपद' के निर्वचनमें काम आते हैं। 'एकपद' का अभिप्राय परोक्षवृत्ति अथवा अति-परोक्षवृत्ति शब्दोंसे है। क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्ययका विभाग अलग दिखलायी नहीं देता है, इसलिए वे 'एकपद' कहलाते हैं। उन एकपदोंका निर्वचन-प्रकार ऊपर दिखला दिया है। अब उनसे भिन्न यौगिक तद्धित पदोंके, जिनकी रचना प्रकृति-प्रत्ययके द्वारा होती है, तथा अनेक पदोंके योगसे बने हुए समासोंके, निर्वचनकी प्रक्रियाका प्रतिपादन आगे करते हैं। ये तद्धित तथा समास दोनों एकपर्ववाले और अनेकपर्ववाले हो सकते हैं। 'पर्व' का अर्थ 'सन्धि' या जोड़ है। दो पदोंसे मिलकर जो समास बनता है उसमें एक जोड़ या एक 'पर्व' होता है और तीन या अधिक पदोंसे मिल कर जो समास बनता है वह 'अनेक पर्व' वाला समास होता है। इसी प्रकार तद्धितान्त पदमें एक प्रत्यय होनेपर 'एकपर्व' और एक प्रत्ययके बाद फिर और प्रत्यय होनेपर 'अनेकपर्व' तद्धित होगा। इन एकपर्ववाले और अनेकपर्ववाले तद्धित तथा समासके निर्वचनकी प्रक्रिया कहते हैं—'अथ' इत्यादि।

इस प्रकार पहिले 'दण्ड्यः' पदमें होनेवाले तद्धित-प्रत्ययके अर्थका निर्वचन किया। इसमेंसे दूसरे अर्थमें यद्यपि पाणिनिने 'यत् प्रत्यय' का विधान न करके 'सम्पादिनि' [अष्टा० ५-१-९९] सूत्रसे ठञ् प्रत्ययका विधान किया है। किन्तु निरुक्तमें इस अर्थमें भी यत्का विधान मानकर 'दण्डेन सम्पद्यते' इस अर्थमें यत् प्रत्यय करके दण्ड्य पदका निर्वचन किया है। अब आगे दण्ड पदका निर्वचन करते हैं—'दण्डो' इत्यादि।

कक्ष्या रज्जुरश्वस्य । कक्षं सेवते । कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः । ख्यातेर्वाऽनर्थकोऽभ्यासः । किमस्मिन् ख्यानमिति । कषतेर्वा । तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः । बाहुमूलसामान्यादश्वस्य ।

[तद्धितका दूसरा उदाहरण देते हैं—] 'कक्ष्या' घोड़ेकी रस्सी [जिसको तंग कहते हैं] है। क्योंकि वह कक्ष [बगल]का सेवन करती है। [कक्ष 'शब्द'से 'शरीरावयवाद्यत्' [अष्टा० ४-३-५५] सूत्र द्वारा 'भव' अर्थमें 'यत्' प्रत्यय होता है। यहाँ 'सेवते' अर्थमें किया है]। [इस प्रकार तद्धितका निर्वचन करनेके बाद 'कक्ष' पदका निर्वचन करते हैं]। कक्षशब्द गाहू-धातु ['गाहू विलोडने' धातु] से [बना] है। 'क्स' यह [नामकरणः अर्थात्] प्रत्यय है। [अर्थात् गाह धातुसे 'क्स' प्रत्यय करके लोप, आगम, वर्णविकार आदि द्वारा 'कक्ष' शब्द बनता है]। अथवा ख्या धातुसे स्वार्थमें ['अनर्थक'का अर्थ 'स्वार्थमें' करना चाहिये । अभ्यास अर्थात्] द्वित्व [होकर 'ख्यायते इति कक्षः' स्त्रीकी आयुका सूचक, अथवा रतिमें उपयोगी रूपसे प्रसिद्ध होनेसे 'कक्ष' कहलाता] है। अथवा इसमें दिखलाने योग्य क्या है ? [अर्थात् कक्षमें दिखलाने योग्य कुछ भी नहीं है, इसलिए 'कक्ष' कहलाता है] अथवा कष धातुसे [खुजलीका स्थान होता] है। उस [स्त्री-कक्ष]की समानतासे मनुष्यका कक्ष [बगल] है। बाहुमूलमें होनेकी समानतासे घोड़ेके [अगले पैरोंके पासके बगल-सदश भाग-को 'कक्ष' कहा जाता] है।

समासका निर्वचन

इस प्रकार तद्धितके निर्वचनके उदाहरण दिखलानेके बाद आगे समासके निर्वचनका उदाहरण देते हैं—'राज्ञः' इत्यादि।

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः । राजा राजतेः । पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः । पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ (श्वेताश्व० ३-९) इत्यपि निगमो भवति ।

'राजाका पुरुष राजपुरुष' है [यह 'राजपुरुषः' इस षष्ठी-तत्पुरुष समासका निर्वचन हुआ । अब उसके पदोंका निर्वचन करते हैं] । राजा [पद] राज-धातुसे 'राजृ दीप्तौ' से बना है । 'पुरुष' पद पुर [अर्थात्] शरीरमें बैठनेवाला, शरीरमें रहनेवाला होनेसे है । अथवा [अन्तरपुरुष] अन्तर्यामी [परमात्मा]के अभिप्रायसे पूरणार्थक धातुसे [बना] है । [परमात्मा सर्वत्र पूर्ण है, इसके लिए प्रमाण देते हैं]—

जिस [परमात्मा]से कुछ न परे [अर्थात्] अधिक व्यापक] है और न कुछ ऊपर [अर्थात् सूक्ष्म] है । जिससे न कुछ छोटा [सूक्ष्म] है और न कुछ उससे बड़ा है । आकाशमें वृक्षके समान जो अकेला ही अविचलरूपसे स्थित है । उस पुरुषसे यह सब [जगत्] व्याप्त हो रहा है । यह [श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-९ का] वचन भी [इसमें प्रमाण] होता है ।

इस प्रकार 'राजपुरुषः' यह एकपर्ववाले समासका उदाहरण दिया है । आगे अनेक'पर्व'वाले समासके दो उदाहरण दिखलाते हैं ।

विश्चकद्राकर्षः । वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते । द्रातीति गतिकुत्सना । कद्रातीति द्रातिकुत्सना । चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः । तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः ।

विश्चकद्राकर्षः । 'वि' [विशिष्टता सूचक उपसर्ग] और 'चकद्र' यह [दोनों मिल कर, और उनके बीचमें 'सुट्' का आगम होकर 'विश्चकद्र' यह पद] कुत्तेकी चालके अर्थमें बोला जाता है। ['विश्चकद्र' पद कुत्तेकी चालके अर्थमें क्यों बोला जाता है, इसकी पुष्टिके लिए उसका निर्वचन करते हैं। 'द्रा कुत्सायां गतौ' इस धातुपाठके अनुसार] द्राति [अर्थात् द्रा यह धातु] गतिकी निन्दा [अर्थात् निन्दित गतिके अर्थमें] है। ['कुत्सितं द्राति कद्राति' 'कु' को कत् आदेश होनेसे] 'कद्राति' यह 'द्राति' [अर्थात् निन्दित गति] की [भी] निन्दा [अर्थात् अत्यन्त निन्दित हिंसामयी गतिका बोधक] है। 'कद्राति' इसका स्वार्थमें [अनर्थक] द्वित्व होकर 'चकद्राति [यह पद बना] है [अर्थात् चकद्रातिका अर्थ अत्यन्त निन्दित गति हुआ] वह जिस [कुत्ते]में है वह [कुत्ता] 'विश्चकद्रः' हुआ। उसका 'आकर्ष' अर्थात् खींचनेवाला शिकारी 'विश्चकद्राकर्षः' हुआ]।

'विश्चकद्रार्षः' यह बड़ा विचित्र और अप्रसिद्ध-सा प्रयोग है। इसे हम तद्धित तथा समास दोनोंका सम्मिलित उदाहरण कह सकते हैं। इसमें 'विश्चकद्रः' पद जैसा कि 'तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः' इस मूल-पंक्तिसे प्रतीत होता है। मतुवर्थक 'अच्-प्रत्यय'से बना है। यह तद्धितान्त पद है फिर उसका 'विश्चकद्रम् आकर्षति, विश्चकद्रस्य वा आकर्ष इति विश्चकद्राकर्षः' पद बना है। इस प्रकार यह अनेक पर्वमाला तद्धित और समासका सम्मिलित उदाहरण है। 'विश्चकद्र'का अर्थ श्वगति अर्थात् कुत्तेकी चाल है। वह जिसमें रहे वह कुत्ता भी 'विश्चकद्र' हुआ। उसको खींच कर ले जानेवाला व्याघ्र या शिकारी 'विश्चकद्राकर्षः' हुआ इस प्रकारका अर्थ स्कन्दस्वामी तथा दुर्गाचार्य आदि-ने किया है।

कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्यैवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः।

एवं तद्धित-समासान् निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात्॥३॥

[४]

नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा। नित्यं हि अविज्ञातुर्विज्ञाने असूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्। यो वा अलं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविने तपस्विने वा।

[अनेक पर्ववाले समासका उदाहरण देते हैं—] 'कल्याणवर्णरूपः। [कल्याणवर्ण अर्थात्] सुवर्णके रूपके समान जिसका रूप है [वह 'कल्याणवर्णरूपः' हुआ। यह समासका निर्वचन है। अब पदोंका निर्वचन करते हैं]। कल्याणो वर्णः यस्य स कल्याणवर्णः यह दूसरा समास हुआ। अतः यह पद अनेकपर्व-समासका उदाहरण हुआ]। कल्याण कमनीय होता है। वर्ण[शब्द 'वृञ् आच्छादने' आच्छादनार्थक] वृ-धातुसे [बना] है। और रूप [दीप्त्यर्थक] रुच्-धातुसे [बना] है।

इस प्रकार तद्धित तथा समासोंका निर्वचन करे। अकेले [प्रकरणहीन] पदोंका निर्वचन न करे॥३॥

[४]

१. अवैयाकरणको, २. जो शिष्यभावसे न आया हो उसको [अनुपसन्नाय], अथवा ३. जो इस[निरुक्त-प्रक्रिया] को न जानता हो, उसको [निर्वचन] न बतलावे। क्योंकि न जाननेवाले [इस प्रकारके] ज्ञानमें सदा दोष निकालते हैं [गुणेषु दोषाविष्करणम् असूया]। 'शिष्यभावसे' श्रद्धाभावसे आये हुएको तो निर्वचन बतलावे। या जो इसको समझनेमें समर्थ हो [उसको निरुक्तका उपदेश करे]। मेधावी और तपस्वीको [निरुक्तका उपदेश करे। इसीका समर्थन निम्न श्लोकोंसे करते हैं]—

यहाँ एकपदोंके निर्वचनका निषेध करनेका अभिप्राय यह है कि 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थको प्रधान मानकर परीक्षा करे यह निरुक्तका प्रथम सिद्धान्त बतला चुके हैं। सो अर्थका ज्ञान प्रकरणके ज्ञानसे ही होता है। अतः प्रकरणको देखकर ही निर्वचन करना चाहिये। प्रकरण-हीन अकेले पदोंका नहीं॥३॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥१॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥२॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयाः, तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥३॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥४॥

विद्या [ह एक बार] ब्राह्मणके पास आयी [और बोली कि हे ब्राह्मण ! मेरी रक्षा कर, क्योंकि मैं तेरी निधि हूँ। तू निन्दा करनेवाले कुटिल और लम्पट [विद्यार्थी] को मेरा उपदेश मत कर जिससे मैं वीर्यवती बनी रहूँ ॥१॥

जो [गुरु वैदिक] सत्य [के उपदेश] से दुःखका-नाश करते और [ज्ञानका] अमृत-प्रदान करते हुए कानोंको पूर्ण करता है। उसको [शिष्य अपना] पिता और माता समझे। और उसका द्रोह किसी प्रकार भी न करे ॥२॥

पढ़ाये हुए जो शिष्य [पढ़नेके बाद] मनसे वाणीसे, अथवा कर्मसे [किसी प्रकार भी] गुरुका अनादर करते हैं, जैसे वे [गुरोर्न भोजनीयाः] गुरुको आनन्द-प्रदान करनेवाले नहीं होते हैं इसी प्रकार [तान् न भुनक्ति श्रुतं तत्] उनकी वह विद्या उनको [समयपर यथेष्ट] भोग नहीं देती है ॥३॥

[हे ब्रह्मन् ! आप] जिस किसीको पवित्र, अप्रमादी, मेधावी, और ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला [जितेन्द्रिय] समझें और जो किसी भी दशामें आपका विरोध न करे उस अपनी निधि [अर्थात् विद्या] की रक्षा करनेवाले [विनीत शिष्य] को मेरा उपदेश करो ॥४॥

निधिः शेवधिरिति ॥४॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

इति यास्कभूमिका ॥

यह [वचन विद्याके योग्य अधिकारी का प्रतिपादन करते हैं]। 'शेवधिः' [का अर्थ] निधि है ।४॥

द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद समाप्त

निरुक्तके अधिकारी

प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें 'अनुबन्ध-चतुष्टय'के निरूपणकी परम्परा सदाचार-प्राप्त है। इसलिए यहाँ यास्कने भी उस परम्पराका पालन किया है। निरुक्त निघण्टुकी टीका है। निघण्टुकी असली व्याख्या अब अगले पादसे प्रारम्भ होगी। यहाँतकके सात पाद उसकी भूमिकाके रूपमें लिखे गये हैं। इसलिए यह सारा भाग मुख्य व्याख्या-ग्रन्थ निरुक्तका प्रारम्भिक भाग है। अतएव यास्कने इस सारे भागमें मिलाकर विषय, प्रयोजन तथा अधिकारी आदि अनुबन्धोंका वर्णन किया है। इसमें सबसे अधिक विस्तार उन्होंने प्रयोजनका किया है। १. विषय तथा २. प्रयोजनरूप दो अनुबन्धोंका वर्णन पहिले समाप्त हो चुका है। अब अधिकारी रूप तृतीय अनुबन्धका निरूपण इस चतुर्थ खण्डमें करते हैं। चौथा सम्बन्धरूप अनुबन्ध शेष रह जाता है, उसका अलगसे निरूपण नहीं किया है। क्योंकि ग्रन्थका विषयके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव और अधिकारीके साथ बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध स्पष्ट ही है। अधिकारीका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने योग्य अधिकारीके बतलानेके पहिले अधिकारी व्यक्तिकी चर्चा की है और वह भी अधिक विस्तारके साथ। लोक-प्रसिद्ध निम्न आभाणकके आधार पर ही कदाचित् यहाँ अधिकारीकी चर्चा पहिले की है।

"दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥"

तदनुसार जिनको निरुक्तका उपदेश नहीं देना चाहिये उनको गिनाते हैं—'नावैयाकरणाय' इत्यादि ।

इस प्रकार यहाँतक निरुक्तका (१) प्रयोजन, (२) विषय तथा (३) अधिकारी इन तीन 'अनुबन्धों'का निरूपण किया गया है ॥४॥

यह द्वितीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ।
यहाँ यास्क-भूमिका समाप्त हुई ॥

द्वितीयः पादः

[५]

अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

१–गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरं गता भवति । यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेर्वौकारो नामकरणः ।

द्वितीय पाद

[५]

इस [भूमिका-भाग] के बाद अब [निघण्टुके पदोंकी] क्रमसे व्याख्या करेंगे ।

१–गौ यह [पद] पृथिवीका वाचक [नाम] है, क्योंकि वह दूर तक फैली है । और क्योंकि उसपर प्राणी चलते हैं । [इसलिए गत्यर्थक गम धातुसे गौ-शब्द बनता है । और इसकी दो प्रकारकी निरुक्ति हो सकती है । १ दूरं गच्छतीति गौः, २ गच्छन्ति भूतानि यस्यां सा गौः] । अथवा गा-धातुसे ['गाङ् गतौ' धातुसे] औ-प्रत्यय [नामकरणः] होकर गौ [शब्द बनता] है ।

अथ निघण्टु समाम्नाये प्रथमोऽध्यायः

१ गौः २ उमा, ३ ज्या, ४ क्ष्मा, ५ क्षा, ६ क्षमा, ७ क्षोणी, ८ क्षितिः, ९ अवनिः, १० उर्वी, ११ पृथ्वी, १२ मही, १३ रिपः, १४ अदितिः, १५ इला, १६ निर्ऋतिः, १७ भूः, १८ भूमिः, १९ पूषा, २० गातुः, २१ गोत्रा इत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

निघण्टुकी व्याख्याका आरम्भ

निरुक्तका प्रथमाध्याय [६ पाद] तथा द्वितीय अध्यायका प्रथम पाद [कुल सात पाद] अर्थात् अबतकका सारा भाग एक तरहसे ग्रन्थका विषय-प्रवेश या भूमिकारूप है । निघण्टुकी व्याख्याका कार्य इस द्वितीय पादसे प्रारम्भ होता है । इसलिए इस पादके आरम्भमें 'अथातः अनुक्रमिष्यामः' के द्वारा निघण्टुके शब्दोंकी क्रमशः व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा कर, निघण्टुके सबसे प्रथम गो-शब्दकी

२—अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव ।

३—अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ।' [ऋ० ९-४६-४]

२—और [गौ यह पद] इसी [निर्वचनके अनुसार] से पशु [गाय] का नाम भी होता है।

३—और इस [गायरूप पशुके पक्ष] में तद्धित-प्रत्ययसे पूर्ण हुए [अर्थात् तद्धितान्त पद] के समान [अर्थात् गो-सम्बन्धी, या गौका विकार, इस अर्थमें भी] निगम [मन्त्रोंमें प्रयोग] पाये जाते हैं। जैसे—[गोभिः अर्थात् गायके विकार अर्थात्] दूधके साथ [मत्सर] सोम-रसको पकाओ ।

व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। निघण्टुमें 'गौ' शब्द पृथिवीके नामोंमें सबसे पहिले रखा गया है। उसमें पृथिवीकें कुल २१ नाम दिये गये हैं। जिनमें प्रथम 'गौ' है। उसकी व्याख्यासे ही निरुक्तका प्रारम्भ होता है।

स्कन्दस्वामीने 'अथातः अनुक्रमिष्यामः' के स्थानपर 'अथात उपक्रमिष्यामः' पाठ माना है।

सबसे पहिले गौ-शब्दकी व्याख्या करते हैं

इस प्रकार गौ-शब्द १ 'गम्लृ सृप्लृ गतौ' धातुसे 'गमेर्डोः' [उणादि २-२३५] सूत्रसे 'डो' प्रत्यय, 'गोतो णित्' [अष्टा० ७-१-९०] सूत्रसे णिद्भाव और वृद्धि होकर बनता है। अथवा 'गाङ्-गतौ' धातुसे डौ-प्रत्यय करके बन सकता है। 'ग्लानुदिभ्यां डौः' [उणादि २-२३२] सूत्र डौ-प्रत्ययका विधान करता है। उसमें 'गा' धातुका ग्रहण नहीं है। किन्तु बाहुलक-विधिसे 'गा' धातुका भी ग्रहण मानकर डौ-प्रत्यय किया जा सकता है। यह यास्कका अभिप्राय है।

यह [ऋ० ९-४६-४] मन्त्रका टुकड़ा है। इसमें 'गोभिः' यह शुद्ध गो-शब्दका रूप है, परन्तु उसका प्रयोग तद्धितान्त पदके रूपमें गौके विकार दूधके अर्थमें किया गया है। इसी प्रकारके और भी उदाहरण आगे देंगे। पहले इस मन्त्रमें आये हुए शब्दोंका निर्वचन करते हैं।

मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। मत्सर इति लोभनाम अभिमत्त एनेन धनं भवति।

पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेः। घसेर्वा ईरो नामकरणः। उशीरमिति यथा।

'मत्सर' सोम [का नाम] है। तृप्त्यर्थक 'मदि-धातु' से [सरन् उणादिप्रत्यय 'तन्यृषिभ्यां क्सरन्' [उणा० ३-३५५] सूत्रसे वाहुलकविधिके आधारपर क्सरन्प्रत्यय करके बनता है। 'मत्सर' यह लोभका नाम [भी] है। [क्योंकि] इस [लोभके कारण] से धनके प्रति [मनुष्य] उन्मत्त-सा हो जाता है। [या धनिक पुरुष इसके कारण उन्मत्त हो जाता है।

'पयस्' [शब्द] पिब-धातुसे [अर्थात् 'पा पाने' धातुसे 'सर्वधातुभ्योऽसुन् [उणादि ५-६३८] सूत्रसे 'असुन्प्रत्यय' करके बनता] है। अथवा 'ओप्यायी वृद्धौ' [धातु] से [बनता] है। [अर्थात् पीयते यत् तत् पयः', अथवा 'आप्यायन्ते जना येन तत् पयः' ये दो प्रकारकी 'पयस्' शब्दकी व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं। 'पय' के पर्यायवाचक 'क्षीर' पदका प्रसक्तानुप्रसक्तरूपसे निर्वचन करते हैं] क्षीर [शब्द] क्षर धातुसे [बनता] है। अथवा [भक्षणार्थक 'घस्लृ अदने' इस] घसधातुसे ['घसेः किच्च' उणादि (४-४८२) इस सूत्रसे] ईर-प्रत्यय [करके बना है। जैसे [वश धातुसे 'वशेः कित्' उणादि (४-४७९) सूत्रसे 'ईर प्रत्यय' करके] 'उशीर' यह [शब्द] बनता है।

'अभिमत्त एनेन धनं भवति' यह पाठ त्रुटित-सा जान पड़ता है। 'धनं' के आगे 'प्रति'का प्रयोग होना आवश्यक है। सब टीकाकारोंने 'प्रति' का आध्याहार करके ही इसका अर्थ किया है। उसके विना वाक्यका अर्थ समझनेमें कठिनाई होती है। या फिर दूसरा मार्ग यह है कि 'धनं' पदको 'धनिक' अर्थका वाचक माना जाय। धनिक लोग इस लोभके कारण मत्त हो जाते हैं, यह अर्थ भी हो सकता है। धनम् अभिलक्ष्य इत्यर्थे सम्भवासम्।

'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' [ऋ० १०-९४-९] इत्यधिषवणचर्मणः। अंशुः शम् अष्टमात्रो भवति। अननाय शं भवतीति वा।

[अंशु अर्थात्] सोम रसको दुहते हुए [अर्थात् निकालते समय गवि अर्थात् गौके अवयव या विकार] गो-चर्म पर बैठते हैं। [यहाँ गोशब्द तद्धितान्तके समान गो-चर्मके लिए प्रयुक्त हुआ है] 'अंशुः' [सोमरसको कहते हैं, क्योंकि शरीरके भीतर] व्याप्त होते ही कल्याणकारी होता है। अथवा ['अन् प्राणने' 'अनन' अर्थात्] दीर्घजीवनके लिए कल्याणकारी होता है।

'गोभिः' का अर्थ गोदुग्ध किया है, इसलिए दूधके वाचक पय और क्षीर शब्दोंका निर्वचन दिखलाते हैं--'पयः' इत्यादि।

पहिली व्युत्पत्तिमें अंशु-शब्द शंपूर्वक अशूङ्-व्याप्तौ' धातुसे 'कृ-वा-पा-जिमि-स्वदिसाध्यशूभ्य उण्' [उणादि १-१] सूत्रसे उण् प्रत्यय तथा 'शं' तथा अंशके 'अ' का आद्यन्त विपर्यय करके बनता है। दूसरे प्रकारसे या दूसरी व्युत्पत्तिके पक्षमें अन + शम् + उ इस प्रकार धातु तथा प्रत्ययके बीचमें 'शम्' का निवेश करके 'अंशु' पद बनता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' वाला पहिला पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है--

आधावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना। गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।
[ऋ० ९-४६-४]

'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' यह पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है--

ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते॥[ऋ० १०-९४-९]।

इस मन्त्रमें 'मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते' इस भागमें 'वर्धते प्रथते वृषायते' इस अनेक क्रियाओंका कर्ता एक मधु ही है। इसलिए 'अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्'। दीपक अलंकारके इस लक्षणके अनुसार यहाँ दीपक अलंकार है। इसमें आये हुए 'गवि' पदका अर्थ गो-चर्म किया है, अतः चर्मशब्दका निर्वचन करते हैं--'चर्म' इत्यादि।

चर्म चरतेर्वा, उच्चृतं भवतीति वा ।

अथापि चर्म च श्लेष्मा च । 'गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व' [ऋ० ६-४७-२६] । इति रथस्तुतौ । अथापि स्नाव च श्लेष्मा च । 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' [ऋ० ६-७५-११] इतीषुस्तुतौ ॥५॥

'चर्म' [शब्द] 'चर' धातुसे [बनता है, क्योंकि 'सर्वस्मिन् शरीरे चरति' सारे शरीरमें फैला होनेसे चर्म कहलाता] है। अथवा ['चृती हिंसायाम्' धातुसे बनता है। क्योंकि शरीरके ऊपरसे] उतारा जाता है [इसलिए चर्म कहलाता है]।

और चर्म तथा चर्बी [श्लेष्मा] भी [गोशब्दसे कहे जाते हैं] जैसे—'गो [के विकार या अवयव चर्म तथा चर्बी दोनों] से तैयार किये हुए हो, अतः [वीलयस्व] दृढ़ बनो। यह मन्त्र ऋग्वेद ६-४७-२६ और यजुर्वेद २९-५२ तथा अथर्ववेद ६-१२५ में रथकी स्तुतिमें आया है]।

और स्नायु [से बनी हुई ताँत] तथा चर्बी ['श्लेष्मा' के लिए भी 'गो'शब्दका तद्धितान्त जैसा प्रयोग होता] है। जैसे—गो [अर्थात् ताँत तथा चर्बी] से दृढ़ बना हुआ [बाण धनुषसे] फेंका जाने पर [दूर तक] जाता है। यह [मन्त्र ऋग्वेद ६-७५-११, यजुर्वेद २९-४७ में बाणकी स्तुतिमें] आया है।

चर्म-शब्दकी इन दोनों व्युत्पत्तियोंके पक्षमें 'चर गतौ' धातुसे अथवा 'चृती हिंसायाम्' धातुसे 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' [उणादि ५-५९४] सूत्रसे मनिन्-प्रत्यय होकर 'चर्म' शब्दकी सिद्धि होती है।

गोशब्दके तद्धितान्तके समान दो प्रयोगोंके उदाहरण ऊपर दिखलाये हैं। इनमें गो-शब्द गौके विकार दूध और चर्मके लिए प्रयुक्त हुए हैं। आगे इसी प्रकारके दो उदाहरण और दिखलाते हैं—'अथापि' इत्यादि।

[९]

ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत् ताद्धितम्। अथ चेन्न गव्या गमयति इषूनिति।

---

[९]

[धनुषकी] 'प्रत्यञ्चा' को भी 'गौ' कहते हैं। यदि [वह प्रत्यञ्चा] गौका विकार है [अर्थात् गायके चर्म या ताँतसे बनी हुई] है तो [गोपद पहिले उदाहरणोंके समान यहाँ भी] तद्धित-सदृश है। और यदि [वह प्रत्यञ्चा] गौका विकार नहीं है [अर्थात् गो-चर्म या गायकी ताँतसे न बनी होकर अन्य किसीसे बनी है] तो [गमयति इषून् इति गौः] 'बाणोंको फेंकती है' [इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गो' शब्दसे कही जाती है]।

ये दोनों पूरे मन्त्र निम्नप्रकार हैं—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ [ऋ० ६-४७-२६]
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥

[ऋ० ६-७५-११]।

गोशब्दके और मुख्यार्थ

१ पृथिवी तथा २ गाय पशु और गौके विकार (अ) दूध या उसके अवयव रूप (ब) चर्म, (स) स्नायु तथा श्लेष्मा आदिके लिए भी तद्धितान्तके समान गोशब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है। इसके उदाहरण ऊपर दिखला चुके हैं। अब उसका एक अर्थ प्रत्यञ्चा भी होता है। यह अर्थ गोशब्दके तद्धितान्त प्रयोग द्वारा भी प्राप्त हो सकता है और मुख्यार्थके रूपमें भी। इस बातको दिखलाते हुए ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—'ज्यापि' इत्यादि।

वृक्षे वृक्षे नियताममीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः ।
[ऋ० १०-२७-२२]

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि । वृक्षो व्रश्चनात् । वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा । क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः । नियताममीमयद् गौः शब्दं

प्रत्येक धनुषपर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा [वाण छोड़नेके समय भयंकर टंकाररूप] शब्दको उत्पन्न करती है और उसके बाद [या उससे] पुरुषों [अर्थात् शत्रु-लोगोंके नाश [भक्षण] करनेके लिए वाण [वयः] निकल पड़ते हैं ।

वृक्षे-वृक्षे अर्थात् प्रत्येक धनुषके ऊपर [चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा । यहाँ 'वृक्ष' शब्द धनुषके लिए प्रयुक्त हुआ है । उस पक्षमें छेदनार्थक 'व्रश्च'-धातुसे 'स्नु-व्रश्चि-कृति-ऋषिभ्यः कित्' [उणादि ३-३५३] सूत्रसे सन्-प्रत्यय करके, उसके कित् होनेसे ग्रहिज्या०[अष्टा० ६-१-१६]सूत्रसे सम्प्रसारण 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'[अष्टा० ८-२-२९] सूत्रसे 'स' का लोप "चोः कुः" [अ० ८-२-३०] सूत्रसे 'च' को 'क' और फिर 'स' को 'ष' करके 'वृक्ष' शब्द बनता है] । अतः [धनुषके अर्थमें] 'वृक्ष' [शब्द शत्रुओंका] छेदन करने [वाला होने] से [प्रसिद्ध] है । [और पेड़के अर्थमें जो वृक्ष शब्दका प्रयोग होता है उसकी व्युत्पत्ति] पृथिवीको घेर कर [बहुत दूर तक] फैला हुआ स्थित होता है ।

['क्षा शब्द पृथिवीका वाचक है । उसका निर्वचन करते हैं] 'क्षा' [शब्द] निवासार्थक 'क्षि'-धातुसे [बना] है । [मन्त्रके अगले भाग 'नियताममीमयद्' आदिका अर्थ करते हैं] चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा

प्रत्यञ्चाके अर्थमें गो-शब्दका प्रयोग निम्न मन्त्रमें किया गया है । जैसे—

यह मन्त्र यहाँ यास्कने आधा ही उद्धृत किया है । पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

वृक्षे वृक्षे नियताममीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान् पुरुषादः ।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत् ॥
[ऋ० १०-२७-२२] ।

करोति । मीमयतिः शब्दकर्मा । ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय । विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः । अथापि इषुनामेह भवत्येतस्मादेव ।

आदित्योऽपि गौरुच्यते । 'उतादः परुषे गवि' । पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः ।

अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते । तदेतेनोपेक्षितव्यम्, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति । 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमाः

शब्दको करती है । 'मीमयति'-धातु शब्दार्थक है । उससे पुरुषोंके खानेके लिए बाण निकलते हैं । [मंत्रके 'वयः' पदका मूलभूत] 'वि' पक्षीका नाम भी है । गत्यर्थक वी-धातुसे ['वि' शब्द बना है] और यहाँ इसी [धातु] से [बना 'वयः' शब्द] बाणका वाचक है ।

८- आदित्यको भी 'गौ' [शब्दसे] कहा जाता है । जैसे—उस [दिन-रातके जोड़नेवाला होनेसे] पर्वयुक्त [अथवा चमकते हुए] सूर्यमें [स्थित । यहाँ 'गवि'का प्रयोग सूर्यके अर्थमें हुआ है । और 'परुषे' उस सूर्यके विशेषणरूपमें प्रयुक्त है । उसका अर्थ करते हैं] जोड़से युक्त [पर्ववति अथवा] चमकते हुए [भगवति, सूर्य] में यह [अर्थ] औपमन्यव [उपमन्युके शिष्यगण] कहते हैं ।

९- और हम [सूर्य]की एक प्रकारकी ['एको रश्मिः' यहाँ एक शब्द संख्यावाचक न होकर प्रकार-वाचक मानना चाहिये] रश्मियाँ चन्द्रमाके प्रति दीप्त होती हैं [अर्थात् चन्द्रमाको प्रकाशित करती हैं ।

'गो' शब्द के १ पृथिवी, और २ गाय, दो मुख्य अर्थ दिखलानेके बाद गोशब्दसे तद्धितप्रत्ययान्तके समान प्रयोग होनेपर ३ दूध, ४-५ चर्म और श्लेष्मा, ६ स्नायु और श्लेष्मा, तथा मुख्य अमुख्य दोनों रूप ७ प्रत्यञ्चा इन सात अर्थोंमें प्रयोग यहाँतक दिखला चुके हैं । अब आठवें अर्थ सूर्यमें उसका प्रयोग दिखलाते हैं—'आदित्योऽपि' इत्यादि ।

गन्धर्वः इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते। 'अत्राह गोरमन्वत' इति। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥६॥

उनको भी 'गौ' नामसे कहा जाता है। इसी रश्मियोंको धारण करनेसे चन्द्रमाके लिए 'गन्धर्व' शब्दका प्रयोग भी होता है। 'गां धरतीति गन्धर्वः' यह गन्धर्वपदकी व्युत्पत्ति है। इससे यह समझना चाहिये कि सूर्यसे [ही] इसकी [अर्थात् चन्द्रमाकी] दीप्ति होती है।

सुषुम्णा [चन्द्रमाको प्रकाशित करनेवाली] सूर्यकी [विशेष प्रकारकी] रश्मियाँ हैं [रश्मि यह एकवचन जातिमें है]। और चन्द्रमा [उन विशेष रश्मियोंका धारण करनेवाला होनेसे] 'गन्धर्व' है। ऐसा भी निगम [में मन्त्र] पाया जाता है। वह [सुषुम्णा नामक विशेष रश्मि] भी 'गौ' [नामसे] कही जाती है। जैसे—'यहाँ [चन्द्रमण्डलमें] ही [सुषुम्णा नामक सूर्यकी रश्मि [गौ] को [प्रकाश करनेकी] अनुमति दी' [ऋ० १-८४-१५]। इसकी व्याख्या आगे [निरुक्त ४-२५ में] करेंगे ॥६॥

'तदेतेनोपेक्षितव्यम्' में 'एतेन' पदसे दुर्गाचार्यने 'मन्त्रार्थवित्'का ग्रहण किया है अर्थात् मन्त्रार्थको जाननेवाला मन्त्रोंके द्वारा इसको समझे कि आदित्यसे ही इसकी दीप्ति होती है। स्कन्दस्वामीने 'तदेतेन' का 'सुषुम्ण इत्यनेन मन्त्रेण' यह अर्थ किया है। हमने इन दोनोंसे कुछ भिन्न अर्थ किया है। हमने 'एतेन' पदसे न 'मन्त्रार्थवित्'का ग्रहण किया है और न 'मन्त्र'का अपितु इसके पूर्व कहे हुए वाक्यका ग्रहण किया है अर्थात् कुछ रश्मियाँ चन्द्रमाके प्रति दीप्त होती हैं। इससे यह समझना चाहिये कि सूर्यसे ही चन्द्रमाको प्रकाश प्राप्त होता है। इसी बातके समर्थनके लिए आगे मन्त्र-खण्ड देते हैं—'सुषुम्णः' इत्यादि।

यह मंत्र यास्कने आधा ही उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा। [यजुः० १८-४०]

[७]

१०—सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥

[ऋ० १-१५४-६]

---

[७]

१०– [सूर्यकी] सारी रश्मियोंको 'गौ' कहा जाता है। जैसे–

[हे वर-वधुओ ! गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करनेके बाद] तुम दोनोंको जाकर रहनेके लिए हम [तुम्हारे अभिभावक तथा हितैषी जन] ऐसे [उत्तम और खुले हुए] घरोंकी कामना करते हैं [उश्मसि], जिनमें नाना वर्णोंसे युक्त [अथवा शृंगोंके समान तीक्ष्ण] सूर्यकी किरणोंका आवागमन [रहता] है। ऐसे ही स्थानोंपर [उरुगायस्य] महागतिवाले [अथवा उरुभिर्बहुभिः गीयमानस्य—सबके द्वारा जिसकी स्तुति या गुण-गान किया जाता है उस] और [वृष्ण अर्थात्] सुखकी वर्षा करनेवाले परमात्माका वह परम ['परम कृपामय'] पद [अर्थात् स्थान] अत्यन्त शोभित होता है।

गौ शब्दके और अर्थ

पिछले खण्डमें गौ शब्दका आठवाँ अर्थ सूर्य और नवम अर्थ उसकी सुषुम्णा नामक एक रश्मि है यह बतलाया था। अब उस 'गौ' शब्दका दसवाँ अर्थ सामान्यरूपसे सूर्यकी सारी रश्मियाँ भी होता है यह दिखलाते हैं—'सर्वेऽपि' इत्यादि।

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय, यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा बहुश्रृङ्गाः। भूरि इति बहुनो नामधेयम्। प्रभवतीति सतः। श्रृङ्गं श्रयतेर्वा, श्रृणातेर्वा[1] शरणायोद्गतमिति वा, शिरसो निर्गतमिति वा, अयासः अयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः, परमं पदं परार्ध्यस्थम् अवभाति भूरि।

[हे दम्पति] हम तुम्हारे विचरण करनेके लिए उन घरोंको चाहते हैं जिनमें 'भूरिश्रृङ्गाः' अर्थात् बहुत श्रृंगोंवाली [सूर्यकी] किरणें [आती-जाती रहती हैं]। 'भूरि' यह 'बहुत'का वाचक [नामधेय] है [बहुत पदार्थोंके मिलनेपर] शक्तिशाली होनेसे। [भू धातुसे 'अदि-शदि-भू-शुभिभ्यः क्रिन्' उणादि [४-६५] सूत्रसे क्रिन-प्रत्यय होकर 'भूरि' शब्द बनता है]। श्रृंग [शब्द 'श्रिञ् सेवायाम्'] श्रि-धातुसे [गन-प्रत्यय, नुटका आगम आदि होकर बनता है] अथवा [हिंसार्थक] शॄ-धातुसे ['श्रृणातेर्ह्रस्वश्च' उणादि [१-१२६] सूत्रसे गन-प्रत्यय, नुटका आगम आदि होकर बनता है] अथवा रक्षाके लिए उठा हुआ होनेसे, अथवा सिरसे निकला हुआ होनेसे [श्रृङ्ग कहलाता] है। [मन्त्रके] अयासः [पदका अर्थ अयनाः] गमनशील है। वहाँ उस 'उरुगाय' अर्थात् 'महागति' विष्णु [परमात्मा या सूर्य]का परम पद सबसे ऊँचा स्थान अत्यन्त शोभित होता है।

इस मन्त्र में 'गावः' यह पद सामान्यरूपसे सूर्यकी सारी किरणोंका वाचक है। आगे यास्क स्वयं इस मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'तानि' इत्यादि। 'पादः' इत्यादि।

इस मन्त्रमें 'गौ' शब्द सूर्यरश्मियोंका वाचक माना गया है। जिन घरोंके भीतर सूर्यकी किरणें बराबर आती हों वे ही घर निवासयोग्य होते हैं यह इस मन्त्रका भाव है।

---

१. केवल अजमेरवाले संस्करणमें इसके बाद 'शम्नातेर्वा' यह अधिक पाठ पाया जाता है। अन्यत्र नहीं।

पादः पद्यतेः । तन्निधानात् पदम् । पशुपादप्रकृतिः प्रभाग-पादः । प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि ।

'पाद' [शब्द गत्यर्थक] पद-धातुसे [घञ्‌प्रत्यय करके बनता] है । [इसके अनुसार 'पद्यते गम्यते अनेन इति पादः' जिसके द्वारा कोई प्राणी चलता है उसको 'पाद' कहते हैं । यह 'पाद' शब्दका निर्वचन हुआ ।] उस [पाद]के रखे जानेसे [अर्थात् जहाँ पैर रखा जाता है उस स्थान या चरण-चिह्नका 'पद' [कहा जाता] है । पशुके [चार पैर होते हैं, इसलिए [उसके] पैरोंके आधारपर ['पशुपाद-प्रकृतिः' पशुपाद जिसकी प्रकृति मूल कारण है वह वस्तुका चतुर्थ] भागरूप 'पाद' कहलाता है । अर्थात् जैसे पशुके चार चरणोंमेंसे प्रत्येकको पाद कहा जाता है इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के चतुर्थ भागको भी 'पाद' कहा जाता है] । प्रभागरूप पादकी समानतासे [श्लोक आदि] अन्य [के चतुर्थ भाग] पद [कहलाते] हैं ।

मन्त्रमें आये हुए 'पद' शब्दका और उसके प्रसंगसे 'पाद' शब्दका निर्वचन दिखलाते हुए 'पाद' शब्दके अनेक अर्थोंमें प्रयोगका कारण दिखलाते हैं—'पादः' इत्यादि ।

इस प्रकार यहाँतक यास्कने गो-शब्दके १० अर्थोंमें प्रयोग और तदनुसार व्युत्पत्ति दिखलायी है । परन्तु गो-शब्दके इतने ही अर्थ नहीं हैं इनसे भिन्न और भी बहुतसे अर्थ हैं । स्वयं निरुक्तकारने आगे अन्य कई अर्थोंमें गो-शब्दका प्रयोग दिखलाया है । जैसे—

१. अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता (निरुक्त २-९) मेघका गर्जन ।
२. वल इन्द्र व्रजो गोः (,, ६-२) विद्युत् ।
३. गौरादित्यो भवति···अथ द्यौ० (,, २-१४) द्याः ।

इस प्रकार 'गौ' शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं । अर्थोंकी प्रधानताको ध्यानमें रखकर ही उसका निर्वचन करना चाहिये । यदि अलग-अलग स्थानोंपर उसका एक अर्थमें प्रयोग हो तो सब जगह निर्वचन एक-सा ही करना चाहिये । और यदि उसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थोंमें पाया जाता हो तो अर्थके अनु-

एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते। तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि; नानाकर्माणि चेत् नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि ॥७॥

[८]

इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि। तत्र निर्ऋतिः निरमणात्। ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोर्विभागः। तस्या एषा भवति।

इसी प्रकार अन्य पदार्थों [के नामों] के विषयमें भी सन्देह हो सकते हैं [क्योंकि एक-एक नामका अनेक अर्थोंमें प्रयोग पाया जाता है। उनके निर्वचनमें भी इस नियमका ध्यान रखना चाहिये कि] वे यदि समान अर्थमें प्रयुक्त हैं तो [सब जगह] उनका निर्वचन समानरूपसे [ही] करना चाहिये। और यदि उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं तो उनके निर्वचन [भी] भिन्न-भिन्न प्रकारसे करने चाहिये ॥७॥

[८]

ये २१ पृथिवीके नाम क्रमसे कहे गये हैं। उनमेंसे 'निर्ऋति' [यह पृथिवीका नाम] नितान्त रमण [योग्य होने] से है। दूसरी [निर्ऋति अर्थात् निर्ऋति शब्दका दूसरा अर्थ] कष्ट-प्राप्ति है। वह ऋच्छ-धातुसे [बना] है। वह [कष्टार्थक निर्ऋतिशब्द] पृथिवीके साथ [कहीं] सन्दिग्ध हो जाता है। उनका [प्रकरणानुसार] विभाग कर लेना चाहिये। उसके उदाहरणरूपमें] यह ऋचा है—'य ईं चकार'

सार उसका निर्वचन भिन्न-भिन्न प्रकारसे करना चाहिये। यह नियम गोशब्दके समान अन्य सब जगह लागू होता है। इसी बातको आगे कहते हैं—'एवम०' इत्यादि।

अर्थात् एक शब्दका एक ही निर्वचन होता है यह नहीं समझना चाहिये। अर्थके अनुसार एक ही शब्दके निर्वचन भिन्न-भिन्न प्रकारके हो सकते हैं। 'कर्म' शब्द निरुक्तमें 'अर्थ'का वाचक होता है। 'समानकर्माणि'का अर्थ 'समानार्थक' और 'नानाकर्माणि'का अर्थ 'नानार्थक' किया है।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥
[ऋ० १-१६४-३२]

आध्यात्मिक अर्थ—जो इस [गर्भाधानरूप कर्म] को करता है वह [गृहस्थ इसके दुष्परिणामोंको नहीं जानता है और जो जानता है वह परिव्राजक या परमात्मा] उससे अलग ही रहता है। वह [सन्तानोत्पत्ति करनेवाला गृहस्थ, गर्भकी] माता [अपनी स्त्री] की योनिमें ही परिवीत अर्थात् लिप्त [रहता] है। [जिसके परिणाम-स्वरूप बहुप्रजा] अनेक सन्तानोंको उत्पन्न करता हुआ [निर्ऋति] दुःखको प्राप्त होता है।

आधिभौतिक अर्थ—जो [मेघ या विद्युत्] इस [वृष्टि कर्म]को करता है वह इसके रहस्यको नहीं जानता है और जो [परमात्मा] इसको जानता है वह इससे पृथक् है। वह [मेघ या विद्युत् माता अर्थात्] अन्तरिक्षके [योनि अर्थात्] विशाल क्षेत्रके भीतर [परिवीत अर्थात्] घिरा हुआ [बहुप्रजा अर्थात्] अनेक जल-बिन्दुओंके रूपमें [अनेक औषधियोंके जनकरूपमें] पृथिवीपर आता [बरसता] है।

परिव्राजक लोग इसका आध्यात्मिक अर्थ लेते हैं और वे 'निर्ऋति'को कष्टापत्ति अर्थमें प्रयुक्त मानते हैं। नैरुक्त इसका आधिभौतिक अर्थ करते हैं और 'निर्ऋति' शब्दका अर्थ पृथिवी करते हैं। दोनों अर्थ निम्नप्रकार हैं।

एक सन्दिग्धार्थक मन्त्र

ऊपर पृथिवीवाचक नामोंकी व्याख्या चल रही है। निघण्टुमें पृथिवीके वाचक २१ नामोंका संग्रह किया गया है। इनमेंसे सबसे मुख्य शब्द 'गौ' है। इसलिए उसे पृथिवीवाचक नामोंमें सबसे पहिले स्थान दिया गया है। इस पादमें उसकी व्याख्या करते हुए यास्कने 'गौ' शब्दके १० अर्थोंका प्रतिपादन किया है। अन्य शब्दोंकी व्याख्यापर विशेष ध्यान नहीं दिया है। किन्तु पृथिवी-वाचक इन २१ नामोंमें १६ वीं संख्यापर 'निर्ऋति' शब्द आता है। यह शब्द

विशेष महत्त्वपूर्ण है, इसलिए यास्कने इसके सम्बन्धमें विशेष विवेचन किया है। 'निर्ऋति' के दो अर्थ हैं १ पृथिवी और २ कष्ट। यास्कने इसकी व्युत्पत्ति 'नि' उपसर्ग-पूर्वक 'रमु क्रीडायाम्' धातुसे मानकर 'निरमणात् निर्ऋतिः' इस प्रकारका उसका निर्वचन किया है। यही निर्वचन दोनों अर्थों में लग जायगा। पृथिवी पक्षमें उसका अर्थ 'नितरां रमणात् निर्ऋतिः' प्राणियोंके लिए अतिशय आह्लाददायक होनेसे 'निर्ऋति' शब्दका प्रयोग होता है यह अर्थ होगा और दूसरे 'कष्टार्थक-पक्षमें 'निर्गता रमणात्' सुखसे रहित होनेसे 'निर्ऋति' शब्दका प्रयोग दुःखके लिए होता है यह अर्थ होगा। आगे ग्रन्थकार 'य ईं चकार' इत्यादि मंत्रके रूपमें एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें 'निर्ऋति' शब्दका प्रयोग हुआ है। और उसकी दोनों प्रकारकी व्याख्याएँ पायी जाती हैं। यह मन्त्र ऋग्वेदके 'अस्य वामस्य सूक्त' नामसे प्रसिद्ध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सूक्तसे लिया गया है। नैरुक्त लोग उसमें आये हुए 'निर्ऋति' शब्दको पृथिवी-परक एवं परिव्राजक लोग उसे दुःख-परक मानते हैं। इसलिए मन्त्रका अर्थ दोनों व्याख्याकार अलग-अलग करते हैं। नैरुक्त मतमें मन्त्र वर्षापरक है। अर्थात् वे मन्त्रकी आधिभौतिक व्याख्या करते हैं और परिव्राजक-पक्षमे सन्तानोत्पादनके कष्ट-दायक परिणामको प्रदर्शित करना मन्त्रका प्रयोजन है। दोनों ही पक्षोंमे मंत्रका पूर्वार्ध ठीक लग जाता है। और चतुर्थ चरण भी ठीक वन जाता है। किन्तु तीसरा चरण अर्थके प्रवाहको व्यवहित कर डालता है। उसमें विशेषरूपसे 'सः' सर्वनाम गड़बड़ी डालता है। उसे सामान्यतः समीपवर्ती द्वितीय चरणमें आये हुए 'यः'से सम्बद्ध होना चाहिये, किन्तु उसका सम्बन्ध दूरवर्ती प्रथम चरणमें आये हुए 'यः'के साथ होता है। यह बात देखनेमें तनिक अटपटी-सी जान पड़ती है। किन्तु—

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥'

इस नियमके अनुसार 'तत्' पदसे बने हुए 'सः'का प्रयोग पहिले 'यः'के साथ ही अधिक उचित प्रतीत होता है। और उसीसे भाषामें प्रवाह आता है। इसका विवेचन ग्रन्थकार निम्न प्रकार करते हैं—'इतीमा०' इत्यादि।

बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः । वर्षकर्मेति नैरुक्ताः । य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा । न सोऽस्य वेद मध्यमः, स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योपहितम् । स मातुर्योनौ । मातान्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि । योनिरन्तरिक्षं महानवयवः । परिवीतो वायुना । अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव । परियुतो भवति । बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा ॥८॥

अनेक सन्तानोंवाला [गृहस्थ] कष्टको प्राप्त होता है यह [मन्त्रका अर्थ है यह] परिव्राजक कहते हैं। वृष्टि-कर्म [इसका अर्थ है] यह नैरुक्त [कहते हैं]। 'य ईं चकार' यहाँ 'करोति' तथा 'किरति' अर्थात् 'डुकृञ् करणे' तथा 'कॄ विक्षेपे' दोनों धातुएँ वर्षाके अर्थमें सन्दिग्ध हैं। [क्योंकि 'डुकृञ् करणे' तथा 'कॄ विक्षेपे' दोनों धातुओंसे लिट् लकारमें 'चकार' यह एक सा ही रूप बनता है]। वह [वृष्टिको करनेवाला] मध्यम [मेघ या विद्युत्] इस [वृष्टिके रहस्य]को नहीं जानता है। वही मध्यम [आकाशमें व्याप्त परमात्मा] इसको जानता है जो सूर्यसे उपहित इस [मेघके रहस्य] को देखता है। वह [मेघ] 'माता'की 'योनि'में। 'माता' अन्तरिक्ष है, जिसमें सब भूतोंका निर्माण होता है। 'योनि' अन्तरिक्ष [का] महान् भाग है [जिसमें मेघ स्थित होता है]। [मेघ-पक्षमें परिवीत अर्थात्] वायुसे घिरा हुआ। यह दूसरा [स्त्रीकी] 'योनि' भी इसीसे ['यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातुसे 'वहि-श्रि-श्रु-यु-द्रु-ग्ला-हात्वरिभ्यो नित्' उणादि ४-५०० सूत्रसे नित्-प्रत्यय होकर] बनता है। [क्योंकि वह भी घिरा हुआ होता है। [बहुप्रजा] अनेक विन्दुओंमें [अथवा अनेक औषधियोंको उत्पन्न करनेवाला जल] वर्षाके द्वारा पृथ्वीपर आ गिरता है ॥ ८ ॥

यह मंत्रका अर्थ दोनों पक्षोंमें अलग-अलग हुआ। इसमें 'माता' शब्द भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही पक्षोंमें उसका अर्थ 'माता' शब्दके प्रसिद्ध अर्थसे

[९]

शाकपूणिः संकल्पयांचक्रे सर्वा देवता जानामीति । तस्मै देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव, तां न जज्ञे । तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वा इति । सास्मा एतामृचमादिदेश, एषा मद्देवतेति—

[९]

शाकपूणि [आचार्य]ने निश्चय किया कि मैं सब देवताओंको जान लूँ । उसके सामने [पुल्लिग और स्त्रीलिंग] दोनों लिंगोंसे युक्त देवता [देवताओंका अध्ययन करते समय] उपस्थित हुआ । [शाकपूणि] उसको न जान सके । और उससे पूछने लगे कि मैं तुमको जानना चाहता हूँ । उस [देवता]ने इस [शाकपूणि]को इस ऋचाकी ओर निर्देश किया कि यह [उभयलिंग-युक्त] मुझ देवतावाली ऋचा है—

भिन्न है । एक पक्ष में उसका अर्थ 'अन्तरिक्ष' है और दूसरे पक्षमें उसका अर्थ गर्भस्थ-बालककी जननी या गृहस्थकी पत्नी है । उसका निर्वचन यास्कने 'निर्मीयन्तेऽस्यां भूतानि' किया है । जो दोनों पक्षोंमें समानरूपसे लग सकता है । 'योनि'का अर्थ एक पक्षमें स्त्रीकी योनि और दूसरे पक्षमें आकाशका विशाल क्षेत्र होता है । आगे यास्क अपने शब्दोंमें इस मंत्रकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं— 'बहुप्रजा' इत्यादि ।

देवताज्ञानकी दुष्करता

सन्देहके इस प्रसंगमें देवताज्ञानकी दुष्करताका निरूपण करते हुए कहते हैं— 'शाकपूणिः' इत्यादि ।

अयं स शिंङ्क्ते येन गौरभीवृंता मिमाति मायुं ध्वं सनावधिंश्रिता।
सः चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥
[ऋ० १-१६४-२९]

अयं सः शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति। मायुमिवादित्यमिति वा। वागेषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघे अधिश्रिता सा चित्तिभिः कर्मभिः नीचैर्निकरोति मर्त्यम्।

['अयं', 'सः' यह पुल्लिंगमें देवताका निर्देश है] यह वह [मेघ] गर्जता है जिससे घिरी हुई और [ध्वंसने] मेघमें आकाशमें स्थित [गौ]माध्यमिक वाक् [मायुं मिमाति] शब्दको उत्पन्न करती है।['सा' यह उसी देवताका स्त्रीलिङ्गमें निर्देश है] वह [माध्यमिका वाक् अपने गर्जनरूप] कर्मोंसे मनुष्यको [भयभीत करके] नीचे झुका देती है और विद्युत्के रूपमें प्रकट होकर [शीघ्र ही] अपने रूपको फिर अदृश्य कर देती है।

यह वह [मेघ] गर्ज रहा है जिससे उत्पन्न हुई माध्यमिक वाक् शब्दको करती है। अथवा मायु [का दूसरा अर्थ आदित्य भी हो सकता है। उस पक्षमें यह लुप्तोपमा है। अर्थात्] आदित्यके समान [उग्र] मालूम होती। यह माध्यमिका वाणी [का वर्णन] है। वह ध्वंसन अर्थात् मेघमें स्थित होकर अपने 'चित्तिभिः' अर्थात्

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या निम्न-प्रकार करते हैं—'अयं स' इत्यादि।

विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम्। वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते ॥९॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

कार्योंसे मनुष्यको [भयभीत कर] नीचे झुका देती है। और विद्युत्-रूपमें प्रकट होती हुई अपने रूपको फिर आवृत कर लेती है। 'वव्रि' यह [शब्द] रूपका वाचक है। आच्छादित करनेवाला होनेसे ['वृञ् वरणे' धातुसे क्रिन् प्रत्यय और लिङ्वत् होनेसे वव्रि पद बनता है।] [अथवा] बरसनेके द्वारा [जलसे] पृथिवीको आच्छादित करके उसको फिर [मेघरूपमें] वापिस कर लेता है ॥९॥

साधारणतः वर्ण्य विषय और लिंग आदिके द्वारा देवताका निर्णय हो जाता है। परन्तु यहाँ पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनोंका प्रयोग है, इसलिए लिंगके आधार-पर निर्णय नहीं हो सकता है। और न वर्ण्य विषयके द्वारा ही उसका निर्णय हो सकता है। क्योंकि इस मन्त्रका देवता विद्युत्, मेघ आदिमेंसे कोई न होकर विश्वेदेव देवता है। अतः देवता-निर्णय बड़ा कठिन है, यह अभिप्राय है ॥९॥

इस खण्डका प्रयोजन

यह खण्ड निरुक्तका एक विचित्र खण्ड है। क्या प्रसङ्गकी दृष्टिसे और क्या विषयकी दृष्टिसे दोनों ही दृष्टियोंसे उसका समझना और सङ्गति लगाना एक कठिन काम है। यास्कने किसी 'देवता' और आचार्य 'शाकपूणि'के संवादके रूपमें इस खण्डको आरम्भ किया है। शाकपूणि 'लिङ्ग'के आधारपर देवताका निर्णय करनेके पक्षमें हैं। किस मंत्रमें कौन देवता है यह निश्चय करनेके लिए वे निरुक्तका ज्ञान आवश्यक नहीं मानते हैं। मंत्रोंमें आये हुए लिङ्गोंके आधारपर ही सारे मन्त्रोंके देवताओंका निर्णय वे कर सकते हैं, ऐसा उनका 'संकल्प' अर्थात् दृढ़ निश्चय है। किन्तु यास्कका कहना यह है कि केवल लिङ्गके आधारपर देवताका निर्णय सम्भव नहीं है। उसके लिए निरुक्तका ज्ञान आवश्यक है। शाकपूणि जब यह कहते हैं कि वे लिङ्गके आधारपर ही सर्वत्र

देवताका निश्चय कर सकते हैं तो वहाँ वे 'लिङ्ग' शब्दके दो अर्थ लेते हैं। 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इस लक्षणके अनुसार शब्द सामर्थ्य अर्थात् रूढ्यर्थबोधनकी शक्तिको 'लिङ्ग' कहते हैं। अर्थात् मंत्रमें जिस देवताके वाचक शब्दका प्रयोग हुआ है वही उस मंत्रका देवता है यह बात सहज ही समझी जा सकती है। 'लिङ्ग' शब्दका दूसरा अर्थ पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग आदि है। इनके आधारपर भी देवताका निर्णय हो सकता है, यह शाकपूणिका अभिप्राय है। किन्तु यास्कका मत है कि देवता-निर्णयके लिए ये दोनों ही साधन अपर्याप्त हैं। इस बातको यास्कने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।

इस विषयकी विवेचना निरुक्तमें दो जगह पायी जाती है। पहिली बार निरुक्तके प्रथम अध्यायके छठे पादके १६वें खण्डमें और दूसरी बार द्वितीय अध्यायके द्वितीय पादके इस नवम खण्डमें। इन दोनों स्थानोंपर यास्कने शाकपूणिके मतका खण्डन किया है। पहिली जगह स्पष्टरूपसे शाकपूणिका नाम न लेकर 'ते चेद् ब्रूयुः लिङ्गज्ञा वयमत्र स्मः।' में 'ते' इस सर्वनाम पदसे शाकपूणिका ही निर्देश किया है। और यहाँपर स्पष्ट ही 'शाकपूणिः संकल्पयांचक्रे सर्वा देवता अभिजानामि' से शाकपूणिके मतका उल्लेख किया है। और दोनों ही जगह यास्कने उदाहरणों द्वारा यह दिखला करके कि 'लिङ्ग'के आधारपर देवताका निर्णय सम्भव नहीं है, शाकपूणिके उस अभिमानको चूर करनेका यत्न किया है। इन स्थलोंमेंसे पहिले स्थलपर 'लिङ्ग' शब्द शक्ति अर्थात् वाचकत्वशक्तिका बोधक है। वहाँ शाकपूणिके खण्डनमें उन्होंने यह दिखाया है कि 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' [ऋ० ६-४-७] इत्यादि मंत्रका देवता 'अग्नि' है, किन्तु इसमें इन्द्र तथा वायुके वाचक शब्द पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' [ऋ० १०-८४-२] इत्यादि मंत्रका देवता मन्यु है, किन्तु उसमें 'अग्नि'का 'लिङ्ग' अर्थात् 'वाचक शब्द' पाया जाता है। यदि इस 'लिङ्ग' अर्थात् वाचक-शब्दके आधारपर देवताका निर्णय करना चाहेंगे तो अवश्य ही इन मंत्रोंमें देवताका निर्णय ठीक नहीं हो सकेगा। इसलिए वाचक शब्दरूप 'लिङ्ग'के आधारपर देवताका निर्णय करना उचित नहीं है।

यह प्रकृत दूसरा उदाहरण भी इसी विषयमें है। पर यहाँ लिङ्गशब्दसे

'स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्गका ग्रहण होता है। शाकपूणिका 'संकल्प' या निश्चय यह था कि वह स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग शब्दोंके प्रयोगके आधारपर भी देवताका निर्णय कर सकते हैं। किन्तु अब 'अयं स शिंक्ते' इत्यादि प्रकृत मंत्र उनके सामने आया तो वे स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्गके आधारपर देवताका निर्णय नहीं कर सके। इसका कारण यह था कि इस एक ही मंत्रमें 'अयं', 'येन', 'सः' ये सब पुल्लिंगके, तथा 'अभीवृता', "ध्वंसनावधिश्रिता', 'सा' आदि स्त्रीलिङ्गके पद आये हैं। अतः यहाँ शाकपूणिके सामने 'देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव'। 'तां न जज्ञे' यह उभयलिङ्ग देवता उपस्थित हुआ और शाकपूणि उसको न जान सके, उसका निर्णय नहीं कर सके।

यह प्रकरण यहाँ क्यों आया ?

यहाँतक हमने जो विवेचन किया है उससे इस प्रकरणकी उपयोगितापर प्रकाश पड़ता है। और यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण शाकपूणिके सिद्धान्तके खण्डनके लिए लिखा गया है। इस दृष्टिसे इस खण्डके विषयका सम्बन्ध प्रथम अध्यायके छठे पादमें प्रतिपादित शाकपूणिके मतकी आलोचना-के साथ जुड़ता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि इस खण्डको प्रथम अध्यायके छठे पादके साथ ही जोड़ा जाना चाहिये था। वही स्थान इसके लिए उपयुक्त स्थान था। यहाँपर यह विषय एकदम अनवसरमें प्रस्तुत किया गया प्रतीत होता है। और जैसे शाकपूणि यहाँ की 'उभयलिङ्ग देवता' को देखकर स्तब्ध रह गये थे। इसी प्रकार विद्वज्जन यहाँ अनवसरमें इस विषयको उपस्थित देखकर स्तब्ध रह जाते हैं कि यहाँ इस प्रकरणकी क्या सङ्गति है? वैसे तो वस्तुतः इस विषय-का प्रतिपादन यदि उसी स्थलपर किया जाता तो अधिक उचित होता। इसके बिना वहाँ शाकपूणिके मतकी आलोचना अधूरी रह गयी है। और यहाँ इस प्रकरणकी ठीक संगति नहीं लगती है। फिर भी ग्रन्थकारने यहाँ जो प्रस्तुत किया है उसका विशेष कारण है। उसे हम निम्न विवेचनसे समझ सकेंगे।

यह 'निघण्टु'के पृथिवीवाचक नामोंकी विवेचनाका प्रकरण चल रहा है। पिछले खण्डमें यह दिखलाया था कि पृथिवी-वाचक नामोंमें एक 'निर्ऋति' शब्द भी आया है। उसका दूसरा अर्थ कष्ट भी होता है और कहीं-कहीं इन दोनों

अर्थोंमेंसे कौन-सा अर्थ लिया जाय, इस विषयमें सन्देह उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकारके सन्दिग्ध स्थलको दिखलानेके लिए 'य ईं चकार न सो अस्य वेद' इत्यादि मंत्र ऊपर उद्धृत किया गया था। यह मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६४ वें सूक्तसे, जो कि 'अस्य वामस्य सूक्त'के नामसे प्रसिद्ध है, लिया गया है। प्रकृत प्रकरणमें उद्धृत 'अयं स शिंक्ते' इत्यादि मंत्र भी उसी सूक्तमें, और उसी मंत्रके पास आया है। 'य ईं चकार' आदि मंत्र 'अस्य वामस्य' सूक्तका ३२वाँ मंत्र है। और यह 'अयं स शिंक्ते' मंत्र उसी सूक्तका २९वाँ मंत्र है। यास्क अब पिछले खण्डमें 'य ईं चकार' आदि ३२वाँ मंत्र उद्धृत कर रहे थे तो उनकी दृष्टि इस समीपवर्ती 'अयं स शिंक्ते' आदि २९वें मंत्रपर भी जा पड़ी और उन्होंने देखा कि यह मंत्र भी शाकपूणिके लिङ्गके आधारपर देवताका निर्णय करनेवाले सिद्धान्तके लिए एक चुनौती दे रहा है, इसलिए उन्होंने झट इस मंत्रको लेकर इस प्रकरणको यहाँ प्रस्तुत कर दिया है। यद्यपि यहाँ बहुत उपयुक्त प्रकरण नहीं था फिर भी एक महत्त्वपूर्ण बातकी ओर ध्यान आनेपर उसके प्रतिपादनके लोभका संवरण वे न कर सके और अनवसरमें ही सही इस प्रकरणको यहाँ दे देना आवश्यक समझा।

आलङ्कारिक भावना

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रकरणमें इस बातका खण्डन किया गया है कि स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्गके आधारपर देवताका निर्णय किया जा सकता है। 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' इस सिद्धान्तके अनुसार स्त्रीलिङ्गकी चर्चा आते ही ग्रन्थकारके मनमें सरस आलङ्कारिक भावनाका उदय हुआ और उन्होंने 'स्त्रीविध देवता'की कल्पना करके शाकपूणि तथा देवताके संवादके रूपमें इस प्रकरणको यहाँ उपस्थित कर दिया। यहाँ इन दोनोंके संवादका जो वर्णन आया है वह कोई वास्तविक संवाद नहीं है। वह केवल एक कल्पना एवं आलङ्कारिक शैलीका वर्णनमात्र है।

इस आलङ्कारिक वर्णनसे विषयमें कुछ सुन्दरता तो आयी, किन्तु दूसरी ओर उसकी दुरूहता बढ़ गयी है। 'शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता अभिजानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। स तां पप्रच्छ, विविदिषाणि

त्वा इति।' यहाँतकका यह आलङ्कारिक वर्णन तो ठीक समझमें आ जाता है। किन्तु इसके आगे जहाँसे देवताकी उक्ति प्रारम्भ होती है 'साऽस्मा एतामृच-मादिदेश एषा मद्देवतेति'। यह स्त्री देवताकी उक्ति 'स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' के समान ही दुर्ज्ञेय बन गयी है। शाकपूणिने उभयलिङ्गी देवताका परिचय प्राप्त करना चाहा। अर्थात् यहाँ कौन देवता है इसका निर्णय करना चाहा। किन्तु देवताकी ओरसे उसे जो उत्तर मिला है वह एकदम दुरूह है। 'साऽस्मा एतामृचमादिदेश, एषा मद्देवतेति।' उसने शाकपूणिको इस 'अयं स शिङ्क्ते' आदि ऋचाकी ओर संकेत किया और बतलाया कि इस ऋचाका देवता मैं हूँ। पर इस उत्तरसे न शाकपूणिकी जिज्ञासा निवृत्त हुई होगी और न हमारी जिज्ञासा शान्त हो रही है। अलङ्कार-निर्वाहकी धुनमें तथ्य कहाँ कितने पीछे रह गया है इसका आभास ग्रन्थकारको नहीं रहा, इसलिए यहाँका विषय अब भी अस्पष्ट रहस्य बना हुआ है। सूक्तके आरम्भमें मंत्रोंके देवताओंकी जो सूची दी गयी है उसके अनुसार इस मंत्रके देवता 'विश्वेदेवाः' हैं। परन्तु इस प्रकृत संवादसे उसके परिज्ञानमें कोई सहायता नहीं मिलती है।

मंत्रकी द्विविध व्याख्या

ऊपर हम कह चुके हैं कि यह मंत्र ऋग्वेदके 'अस्य वामस्य सूक्त'के नामसे प्रसिद्ध दार्शनिक सूक्त [ऋ० १-१६४] से लिया गया है। इसके पूर्व पिछले खण्डमें उद्धृत 'य ईं चकार' आदि मंत्र भी उसी सूक्तसे लिया गया था। इस मंत्रकी दो प्रकारसे व्याख्या की गयी थी। एक नैरुक्त मतसे वृष्टिपरक व्याख्या थी और दूसरी परिव्राजकोंके अनुसार आध्यात्मिक या दार्शनिक व्याख्या थी। यह मंत्र भी उसी प्रसङ्गमेंसे, उसी सूक्तसे लिया गया है, इसलिए इसकी भी दोनों प्रकारकी व्याख्याएँ होनी चाहिये। यास्कने यहाँ केवल वृष्टि-परक एक व्याख्या दी है। यह वृष्टिपरक व्याख्या पूर्व मन्त्र 'य ईं चकार'की व्याख्याके समान नैरुक्त मतानुसारिणी व्याख्या है। पर इसकी दूसरी दार्शनिक व्याख्या भी होनी ही चाहिये। यास्क उसे किसी कारणवश नहीं दे सके हैं, इसलिए हम उसकी पूर्ति कर रहे हैं।

आध्यात्मिक अर्थ

यह सूक्त ऋग्वेदका सबसे महत्त्वपूर्ण 'आध्यात्मिक' सूक्त है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृतिरूप तत्त्वत्रयका प्रतिपादन करनेवाला 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' आदि प्रसिद्ध मंत्र इसी सूक्तमें आया है [१-१६४-२०]। जीवात्माकी नित्यता और कर्मसिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला 'अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः' इत्यादि [१-१६४-३०] मंत्र भी इसी सूक्तमें आया है। 'अयं स शिङ्क्ते' इत्यादि [१-१६४-२९] मंत्र भी जीवात्म-सम्बन्धी इसी मंत्रके पासका मंत्र है। अतः इसमें जीवात्माका वर्णन होना स्वाभाविक है।

इसमें जीवात्माका वर्णन है और उसे ही शरीर द्वारा होनेवाले शब्द-व्यापारका प्रयोजक बतलाया गया है। 'अयं स शिङ्क्ते'में 'अयं' तथा 'सः' दोनों पदोंका सहप्रयोग 'सोऽयं शैलः ककुभसुरभिः' आदिके समान अत्यन्त प्रसिद्धार्थकताका सूचक है। 'अयं स शिंक्ते'—वह प्रसिद्ध जीवात्मा ही शरीरके भीतर 'शिङ्क्ते' शब्दव्यापारको प्रेरित करता है। 'येन अभीवृता' जिसके द्वारा प्रेरित हुई 'ध्वंसने अधिश्रिता' हृदयाकाशमें स्थित 'गौ' वायु या मध्यमा वाक् 'मायुं मिमाति' वैखरीरूप वाक् या स्थूल श्रोत्रग्राह्य शब्दको उत्पन्न करती है। 'सा' वह स्थूल शब्दरूप वैखरी वाक् 'चित्तिभिः' अपने नानाविध व्यापारों द्वारा 'मर्त्यं नि हि चकार' साधारण मानवोंको अभिभूत आश्चर्यान्वित कर देती है। और वह स्थूल शब्दरूप वैखरी वाक् 'विद्युद्भवन्ती' विद्युत्के रूपमें परिणत होकर 'वव्रिम्' अपने स्थूल श्रोत्रग्राह्य रूपको 'प्रत्यौहत' विलीन कर देती है।

यह इस मंत्रका अर्थ है। उसके भीतर मध्यमा तथा वैखरी वाक्का जो महत्त्व दिखलाया है वह शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक प्रक्रियाके सर्वथा अनुरूप है। विज्ञान-सिद्धान्तके अनुसार शब्द विद्युद्धाराके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। टेलीफोन, रेडियो आदिका आविष्कार इसी आधारपर हुआ है। 'विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत'से वेद-मंत्रने इसी मौलिक सिद्धान्तको सूचित किया है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप चार प्रकारकी वाक्का जो विवेचन व्याकरण शास्त्रादिमें किया गया है उसका आधार भी इस मंत्रमें पाया जाता है। इस

[१०]

तृतीयः पादः

हिरण्यनामानि उत्तराणि पञ्चदश।

हिरण्यं कस्मात्, ध्रियते आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जना-

तृतीय पाद

[१०]

इसके बाद [अर्थात् निघण्टुमें पृथिवीके २१ नामोंके बाद पड़े हुए] पन्द्रह नाम सोनेके हैं।

'हिरण्य' [शब्द] किस [कारण अथवा किस धातु] से [बनता है। इसका उत्तर देनेके लिए 'हिरण्य' शब्दका निर्वचन करते हैं] १ [सोनेका तार खींचते समय] विस्तारित किया जाता हुआ [दूर तक] ले जाया जाता है, अथवा २[व्यवहारमें] एक आदमीसे दूसरे आदमी-के पास ले जाया जाता है [इन दोनों अर्थोंमें 'हृञ् हरणे' धातुसे

प्रकार इस मंत्रमें वाणीका महत्त्व तो दिखलाया ही है, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व उस आत्मतत्त्वका है 'येन अभीवृता' जिसके द्वारा प्रेरित होकर गौ मध्यमा वाक् 'मायुं' वैखरी वाक्को 'मिमाति' 'निर्माति' उत्पन्न करती है।

मंत्रका यह दूसरा आध्यात्मिक अर्थ कितना सुन्दर और शास्त्रीय वैज्ञानिक अर्थ है। पर यास्कने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। वे मंत्रका बहुत मोटा-सा सीधा-सादा अर्थ करके सन्तुष्ट हो गये हैं। यदि उन्होंने इस शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक अर्थको खोलकर दिखलाया होता तो निश्चय ही उनकी कीर्ति एवं इस निरुक्त ग्रन्थमें चार-चाँद लग गये होते।

यह द्वितीय अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त हुआ।

सुवर्णके पन्द्रह नाम

१ हेम, २ चन्द्रम्, ३ रुक्मम्, ४ अयः, ५ हिरण्यम्, ६ पेशः, ७ कृशनम्, ८ लोहम्, ९ कनकम्, १० कांचनम्, ११ भर्म, १२ अमृतम्, १३ मरुत्, १४ दत्रम्, १५ जातरूपम् इति पञ्चदश हिरण्यनामानि।

ज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा। हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।

अन्तरिक्षनामानि उत्तराणि षोडश।

अन्तरिक्षं कस्मात्, अन्तरा क्षान्तं भवति। अन्तरा इमे इति वा। शरीरेष्वन्तः अक्षयमिति वा ॥१०॥

हिरण्य शब्द सिद्ध होता है] अथवा ३ हितकर तथा रमणीय होता है। अथवा ४ हृदयको लुभानेवाला होता है [इन अर्थोंमें हितपूर्वक 'रम' अथवा हृदयपूर्वक रम धातुसे लोप, आगम, वर्णविकार आदि द्वारा 'हिरण्य' शब्दकी सिद्धि होती है]। अथवा ५ ['हर्य गतिकान्त्योः' धातुको अनेकार्थ-सिद्धान्तके अनुसार] इच्छार्थक [मानकर] 'हर्य' धातुसे] 'हर्यतेः कन्यन् हिरच'उणादि ५-७३२ सूत्रसे 'कन्यन्'-प्रत्यय तथा धातुको 'हिरच' आदेश होकर 'हिरण्य' शब्द सिद्ध होता है।

इसके बाद [निघण्टुमें पढ़े हुए] सोलह नाम अन्तरिक्षके हैं।

अन्तरिक्ष [शब्द] कैसे [बनता है, इसका उत्तर देनेके लिए उसका निर्वचन करते हैं। क्योंकि वह द्यावा और पृथिवीके] मध्यमें व्याप्त रहता है अथवा इन [द्यावा-पृथिवी]के बीचमें [क्षय निवास] होनेसे, अथवा ३ शरीरोंके भीतर रहने तथा अविनाशी होनेसे अन्तरिक्ष शब्दसे कहा जाता है] ॥१०॥

अन्तरिक्षके सोलह नाम

१ अम्बरम्, २ वियत्, ३ व्योम, ४ बर्हिः, ५ धन्व, ६ अन्तरिक्षम्, ७ आकाशम्, ८ आपः, ९ पृथिवी, १० भूः, ११ स्वयम्भूः, १२ अध्वा, १३ पुष्करम्, १४ सगरः, १५ समुद्रः, १६ अध्वरम् इति षोडश अन्तरिक्षनामानि।

१ पृथिवी, २ सुवर्ण तथा ३ अन्तरिक्ष इन तीनके नामोंकी व्याख्या यहाँतक की गयी है, पर सबमें एक दो नामोंका ही निर्वचन किया है, सबका नहीं॥१०॥

[११]

तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात्, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा। तयोर्विभागः।

---

[११]

उन [अन्तरिक्षके १६ नामों] मेंसे 'समुद्र' यह नाम [अन्तरिक्ष तथा सागर दोनोंका वाचक होनेके कारण] पार्थिव समुद्रके साथ सन्देहको उत्पन्न करनेवाला हो सकता है। [उस अन्तरिक्ष तथा सागर दोनों अर्थोंमें समुद्र शब्दका प्रयोग दिखलानेके पूर्व समुद्र-शब्दका निर्वचन करते हैं]। समुद्र [शब्द कैसे] बनता या क्यों प्रयुक्त होता है। इसका उत्तर निर्वचन द्वारा करते हैं] क्योंकि १ इसकी ओर [अर्थात् पार्थिव समुद्रकी ओर] जल बहकर [अथवा अन्तरिक्षकी ओर वाष्प बनकर आते हैं] अथवा २ इसके भीतर [अर्थात् पार्थिव समुद्रके भीतर जलचर तथा अन्तरिक्षके भीतर नभश्चर] प्राणी आह्लादित होते हैं। [सम् अभिपूर्वक द्रु धातुसे 'ड' प्रत्यय करके और अभिके स्थानपर 'उत्'का प्रयोग करके 'समुद्र' शब्द प्रथम निर्वचनके पक्षमें बनता है। सम्पूर्वक मुद-धातुसे उणादि [२-१७०] सूत्रसे रक्-प्रत्यय करके 'समुद्र' शब्द दूसरे निर्वचनके पक्षमें बनता है]। अथवा ३ प्रचुर जलवाला होता है [सम्-पूर्वक उदकसे 'ऊष-सुषि-मुष्क-मधो रः' [अष्टा० ५-२-१०७] से विहित 'र' प्रत्यय, बाहुलक विधि द्वारा करके 'समुद्र' शब्द बनता है] अथवा ४ [दोनों ही जलोंसे] भिगोते हैं [इसलिए सम+उन्द+र='समुद्र' पद बनता है]। [इस प्रकार 'समुद्र' शब्द अन्तरिक्ष तथा सागर दोनोंका वाचक होता है इसलिए] उन दोनोंका विभाग [समझ लेना चाहिये]।

तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयान् अभिषेचयांचक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वयाचरितः, ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्, तस्मात् ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्ते असानि याजयानि च त्वा इति। तस्य एतद् वर्षकामसूक्तम्।

उस [मन्त्रका अर्थ समझने] के विषयमें ['इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' इस सिद्धान्तके अनुसार कल्पित]इतिहासको कहते हैं—ऋष्टिषेणके पुत्र 'देवापि' तथा 'शन्तनु' नामके कुरु-वंशमें उत्पन्न दो भाई थे। उनमें छोटे भाई 'शन्तनु' ने [बड़े भाईकी उपेक्षा करके] अपना अभिषेक करा लिया। [और बड़ा भाई] 'देवापि' तपस्या करने लगा। तब शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षतक वृष्टि नहीं हुई। तब ब्राह्मणोंने उससे कहा कि तुमने बड़े भाईको छोड़कर अपना अभिषेक करा लिया यह बड़ा अधर्म किया है। इसलिए तुम्हारे राज्यमें वर्षा नहीं होती है। तब उस शन्तनुने 'देवापि'से ['शिशिक्ष राज्येन'] राज्य लेनेकी प्रार्थना की। [उत्तरमें] 'देवापि'ने उससे कहा कि मैं तुम्हारा पुरोहित होकर तुमसे यज्ञ कराऊँगा [उससे ही वृष्टि होगी] उसका वर्षाकी कामनावाला यह सूक्त है।

संशय-जनक समुद्रशब्द

'समुद्र' शब्दका दोनों अर्थोंमें प्रयोग दिखलानेके लिए अगला मन्त्र उद्धृत करेंगे। पर उसके पूर्व ऐतिहासिक पक्षको माननेवाले व्याख्याकारोंके अनुसार उसका इतिहास दिखलाते हैं—'तत्रेति०' इत्यादि।

तस्यैषा भवति—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि ॥

[ऋ० १०-९८-५]

'आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः । इषितसेनस्येति वा । सेना सेश्वरा, समानगतिर्वा । पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा, पुं नरकं

उस [दशम मण्डलके ९८वें वर्षकाम सूक्त]की यह ऋचा है—

ऋष्टिषेणका पुत्र 'देवापि' ['यज्ञ द्वारा प्रसन्न हुए देवता वृष्टिको अवश्य करेंगे इस प्रकारकी 'देवसुमति'] देवताओंकी शुभ भावनाको [चिकित्वान् चेतनावान्] समझता हुआ, यज्ञमें बैठा [होत्रं निषीदन्] और उसने ऊपरके समुद्र [अर्थात् अन्तरिक्ष]से दिव्य वर्षाके पानीको सब ओरसे नीचेके समुद्रकी ओर प्रवाहित किया ।

'आर्ष्टिषेण' अर्थात् 'ऋष्टिषेण'का पुत्र । अथवा इषितसेनका ['पुत्र आर्ष्टिषेण कहा गया है। 'ऋष्टि' अस्त्र-विशेषका नाम है। ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य स ऋष्टिषेणः अथवा इषिता सेना यस्य स ऋष्टिषेणः । 'इन' शब्दका अर्थ 'स्वामी' है । इन—स्वामी—के सहित विद्यमान होनेसे] सेना, नेता [सेनापतिसे युक्त होनेसे] अथवा समानगतिवाली होनेसे [इस पक्षमें 'इन'का अर्थ 'गति' है । 'इण गतौ' धातुसे 'इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक्' उणादि ३-२८२ सूत्रसे 'नक्' प्रत्यय होकर 'इन' शब्द सिद्ध होता है] । पुत्र [शब्द] अत्यन्त रक्षा करनेवाला होनेसे [पुत्र नामसे कहा जाता है] । अथवा नितान्त पालक['पृ पालनपूरणयोः'] होने अथवा 'पुं' नाम 'नरक'का है उससे बचानेसे [पुत्र कहलाता है । उणादिमें 'पुवः ह्रस्वश्च'(४-६०४) सूत्रसे

यह मंत्रका शब्दार्थ है । आगे यास्क उसकी व्याख्या स्वयं अपने शब्दोंमें करते हैं—'आर्ष्टिषेणः' इत्यादि ।

ततस्त्रायत इति वा। होत्रं ऋषिर्निषीदन्। ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः।

'तद्यदेतांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत् तद् ऋषयो अभवन् तदृषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।'

देवापि-र्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च। देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिम्। चिकित्वांश्चेतनावान्। स उत्तरस्माद्-धरं समुद्रम्। उत्तर उद्धततरो भवति। अधरः अधोऽरः। अधो न धावति इत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा ॥११॥

'पूञ् पवने' धातुसे क्त्र प्रत्यय तथा धातुके 'ऊ'को ह्रस्व करके पुत्र शब्दकी सिद्धि की गयी है]। यज्ञमें बैठते हुए ऋषिने। सूक्ष्म अर्थोंको देखनेवाला होनेसे ['ऋषी गतौ' धातुको दर्शनार्थक मानकर] ऋषि [कहलाता है]। [ऋषियोंने] स्तोमोंको देखा [इसलिए 'ऋषि' कहलाते हैं]। यह उपमन्युके अनुयायी कहते हैं।

'जो इन तपस्या करने वालोंके पास स्वयं उत्पन्न [अर्थात् नित्य] वेद[का अर्थ] पहुँचा उसीसे ये ऋषि हुए। यही ऋषियोंका ऋषित्व है' [तैत्तिरीय आरण्यक २-९ में] पाया जाता है ऋषि-शब्दका निर्वचन।

स्तुति या [हविके] प्रदानसे देवताओंको प्राप्त होनेके कारण 'देवापि' है। 'देवसुमतिं' अर्थात् देवताओंकी शुभ-भावनाको। 'चिकित्वान्' अर्थात् जानता हुआ। उसने ऊपरके समुद्रसे [अर्थात् अन्तरिक्षसे] नीचेके समुद्रको। 'उत्तर' अर्थात् बहुत ऊँचा। 'अधर' अर्थात् नीचेकी ओर गया हुआ। ['न धावति इति अधः'] न दौड़नेसे ऊपरकी ओर गतिका निषेध किया है। [अर्थात् ऊपरकी ओर न दौड़नेसे 'अधः' कहलाता है] ॥११॥

स्तोमों या मंत्रोंके द्रष्टा होनेसे 'ऋषि' कहलाते हैं। यह 'ऋषि' शब्दका विवेचन ऊपर किया है। इसके समर्थनके लिए है तैत्तिरीय आरण्यकका वचन ग्रन्थकारने प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है। उसका अर्थ ऊपर दिया गया है।

[१२]

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय–

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् । देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

[ऋ० १०-९८-७]

शन्तनुः शं तनो अस्तु इति वा, शंम् अस्मै तन्वा अस्त्विति वा । पुरोहितः पुर एनं दधति । होत्राय वृतः कृपायमाणो अन्व-

---

[१२]

इसी [विषय]को अधिक स्पष्ट करनेवाली अगली [ऋचा] है–

जब 'देवापि'ने 'शन्तनु'का पुरोहित होकर यज्ञके लिए [होताके रूपमें] वरण होकर कृपापूर्वक [उसके अनावृष्टि-दुःखको दूर करनेके निमित्त देवताओंका] ध्यान किया तो वृष्टिकी याचना करनेवाले और देवता जिस [की प्रार्थना]को अवश्य सुनते हैं इस प्रकारके 'देवापि'को ['रा दाने'से 'रराणः' अर्थात्] अतिशय वृष्टिको देते हुए बृहस्पति [ब्रह्मा]ने इस [देवापि]को वाणी दी । अर्थात् उत्तर दिया या बतलाया ।

[शन्तनु किसी रोगीके शरीरको देखकर कहता है कि हे तनो] हे शरीर, तुम्हारा कल्याण हो [इसलिए उसका नाम 'शन्तनु' है] अथवा इसको शरीरसे कल्याण [की प्राप्ति] हो [ऐसा कहनेसे 'शन्तनु' नाम है] । 'पुरोहित' जिसको [यज्ञादि कार्योंमें] आगे रखा जाता है [मुख्य स्थान दिया जाता है] । यज्ञके लिए [अथवा 'होत्राय' होताके कार्यके लिए [वृतः] वरण किये हुए [देवापि] ने शन्तनुके

यह मन्त्रका शब्दार्थ है । आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करते हैं—'शन्तनुः' इत्यादि ।

ध्यायत् । देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति । वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनम् । रराणो रातिरभ्यस्तः । बृहस्पतिः ब्रह्मा आसीत् । सोऽस्मै वाचमयच्छन् । बृहदुपव्याख्यातम् ॥१२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

ऊपर] कृपा करते हुए [देवताओंका] ध्यान किया ।'देवश्रुतम्' अर्थात् देवता जिसको [अर्थात् जिसकी प्रार्थनाको अवश्य] सुनते हैं। 'वृष्टिवनिं' अर्थात् वृष्टिकी याचना करनेवाले [देवापि] को । 'रराणः' [इस प्रयोगमें] 'रा' धातु' [अर्थात् 'रा दाने' धातु अतिशय अर्थके द्योतनके लिए] द्वित्व किया हुआ ['अभ्यस्त रूपमें प्रयुक्त हुआ] है । बृहस्पति [उस यज्ञमें] ब्रह्मा था [देवापि होता था । 'होत्राय वृतः' अर्थात् होताके कार्यके लिए ही उसका वरण किया गया था] स [बृहस्पति या ब्रह्मा]ने इस [देवापि] को वाणी दी [अर्थात् किन सूक्तोंको पढ़कर देवताओंकी स्तुति करनेसे यज्ञमें सफलता हो सकती है, यह देवापिको ब्रह्मा बृहस्पतिने बतलाया]।

यह प्रकरण निरुक्तका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। यास्कने इस प्रकरणकी इतिहास-परक व्याख्या की है। यास्ककी इस ऐतिहासिक व्याख्याने इस प्रकरणको और भी अधिक विवादग्रस्त एवं विवेचनीय विषय बना दिया है। अन्तरिक्षके १६ नामोंमें एक 'समुद्र' नाम भी आता है। यह 'समुद्र' पार्थिव 'समुद्र'का वाचक भी है। इसलिए कहीं-कहीं सन्देहजनक हो सकता है। किन्तु ऋग्वेदमें इन दोनों अर्थोंमें 'समुद्र' शब्दका अलग-अलग प्रयोग होता है ऐसा विभाग स्पष्ट है। इस विभागको दिखलानेके लिए यास्कने यहाँ ऋग्वेदके दशम मण्डलके ९८ वें सूक्तसे दो मंत्र उद्धृत किये हैं। इनमेंसे केवल पहिले मंत्रके उत्तरार्द्ध भाग "स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि।" का प्रकृतमें उपयोग है। क्योंकि उसमें 'उत्तर समुद्र' अर्थात् ऊपरवाले समुद्र [अन्तरिक्ष] तथा 'अधर समुद्र' अर्थात् नीचेवाले पार्थिव समुद्र दो प्रकारके

समुद्रोंका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेदमें अन्तरिक्ष एवं पार्थिव समुद्र दोनोंके लिए 'समुद्र' शब्दका प्रयोग होता है। प्रकृत प्रकरणकी दृष्टिसे इतनी ही बात यहाँ अपेक्षित है।

किन्तु यास्कने यहाँ एक नहीं दो मंत्र उपस्थित किये हैं। उनका प्रयोजन इन मन्त्रोंके भीतर एक ऐतिहासिक उपाख्यानके साथ सम्बन्ध दिखलाना है। मंत्रोंके शब्दोंको देखनेसे साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसके भीतर सच-मुच एक ऐतिहासिक उपाख्यानकी चर्चा की जा रही है। किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। इन मंत्रोंके भीतर देवापि और शन्तनु नामक किन्हीं राजाओं या ऋषियोंकी कथा खोजना वेदके गौरवके नितान्त प्रतिकूल है। फिर यदि यास्क जैसे विद्वान् ऐसा करने लगे तब तो "बारी खेत खाय तौ उपाय कहा करिये" वाली कहावत चरितार्थ होने लगेगी। मीमांसासूत्रकार जैमिनि तथा भाष्यकार शबरस्वामी आदिने वेदमें अनित्य इतिहास माननेवाले सिद्धान्तका खण्डन बड़े विस्तारके साथ किया है। और ऐसे स्थलोंपर जहाँ कि अन्य लोग इतिहासपरक अर्थ निकालते हैं इन विद्वानोंने उनके प्रतीकात्मक आलङ्कारिक अर्थ करनेका सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसके लिए उन्होंने रूढ़ संज्ञाओं या व्यक्तिवाचक नामके रूपमें प्रतीत होनेवाले सभी वैदिक शब्दोंको 'यौगिक शब्द' माना है। यह उनका एक 'गुरु' है जिसके आधारपर वे इस प्रकारके प्रत्येक स्थलपर किसी अनित्य इतिहासके बदले किसी नित्य तत्त्वको खोज निकालते हैं।

निरुक्तमें भी यही सिद्धान्त है। यास्क प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादमें [पृष्ठ ८१] 'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।' इस स्थलपर इस सिद्धान्तका प्रतिपादन कर चुके हैं। किन्तु खेदकी बात है कि वे अपने उस लेखको यहाँ आकर भूल गये हैं और मंत्रों में आये हुए 'देवापि', 'शन्तनु' आदि शब्दोंको वे किसी विशेष व्यक्तिके वाचक रूढ शब्दके रूपमें ले बैठे हैं। उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया कि यह स्वयं अपने सिद्धान्तके विपरीत, वेदोंके गौरवको ध्वस्त करनेवाला और अनर्थजनक कार्य है।

यास्क इन मंत्रोंमें जिन 'देवापिश्च शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः।' कौरव भ्राताओंकी कथा खोज रहे हैं वे महाभारतमें युधिष्ठिर एवं दुर्योधन

आदिके पितामह और भीष्म पितामहके जनक हैं। महाभारतके उपाख्यानके अनुसार देवापि तथा शन्तनु राजा प्रदीपकी सन्तान हैं। शन्तनुके भीष्म (देवव्रत), चित्राङ्गद एवं विचित्रवीर्य हुए। विचित्रवीर्यके पाण्डु तथा धृतराष्ट्र और उनकी सन्तान कौरव तथा पाण्डव हुए। यदि यास्कके अनुसार इन्हीं देवापि तथा शन्तनुका वर्णन इन मंत्रोंमें माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि ऋग्वेदकी, या कमसे-कम ऋग्वेदके इन मंत्रों या सूक्तकी रचना महाभारत-कालके लगभग हुई। किन्तु यह बात सर्वथा असम्भव है। महाभारतके युद्धके पूर्व ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और धर्मसूत्र तथा शिक्षा, कल्प आदि समस्त वेदाङ्गोंकी रचना हो चुकी थी। कृष्णकी गीता, जो महाभारतका एक अंश है, उपनिषदोंका सार है। महाभारत और गीतामें स्थान-स्थानपर वेदोंकी महिमाका वर्णन मिलता है। ऐसी दशामें ऋग्वेदके मंत्रोंमें भीष्मजीके पिता 'शन्तनु' और उनके ताऊ 'देवापि'की कथाकी चर्चा समझना कितना बड़ा अन्याय और अनर्थ है यह बात सहज ही समझमें आ जाती है। जो लोग वेदोंको नित्य नहीं मानते, ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते और उनके प्रति श्रद्धावान् नहीं हैं वे भी ऋग्वेदको कमसे-कम विश्व-साहित्यकी सबसे प्राचीन पुस्तक तो मानते ही हैं। उसके भीतर इतनी उत्तरवर्ती घटनाका उल्लेख कैसे न्यायसङ्गत ठहराया जा सकता है। वह भी यास्ककी कलमसे हो यह तो जलेपर नमक छिड़कना है। 'क्षते क्षारमिवासह्यं जात-मेतस्य दर्शनम्।'

वास्तवमें इन मन्त्रोंमें 'अपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि' वृष्टिप्रक्रियाका वर्णन है और उसमें सबसे प्रधान भाग 'देवापि'का है। वही वृष्टिका मुख्य कारण है। 'देवापि' पद किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं है। वह यौगिक' शब्द है। देवताओंको प्राप्त करनेवाला 'मध्यम अग्नि' अर्थात् विद्युत् ही यहाँ 'देवापि' पदसे अभिप्रेत है। वेदमें ही अन्यत्र 'अग्निं दूतं पुरोदधे'[ऋ० ८-४४-३] में अग्निको देवताओंका दूत और 'पुरोहित' कहा गया है। वही 'देवानासादयादिह' देव-ताओंको प्राप्त करानेवाला 'देवापि' है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्'[ऋ० १-१-१] में अग्निको स्पष्ट ही पुरोहित माना गया है और यहाँ भी 'देवापि' को 'पुरोहित' कहा गया है। अतः मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् ही यहाँ 'देवापि' पदसे अभि-प्रेत है। उसको मन्त्रमें 'ऋषि' कहा गया है। 'ऋषिर्दर्शनात्' वह समस्त जगतको

दिखलानेवाला, सारे जगत्का प्रकाशक है। इसीलिए उसके साथ ऋषि-विशेषण जोड़ा गया है। मन्त्रमें 'देवापि'का एक विशेषण जोड़ दिया गया है, वह है 'आर्ष्टिषेणः'। इसका अर्थ है 'ऋष्टिषेणस्य पुत्रः।' यास्कने जिस 'देवापि'की चर्चा की है वह 'ऋष्टिषेणका पुत्र नहीं है। 'देवापि'के पिताका नाम 'प्रतीप' है। 'ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य स ऋष्टिषेणः' इस प्रकारका निर्वचन करके 'ऋष्टिषेण' विशेषणकी 'राजा 'प्रतीप' के साथ सङ्गति लगाना और भी उपहासास्पद है। जब आप मुख्य पद 'देवापि' को एक व्यक्तिविशेषका वाचक रूढ़ पद मान रहे हैं तब उसके विशेषण 'आर्ष्टिषेण'को यौगिक पद मान कर सङ्गतिं लगानेका क्या तुक है। इसलिए यास्क अपने 'देवापि'के पक्षमें इस 'आर्ष्टिषेणः'की सङ्गति लगानेमें सफल नहीं हुए हैं। मध्यम अग्नि या विद्युत् पक्षमें न केवल 'देवापि' पद ही सङ्गत होता है, अपितु उसका 'आर्ष्टिषेणः' विशेषण भी सुसङ्गत होता है। इस पक्षमें उसका 'ऋष्टिप्रधाना सेना यस्य स ऋष्टिषेणः। तस्यापत्यं आर्ष्टिषेणः।' यह अवयवार्थ पूर्णतया चरितार्थ हो जाता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'ऋष्टिषेण' नाम है मरुद्गण या वायुका। मरुद्गण वस्तुतः 'ऋष्टिषेण' हैं इस बातका समर्थन स्वयं ऋग्वेदका मंत्र 'विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः' [ऋ० ३-५४-१३] कर रहा है। इसके आधारपर यह निर्विवादरूपसे कहा जा सकता है कि 'ऋष्टिषेण' यहाँ 'मरुद्गण' या वायुका वाचक वैदिक शब्द है। वह 'ऋष्टिषेण' वायु 'पवन' स्वभावतः आगको, अग्निको प्रज्वलित करनेवाला, 'वायोरग्निः'के अनुसार अग्निको उत्पन्न करनेवाला तथा मध्यम अग्नि 'विद्युत्'का भी जनक है। इसलिए यहाँ जो 'मध्यम अग्नि' अर्थात् विद्युत्को 'ऋष्टिषेण' मरुद्गणका पुत्र 'आर्ष्टिषेण' कहा है, वह सर्वथा उचित ही है।

मंत्रोंमें मुख्य समस्या इन्हीं 'देवापिः' तथा 'आर्ष्टिषेणः' पदोंके समन्वयकी है। उसका हल हो जानेपर शेष पदोंका समन्वय सहज ही किया जा सकता है। वह 'देवदूत' है इसलिए 'देवसुमतिं' चिकित्वान्' देवताओंकी सुमतिको समझनेवाला भी है ही। इस प्रकार यहाँ उद्धृत किये हुए प्रथम मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार किया जा सकता है—

'ऋष्टिषेण' अर्थात् मरुद्गणसे उत्पन्न [आर्ष्टिषेण] और देवताओंकी सुमति कल्याणीमतिको जाननेवाले [देवसुमतिं चिकित्वान्] 'ऋषि' सबको प्रकाशित

करनेवाले 'देवापि' अर्थात् मध्यम [वैद्युत] अग्निने [होत्रं निषीदन्] वृष्टियज्ञके लिए समुद्यत होकर ऊपरवाले समुद्र अर्थात् अन्तरिक्षमेंसे दिव्य वृष्टिजलको नीचेवाले समुद्रकी ओर प्रवाहित किया।

दूसरे मंत्रमें 'शन्तनवे' का अर्थ ऐतिहासिक पक्षमें 'शन्तनु राजाके लिए' किया है, किन्तु यह चतुर्थ्यन्त पद यहाँ 'होत्राय' का विशेषण है। 'शन्तनवे होत्राय' अर्थात् 'शान्तिका विस्तार करनेवाले वृष्टियज्ञके लिए' यह अधिक उपयुक्त अर्थ है। 'अदीधेत्' का अर्थ भी ऐतिहासिक पक्षमें 'अन्वध्यायत्' किया है। वह भी ठीक नहीं है। यह स्पष्ट ही 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' धातुका रूप है, अतः 'यद् देवापिः अदीधेत्' का अर्थ 'जब मध्यम अग्नि या विद्युत् चमकी' होना चाहिए, किन्तु ऐतिहासिक पक्षने तो जब 'देवापि' को एक व्यक्तिविशेष मान लिया है तब उनके लिए 'अदीधेत्' का अर्थ 'अन्वध्यायत्' करना आवश्यक हो गया था। औचित्यकी उन्हें चिन्ता नहीं थी।

ऐतिहासिक पक्षने जो दुर्दशा मंत्रमें आये हुए 'अदीधेत्' पदकी की है वही स्थिति मंत्रके 'रराणः' पदकी भी कर डाली है। जैसे 'अदीधेत्' पद स्पष्टरूपमें 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' धातुका रूप है, 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुसे उसका साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी ऐतिहासिक पक्षने 'देवापि' नामक व्यक्तिविशेषके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिए उसे 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुसे बनाकर उसका अर्थ 'अन्वध्यायत्' कर डाला है। इसी प्रकारका अन्याय उन्होंने 'रराणः' पदके साथ भी किया है। 'रराणः' पद स्पष्ट ही शब्दार्थक 'रण धातु' का रूप है। किन्तु पूर्वोक्त ऐतिहासिक पक्षने 'रातिरभ्यस्तः' लिखकर उसे 'रा दाने' धातुसे बनाया है। इस अनर्थका कारण यह है कि उन्होंने 'बृहस्पति'को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेषका वाचक रूढ़ शब्द माना है। और उसके साथ वृष्टिप्रदान-का सम्बन्ध समझ कर उन्होंने 'अतिशय वृष्टिको देनेकी इच्छावाले बृहस्पतिने' यह अर्थ किया है। पर विचार करके देखें तो 'बृहस्पति' का तो वृष्टिदानसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह कार्य तो मुख्यतः 'इन्द्र' का है। 'वरुण' से भी उसका सम्बन्ध माना जा सकता है। किन्तु वृष्टिका 'बृहस्पति'के साथ तो दूरका भी कोई सम्बन्ध नहीं है। [किन्तु 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'के अनुसार जब वे 'देवापि', 'शन्तनु' और 'बृहस्पति' पदोंको किसी व्यक्तिविशेष-

के वाचक रूढ़ शब्द माननेकी भूल कर बैठे हैं। तब 'अदीधेत्' तथा 'रराणः' 'पदोंका अनर्थ करना भी उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक था।

कृप धातु तीन हैं–१. 'कृप दौर्बल्ये' चुरादि। २. 'भुवोऽवकल्कने', 'कृपेश्च'से अवकल्कन अर्थमें णिच् करनेपर जिसका 'कल्पयति' रूप बनता है। अवकल्कनं मिश्रीकरणम् इत्येके। चिन्तनमित्यन्ये। अर्थात् 'अवकल्कन'का कोई मिलाना अर्थ करते हैं और कोई चिन्तन करना। और ३. 'कृपू सामर्थ्ये' भ्वादि०।

ऐतिहासिक पक्षमें 'अदीधेत्' और 'रराणः' पदोंकी सी ही दुर्दशा 'कृपयन्' पदकी भी की गयी है। 'कृपयन्' का अर्थ वहाँ 'कृपायमाण' किया है। क्योंकि उन्हें 'देवापिः कृपयन् अदीधेत्' का अर्थ 'देवापिने कृपापूर्वक ध्यान किया' यह निकालना था तभी उनका ऐतिहासिक उपाख्यान बनता था, इसलिए उन्होंने अपनी इच्छाके अनुसार वैसा अर्थ कर डाला है। वास्तवमें 'कृपयन्' पद 'कृपू सामर्थ्ये' धातुसे बना है। नित्य तत्त्वके प्रतिपादक पक्षमें 'यद् देवापिः कृपयन् अदीधेत्' का अर्थ 'जब मध्यम अग्नि [विद्युत्] शक्तिशाली रूपमें चमका' यह होता है। यहाँ 'यत्' शब्द 'यदा' के अर्थमें है। 'जब बिजली चमकी तब क्या हुआ? इसका उत्तर 'रराणः बृहस्पतिर्वाचमस्मै अयच्छत्' इस उत्तरार्ध भागमें दिया गया है। जब बिजली जोरसे चमकती है तो उसके तुरन्त बाद ही मेघ-गर्जन-का प्रचण्ड शब्द सुनायी देता है। शब्दकी अपेक्षा प्रकाशकी गति तीव्र है इसलिए विद्युत्की चमक पहिले दिखलायी देती है और मेघका गर्जन बादको सुनायी देता है। इसी नित्य, वैज्ञानिक तत्त्वका प्रतिपादन इस मंत्रमें किया गया है।

देवापि और शन्तनुके सम्बन्धी ये मंत्र ऋग्वेदके दशम मण्डलके ९८ सूक्तसे लिये गये हैं। उस सूक्तमें कुल १२ मंत्र हैं। पहले ४ मंत्रोंमें बृहस्पतिकी स्तुति है, दूसरे ४ मंत्रोंमें देवापि द्वारा वृष्टिका वर्णन है और अन्तिम चार मंत्रोंमें अग्निकी स्तुति है। इस पूरे सूक्तके मंत्रोंको पूर्वोक्त रीतिसे ३ खण्डोंमें विभाजित कर हम नीचे दे रहे हैं।

(१)

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय ॥१॥
आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान्त्वद्देवापे अभि मामगच्छत्।
प्रतीचीनः प्रति मामा ववृत्स्व दधामि ते द्युमतीं वाचमासन् ॥२॥

अस्मे धे॑हि द्यु॒मतीं॒ वाचं॑मा॒सन्बृह॑स्पते अनमी॒वामि॑षि॒राम् ।
यया॑ वृ॒ष्टिं शन्त॑नवे॒ वना॑व दि॒वो द्र॒प्सो मधु॑माँ॒ आवि॑वेश ॥३॥
आ नो॑ द्र॒प्सा मधु॑मन्तो विश॒न्त्विन्द्र॑ दे॒ह्यधि॑रथं स॒हस्र॑म् ।
नि षी॑द हो॒त्रमृ॑तु॒था य॑जस्व दे॒वान्दे॑वापे ह॒विषा॑ सपर्य ॥४॥

(२)

आर्ष्टि॑षे॒णो हो॒त्रमृषि॑र्नि॒षीद॑न्दे॒वापि॑र्देवसुम॒तिं चि॑कि॒त्वान् ।
स उत्त॑रस्मा॒दध॑रं समु॒द्रम॒पो दि॒व्या अ॑सृजद्व॒र्ष्या॑ अ॒भि ॥५॥
अ॒स्मिन्त्स॑मु॒द्रे अध्युत्त॑रस्मि॒न्नापो॑ दे॒वेभि॒र्निवृ॑ता अतिष्ठन् ।
ता अ॑द्रवन्नार्ष्टिषे॒णेन॑ सृ॒ष्टा दे॒वापि॑ना॒ प्रेषि॑ता मृ॒क्षिणी॑षु ॥६॥
यद्दे॒वापिः॒ शन्त॑नवे पु॒रोहि॑तो हो॒त्राय॑ वृ॒तः कृ॒पय॒न्नदी॑धेत् ।
दे॒व॒श्रुतं॑ वृष्टि॒वनिं॒ ररा॑णो बृह॒स्पति॒र्वाच॑मस्मा अयच्छत् ॥७॥
यं त्वा॑ दे॒वापिः॑ शुशुचा॒नो अ॑ग्न आर्ष्टिषे॒णो म॑नु॒ष्यः॑ समी॒धे ।
विश्वे॑भिर्दे॒वैर॑नुम॒द्यमा॑नः॒ प्र प॒र्जन्य॑मीरया वृष्टि॒मन्त॑म् ॥८॥

(३)

त्वां पूर्व॒ ऋष॑यो गी॒र्भिरा॑य॒न्त्वाम॑ध्व॒रेषु॑ पुरुहूत॒ विश्वे॑ ।
स॒हस्रा॒ण्यधि॑रथान्य॒स्मे आ नो॑ य॒ज्ञं रो॑हिद॒श्वोप॑ याहि ॥९॥
ए॒तान्य॑ग्ने नव॒तिर्नव॒ त्वे आहु॑ता॒न्यधि॑रथा स॒हस्रा॑ ।
तेभि॑र्वर्धस्व त॒न्वः॑ शूर पू॒र्वीर्दि॒वो नो॑ वृ॒ष्टिमि॑षि॒तो रि॑रीहि ॥१०॥
ए॒तान्य॑ग्ने नव॒तिं स॒हस्रा॒ सं प्र य॑च्छ॒ वृष्ण॒ इन्द्रा॑य भा॒गम् ।
वि॒द्वान्प॒थ ऋ॑तु॒शो दे॑व॒याना॒नप्यौ॑ला॒नं दि॒वि दे॒वेषु॑ धेहि ॥११॥
अग्ने॒ बाध॑स्व॒ वि मृधो॒ वि दु॒र्गहाऽपामी॑वा॒मप॒ रक्षां॑सि सेध ।
अ॒स्मात्स॑मु॒द्राद्बृ॑ह॒तो दि॒वो नो॒ऽपां भू॒मान॒मुप॑ नः सृजे॒ह ॥१२॥

ऋग्वेदमें देवापि शब्दका उल्लेख केवल इसी दशम-मण्डलके ९८ सूक्तमें आया है, अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इस सूक्तके सारे मंत्र हमने ऊपर उद्धृत कर दिये हैं, किन्तु उनमें "देवापिश्च शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः।" आदि उपाख्यानका उल्लेख नहीं मिलता है।

महाभारतमें भीष्मपितामहके पिता शन्तनु तथा उनके ताऊ देवापिका वर्णन अवश्य मिलता है, परन्तु महाभारतके देवापि और शन्तनुका उल्लेख

उससे अत्यन्त प्राचीन ऋग्वेदमें माना जाय यह बात नितान्त असंगत है। इसलिए यास्कने जो देवापि और शन्तनुके उपाख्यानको इन वेद-मंत्रोंके साथ जोड़नेका यत्न किया है वह नितान्त अनुचित है। यास्कने ही नहीं 'बृहद्-देवता'के निर्माता शौनकाचार्यने भी ऐसी ही भूल की है। ऋग्वेदके दशम मण्डलके इस ९८ सूक्तके विषयका विवेचन करते हुए देवापि और शन्तनुके उपाख्यानका उल्लेख निम्नप्रकार किया है।

आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शंतनुः।
भ्रातरौ कुरुषु त्वेतौ राजपुत्रौ बभूवतुः ॥१५५॥
ज्येष्ठस्तयोस्तु देवापिः कनीयांश्चैव शंतनुः।
त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत् ॥१५६॥
राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ।
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा प्रजास्ताः प्रत्यभाषत ॥१५७॥

बृहद्देवता सप्तमवर्ग १५५ से १५७ तक।

न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शंतनुः।
तथेत्युक्त्वाभ्यसिञ्चंस्ताः प्रजा राज्याय शंतनुम् ॥१॥
ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये वनं देवापिराविशत्।
न ववर्षाथ पर्जन्यो राज्ये द्वादश वै समाः ॥२॥
ततोऽभ्यगच्छद्देवापिं प्रजाभिः सह शंतनुः।
प्रसादयामास चैनं तस्मिन्धर्मव्यतिक्रमे ॥३॥
शिशिक्ष चैनं राज्येन प्रजाभिः सहितस्तदा।
तमुवाचाथ देवापिः प्रह्वं तु प्राञ्जलिं स्थितम् ॥४॥
न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः।
याजयिष्यामि ते राजन् वृष्टिकामेज्यया स्वयम् ॥५॥
ततस्तं तु पुरोऽधत्त आर्त्विज्याय स शंतनुः।
स चास्य चक्रे कर्माणि वार्षिकाणि यथाविधि ॥६॥
बृहस्पते प्रतीत्यृग्भिर् ईजे चैव बृहस्पतिम् ॥७॥
आस्ये ते द्युमतीं वाचं दधामि स्तुहि देवताः।
ततः सोऽस्मै ददौ प्रीतो वाचं देवीं तया च सः ॥८॥

ऋग्भिश्चतसृभिर्देवाञ्जगौ वृष्ट्यर्थमेव तु ।
अग्निं च सूक्तशेषेण कमैन्द्रं सूक्तमुत्तरम् ॥९॥
वृहद्देवता अष्टमवर्ग १ से ९ तक ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'यास्क' और 'शौनक' दोनोंने देवापि तथा शन्तनुः के उपाख्यानको उन ऋग्वेदके मन्त्रोंके साथ जोड़नेका यत्न किया है। शौनकका विवरण 'यास्क'के विवरणसे कुछ अधिक विस्तृत है। उसमें देवापिको "त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु०" (७।१५६) कुष्ठी कहा है और 'न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शंतनुः ।' (८।१) के द्वारा स्वयं ही अपनेको राज्यके अयोग्य घोषित कर शन्तनुको राज्य देनेका निर्णय किया। जबकि यास्कके विवरणसे ऐसा प्रतीत होता है कि शंतनुने स्वयं देवापिको हटाकर छोटा होते हुए भी स्वयं गद्दी छीन ली और इस अधर्मके कारण ही उसके राज्यमें १२ वर्षकी अनावृष्टि हुई। इसमें शन्तनु दोषी ठहरता है, किन्तु शौनकवाले उपाख्यानमें इस प्रकारका कोई दोष शन्तनुके ऊपर नहीं आता है। यही इन दोनों उपाख्यानोंमें मुख्य भेद है।

दूसरी विशेषता यह है कि 'शौनक'ने इस विवरणमें ऋग्वेदके दशम मण्डलके ९८ सूक्तका विषय-विश्लेषण भी उपाख्यानके साथ कर दिया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस सूक्तमें कुल १२ मंत्र हैं, जो तीन भागोंमें विभक्त हैं। पहले ४ मन्त्रोंमें बृहस्पतिकी स्तुति है। उसका उल्लेख करते हुए शौनकने लिखा है—

बृहस्पते प्रतीत्यृग्भिर् ईजे चैव बृहस्पतिम् ॥७॥
आस्ये ते द्युमतीं वाचं दधामि स्तुहि देवताः ।
ततः सोऽस्य ददौ प्रीतो वाचं देवीं तया च सः ॥८॥

उसके बादकी ४ ऋचाओंमें वृष्टियागका वर्णन है, और अन्तिम ४ मन्त्रोंमें अग्निकी स्तुति है। इसका उल्लेख करते हुए शौनकने लिखा है—

ऋग्भिश्चतसृभिर्देवाञ्जगौ वृष्ट्यर्थमेव तु ।
अग्निं च सूक्तशेषेण ॥९॥

इस प्रकार शौनकका विवरण यास्कके विवरणकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। किन्तु देवापि और शन्तनुके उपाख्यानको ऋग्वेदके साथ जोड़नेकी भूल इन दोनोंने ही की है। शौनककी बृहद्देवतामें यास्कके नामका उल्लेख कई

चतुर्थः पादः

[१३]

साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च।

चतुर्थ पाद

[१३]

अगले छः [नाम जो निघण्टुमें पढ़े हैं वे] द्युलोक तथा आदित्य दोनोंके [सामान्य नाम] हैं।

जगह आता है* इसलिए यास्क शौनकसे प्राचीन हैं, अतः इस भूलका उत्तरदायित्व मुख्यतः उन्हींपर आता है।

यह अर्थ ऐतिहासिक पक्षसे यहाँ दिखलाया है। उसका अभिप्राय केवल विषयको कथानक द्वारा स्पष्ट करना है। वास्तवमें यह कोई अनित्य व्यक्तियोंका इतिहास यहाँ नहीं कहा गया है। स्कन्दस्वामीने लिखा है—'एवमाख्यान-स्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।' इन मन्त्रोंका ऋषि 'देवापि' है। वह स्वयं अपने लिए 'अदीधेत्' आदि भूतकालके और अन्य पुरुषके प्रयोग करे यह भी संगत नहीं है। अतः इसमें अनित्यकी शंका नहीं करनी चाहिये। जिस सूक्तमें ये मन्त्र आये हैं उसमें 'कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः' आदिका कोई संकेत नहीं मिलता है। अतएव शाश्वत नियमको स्पष्ट करनेके लिए 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' इस सिद्धान्त-के अनुसार इस उपाख्यानकी कल्पना की गयी है॥१२॥

यह द्वितीय अध्यायका तृतीय पाद समाप्त हुआ।

द्यौ तथा आदित्यके ६ नाम

निघण्टुः—१ स्वः, २ पृश्निः, ३ नाकः, ४ गौः, ५ विष्टप्, ६ नभ इति षट् साधारणानि॥४॥

---

* 'यास्कगार्ग्यरथीतराः।' [बृहद्देवता १।२६], संवादं मन्यते यास्कः' [बृ० दे० ७।१५३], 'यास्को द्रौघणमैन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शौनकः।' [बृ०दे० ८।११], इत्यादि।

१३

यानि त्वस्य प्राधान्येन, उपरिष्टात् तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्। आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासा इति वा, अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्यैतद् आर्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक्। 'सूर्यमादितेयम्'—अदितेः पुत्रम्।

और जो [नाम] इस [आदित्य]के प्रधानरूपसे हैं, उनकी व्याख्या आगे [१२ वें अध्यायके ३-४ पादोंमें] करेंगे। 'आदित्य' कैसे [बनता है या यह नाम क्यों पड़ा है? इसके दिखलानेके लिए 'आदित्य' शब्दका निर्वचन करते हैं] रसोंका ग्रहण [शोषण] करता है, अथवा [चन्द्र, तारामण्डल आदि] ज्योतिर्मण्डलकी कान्तिका हरण करता है [अर्थात् आङ्पूर्वक दा धातुसे यक्-प्रत्यय करके 'आदित्य' शब्द बनता है]। अथवा कान्तिसे दीप्त होता है [इसलिए आ+दीप+यक् =आदीप्य=आदित्य] अथवा 'अदिति'का पुत्र होनेसे [आदित्य] कहलाता है। [आर्चाभ्याम्नाय अर्थात्] ऋग्वेद-संहितामें इस [आदित्य]का यह [आदितेय] नाम कम प्रयुक्त हुआ है। और वह भी सूक्तभाक्के रूपमें नहीं। जैसे—[ऋग्वेद १०-८८-११ में] 'सूर्यमादितेयम्'—अदितिके पुत्र सूर्यको [देवताओंने आकाशमें स्थापित किया। इस मन्त्रकी व्याख्या निरुक्तके सप्तमाध्याय के २९ वें खण्डमें की गयी है]।

आगे 'सूक्तभाक्' और 'हविर्भाक्' दो प्रकारके देवताओंका प्रतिपादन किया गया है। जिस देवताके नामसे यज्ञमें आहुति दी जाती है वह 'हविर्भाक्' देवता कहलाता है और जिसकी मन्त्रोंसे आहुति न देकर केवल पाठमात्रके द्वारा स्तुति होती है उसको 'सूक्तभाक्' देवता कहते हैं। 'आदित्य' का अदिति-पुत्रके रूपमें केवल 'सूक्तभाक्' देवताकी तरह प्रयोग हुआ है और वह भी कम, यह अभिप्राय है।

एवमन्यासामपि देवतानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति । तद्यथैतद्—

अ–मित्रस्य, वरुणस्य, अर्यम्णः, दक्षस्य, भगस्य, अंशस्य इति ।

आ–अथापि मित्रावरुणयोः । "आदित्या दानुनस्पती" । [ऋ० १-१३६-३] दानपती ।

इसी प्रकार अन्य देवताओंकी भी [अदितिपुत्र होनेके कारण आदित्य नामसे स्तुति पायी जाती है । जैसे--

अ—मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग और अंश [इन ६ देवताओं]की [निम्नांकित एक ही मन्त्रमें स्तुति है] ।

आ–और मित्र तथा वरुण दोनोंकी [एक साथ स्तुति भी 'आदित्य'के रूपमें की जाती है । जैसे—मित्र और वरुण] दोनों अदितिके पुत्र दानके स्वामी [प्रचुर दान करनेवाले] हैं । [यहाँ 'दानुनस्पती'का अर्थ] दानके पति है ।

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि ।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥[ऋ० २-२७-१]

इस एक ही मन्त्रमें मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष तथा अंश इन ६ देवताओंको 'आदित्य' नामसे कहकर स्तुति की गयी है । यहाँ 'आदित्य'का अर्थ 'अदितिके पुत्र' है । इन सबको, अदितिके पुत्र होनेसे, 'आदित्य' कहा है । इसी प्रकार अन्य देवताओंकी भी इस 'आदित्य' विशेषणके द्वारा स्तुति की जाती है । जैसे—'अथापि' इत्यादि ।

पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती । सचेते अनवह्वरम् ॥
[ऋ० २-४१-६]

इसके देवता मित्रावरुण हैं । गृत्समद ऋषि हैं । सम्राजा [सम्राजौ], आदित्या [आदित्यौ], घृतासुती तथा दानुनस्पती इत्यादि द्विवचनान्त विशेषण मित्रावरुणके हैं ।

इ–अथापि मित्रस्यैकस्य।

"प्र स मि॑त्र॒ मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न् यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑ ।" [ऋ० ३-५९-२]

इत्यपि निगमो भवति ।

ई–अथापि वरुणस्यैकस्य ।

"अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तव ।" [ऋ० १-२४-१५]

व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः। इदमपीतरद् व्रत-

इ—और अकेले 'मित्र' की भी [आदित्यरूपमें स्तुति पायी जाती है]। जैसे—

'हे अदितिके पुत्र ! जो व्रत [के अनुष्ठानपूर्वक] तुमको [शिक्षति] हविप्रदान करता है वह मनुष्य प्रचुर [प्रयस्वान् अर्थात्] धान्यादिसे युक्त होता है।' यह भी निगम पाया जाता है।

ई—और अकेले 'वरुण' की भी [आदित्यरूपमें स्तुति पायी जाती है]। जैसे—'और हे अदितिके पुत्र [वरुण] ! हम तुम्हारे व्रतमें [नियममें] रहें।'

'व्रत' यह कर्मका नाम है, क्योंकि वह [यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्यको शुभ फलोंसे] आच्छादित करता है। [अर्थात् व्रत शब्द 'वृञ् आवरणे' चुरादि० धातुसे बनता है]। और यह जो दूसरा [कर्मसे भिन्न संकल्परूप] 'व्रत' है वह भी इसी [शुभ फलोंसे कर्ताको

इसमें 'आदित्य' पद केवल 'मित्र'के विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुआ है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

'प्र स मि॑त्र॒ मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न् यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑ ।
न ह॑न्यते॒ न जीय॑ते॒ त्वोतो॒ नैन॒मंहो॑ अश्नो॒त्यन्ति॑तो॒ न दू॒रात् ॥

पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ [ऋ० १-२४-१५]

मेतस्मादेव। निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम् ॥१३॥

[१४]

'स्वः' आदित्यो भवति, सु अरणः, सु ईरणः। स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासा इति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता।

आच्छादित करनेके] कारणसे है। निवृत्ति [भोजन आदिके त्याग] के अर्थमें [प्रयुक्त 'व्रत' शब्द] वारणार्थक [वृ] धातुसे [बनता है]। अन्नको भी 'व्रत' कहते हैं, क्योंकि शरीरको [मांसादि बन कर] आच्छादित करता है ॥ १३ ॥

[१४]

१ 'स्वः' आदित्य [कहलाता] है, क्योंकि १ सुन्दर गतिवाला [सु अरणः], अथवा २ भली प्रकारसे [मनुष्योंको अपने कर्तव्यकी] प्रेरणा देनेवाला, [अथवा अन्धकारको भली प्रकारसे निकालने वाला] अथवा ३ रसोंको भली प्रकारसे पहुँचा हुआ, अथवा ४ ज्योति-मण्डलकी कान्ति तक भली प्रकार पहुँचा हुआ, अथवा ५ प्रकाशसे भली प्रकार परिवेष्टित होता है [इस प्रकार 'स्वः' शब्दकी ५ व्युत्पत्तियाँ दिखलायी हैं]। इसीसे 'द्यौः' की व्याख्या हो गयी। [अर्थात् 'द्यौ' के अर्थमें जो 'स्वः' शब्दका प्रयोग होता है उसका भी निर्वचन इसी प्रकार कर लेना चाहिये]।

निघण्टुमें 'स्वः' आदि ६ नाम आदित्य तथा द्यौः के साधारण नाम बतलाये हैं। उनका व्याख्यान करते समय पहिले आदित्य शब्दकी व्याख्या की और यह बतलाया कि अदितिके पुत्रके नाते अन्य देवताओंकी भी आदित्य कहकर [आदित्यप्रवादाः] स्तुतियाँ की जाती हैं। अब उन छहों शब्दोंको क्रमसे लेकर उनके आदित्य अर्थात् सूर्य तथा द्यौः दोनों पक्षोंमें निर्वचन दिखलाते हैं—'स्वः' इत्यादि।

'पृश्निः' आदित्यो भवति । प्राश्नुत एनं वर्ण इति. नैरुक्ताः । संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासा इति वा । अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च ।

'नाकः' आदित्यो भवति । नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः । अथ द्यौः । कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिद्ध्यते । 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्चनाकम्' न वा

---

२ 'पृश्निः' आदित्य [सूर्यका नाम] होता है। क्योंकि १ वर्ण [अर्थात् उज्ज्वल प्रकाश अथवा सातों प्रकारके रंग] इसको व्याप्त करते हैं, यह नैरुक्तोंका मत है। [अर्थात् प्रपूर्वक 'अशूङ् व्याप्तौ' धातुसे 'नित' प्रत्ययान्त पृश्नि शब्द 'घृणि-पृश्नि-पार्ष्णि-चूर्णि-भूर्णि' उणादि ४-५०१ सूत्रसे निपातित है, यह नैरुक्तोंका मत है]। २ रसोंका स्पर्श करनेवाला, ३ नक्षत्रोंकी कान्तिका स्पर्श करनेवाला, अथवा ४ स्वयं कान्तिसे स्पृष्ट होता है [इसलिए स्पृश धातुसे नित प्रत्यय करके उक्त सूत्रमें पृश्नि शब्द निपातित किया गया है, यह अन्योंका मत है]। और 'द्यौ' [के पक्षमें 'पृश्नि' शब्दका निर्वचन यह होगा कि वह] पुण्यात्माओंसे संस्पृष्ट होती है [अर्थात् उसमें पुण्य करनेवाले निवास करते हैं]।

३ 'नाक' [शब्द] आदित्य [सूर्यका नाम] होता है। क्योंकि १ रसोंका [नेता] ले जानेवाला, अथवा २ दीप्ति [युक्त पदार्थों] का नायक, अथवा ३ नक्षत्र-मण्डलका सञ्चालक [अथवा प्रकाशोंको उत्पन्न करनेवाला–प्रणयः–] होता है। और 'द्यौ' [के अर्थमें जो 'नाक' शब्द प्रयुक्त होता है उसका निर्वचन इस प्रकार होगा कि] 'कम्' यह सुखका नाम है। उसका अभाव ['अकम्' अर्थात् दुःख हुआ। उस 'अकम्' का विपरीत नाक हुआ। इस प्रकार] उसके [अर्थात् सुखके] अभावका निषेध किया गया है। [अर्थात् द्यौ-लोक अर्थात् स्वर्गमें किसी प्रकारका दुःख नहीं होता है, इसीलिए उसको 'नाक'

अमुं लोकं गतवते किञ्चनासुखम् । पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति ।

'गौः' आदित्यो भवति । गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे । अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ।

'विष्टप्' आदित्यो भवति । आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासा इति वा । अथ द्यौः आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च ।

कहते हैं । इसीके समर्थनमें प्रमाण देते हैं] 'उस लोकमें [अर्थात् स्वर्ग] जानेवालेके लिए कुछ भी दुःख नहीं रहता है ।' क्योंकि पुण्य करनेवाले ही वहाँ जाते हैं ।

४ 'गौः' आदित्य [सूर्यका नाम] होता है । क्योंकि रसोंको पहुँचाता है । अथवा अन्तरिक्षमें चलता है ['गम' धातुसे 'डो' प्रत्यय करके 'गौ' शब्द बनता है] और 'द्यौः' [के पक्षमें 'गौ' पदका निर्वचन यह होता है कि] क्योंकि वह पृथिवीसे अत्यन्त दूर गयी हुई होती है, और क्योंकि इसके ऊपर प्राणी चलते हैं ।

५ 'विष्टप्' आदित्य [का नाम] होता है, क्योंकि रसोंमें प्रविष्ट हुआ अथवा नक्षत्र-मण्डलकी कान्तिमें समाया हुआ, अथवा अपनी कान्तिमें व्याप्त होता है । [अर्थात् 'विश प्रवेशने' धातुसे 'कपन्' प्रत्यय उणादि ३-४३२ सूत्रसे कर 'विष्टप्' शब्द सिद्ध किया गया है] । और 'द्यौ' [पक्षमें 'विष्टप्' शब्दका निर्वचन इस प्रकार होगा कि] नक्षत्रोंसे व्याप्त होती है और पुण्यकर्म करनेवालोंसे [भरी हुई होती है] ।

'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्चनाकम्' यह वाक्य बिल्कुल इसी रूपमें कहीं नहीं मिलता है । कुछ परिवर्तनके साथ यजुर्वेदकाठक-संहिता [२१-२], तैत्तिरीय-संहिता [५-३-७-१] तथा मैत्रायणीसंहिता [३-३-१] में मिलता है । 'न वै तत्र किञ्च जग्मुषे अकम्' यह मै० सं० [३-३-१] का पाठ यास्कके पाठके निकटतम पाठ कहा जा सकता है ।

'नभ' आदित्यो भवति । नेता रसानाम् , नेता भासाम् , ज्योतिषां प्रणयः । अपिवा भन एव स्याद्विपरीतः । न न भातीति वा । एतेन द्यौर्व्याख्याता ॥ १४.॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

---

६ 'नभः' आदित्य [का नाम] होता है । क्योंकि वह रसोंको ले जानेवाला [नेता], प्रकाश [पिण्डों] का नायक और ज्योति-मण्डलका सञ्चालक [अथवा प्रकाशका उत्पादक] होता है । अथवा 'भन' ही उलट कर 'नभ' हो गया है । नहीं भासता है ऐसा नहीं है [अर्थात् अवश्य भासता है, इसलिए सूर्यको 'नभ' कहते हैं] । इसी से 'द्यौ' [पक्षमें प्रयुक्त होनेवाले 'नभ' शब्द] की व्याख्या हो गयी ॥१४॥

'नभ' शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ दिखलायी हैं । पहिले पक्षमें 'नी' धातुसे 'नभ' शब्दकी सिद्धि मानी है । उसी आधारपर 'नेता रसानाम्' आदि व्युत्पत्ति दिखलायी है । दूसरे पक्षमें दीप्त्यर्थक 'भास' धातुसे बने 'भासन' शब्दमें 'आकार' को ह्रस्व तथा 'स' का लोप करके 'भन' शेष रहा । उसका उलटा कर देनेसे 'नभ' बना । उसका अर्थ 'भासनः' प्रकाश करनेवाला ही है । अथवा 'न न भाति' इस अर्थमें 'ननभ' पद बना कर उसमेंसे 'न' का लोप मान कर 'नभ' शब्द बनता है यह तीसरे निर्वचनका अभिप्राय है । उणादि कोषमें 'णह बन्धने' धातुसे 'नहेर्दिवि भश्च' उणादि ४-६६० सूत्र से असुन्-प्रत्यय तथा ह-कारके स्थान पर भ-कारका आदेश करके 'नभस्' शब्दकी सिद्धि की गयी है ॥ १४ ॥

यह द्वितीय अध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त हुआ ।

पञ्चमः पादः

[१५]

रश्मिनामानि उत्तराणि पञ्चदश ।

रश्मिर्यमनात् । तेषामादितः साधारणानि पञ्च अश्वरश्मिभिः । दिङ्नामानि उत्तराण्यष्टौ ।

पञ्चम पाद

[१५]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले पन्द्रह नाम [सूर्यकी] किरणोंके हैं ।

'रश्मि' [शब्द 'यम उपरमे' धातुसे 'सर्वधातुभ्य इन्' उणादि ४-५६७ सूत्रसे 'इन्' प्रत्यय और 'य' को 'रश' आदेश करके बनता है] नियन्त्रण करनेसे है [अर्थात् सूर्यकी रश्मियाँ प्रकाशका और अश्वकी रश्मियाँ—रास—घोड़ेका नियन्त्रण करती हैं]। उनमेंसे आदिके ६ नाम घोड़ेकी रासोंके साथ साधारण [अर्थात् सूर्यकी किरणों और घोड़ेकी रास दोनोंके वाचक हैं]।

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले आठ नाम दिशाओंके वाचक हैं ।

रश्मिके पन्द्रह नाम

निघण्टुः—१ खेदयः, २ किरणाः, ३ गावः, ४ रश्मयः, ५ अभीशवः, ६ दीधितयः, ७ गभस्तयः, ८ वनम्, ९ उस्राः, १० वसवः, ११ मरीचिपाः, १२ मयूखाः, १३ सप्त ऋषयः, १४ साध्याः, १५ सुपर्णाः इति)पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

दिशाओंके आठ नाम

निघण्टुः—१ आताः, २ आशाः, ३ उपराः, ४ आष्ठाः, ५ काष्ठाः, ६ व्योम, ७ ककुभः, ८ हरितः इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

दिशः कस्मात्, दिशतेः आसदनात्। अपि वाभ्यशनात्। तत्र काष्ठाः इत्येतत् अनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति। १ काष्ठाः दिशो भवन्ति, क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। २ काष्ठा उपदिशो भवन्ति, इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। ३ आदित्योऽपि काष्ठा उच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। ४ आज्यन्तोऽपि काष्ठा उच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति। ५ आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते, क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्॥ १५॥

---

१ दिक् [शब्द] 'दिश' धातुसे [गति, मार्ग आदिका निर्देशक होनेसे] है। अथवा २ ['दिश' धातुसे क्विप्-प्रत्यय करके दिक्] अथवा [आङ्पूर्वक सद् धातुसे क्विप्प्रत्यय करके 'सद्' का विपर्यय 'दस' से 'दिक्' [सब पदार्थोंके] पास पहुँची हुई होनेसे, अथवा ३ सर्वत्र व्याप्त होनेसे [अश् + क्विप् = दश् 'दिक्' बनता] है। उनमेंसे 'काष्ठा' यह अनेक पदार्थोंका नाम भी होता है। जैसे 'काष्ठा' दिशाओंको कहते हैं, क्योंकि दूर-दूर तक फैली होती हैं। 'काष्ठा' उपदिशाओंको भी कहते हैं, क्योंकि एक दूसरेको उलांघकर स्थित होती हैं। सूर्यको भी 'काष्ठा' कहते हैं, क्योंकि [सब लोकोंको] पार करके स्थित होता है। [आजिः] संग्राम [भूमि] का अन्तिम भाग भी 'काष्ठा' कहलाता है, क्योंकि सबको पार करके स्थित होता है। 'जल' को भी काष्ठा कहते हैं, क्योंकि वह जाकर [अन्तको जलाशयमें] स्थित होते हैं। यह [स्थित होनेवाली बात] स्थावर [अर्थात् वापी, कूप, तड़ाग, समुद्र आदिमें स्थित जल] के विषयमें है। [क्योंकि वे उन स्थानोंपर पहुँचकर उनमें स्थिर होते हैं] ॥१५॥

[१६]

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥
[ऋ० १।३२।१०]

---

[१६]

[वाष्परूपमें होनेके कारण कहीं भी] न रुकनेवाले, स्थिर न होनेवाले जलोंके भीतर [शरीर अर्थात्] मेघ स्थित होते हैं। उस [वृत्र अर्थात्] मेघके [निण्यं नीचे होनेपर अर्थात्] झुक जानेपर जल [की वृष्टि] को ['विचरन्ति' का अर्थ यहाँ जानते हैं [यह किया है]। और [उस वृष्टिके समय] इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र सूर्य या विद्युत् जिसका नाश करनेवाला है वह] मेघ दीर्घ अन्धकारके रूपमें फैल जाता है [अथवा गहन अन्धकारको फैला देता है]।

पिछले खण्ड में 'रश्मि' वाचक नामोंमेंसे 'काष्ठा' पदकी व्याख्या चल रही थी। उसमें 'काष्ठा' शब्दको जलका वाचक भी कहा था। ग्रन्थकारने यहाँ 'काष्ठा' या जलके स्थावर जल तथा अस्थावर जल दो भेद किये हैं। वापी, कूप, तड़ाग, समुद्र आदिमें स्थित जल स्थावर जल कहलाते हैं और मेघ, या नदी आदिके रूपमें सदागतिशील जल अस्थावर जल कहलाते हैं। अस्थावर जलके लिए भी काष्ठा शब्दका प्रयोग होता है इसके दिखलानेके लिए अगला मन्त्र उपस्थित करते हैं—'अतिष्ठन्तीना०' इत्यादि।

यह इस मन्त्रका अर्थ है। इसीकी व्याख्या आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें करते हैं। पिछले खण्डके अन्तमें जलके अर्थमें जो 'काष्ठा' शब्दका विवेचन किया था वह स्थावर अर्थात् जलाशय आदिके जलकी दृष्टिसे किया था। इस मन्त्रमें अस्थावर एक जगह स्थिर न रहनेवाले वाष्परूपमें विचरण करनेवाले जलके लिए 'काष्ठा' पदका प्रयोग किया गया है।

अतिष्ठन्तीनां अनिविशमानानां इति अस्थावराणाम्, काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्ति आप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः। आशयदाशेतेः। इन्द्रशत्रुः इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा। तस्मादिन्द्रशत्रुः ॥१६॥

'अतिष्ठन्तीनाम्' और 'अनिवेशनानाम्' इन [विशेषणों] से स्थिर न रहनेवाले [अ-स्थावर यह अर्थ सूचित किया है] जलोंके भीतर 'शरीर' अर्थात् मेघ [निहित अर्थात् गुप्त छिपा हुआ या] स्थित है। शरीर [शब्द हिंसार्थक] 'शॄ' धातुसे, अथवा 'शम' धातुसे ['कॄ-शॄ-पॄ-कटि-पटि-शौटिभ्य ईरन्' उणादि ४-४७८ सूत्रसे 'ईरन्' प्रत्यय करके बनता] है। [मेघका नाश किया जाता है, अथवा वर्षाके द्वारा उसका शमन किया जाता है, इसलिए उसको 'शरीर' नामसे कहा गया है, यह इस निर्वचनके दिखलानेका अभिप्राय है। जलका आवरण करनेवाला, अथवा त्राण करनेके लिए रोकनेवाला होनेसे मेघको 'वृत्र' नामसे भी कहा जाता है। उस वृत्र अर्थात्] मेघके [निण्यं निर्णामं अर्थात्] नीचे होनेपर [वृष्टिके नियमको जाननेवाले लोग] जल [की वृष्टि] को जान लेते हैं। [विचरन्तिका अर्थ यहाँ विजानन्ति किया है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च' इस नियमके अनुसार सभी गत्यर्थक धातुओंको ज्ञानार्थक माना जा सकता है]। 'दीर्घ'[शब्द] 'द्राघृ' धातुसे ['ऋदोरप्' अष्टा० ३-३-५७ सूत्रसे 'अप्' प्रत्यय और 'अङ्' को दीर्घ ईकार आदेश करके बनता] है। तम [शब्द] 'तनु' धातुसे और 'आशयत्' आङ्पूर्वक शीङ् धातुसे [बना] है। इन्द्र जिसका नाश करनेवाला अथवा शमन करनेवाला है [यह 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अर्थ है] इसलिए [मेघ ही] इन्द्रशत्रु [कहलाता] है ॥१६॥

[१७]

तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रः असुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते।

[१७]

तो वृत्र कौन है ? [अर्थात् वृत्र किसको कहते हैं ? यह प्रश्न है, इसके दो उत्तर देते हैं] १ मेघ [वृत्र कहलाता है] यह नैरुक्त [आचार्य] मानते हैं। और २ त्वष्टाका पुत्र असुर-विशेष [वृत्र] है यह बात [वेदमें इतिहास माननेवाले] ऐतिहासिक कहते हैं।

[जलों अर्थात्] मेघ तथा [ज्योति अर्थात्] विद्युत्के [मिश्रीभावकर्म अर्थात्] संघर्षसे वृष्टिका कार्य होता है। उनके विषयमें ही

'वृत्र' शब्दके दो अर्थ

पिछले मन्त्रमें 'वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो' इस भागमें 'वृत्र' पदका प्रयोग आया था। इसका क्या अर्थ है यह प्रश्न उपस्थित होता है। नैरुक्त सिद्धान्तमें 'वृत्र' का अर्थ मेघ है। परन्तु वेदमें इतिहास माननेवाले लोग त्वष्टाके पुत्र असुरका नाम 'वृत्र' मानते हैं। इसका कारण यह है कि वैदिकसाहित्यमें इन्द्रके साथ वृत्रके संग्रामका वर्णन बहुत स्थानोंपर आता है। इसलिए वेदमें इतिहास माननेवाले वृत्रको असुरविशेष मानते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त नैरुक्तोंको रुचिकर नहीं है। नैरुक्त आचार्य वेदमें इतिहास नहीं मानते हैं। इसलिए वे इस प्रकारके सभी स्थलोंपर किसी शाश्वत नियम या प्राकृतिक वर्णनके द्वारा उन मन्त्रोंकी संगति लगाते हैं। 'वृत्र' और इन्द्रके संग्रामका जो वर्णन वैदिकसाहित्यमें मिलता है उसे नैरुक्त आचार्य विद्युत् और मेघके संघर्षोंका आलंकारिक वर्णनमात्र मानते हैं। मेघ जलको रोके होता है। तब विद्युत् अपने प्रहारों द्वारा मेघको नष्ट कर वर्षाकी प्रवृत्ति कराती है, इसीको आलंकारिक रूपमें इन्द्र तथा वृत्रके युद्धका रूप देकर अलंकाररूपसे मन्त्रों तथा ब्राह्मणोंमें वर्णन किया गया है। इसी बातका यास्क अगले अनुच्छेदमें प्रतिपादन करते हैं।

तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा । भवन्ति अहिवत् तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च । विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार । तस्मिन् हते प्रस्यन्दिर आपः ।

तदभिवादिन्येषा ऋग् भवति—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वानप तद्ववार ॥

[ऋ० १-३२-११] ।

उपमा [अर्थात् अलंकार] के रूपमें युद्धका वर्णन [वैदिक-साहित्यमें] किया जाता है । [इसीके समर्थनमें दूसरी युक्ति यह देते हैं कि वृत्रके वाचक दूसरे] 'अहि' [नाम] से युक्त [भी वेदमें बहुतसे] मन्त्र तथा ब्राह्मणवचन मिलते हैं ['अहि' का अर्थ स्पष्टरूपसे मेघ है । इसलिए वृत्रका अर्थ भी मेघ है] उसने शरीरकी वृद्धिसे जलके प्रवाहको रोक दिया । उसके मारे जानेपर जल वहने लगे [इस प्रकारका वर्णन वैदिक-साहित्यमें मिलता है] ।

उस [वृत्र-वध]का वर्णन करनेवाली यह [निम्नांकित) ऋचा है—

['दासपत्नीः' 'दस उपक्षये' धातुसे तथा 'पत्नी' शब्द रक्षणार्थ 'पा' धातुसे बना है, अतः 'दासपत्नी' का अर्थ] क्षीण हुए धान्य [फसल] का पोषण करनेवाला [जल होता है] [अहिगोपाः [अहि अर्थात्] मेघके द्वारा [गोपा अर्थात्] छिपाया हुआ [या उसके भीतर छिपा हुआ जल इस प्रकार स्थित रहता है जिस

ऐतिहासिक पक्षका खण्डन

ऐतिहासिक लोग जो 'वृत्र' का अर्थ असुर-विशेष करते हैं इसका आधार यह है कि वैदिकसाहित्यमें इन्द्र तथा वृत्रके युद्धका वर्णन बहुत मिलता है । इसी कारण वे 'वृत्र' को इन्द्रका विरोधी असुरविशेष मानते हैं । इसके खण्डनमें यास्क वे युद्धके वर्णन आलंकारिक हैं यह कहते हैं—'अपां च' इत्यादि ।

दासपत्नीः दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः। उपदासयति कर्माणि। अहिगोपा अतिष्ठन् अहिना गुप्ताः। अहिः अयनात् एति अन्तरिक्षे। अयमपीतरो अहिरेतस्मादेव। निर्हसित उपसर्ग

प्रकार कि पणि अर्थात् गौओंका व्यापार करनेवाले] व्यापारीके द्वारा [बाड़ेके भीतर] रोकी हुई गौएँ स्थित रहती हैं। [इस प्रकार वृत्र या मेघने] जलोंके जिस [बिल अर्थात्] मार्गको रोका हुआ था [जिसके कारण वृष्टि नहीं हो रही थी। इन्द्रने उस] वृत्र [अर्थात् मेघ] को मारकर उस [रुद्ध-मार्ग] को खोल दिया। [और इस प्रकार वृष्टि होने लगी]।

दासपत्नीः[का अर्थ] दासों [अर्थात् उपक्षीण–सूखती हुई–फसल] का पालन करनेवाली। [दास शब्द लोकमें 'सेवक' के लिए भी प्रयुक्त होता है। वह भी इसी धातुसे बनता है। उसका निर्वचन करते हैं] दास [शब्द] दसु [उपक्षये] धातुसे [बना] है। [वह स्वामीके निर्दिष्ट] कार्योंको समाप्त [पूर्ण] कर देता है [इसलिए दास कहलाता है]। 'अहिगोपा अतिष्ठन्' अहि [अर्थात् मेघ]के द्वारा रक्षित [छिपाये हुए रूपमें जल स्थित थे]। 'अहि' [मेघका नाम है। उसकी सिद्धि] इण् धातुसे ['सर्वधातुभ्य इन्' उणादि ४-५५७ सूत्रसे 'इन्' प्रत्यय करके 'अयि' 'अहि' इस रूपमें होती] है। क्योंकि वह अन्तरिक्षमें चलता है। [इसलिए मेघको अहि कहते हैं] यह दूसरा [लोकप्रसिद्ध सर्पका वाचक] अहि [पद] भी इसी ['इण गतौ' धातुसे [बनता] है। अथवा [आङ्पूर्वक हन् धातुसे 'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' उणादि ४-५८७ सूत्रसे इण्प्रत्यय और] उपसर्गको ह्रस्व करके मारनेवाला होनेसे [अहि कहलाता] है। व्यापारीके द्वारा

मेघमें प्रयुक्त 'दास' पद

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'दासपत्नीः' इत्यादि।

आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणि-र्वणिक् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेः। 'वृत्रं जघ्निवान् अपववार तत्'। वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। 'यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। 'यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। 'यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते ॥१७॥

इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः।

रोकी हुई गौओंके समान। पणि वणिक् [को कहा जाता] है। पणि [शब्द 'पण व्यवहारे' धातुसे बनता है अतः] व्यापार करनेसे [पणि कहलाता है] वणिक् विक्रय द्रव्य [पण्य] को शुद्ध करता है [व्यापारके योग्य बनाता है] जलका जो मार्ग रुद्ध था। बिल [उसमें रहनेवालोंका] भरण करनेवाला होता है। वृत्रको मारकर [इन्द्रने] उसको खोल दिया।

वृत्र [शब्द 'वृञ् आवरणे' इस] वृ-धातुसे ['सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' उणादि ४-६०८ सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय करके] अथवा वृतु-धातु से [उणादि २-१७८ सूत्रसे रक् प्रत्यय करके] अथवा वृधु-धातुसे [रक् प्रत्यय करके बनता] है। [क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इन तीनों धातुओंसे वृत्र शब्दका निर्वचन किया गया है] क्योंकि '[वह जलको] आच्छादित करता है यही वृत्रका वृत्रत्व है' यह [तैत्तिरीयसंहिता] २-५-२-२-में] पाया जाता है। 'जो [आकाशमें] वर्तमान रहता है [अथवा गति करता है] यही वृत्रका वृत्रत्व है' यह [उसी तै० सं० में] पाया जाता है और 'जो [आकाशमें अवर्धत] फैलता है वही वृत्रका वृत्रत्व है' यह भी [उसी तै० सं० में] पाया जाता है ॥१७॥

यह द्वितीय अध्यायका पञ्चम पाद समाप्त हुआ।

षष्ठः पादः

[१८]

रात्रिनामानि उत्तराणि त्रयोविंशतिः ।

रात्रिः कस्मात् ? प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि, उपरमयति इतराणि, ध्रुवीकरोति । रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः, प्रदीयन्ते अस्यामवश्यायाः ॥१८॥

षष्ठ पाद

[१८]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले २३ नाम रात्रिके [वाचक] हैं।

रात्रि [नाम] क्यों है ? क्योंकि रात्रिमें विचरण करनेवाले प्राणियोंको आनन्दित करती है और अन्योंको [अर्थात् दिवाचर प्राणियोंको] विश्राम प्रदान करती है। अर्थात् [निद्राके द्वारा] स्थिर [निर्व्यापार] करती है। ['रम' धातुसे 'त्रिन्' प्रत्यय तथा 'म' के स्थानपर आकार करके रात्रि शब्द बनता है]। अथवा दानार्थक रा-धातुसे ['रा-शदिभ्यां त्रिप्' उणादि ४-५१६ सूत्रसे त्रिप्प्रत्यय होकर रात्रि पद बनता है], क्योंकि इसमें ओस प्रदान की जाती [अर्थात् गिरती] है ॥ १८ ॥

रात्रिवाचक २३ शब्द

निघण्टुः—१ श्यावी, २ क्षपा, ३ शर्वरी, ४ अक्तुः, ५ ऊर्म्या, ६ राम्या, ७ यम्या, ८ नम्या, ९ दोषा, १० नक्ता, ११ तमः, १२ रजः, १३ असिक्नी, १४ पयस्वती, १५ तमस्वती, १६ घृताची, १७ शिरिणा, १८ मोकी, १९ शोकी, २० ऊधः, २१ पयः, २२ हिमा, २३ वस्वी इति त्रयोविंशती रात्रिनामानि ॥७॥

[१९]

उषो नामानि उत्तराणि षोडश ।

उषाः कस्मात् ? उच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः ।

---

[१९]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले १६ [शब्द] उषाके नाम हैं ।

उषा [नाम] कैसे [पड़ा है] ? [उत्तर—'उच्छी विवासे' धातुसे असिप्रत्यय तथा किद्वद्भाव होकर उषा शब्द बनता है। इसलिए उसका अर्थ 'उच्छति विवासयति नाशयति अन्धकारम् इति उषाः' अन्धकारको निकालनेवाली होनेसे, रात्रिका अन्तिम काल [उषाः काल कहलाता है] ।

उषाके वाचक १६ शब्द

निघण्टुः—१ विभावरी, २ सूनरी, ३ भास्वती, ४ ओदती, ५ चित्रामघा, ६ अर्जुनी, ७ वाजिनी, ८ वाजिनीवती, ९ सुम्नावरी, १० अहना, ११ द्योतना, १२ श्वेत्या, १३ अरुषी, १४ सूनृता, १५ सूनृतावती, १६ सूनृतावरी इति षोडश उषोनामानि ॥ ८ ॥

उषा, उषः और उषस् तीनों शब्द समान अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । अमरकोषमें 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्युषसी अपि ।' की व्याख्यामें 'उष दाहे' धातुसे 'उषः किच्च' उणादि ४-६८३ सूत्र द्वारा उषः शब्द सिद्ध किया है । तथा 'उषा रात्रेरवसाने' में 'उष दाहे 'धातुसे 'दा' प्रत्यय करके 'उषा' शब्द सिद्ध किया गया है । 'स्याद्रजनीशेषे उषः इत्यपि दृश्यते' इति भसः । यहाँ उषा शब्दका निर्वचन 'उच्छी विवासे' धातुसे किया है । अब इसी 'उषस्' शब्दका प्रयोग दिखलानेके लिए उषाकालका वर्णन करनेवाला मन्त्र उद्धृत करते हैं— 'तस्या' इत्यादि ।

तस्या एषा भवति—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥
[ऋ० १-११३-१]

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत् । चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततमम् अजनिष्ट विभूततमम् । यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्य एवं रात्र्युषसे योनिमारिचत् स्थानम् । स्त्रीयोनिः अभियुत एनां गर्भः ॥१९॥

उस [उषाः देवता] की यह [ऋचा] है—

ज्योतियोंमें सबसे श्रेष्ठ यह [उषःकाल या सूर्यरूप] ज्योति उदय हो रही है और चारों ओर [विभ्वा, चित्रः] सुन्दर [प्रकेतः] दृश्य दिखलायी दे रहा है। जैसे उत्पन्न हुई [यह उषा] सूर्यके लिए स्थान छोड़ रही है इसी प्रकार रात्रि उषाके लिए स्थानको छोड़ देती है।

ज्योतियोंमें श्रेष्ठतम यह [उषा या सूर्यरूप] ज्योति आ रही है। सुन्दर अत्यन्त दर्शनीय [प्रज्ञाततमं] और अत्यन्त विस्तीर्ण [दृश्य उपस्थित है]। जैसे उत्पन्न हुई [रात्रिके वाचक विभावरी आदि शब्द उषाके नाम हैं अतः यहाँ मन्त्रकी व्याख्यामें प्रयुक्त रात्रि शब्दका अर्थ उषाकाल किया है] उषा आदित्यके लिए [स्थान छोड़ती है] इसी प्रकार रात्रिने उषाके लिए स्थान छोड़ दिया। [यहाँ 'योनि' का अर्थ स्थान किया है। किन्तु यह शब्द स्त्रीकी योनिके लिए भी आता है। अब उसका निर्वचन करते हैं] स्त्री-योनि [इसलिए योनि कहलाती है कि इसमें गर्भ मिलता है। 'योनि' शब्द 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे' धातुसे 'वहिश्रिश्रुयु०' उणादि० ४-५०० सूत्रके द्वारा 'नि' प्रत्यय करके सिद्ध होता है] ॥१९॥

यह मन्त्रका शब्दार्थ हुआ। आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करते हैं—'इदम्' इत्यादि।

[२०]

तस्या एषा अपरा भवति—

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥

[ऋ० १-११३-२]

---

[२०]

उसी [उषा देवताके वर्णन] की यह दूसरी ऋचा भी है—

चमकते हुए [सूर्यरूपी] वत्सवाली शुभ्र वर्णकी [गौतुल्य] उषा आ गयी और [काले रंगवाली] रात्रिने इसके लिए स्थान छोड़ दिया है। [सूर्यरूप] समान बन्धनवाली, नित्य और [अनूची] अनुक्रमसे आनेवाली [उषा और रात्रि आमिनाने अर्थात्] एक दूसरेका उपकार करती हुई [एक-दूसरेको प्रभावित करती हुई अपने-अपने] स्वरूपको प्राप्त करती हैं।

इस मन्त्रके चतुर्थ चरणका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। 'द्यावा वर्णं चरत आमिनाने' में न 'द्यावा' पदका अर्थ स्पष्ट होता है और न 'आमिनाने'का और नहीं 'वर्णं चरतः' का अर्थ स्पष्ट होता है। स्वयं यास्ककी पङ्क्तियोंमें ही इस भागका अर्थ अस्पष्ट-सा लगता है तब टीकाकारोंकी तो बात ही क्या है।

स्कन्दस्वामीने अपने ऋग्वेदभाष्यमें इस मन्त्रका जो भाष्य किया है उसमें भी इस चतुर्थ चरणकी व्याख्या स्पष्ट नहीं हो सकी है। उन्होंने लिखा है—

"द्यावा। द्युतेर्दीप्यतेर्वा दीप्त्यर्थस्येदं रूपम्। स्वेन स्वेन तेजसा दीप्ते। वर्णं कृष्णं शुक्लं चात्मीयं वर्णम्। चरतः गच्छतः। द्यावेति दिवः पर्य्यायः तृतीयैकवचनान्तश्चात्र द्रष्टव्यः। तृतीयानिर्देशाच्चात्र योग्यक्रियापदाध्याहारः। दिवा सह महत्त्वादिना गुणेन स्पर्धमाने, दिवा वानुगृह्यमाणे स्वं स्वं वर्णं प्राप्नुतः इति। द्यौर्हि तमसा ज्योतिषश्चात्मन्यवदानेन नानुगृह्णाति रात्र्युषसोः। 'आमिनाने' आङ् ईषदर्थे। मीङ् हिंसायाम्। ईषद्धिंसन्त्यौ। किम्? सामर्थ्यात् परस्पररूपम्। रात्रिर्हि उषसो रूपं ज्योतिरीषद् हिनस्ति, उषा अपि रात्रेस्तमः। अथवा द्यावेति

रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा। रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद्, रसहरणाद्वा। रुशती

'रुशद्वत्सा' अर्थात् [चमकता हुआ] सूर्य जिसका वत्स [बछड़ा] है [इस प्रकारकी उषा है] 'रुशत्' यह [चमकते हुए] वर्णका नाम है। [क्योंकि रुशत् यह पद ज्वलतिकर्मणः अर्थात्] चमकनेवाले अर्थको रुच धातुसे [बनता] है। [इस रुशद्वत्सा विशेषण द्वारा मन्त्रमें] सूर्यको इस [उषा] का वत्स कहा है। [सूर्यका उषाका वत्स इसलिए कहा है कि जैसे बछड़ा सदा गायके साथ रहता है इसी प्रकार उषाके साथ सदा सूर्य रहता है इसलिए] साहचर्यके कारण, अथवा रसका हरण करनेसे [सूर्यका वत्स कहा गया है]। 'रुशती' अर्थात्

सप्तम्यैकवचनस्य आकार आदेशः। 'चरतः' इत्यनेन चास्य सम्बन्धः। दिवि चरतो गच्छतः। 'वर्णं' इत्येतत्तु 'आमिनाने' इत्येतेन सम्बध्यते। आत्मीयं रूपमीषद्धिंसन्त्यौ। अथवा आमिनाने इत्याकारोऽध्यर्थे। मिनतिरपि सामर्थ्यात् करोत्यर्थः। आत्मीयं रूपमधि उपरि कुर्वाणे। कस्य? सामर्थ्यात् प्रकृतत्वाच्च दिव एव।"

इस स्कन्द-भाष्यके अनुसार 'द्यावा वर्णं चरत आमिनाने'। इस चतुर्थ चरणकी निम्नप्रकारकी व्याख्या हो सकती है—

१. [द्यावा अर्थात्] अपने-अपने तेजसे दीप्त [रात्रि तथा उषा अपने कृष्ण तथा शुक्ल] 'वर्ण'को [चरतः अर्थात्] प्राप्त होते हैं।

२. [द्यावा अर्थात्] महत्त्वादि गुणके द्वारा दिनके साथ [अथवा दिनके द्वारा] अनतिदीप्त—अभिभूत—होकर अपने-अपने वर्णको प्राप्त करते हैं।

३. ['वर्णम् आमिनाने' अर्थात्] एक दूसरेके रूपको ईषत् विनष्ट करती हुई [रात्रि तथा उषा द्यौ अर्थात् दिवि] आकाशमें [चरतः अर्थात्] घूमती हैं।

४. ['वर्णम् आमिनाने' अर्थात्] अपने-अपने रूपको [द्यावा द्यौकी अपेक्षा] ऊपर करती हुई [रात्रि तथा उषा चरतः] घूमती हैं।

ऊपर हमने मंत्रका अर्थ दिया है। अब आगे यास्क स्वयं उसने शब्दोंमें मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'रुशद्वत्सा' इत्यादि।

श्वेत्या आगात् । श्वेत्या श्वेततेः । अरिचत् कृष्णा सदनानि अस्याः कृष्णवर्णा रात्रिः । कृष्णं कृष्यतेः, निकृष्टो वर्णः ।

अथैने संस्तौति—समानबन्धू समानबन्धने । अमृते अमरणधर्माणौ । अनूची अनूच्यौ इति इतरेतरमभिप्रेत्य । 'द्यावा वर्णं चरतः' ते एव द्यावौ द्योतनात् । अपि वा द्यावा चरतः तया सह

चमकती हुई 'श्वेत्या' [अर्थात् शुभ्र वर्णवाली] उषा आगयी । श्वेत्या [शब्द 'श्विता वर्ण' इस] श्वेतात धातुसे [घञ् प्रत्यय करके बनाये हुए श्वेत शब्दसे मतुबर्थमें' 'रूपादाहत-प्रशंसयोर्यप्' [अष्टा० ५-२-१२०] सूत्रसे 'यप्' प्रत्यय करके बनता] है । [कृष्ण अर्थात् कृष्ण वर्णवाली] रात्रिने इस [गौरी श्वेत्या उषा] के लिए स्थान छोड़ दिया । [कृष्णा शब्दसे यहाँ] काले रंगकी रात्रि [का ग्रहण होता है] । कृष्ण [शब्द] 'कृष् विलेखने' धातुसे ['कृषेर्वर्ण' उणादि ३-२८५ सूत्र-से 'नक्' प्रत्यय करके] बना है । निकृष्ट वर्ण [कृष्ण वर्ण कहा जाता है] ।

अब [मन्त्रके उत्तरार्द्ध भागमें] इन दोनोंकी [अर्थात् रात्रि तथा उषाकी 'संस्तौति' अर्थात्] एक साथ स्तुति करते हैं । 'समानबन्धू' दोनों समान बन्धनवाली [दोनोंका नियन्त्रण करनेवाला एक ही सूर्य] है । 'अमृते' अर्थात् दोनों अमरणधर्मा [अविनाशी—नित्य] हैं । 'अनूची' अर्थात् दोनों एक दूसरेके पीछे चलनेवाली हैं । ['द्यावा वर्णं चरतः' अर्थात्] चमकती हुई वे दोनों अपने [वर्ण अर्थात् रंग या] स्वरूपको [चरतः] प्राप्त करती हैं । वे दोनों ही चमकनेवाली होनेसे 'द्यावा' [कही जा सकती] हैं । अथवा [द्यावा यह तृतीयान्त पद मानकर] 'द्यावा चरतः' अर्थात् द्युलोकके साथ विचरण करती हैं [अथवा अपने वर्णको प्राप्त करती हैं] यह [अर्थ] हो सकता है ।

चरत इति स्यात्। आमिनाने आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे ॥२०॥

[२१]

अहर्नामानि उत्तराणि द्वादश।

अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायां ऋचि–

'आमिनाने'-आमिन्वाने-अर्थात् एक-दूसरेका[अध्यात्म अर्थात्] उपकार करती हुई [एक-दूसरेको प्रभावित करती हुई रात्रि तथा उषा अपने-अपने वर्णको प्राप्त करती हैं] ॥२०॥

[२१]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले बारह नाम दिनके [वाचक] हैं।

अहः [नाम दिनका] क्यों है? क्योंकि इस [दिन] में [सब लोग] कर्मोंको करते हैं।

स्कन्दस्वामीने 'आमिनाने'का अर्थ 'आङीषदर्थे मिनोतिर्हिंसाकर्मा, ईषद्धिंसन्त्यौ इत्यर्थः। रात्रिर्हि कियताप्यनुगतेन स्वेन तमसा वर्णेन ईषदुषसो वर्णं हिनस्ति। एवं उषा अपि रात्रेः स्वेन ज्योतिषा।' यह किया है। अर्थात् रात्रि अपने अन्धकारका प्रभाव उषाके श्वेत वर्णपर और उषा अपने श्वेत वर्णका प्रभाव रात्रिके कृष्ण वर्ण डालती है ॥ २० ॥

दिनके वाचक १२ शब्द

निघण्टुः—१ वस्तोः २ द्युः, ३ भानुः ४ वासरम्, ५ स्वसराणि, ६ घ्रंसः, ७ घर्मः, ८ घृणः, ९ दिनम्, १० दिवा, ११ दिवेदिवे, १२ द्यविद्यवि इति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

अहंश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥
[ऋ० ६-९-१]

अहश्च कृष्णं रात्रिः, शुक्लं चाहरर्जुनम् । विवर्तेते रजसी वेद्याभिः वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । वैश्वानरो जायमान इव उद्यन्नादित्यः सर्वेषां ज्योतिषां राजा, अवाहन् अग्निर्ज्योतिषा तमांसि ॥ २१ ॥

उस [अहः] का वैश्वानर देवतावाली ऋचामें यह गौण-प्रयोग [निपात] हुआ है ।

[कृष्णं अहः काला दिन अर्थात्] रात्रि और [अर्जुन अर्थात् धवल दिन अर्थात्] दिन अपनी प्रसिद्ध प्रवृत्तियोंके अनुसार चक्कर लगा रहे हैं । [राजा अर्थात्] अत्यन्त तेजो-युक्त [वैश्वानर अग्नि अर्थात्] सूर्य उदय होते ही अपने प्रकाशसे अन्धकारको नाश कर देता है ।

काला दिन अर्थात् रात्रि और अर्जुन अर्थात् सफेद दिन वेदितव्य [प्रसिद्ध] प्रवृत्तियोंके द्वारा चक्कर लगा रहे हैं । 'वैश्वानर' आदित्य 'जायमान इव' उदय होते ही प्रकाशसे अन्धकारको नष्ट कर देता है ॥ २१ ॥

अर्थात् अहः शब्द आङ्पूर्वक 'हृ' धातुसे कनिन्-प्रत्यय करके आहन् = अहन् इस प्रकार अहः शब्द सिद्ध होता है । उणादिमें 'नञि जहातेः' उणादि० [१-१५६] सूत्रसे 'नञ्' उपपद रहते 'ओहाक् त्यागे' धातुसे कनिन् प्रत्यय तथा 'आतो लोप इटि च' [अष्टा० ६-४-६४] सूत्रसे 'आ' का लोप होकर 'अहः' शब्द सिद्ध किया गया है ।

यह मंत्रका शब्दार्थ हुआ । आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करते हैं—'अहश्च' इत्यादि ।

[२२]

मेघनामानि उत्तराणि त्रिंशत् ।

मेघः कस्मात् ? मेहतीति सतः । आ उपर उपल इत्येताभ्यां पर्वतनामभिः ।

---

[२२]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले तीस नाम मेघके [वाचक] हैं ।

मेघ [नाम] क्यों [रखा गया है? यह प्रश्न है। इसका उत्तर निर्वचन दिखलाकर करते हैं] सिञ्चनका कर्ता होनेसे। [अर्थात् 'मिह सेचने' धातुसे घञ्-प्रत्यय करसे मेघ शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार 'मेहति सिञ्चति जलम् इति मेघः' यह मेघ शब्दका निर्वचन होता है। मेघके जो ३० नाम निघण्टुमें दिखलाये हैं उनमेंसे 'उपर, उपल' तक [१७ या १९ नाम] पर्वतके नामोंके साथ साधारण हैं। [अर्थात् वे पर्वतके नाम भी हैं और मेघके भी]।

मेघवाचक तीस नाम

निघण्टुः—१ अद्रिः, २ ग्रावा, ३ गोत्रः, ४ वलः, ५ अश्नः, ६ पुरुभोजाः, ७ वलिशानः, ८ अश्मा, ९ पर्वतः, १० गिरिः, ११ व्रजः, १२ चरुः, १३ वराहः, १४ शम्बरः, १५ रौहिणः, १६ रैवतः, १७ फलिगः, १८ उपरः, १९ उपलः, २० चमसः, २१ अहिः, २२ अभ्रम्, २३ बलाहकः, २४ मेघः, २५ दृतिः, २६ ओदनः, २७ वृषन्धिः, २८ वृत्रः, २९ असुरः, ३० कोशः इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

यहाँ ग्रन्थकारने 'आ उपर उपल इत्येताभ्यां' इस प्रकारका पाठ किया है जिसमें 'उपर' तथा 'उपल' दोनों शब्दोंका ग्रहण किया गया है। स्कन्दस्वामीने इसपर यह टिप्पणी की है कि 'आ उपरादिति वक्तव्ये उभयोरुपादानं र-लयोरविशेषत्वप्रदर्शनार्थम् ।' इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि यहाँ 'आ उपरात्' इतना कह लेनेसे भी काम चल सकता था 'उपल' शब्दका उसके साथ ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं थी परन्तु यहाँ 'र-लयोरभेदः' र और लके

उपरः उपलो मेघो भवति । उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि । उपरता आप इति वा ।

'उपर' मेघको कहते हैं, क्योंकि उसमें [अभ्र अर्थात् धुंधले वाष्प] विश्रान्त होते हैं । अथवा (उसमें) जल विश्रान्त होते हैं [अतः 'मेघ' को 'उपर' कहते हैं ।

अभेदके प्रदर्शनके लिए दोनोंका ग्रहण किया है। अर्थात् दोनों शब्द एक ही हैं इस बातके दिखलानेके लिए 'आ उपर उपल' इस प्रकारका पाठ किया है।

अन्य सब टीकाकारोंने भी लगभग इसी बातको दुहराया है। परन्तु हमारी दृष्टिमें इसका कारण कुछ और ही है। और वह कारण यह है कि 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' [अष्टा० ३-१-१३] सूत्रके अनुसार आङ्-का प्रयोग मर्यादा तथा अभिविधि दो अर्थोंमें होता है। जहाँतक सीमाका निर्धारण किया जा रहा है उस अन्तिम भागको छोड़कर उससे पूर्व-पूर्व मर्यादा कहलाती है। जैसे 'आमुक्तेः संसारः' यहाँ मुक्तिको छोड़कर मुक्तिसे पहिले पहिले यह 'मर्यादा'का उदाहरण है। और अभिविधिमें उस अन्तिम भागको सम्मिलित कर लिया जाता है। यहाँ यदि मर्यादा अर्थमें आङ्का प्रयोग माना जाय तो उपर उपलसे पहिले-पहिले अर्थात् 'फलिगः' तक १७ नामोंका ग्रहण होगा। और यदि अभिविधि अर्थमें आङ्का प्रयोग माना जाय तो 'उपल'को भी सम्मिलित करके १९ नामोंका ग्रहण होगा। यदि केवल 'उपर' शब्दका पाठ करते तो मर्यादा पक्ष तो ठीक बन जाता पर अभिविधि पक्षमें 'उपर'का ग्रहण अभीष्ट न होनेपर भी हो जाता। इसलिए दोनों शब्दोंका ग्रहण किया है। दोनोंका समान निर्वचन दिखलाना भी अवान्तर-प्रयोजन हो सकता है।

स्कन्दस्वामीने इनमेंसे पहिली निरुक्ति पर्वतपक्षमें मानी है। परन्तु यह 'उपर उपलो मेघो भवति' इस यास्क-वचनके विपरीत है। यास्क मेघपक्षमें ही यह निरुक्ति कर रहे हैं। इस दशामें 'उपरमन्तेऽस्मिन् अभ्राणि' इस निरुक्तिसे अभ्र शब्दका अर्थ मेघ [वर्षण-क्षण बादल] न करके सामान्य धुन्ध—अवर—रूप वाष्पका ग्रहण करना होगा। यह वाष्प अन्तमें मेघरूपमें विश्रान्त—विख्यात—होता है। इस अभ्रका ही अपभ्रंश 'अवर' शब्द प्रसिद्ध है।

तेषामेषा भवति—

दे॒वानां॒ माने॑ प्रथ॒मा अ॑तिष्ठन् कृन्तत्रा॑दे॒षामुप॑रा उदा॑यन् ।
त्रयं॑स्तपन्ति पृथि॒वीम॑नू॒पा द्वा बृबू॑कं वहत॒ः पुरी॑षम् ॥

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति। 'कृन्तत्रम्' अन्तरिक्षं विकर्तनं मेघानाम् । विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते । 'त्रयस्तपन्ति

उन [उपरो]की यह ऋचा है—

देवताओंके निर्माणमें [मेघ, वायु और आदित्य ये तीन] मुख्य [माने जाते] हैं। इनमेंसे [उपराः] मेघ [कृन्तत्रात्] अन्तरिक्षसे [दूसरे लोगोंने 'कृन्तत्रात्'का अर्थ कर्तनात् किया है। परन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि यास्कने 'कृन्तत्रम् अन्तरिक्षम्' लिखकर कृन्तत्र शब्दको स्पष्टरूपसे अन्तरिक्ष-वाचक बतलाया है। 'उदायन्' यह इण गतौ' धातुका णिजन्त-गर्भित रूप है] जलको प्रवाहित करते हैं। [उदायन् उद्गमयन्ति जलम्। ये] तीनों [अनूपाः] अनुग्रह करनेवाले पृथिवीको [अर्थात् पृथिवीपर होनेवाले ओषधि, अन्न आदिको तपन्ति अर्थात् पकाते हैं। और [वायु तथा आदित्य ये] दो पालन अथवा पूरण करनेवाले [बृबूकम् अर्थात्] जलको [फिर मेघ बनाकर बरसानेके लिए] आकाशकी ओर] ले जाते हैं।

देवताओंके निर्माणमें माध्यमिक देवगण [अर्थात् मेघ, वायु तथा आदित्य] मुख्य ठहरे हैं। प्रथम यह मुख्यका वाचक है। [क्योंकि वह] प्रकृष्ट-तम होता है। 'कृन्तत्र' अन्तरिक्ष [का नाम] है। [क्योंकि वह] मेघोंको काटनेका स्थान है। मेघोंके खण्डित होनेसे वर्षा होती है। 'अनुग्रह करनेवाले तीन पृथिवीको तपाते हैं।' [वे

यह मंत्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें इसकी व्याख्या करते हैं—'देवानां निर्माणे' इत्यादि।

पृथिवीमनूपाः ।' पर्जन्यो, वायुः, आदित्यः । शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति । अनूपा अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा । अयमपीतरो अनूप एतस्मादेव, अनूप्यत उदकेन । अपि वा अन्वाब् इति स्यात् यथा प्रागिति । तस्यानूप इति स्यात् यथा प्राचीनमिति । 'द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्'। वायु-आदित्यौ उदकम् । बृबूकं इत्युदकनाम । ब्रवीतेर्वा स्यात् शब्दकर्मणः, भ्रंशतेर्वा । पुरीषं पृणातेः, पूरयतेर्वा ॥२२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ।

तीन कौन हैं ? मेघ, वायु और आदित्य । [वे पृथिवीको कैसे तपाते हैं ?] शीत, उष्ण और वर्षाके द्वारा ओषधियों [अन्नादि]को पकाते हैं । 'अनूप' [यह विशेषण इसलिए दिया है कि ये तीनों] अपने-अपने कार्यके द्वारा लोकोंको अनुगृहीत करते हैं । [लोकमें जलके किनारे-का प्रदेश 'अनूप' कहलाता है] यह दूसरा अनूप [जल-प्रदेश] भी इस [कारण]से [अनूप कहलाता है, क्योंकि] जलके द्वारा अनुगृहीत [सिञ्चित] किया जाता है । अथवा ['अनुगता आपा यत्र' इस अर्थमें] 'अन्वाप्' यह [शब्द पहिले] बना जैसे प्राक् यह । उस [अन्वाप्]का अनूप हुआ जैसे 'प्राक'से प्राचीन । [वायु और आदित्य] [पुरीषम् अर्थात् पालन या पूरा—पूरण—करनेवाले जलको ले जाते हैं । वायु और आदित्य । बृबूकं यह जलका नाम है । शब्दार्थक 'ब्रूञ्' धातुसे अथवा भृंश-धातुसे [ऊक-प्रत्यय करके] बना है ॥२२॥

माध्यमिक देवगणका अर्थ किन्हींने केवल वायु और किन्हींने केवल मेघ किया है परन्तु हमारे विचारमें इस शब्दसे वायु, आदित्य तथा मेघ तीनोंको लेना चाहिये । इसलिए हमने तीनोंका ग्रहण किया है । मन्त्रके 'त्रयः' पदसे भी इसकी पुष्टि होती है । और यास्कने व्याख्याभाष्यमें स्पष्ट ही 'पर्जन्यो वायुरादित्यः' लिखकर तीनोंका ग्रहण दिखलाया है ॥२२॥

यह द्वितीय अध्यायका षष्ठ पाद समाप्त हुआ ।

सप्तमः पादः

[२३]

वाङ्नामानि उत्तराणि सप्तपञ्चाशत् ।

वाक् कस्मात् ? वचेः । तत्र सरस्वती, इत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति । तद्यद् देवतावत् तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । अथैतन्नदीवत्–

सप्तम पाद

[२३]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले सत्तावन नाम वाणीके [वाचक] हैं ।

वाक् [शब्द] किस [धातु] से [बनता] है ? [उत्तर] वच-धातुसे [क्विब्वचि-प्रच्छि-श्रि-स्रु-द्रु-प्रुवां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' उणादि २-११५ सूत्र से क्विप् प्रत्यय, दीर्घ तथा असम्प्रसारण द्वारा बनता है] । उन [५७ वाङ्नामों] मेंसे 'सरस्वती' इस[नाम]के नदीके समान और देवताके समान [दोनों प्रकारसे वर्णन करनेवाले] मन्त्र पाये जाते हैं । उनमें जो देवताके समान [निगम मिलते] हैं उनका आगे [दैवतकाण्ड, अ० ११ खं० १८ में] व्याख्यान करेंगे । नदीके समान [स्तुति करनेवाला मन्त्र] यह है––

वाक्‌के वाचक सत्तावन पद

निघण्टुः—१ श्लोकः, २ धारा, ३ इला, ४ गौः, ५ गौरी, ६ गान्धर्वी, ७ गभीरा, ८ गम्भीरा, ९ मन्द्रा, १० मन्द्राजनी, ११ वाशी, १२ वाणी, १३ वाणीची, १४, वाणः, १५ पविः १६ भारती, १७ धमनिः, १८ नालीः, १९ मेलिः, २० मेना, २१ सूर्या, २२ सरस्वती, २३ निवित्, २४ स्वाहा, २५ वग्नुः, २६ उपब्दिः, २७ मायुः, २८ काकुत्, २९ जिह्वा, ३० घोषः, ३१ स्वरः, ३२ शब्दः, ३३ स्वनः ३४ ऋक्, ३५ होत्रा, ३६ गीः, ३७ गाथा, ३८ गणः, ३९ धेनाः, ४० ग्नाः, ४१ विपाः, ४२ नना, ४३ कशा, ४४ धिषणा, ४५ नौः, ४६ अक्षरम्, ४७ मही, ४८ अदितिः, ४९ शची, ५० वाक्, ५१ अनुष्टुप्, ५२ धेनुः, ५३ वल्गुः, ५४ गल्दा, ५५ सरः, ५६ सुपर्णी, ५७ बेकुरा इति सप्तपञ्चाशद् वाङ्नामानि ॥११॥

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥
[ऋ० ६-६१-२]

इयं शुष्मेभिः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम। शोषयतीति सतः। बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः। वृद्धिकर्मणो वा। सानु समुच्छ्रितं भवति, समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीं पारावारघातिनीम्। पारं परं भवति। अवारमवरम्।

यह [नदी इस मंत्रमें प्रयुक्त 'सरस्वती' पद किसी विशेष नदीका नाम न होकर सामान्य नदीका वाचक है। शुष्मेभिः] प्रचण्ड और [तविषेभिः] बड़ी-बड़ी लहरोंसे पर्वतोंके शिखरोंको [बिसखा] मृणाल खोदनेवालेके समान तोड़ देती है। दोनों किनारोंको गिरानेवाली नदीको [अपने] रक्षणके लिए भली प्रकारसे किये गये [बाँध-निर्माण आदि, धीतिभिः] कार्योंसे [आविवासेम] सेवन करें।

यह [नदी] 'शुष्मेभिः' अर्थात् शोषण करनेवाले बलोंसे। 'शुष्म' यह बलका वाचक है शोषणकर्ता होनेसे [शुष-धातुसे 'अवि-सिवि-सि-शुषिभ्यः कित्' उणादि १-१४१ सूत्रसे 'मन्' प्रत्यय द्वारा शुष्म पद बनता है]। 'बिस' भेदनार्थक बिस-धातुसे अथवा वृद्ध्यर्थक [बिस धातु] से [बनता] है। [अर्थात् कमलनाल या भंसोड़ा बहुत शीघ्र सरलतासे तोड़ा जा सकता है और बहुत जल्दी बढ़ता है]। 'सानु' ऊँचा उठा हुआ होता है [इसलिए सम्+उत्+श्रितसे 'सानु' बनता] अथवा ऊपरकी ओर प्रेरित किया हुआ [समुत्+नुतसे सानु] होता है। ['तविषेभिः ऊर्मिभिः'का अर्थ है] बड़ी-बड़ी लहरों से। 'पारावतघ्नी' अर्थात् दोनों किनारोंको काटनेवाली। पार परे [का किनारा] होता है और अवार इधरका। ['अवसे'

अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम ॥२३॥

[२४]

उदकनामानि उत्तराण्येकशतम्—

अवनाय] रक्षाके लिए भली प्रकारसे प्रवृत्त का गयी [धीतिभिः अर्थात्] सुन्दर स्तुतियोंसे अथवा कार्योंसे [धीतिभिः] सरस्वती अर्थात् नदीका सेवन करें ॥२३॥

[२४]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले १०१ नाम जलके [वाचक] हैं।

जलवाचक एक सौ एक नाम

निघण्टुः—१ अर्णः, २ क्षोदः, ३ क्षद्म, ४ नभः, ५ अम्भः, ६ कबन्धम्, ७ सलिलम्, ८ वाः, ९ वनम्, १० घृतम्, ११ मधु, १२ पुरीषम्, १३ पिप्पलम्, १४ क्षीरम्, १५ विषम्, १६ रेतः, १७ कशः, १८ जन्म, १९ वृबूकम्, २० बुसम्, २१ तुग्र्या, २२ बर्बुरम्, २३ सुक्षेम, २४ धरुणम्, २५ सिरा, २६ अररिन्दानि, २७ ध्वस्मन्वत्, २८ जामि, २९ आयुधानि, ३० क्षपः, ३१ अहिः, ३२ अक्षरम्, ३३ स्रोतः, ३४ तृप्तिः, ३५ रसः, ३६ उदकम्, ३७ पयः, ३८ सरः, ३९ भेषजम्, ४० सहः, ४१ शवः, ४२ यहः, ४३ ओजः, ४४ सुखम्, ४५ क्षत्रम्, ४६ आवयाः, ४७ शुभम्, ४८ यादुः, ४९ भूतम्, ५० भुवनम्, ५१ भविष्यत्, ५२ आपः, ५३ महत्, ५४ व्योम, ५५ यशः, ५६ महः, ५७ सर्णीकम्, ५८ स्वृतीकम्, ५९ सतीनम्, ६० गहनम्, ६१ गभीरम्, ६२ गम्भरम्, ६३ ईम्, ६४ अन्नम्, ६५ हविः, ६६ सद्म, ६७ सदनम्, ६८ ऋतम्, ६९ योनिः, ७० ऋतस्य योनिः, ७१ सत्यम्, ७२ नीरम्, ७३ रयिः, ७४ सत्, ७५ पूर्णम्, ७६ सर्वम्, ७७ अक्षितम्, ७८ बर्हिः, ७९ नाम, ८० सर्पिः, ८१ अपः, ८२ पवित्रम्, ८३ अमृतम्, ८४ इन्दुः, ८५ हेम, ८६ स्वः, ८७ सर्गाः, ८८ शम्बरम्, ८९ अभ्वम्, ९० वपुः, ९१ अम्बु, ९२ तोयम्, ९३ तूयम्, ९४ कृपीटम्, ९५ शुक्रम्, ९६ तेजः, ९७ स्वधा, ९८ वारि, ९९ जलम्, १०० जलाषम्, १०१ इदम् इत्येकशतम् उदकनामानि ॥१२॥

उदकं कस्मात् उनत्तीति सतः ।

नदीनामानि उत्तराणि सप्तत्रिंशत् ।

नद्यः कस्मात् ? नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः । बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम् आश्चर्यमिव प्राधान्येन । तत्रेतिहासमाचक्षते ।

उदक [शब्द] कैसे ? गीला करनेवाला होनेस ['उन्दी क्लेदने' धातुसे 'उदकं च' उणादि २-२०६ सूत्रसे क्वुन् प्रत्यय करके सिद्ध होता है] ।

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले ३७ नाम नदीके [वाचक] हैं ।

नदी [नाम] कैसे [या किस धातुसे बनता] है ? [इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि—ये [नदियाँ] नाद करनेवाली अर्थात् शब्द करने-वाली होती हैं [इसलिए 'णद अव्यक्ते शब्दे' इस धातुसे [घञ् प्रत्यय करके 'नद' शब्द और उससे स्त्रीलिंगमें 'ङीप्' करके 'नदी' शब्द बनता है । वेदोंमें] इन [नदियों]का [नैघण्टुक अर्थात्] अप्रधान-रूपसे वर्णन बहुत मिलता है, किन्तु प्रधानरूपसे [आश्चर्यमिव] बहुत कम मिलता है । ['आश्चर्यमिव'का अभिप्राय यह है कि प्रधान देवताके रूपमें नदीका वर्णन प्रायः नहींके सदृश है । जहाँ प्रधान-रूपसे नदियोंकी स्तुति मानी गयी है वह ऐतिहासिक पक्षकी ओरसे मानी गयी है । और वे लोग] इस विषयमें [निम्न प्रकारका] इतिहास बतलाते हैं ।

नदीके वाचक ३७ शब्द

निघण्टुः—१ अवनयः, २ यव्याः, ३ खाः, ४ सीराः, ५ स्रोत्याः, ६ एन्यः, ७ धुनयः, ८ रुजानाः, ९ वक्षणाः, १० खादो अर्णाः, १२ रोधचक्राः १३ हरितः, १४ सरितः, १५ अग्रुवः, १६ नभन्वः, १७ वध्वः १८ हिरण्यवर्णाः, १९ रोहितः, २० सस्रुतः, २१ अर्णाः, २२ कुल्याः, २३ वर्यः, २४ उर्व्यः, २५ इरावत्यः, २६ पार्वत्यः, २७ स्रवन्त्यः, २८ ऊर्जस्वत्यः, २९ पयस्वत्यः, ३० तरस्वत्यः ३१ सरस्वत्यः, ३२ हरस्वत्यः, ३३ रोधस्वत्यः, ३४ भास्वत्यः, ३५ अजिराः, ३६ मातरः, ३७ नद्यः इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥१३॥

विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वाऽमिश्रीभावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्शुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव—'गाधा भवत' इति

विश्वामित्र ऋषि पिजवन [राजा]के पुत्र 'सुदाः' [सुदास् शब्दका षष्ठीका एक वचन 'सुदासः' पद यहाँ प्रयुक्त हुआ है। वह प्रथमान्त पद नहीं है। प्रथमा में उसका रूप 'सुदाः' बनता है। उस राजा]के पुरोहित थे। [और उसको यज्ञ कराया। यज्ञ समाप्त होनेके बाद राजासे प्रभूत दक्षिणा प्राप्त कर, वे अपने घरको चले और रास्तेमें पड़नेवाली 'विपाट्' तथा 'शुतुद्रि' [व्यास तथा सतलज] नदियोंके संगमपर पहुँचे। प्रसंगतः विश्वामित्र, पैजवन आदि शब्दोंका निर्वचन करते हैं।]

विश्वामित्र अर्थात् सबके मित्र [विश्वमित्र शब्दमें 'मित्रे चर्षौ' अष्टा० ६-२-१३० सूत्रसे दीर्घ होकर विश्वामित्र होता है। विश्वमित्र नहीं] 'सर्व' सब जगह फैला हुआ [संसृत] होता है [अर्थात् 'सृ गतौ' धातुसे सर्व-नीघृष्व-रिष्व-लष्व-शिव-पट्व-प्रह्वेष्वा अस्वतन्त्रे' उणादि १-१५९ सूत्रसे वन् प्रत्ययान्त निपातित किया गया है]। 'सुदाः' सुन्दर दान करनेवाला [कल्याणदान]। पैजवन अर्थात् पिजवनका पुत्र। और 'पिजवन 'स्पर्धनीय वेगवाला अथवा जिसकी गति किसीसे मिलती नहीं है [सबसे अधिक है]। वह [विश्वामित्र दक्षिणामें प्राप्त] धनको लेकर व्यास तथा सतलजके संगमपर पहुँचा और नदियोंसे प्रार्थना की [नदियोंकी स्तुति की] कि [गाधाः अर्थात्

अपि द्विवत्, अपि बहुवत्। तद्यद् द्विवत् तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। अथैतद् बहुवत् ॥२४॥

[२५]

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥
[ऋ० ३-३३-५]

थाह लेने योग्य] पैदल पार करने योग्य हो जाओ। दोके समान भी और बहुतके समान [अर्थात् द्विवचन और बहुवचन दोनोंमें स्तुति की]। उनमें जो दोके समान [स्तुति] है उसे आगे [९-३९ में] कहेंगे। बहुवत् [स्तुति] यह है ॥२४॥

[२५]

हे [वर्षाकालकी] जलसे भरी हुई [ऋतावरीः] नदियो, सोम [याग]का सम्पादन करनेवाले मेरे वचन [के आदर]के लिए [अथवा मेरी विनम्र प्रार्थनाकी रक्षाके लिए] तनिक देरके लिए [अपनी इस प्रचंड] गतिसे विरत हो जाओ। कुशिकका पुत्र [अथवा कृषकका पुत्र] मैं विश्वामित्र अपनी रक्षाके लिए शुद्ध एवं हार्दिक प्रबल भावनासे नदियोंसे प्रार्थना करता हूँ।

ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ३३वें सूक्तमें नदियोंकी प्रधानरूपसे स्तुति पायी जाती है। इस सूक्तके ऋषि विश्वामित्र और देवता 'नद्यः' बहुवचनान्त हैं। इसलिए इस सूक्तमें नदियोंकी बहुवत् स्तुति की गयी है। इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ बहुवत् स्तुतिके रूपमें इस मन्त्रको उद्धृत किया है। इसकी अवतरणिका-रूपमें जो सुदास और विश्वामित्रके यज्ञकी कथा यहाँ दी गयी है उसका इस

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने। ऋतावरीः ऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम प्रत्यृतं भवति। मुहूर्तम् एवैः अयनैः, अवनैर्वा। मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः। ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः। मुहुर्मूढ

सोम्य सोमका सम्पादन करनेवाले मेरे वचन [की रक्षा]के लिए। ऋतावरी अर्थात् जलसे भरी हुई। 'ऋत' यह जलका नाम है। [क्योंकि वह सर्वत्र] गया हुआ पहुँचा हुआ है। ['ऋ गतौ' 'धातु'से 'क्त' प्रत्यय करके 'ऋतं' शब्द बनता है] थोड़ी देरके लिए एवैः अर्थात् अयनैः गतिसे [उपरमध्वं विरत हो जाओ] अथवा अवन-रक्षा-के कारणसे ['इण गतौ' अथवा 'अव रक्षणे' धातुसे वन प्रत्यय करके 'एव' शब्द सिद्ध होता है यह अभिप्राय है]। मुहूर्त मुहुः ऋतुः [से बना है। वार-वार जल्दी-जल्दी होनेवाला काल]। ऋतु गत्यर्थक ऋ-धातुसे ['अर्तेश्च तुः' उणादि १-७४ सूत्रसे तु-प्रत्यय होकर बनता है]। मुहुः मूढ़ जैसा काल [मूढ़ व्यक्ति एक ही कामको वार-

---

सूक्तके मन्त्रोंमें कहीं उल्लेख नहीं है। उसकी ऐतिहासिक पक्ष माननेवालोंने अर्थके स्पष्टीकरणके लिए कल्पना की है। परन्तु मन्त्रोंका अर्थ उस कथाकी कल्पनाके विना भी लग सकता है। ऐतिहासिक पक्ष 'कुशिकस्य सूनुः'का अर्थ कौशिक अर्थात् विश्वामित्र मानकर ऐतिहासिक दृष्टिसे इन मन्त्रोंका अर्थ लगाता है। कुशिकका अर्थ यदि कृषक किया जाय तो यह अनित्य इतिहासके स्थानपर शाश्वत नियमका प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र हो जाते हैं। पहिले इनका ऐतिहासिक पक्षसे जो अर्थ यहाँ किया गया है उसको समझ लेना चाहिये। उसके बाद हम दूसरे अर्थकी विवेचना करेंगे।

यह मंत्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करते हैं—'उपरमध्वम्' इत्यादि।

इव कालो यावदभीक्ष्णं चेति । अभीक्ष्णं अभिक्षणं भवति । क्षणः क्षणोतेः प्रक्ष्णुतः कालः । कालः कालयतेर्गतिकर्मणः । प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या । मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा । अवनाय । कुशिकस्य सूनुः कुशिको राजा बभूव । क्रोशतेः शब्दकर्मणः, क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः । साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा ॥२५॥

वार करता जाता है। इसी प्रकार 'मुहुः'का अर्थ बार-बार होता है]। [मुहूर्तं उपरमध्वं'का अर्थ 'मुहूर्तं यावत्' अर्थात्] मुहूर्त-पर्यन्त । इस प्रार्थनाका अर्थ मुहूर्त-पर्यन्त रुकना ही नहीं है अपितु अभीक्ष्णं अर्थात् [निरन्तर रुकनेसे है]। 'अभीक्ष्ण' [का अर्थ] अभिक्षण [प्रतिक्षण या निरन्तर] है । क्षण [शब्द 'क्षणु हिंसायाम्' इस] क्षणु-धातुसे [बनता है। उसका अर्थ शीघ्र] नष्ट होनेवाला काल है । 'काल' [शब्द 'कल गतौ संख्याने च' चुरादि इस] गत्यर्थक 'कल' धातुसे [बना] है । ['प्र' का 'अह्वे'के साथ अन्वय करके] नदियोंकी भली प्रकारसे स्तुति करता हूँ । बृहती अर्थात् महती। [मनीषा अर्थात्] हार्दिक स्तुतिसे अथवा बुद्धिसे । [अवसे अर्थात् अवनाय] रक्षाके लिए । कुशिकका पुत्र कुशिक राजा हुआ है [उसका पुत्र कौशिक विश्वामित्र । यह कुशिक नाम] शब्दार्थक [क्रुश आह्वाने रोदने च'] क्रुश धातुसे अथवा प्रकाशार्थक क्रंश-धातुसे ['क्रस हरणदीप्त्योः' यह धातु है 'क्रंश' धातु नहीं है] बना है। अथवा अर्थोंकी भली प्रकार घोषणा करनेवाला यह [कुशिक शब्दका] अर्थ है ॥२५॥

[२६]

नद्यः प्रत्यूचुः—

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रदद् वज्र॑बाहु॒रपा॑हन् वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म्।
दे॒वो॑ऽनयत् सवि॒ता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑स॒वे या॑म उ॒र्वीः ॥
[ऋ० ३-३३-६]

इन्द्रो अस्मानरदद् वज्रबाहुः। रदतिः खनतिकर्मा। अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत् सविता सुपाणिः, कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः। प्रगृह्य

---

[२६]

[विश्वामित्रकी इस प्रार्थनाको सुनकर] नदियोंने उत्तर दिया—

[नदीनां परिधिं] नदियों [के प्रवाह] को रोकनेवाले वृत्रको मारकर हाथमें वज्र धारण किये हुए इन्द्रने हमको [खोदा अर्थात्] प्रवाहित किया है और सुन्दर हाथोंवाला और हमको उत्पन्न करनेवाला [वही इन्द्र अथवा सुन्दर किरणोंवाला सूर्य] देव हमको [समुद्रकी ओर बहाकर] ले जा रहा है। प्रचण्ड वेगवती [उर्वाः अथवा विस्तीर्ण] हम उन्हींके अनुशासन [प्रसवे] में चल रही हैं।

वज्रबाहु इन्द्रने हमको खोदा [अर्थात् प्रवाहित किया] है। रद-धातु खोदनेके अर्थमें है। [अनावृष्टि द्वारा] नदियों [के प्रवाह] को रोकनेवाले वृत्रको मारकर इस [वृत्र-वध] की व्याख्या पहले कर चुके हैं। [२-१७ में उसे देख सकते हैं]। सुपाणि सविता देव हमको ले जाते हैं। यहाँ सुपाणि [का अर्थ] कल्याण करनेवाले हाथोंसे युक्त। 'पाणि' [शब्द 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इस] पूजार्थक पण-धातुसे बना है। दोनों हाथोंको जोड़कर देवताओंकी पूजा [स्तुति]

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करते हैं—'इन्द्रो' इत्यादि।

पाणी देवान् पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः । उर्व्य ऊर्णोतेः । वृणोतेरित्यौर्णवाभः ॥२६॥

[२७]

प्रत्याख्याय अन्तत आशुश्रुवुः—

आ ते॑ कारो शृणवामा॒ वचां॑सि य॒याथ॑ दू॒रादन॑सा॒ रथे॑न ।
नि ते॑ नंसै पाप्या॒नेव॒ योषा॒ मर्या॑येव क॒न्या॑ शश्व॒चै ते॑ ॥

[ऋ० ३-३३-१०]

करते हैं। [इसीलिए 'पाणि' शब्द पूजार्थक 'पण' धातुसे बना है] 'उर्वीः' अत्यन्त वेगवती या विस्तारसे सारी पृथिवीका] आच्छादन करनेवाली हम [नदियाँ] उस [इन्द्र]के अनुशासनमें चल रही हैं। [अर्थात् उसकी आज्ञासे ही हम रुक सकती हैं। इन्द्रकी आज्ञाके बिना आपकी प्रार्थनासे हम नहीं रुक सकतीं]। 'उर्वी' [शब्द 'ऊर्णुञ आच्छादने' इस] ऊर्णुञ्-धातुसे बनता है। 'और्णवाभ' [आचार्यके मतमें ['वृञ् आच्छादने' इस] वृ-धातु-से बना है ॥२६॥

[२७]

[इस प्रकार नदियोंने एक बार विश्वामित्रको] मना करके [अर्थात् विश्वामित्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करके] अन्तको स्वीकार कर लिया [और बोलीं]—

हे [कारो] स्तुति करनेवाले [विश्वामित्र]! हम तुम्हारी बात सुन रही हैं [अर्थात् तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर रही हैं] तुम अपनी गाड़ी और रथके द्वारा दूर चले जाओ। बच्चेको दूध पिलानेवाली स्त्रीके समान अथवा पुरुषके [शश्वचै] आलिंगनके लिए कन्याके समान हम तेरे लिए झुक रही हैं।

इस प्रकार नदियोंने विश्वामित्र कौशिककी प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया। यह मन्त्रका अर्थ हुआ। इसीकी व्याख्या ग्रन्थकार यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें निम्नप्रकार करते हैं—"आशृणवाम' इत्यादि।

आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा रथेन च। निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्। मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमै, इति वा ॥२७॥

हे स्तुति करनेवाले [विश्वामित्र]! तुम्हारी बात हम सुन [स्वीकार कर] रही हैं। अपनी गाड़ी [अनः शकटम्] और रथके द्वारा पार [दूरात्] चले जाओ। पुत्रको दूध पिलानेवाली स्त्रीके समान हम तुम्हारे लिए झुकी जा रही हैं। अथवा पुरुषके आलिंगनके लिए कन्याके समान तुम्हारे लिए झुक रही हैं ॥२७॥

दूसरा पक्ष

इन मन्त्रोंमें प्रधानरूपसे नदियोंकी बहुवचनमें स्तुति की है, यह बात ऐतिहासिक पक्षके अनुसार दिखलायी है। परन्तु ऐतिहासिक पक्ष सर्वसम्मत पक्ष नहीं है। मीमांसक तथा नैरुक्त आदि वेदोंमें इतिहास नहीं मानते हैं। अतः उनके मतमें ये मन्त्र विश्वामित्रके इतिहासको नहीं अपितु नदियोंके विषयमें एक शाश्वत सत्यको प्रकट करते हैं। ये मन्त्र ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ३३ वें सूक्तसे उद्धृत किये गये हैं। उस सूक्तमें कुल १३ मन्त्र हैं। परन्तु उनमें इस ऐतिहासिक कथाका, जो यहाँ दी गयी है, कहीं भी उल्लेख नहीं है। मन्त्रमें आये हुए 'कुशिकस्य सूनुः' पदके आधारपर ऐतिहासिक कथाकी कल्पना की है। पर उस 'कुशिक' शब्दका अर्थ कृषक या शिल्पी भी हो सकता है। शाश्वत तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले पक्षमें 'कुशिकस्य सूनुः'का अर्थ कृषक या शिल्पी ही होगा। कृषक और शिल्पी [इंजीनियर लोग वर्षा कालकी उर्वीः अर्थात् प्रचण्ड प्रवाहवाली नदियोंको नियन्त्रित करने और सामान्यरूपसे उनपर पुलोंका निर्माण आदि करनेके लिए 'बृहती मनीषा' प्रबल इच्छा और संकल्प करते हैं। पर वह कार्य कुछ सहज तो नहीं है। वर्षाकी नदियोंका प्रवाह तो प्राकृतिक है। प्रकृतिके अनुकूल होनेपर ही उसमें कमी आ सकती है। पर फिर भी लगातार प्रयत्न करनेवाले शिल्पी अन्ततः उस कार्यमें सफल होते ही हैं। और पुलोंका निर्माण कर नदियोंके ऊपरसे गाड़ी, रथ आदिके यातायातकी व्यवस्था करनेमें सफलता

प्राप्त कर सकते हैं, यह इन मन्त्रोंके भीतर शाश्वत नियमका प्रतिपादन किया गया है ॥२७॥

नदीसूक्त

'रमध्वं मे वचसे' इत्यादि दोनों मंत्र ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ३३वें सूक्तसे लिये गये हैं। इस सूक्तकी देवता 'नद्यः' और ऋषि विश्वामित्र हैं, इसलिए व्याख्याकारोंने इसे विश्वामित्र तथा नदियोंके बीच हुए एक संवादके रूपमें प्रस्तुत किया है। सूक्तमें कुल १३ ऋचाएँ हैं। इनमेंसे पहिली तीन तथा अन्तिम दो ऋचाओंमें नदियोंका सामान्य वर्णन है। शेष ८ ऋचाओंमें संवादात्मक स्वरूप पाया जाता है। जिनमेंसे ४, ६, ८ तथा १० संख्यावाली चार ऋचाएँ नदियोंकी ओरसे तथा शेष ५, ७, ९, ११, ऋचाएँ विश्वामित्रकी ओरसे कही गयी हैं। मूल प्रश्न यह है कि क्या यह संवाद कोई वास्तविक ऐतिहासिक संवाद है अथवा यह कोई आलङ्कारिक वर्णन है? यह तो निश्चय है कि नदियाँ अचेतन हैं। वे बोल नहीं सकती हैं। इसलिए उनकी उक्तिके रूपमें जो मंत्र यहाँ उपस्थित किये गये हैं। वे नदियोंके वास्तविक वचन नहीं हैं। अतः यह संवाद कोई ऐतिहासिक संवाद न होकर किसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए एक आलङ्कारिक संवादके रूपमें ही यहाँ उपस्थित किया गया है। तब हमें यह सोचना होगा कि—

१ इस संवाद-सूक्तका वर्ण्य विषय क्या है? और

२ नदियोंके साथ हुए इस आलङ्कारिक संवादमें भाग लेनेवाला यह विश्वामित्र कौन है?

इन मन्त्रोंको पढ़नेसे उनका विषय बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा। इसलिए हम पहिले उन संवादात्मक आठ ऋचाओंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

[१]

एना व॒यं पय॑सा॒ पिन्व॑माना॒ अनु॒ योनिं॑ दे॒वकृ॑तं॒ चर॑न्तीः ।
न वर्त॑वे प्रस॒वः सर्ग॑तक्तः किं॒युर्विप्रो॑ न॒द्यो॑ जोहवीति ॥४॥
रम॑ध्वं मे॒ वच॑से सो॒म्याय॒ ऋता॑वरी॒रुप॑ मु॒हू॒र्तमे॒वैः ।
प्र सिन्धु॒मच्छा॑ बृह॒ती म॑नी॒षाव॒स्युर॑ह्वे कुशि॒कस्य॑ सू॒नुः ॥५॥

[३]

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रद॒द् वज्र॑बाहु॒रपा॑हन् वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म् ।
दे॒वो॑ऽनयत्सवि॒ता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑स॒वे या॑म उ॒र्वीः ॥६॥
प्र॒वाच्यं॑ शश्व॒धा वी॒र्यं१॒॑ तदिन्द्र॑स्य॒ कर्म॒ यदहिं॑ वि॒वृश्चत् ।
वि वज्रे॑ण परि॒षदो॑ जघा॒नाय॒न्नापोऽय॑नमि॒च्छमा॑नाः ॥७॥
ए॒तद्वचो॑ जरित॒र्मापि॑ मृष्ठा आ यत् ते॒ घोषा॒नुत्त॑रा यु॒गानि॑ ।
उ॒क्थेषु॑ कारो॒ प्रति॑ नो जुषस्व॒ मा नो॒ नि कः॑ पुरुष॒त्रा नम॑स्ते॥८॥
ओ षु स्व॑सारः का॒रवे॑ शृणोत य॒यौ वो॑ दू॒रादन॑सा रथे॑न ।
नि षू न॑मध्वं॒ भव॑ता सुपा॒रा अ॑धो अ॒क्षाः सिन्ध॑वः स्रो॒त्याभिः॑ ॥९॥

[४]

आ ते॑ कारो शृणवामा॒ वचां॑सि य॒याथ॑ दू॒राद॑नसा॒ रथे॑न ।
नि ते॑ नंसै पीप्या॒नेव॒ योषा॒ मर्या॑येव क॒न्या॑ शश्व॒चै ते॑ ॥१०॥
यद॒ङ्ग त्वा॑ भर॒ताः सं॒तरे॑युर्ग॒व्यन्ग्राम॑ इषि॒त इन्द्र॑जूतः ।
अर्षा॒दह॑ प्रस॒वः सर्ग॑तक्त॒ आ वो॑ वृणे सुम॒तिं य॒ज्ञिया॑नाम् ॥११॥

[५]

अता॑रिषुर्भर॒ता ग॒व्यवः॒ सम॑भक्त॒ विप्रः॑ सुम॒तिं न॒दीना॑म् ।
प्र पि॑न्वध्वमि॒षय॑न्तीः सु॒राधा॒ आ व॒क्षणाः॑ पृ॒णध्वं॑ या॒त शीभ॑म् ॥१२॥
उद्व॑ ऊ॒र्मिः शम्या॑ ह॒न्त्वापो॒ योक्त्रा॑णि मुञ्चत ।
माऽदु॑ष्कृतौ॒ व्ये॑नसा॒ऽघ्न्यौ शून॒मार॑ताम् ॥१३॥

ऊपर हमने इन मन्त्रोंको दो-दो मंत्रोंके युग्म-वर्गके रूपमें उद्धृत किया है। प्रत्येक वर्गमें प्रथम मंत्र नदियोंकी उक्तिके रूपमें और दूसरा मंत्र विश्वामित्र-की उक्तिके रूपमें है। इन आठ मंत्रोंमेंसे चार मत्र नदियोंकी उक्तिके रूपमें हैं। इनमेंसे पहिले मंत्रमें नदियोंकी गर्वोक्ति है और अन्तिम मंत्रमें नदियोंका आत्म-समर्पण या पराजयकी स्वीकृति है। संवादका प्रारम्भ नदियोंकी गर्वोक्तिसे होता है और उसकी समाप्ति नदियोंके आत्मसमर्पणमें होती है। वर्षाकालकी नदियाँ जलसे भरी हुई इठलाती भागी जा रही हैं। उनके कार्यमें न कोई बाधक बन सकता है और न कोई उनके वेगको रोक सकता है। मनुष्यका

आवागमन और व्यापार सब कुछ उन्होंने ठप कर दिया है। और मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर खड़ा-खड़ा उनकी ओर ताक रहा है। चाहता है कि उनका वेग शान्त हो और मानवके यातायातका मार्ग खुल सके। नदियोंकी इसी दुर्लंघ्य अहन्ता और मानवकी इस विवशताका एक सुन्दर शब्दचित्र वेदकी काव्यमयी भाषामें बड़े आकर्षक ढंगसे इस संवादके प्रथम मंत्रमें प्रस्तुत किया गया है।

मंत्रका आरम्भ होता है 'एना वयं पयसा पिन्वमाना' इस अपार जलसे भरी हुई हम नदियाँ 'देवकृतं योनिम् अनुचरन्तीः' भगवान्के बनाये हुए मार्गसे जिसपर मनुष्यका कोई वश नहीं है—स्वेच्छापूर्वक भाग रही हैं। 'सर्गतक्तः' सर्ग इति उदकनाम, निघण्टुः १,१२। सर्गतक्तः अर्थात्] जलके सङ्कोचका कोई [प्रसूयते फलं येन सः प्रसवः साधनम्, उपायो वा। प्रसव अर्थात् साधन या] उपाय [न वर्तवे] दिखलायी नहीं देता है। ऐसी दशामें [किंयुर्विप्रः] किंकर्तव्यविमूढ मनुष्य खड़ा-खड़ा [नद्यो जोहवीति] नदियोंकी प्रार्थना करता है।

यह पहिले मंत्रका अर्थ है। नदियोंके अहन्त्व और मानवकी विवशताका कैसा सुन्दर वर्णन है। विवशताकी परिसमाप्ति प्रार्थनामें होती है। जहाँ मनुष्यका पौरुष पराजित हो जाता है वहाँ अलौकिक शक्तिका स्मरण उसको होता है। इसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्वको 'किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति'के द्वारा मन्त्रमें व्यक्त किया गया है। इसी विवशतासे प्रेरित होकर अगले मन्त्रमें विश्वामित्र नदियोंसे प्रार्थना करते हैं कि—

हे [ऋतावरीः] जलसे परिपूर्ण नदियो, [सोम्याय मे वचसे] मेरी विनम्र प्रार्थनाकी खातिर, [मुहूर्तं] कुछ समयके लिए [एवैः उपरमध्वम्] अपने इस गतिवेगको शान्त करो ['कुशिकस्य सूनुः' 'विकारस्त्वयसः कुशी' लोहेसे बने पत्रादि 'कुशी' कहलाते हैं। उनके द्वारा जिसका जीवननिर्वाह होता है वह कुशिक-पुत्र अर्थात् शिल्पी या कृषक 'कौशिक' कहलाता है। 'कुशी फालेपि' हलका जो फाला होता है उसको भी 'कुशी' कहा जाता है। उसे फालके आधारपर जीविका चलानेवाला कृषक भी कुशिक-पुत्र या कौशिक कहा जाता है। इसलिए 'कुशिकस्य सूनुः'के दो अर्थ हो सकते हैं। एक शिल्पी और दूसरा कृषक। दोनों ही अर्थ यहाँ सुसंगत हो सकते हैं। क्योंकि नदियोंके इस

विकराल रूपसे ये दोनों ही त्रस्त होते हैं। नदियोंके प्रवाहको नियन्त्रित करनेकी चिन्ता इन दोनोंको ही होती है। इसलिए 'कुशिकस्य सूनुः' अर्थात्] लौहोपजीवी [कृषक या शिल्पीरूप] मैं [अच्छा बृहती मनीषा] सुन्दर भावना एवं दृढ संकल्पसे [सिन्धुं प्र अह्वे] आप नदियोंका [लोककल्याणके निमित्त] आह्वान करता हूँ। [हम शिल्पी या कृषक यह चाहते हैं कि नदियाँ अपने इस विकराल लोक-विध्वंसक रूपको छोड़कर नियन्त्रित जलप्रवाह द्वारा लोककल्याणका साधन बनें। यह इस द्वितीय मन्त्रका भाव है।

इन दोनों मन्त्रोंमें हमने देखा कि एक ओर उद्दाम प्रकृतिका अभिमान है और दूसरी ओर उसके ऊपर विजय पानेकी मानवकी 'बृहती मनीषा' [मनस ईषा, मनका दृढ़ संकल्प] है। दोनोंका संघर्ष हो रहा है। नदियोंके उद्दाम प्रवाहको देखकर एक बार तो वह [विप्रः] बेचारा। [किंयुः] किंकर्त्तव्य-विमूढ़ और हतप्रभ हो गया। किन्तु शीघ्र ही संभल गया। उसकी चेतना जाग उठी। और उसने प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेकी अपनी 'बृहती मनीषा' [दृढ़ संकल्प] को व्यक्त करते हुए नदियोंके रूपमें प्रकृतिका लोककल्याणके लिए आह्वान किया। परन्तु 'अभिमानका प्रथम उफान प्राकृतिक तूफानसे भी अधिक उद्दाम होता है। वह अपने मार्गमें किसीको बाधक बनकर आने नहीं देना चाहता है! यहाँ नदियोंके 'अहं'ने भी वही खेल शुरू किया है। सुनिये उस 'कुशिक-सूनु' [शिल्पी या कृषक]की 'बृहती मनीषा' [दृढ़ संकल्प] का नदियां क्या उत्तर देती हैं—

हे कुशिक-पुत्र। कान खोलकर सुन लो, तुम्हारी यह 'बृहती मनीषा' हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती है। तुम 'कुशिक-पुत्र' हो तो हम भी कम नहीं हैं। हम वज्रबाहु इन्द्रकी सन्तान हैं। [इन्द्रो अस्मान् अरदत् वज्रबाहुः] वज्रबाहु इन्द्रने हमें खोदकर बनाया है। वृत्र जो हमारे मार्गका बाधक था उस 'नदीनां परिधिं' नदियोंके प्रवाहावरोधक वृत्र [अनावृष्टि] को [अपाहन्] नष्ट करके इन्द्रने [अस्मान् अरदत्] हमारा पथ प्रशस्त किया। और इन्द्र ही नहीं सूर्यदेव भी हमारी सहायता कर रहे हैं।

इन्द्रने मेघोंको बरसाकर हमें प्रवाहित किया है तो 'सुपाणिः सविता देवः' सुन्दर किरणोंवाले सूर्यदेव [अस्मान् अनयत्] बर्फको पिघलाकर अन्य समयमें

हमारे प्रवाहको शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इसलिए वर्षाकालमें इन्द्रदेव तथा ग्रीष्मकालमें सूर्यदेव हमारे जल-प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। इसलिए आप हमें दुर्बल मत समझो। इन दो देवताओंकी कृपासे परिपोषित होकर['प्रसवे उर्वीः' प्रसूयते फलमनेन इति प्रसवः कृपा, उपायः साधनं वा] प्रवाहित हो रही हैं [यामः]। इसलिए आप हमें अपनी 'बृहती मनीषा' दृढ़ संकल्पका भय मत दिखलाइये। यह इस संवादके तीसरे मन्त्र ['इन्द्रो अस्मान् अरदत्' इत्यादि]का भाव हुआ।

तथ्य तो तथ्य ही है, उसे स्वीकार करना ही होता है। और उसे जितनी जल्दी स्वीकार कर लिया जाय उतना ही अच्छा है। इसलिए 'कुशिक-पुत्र'ने नदियोंके इस कथनको तुरन्त स्वीकार कर लिया और कहा कि—

[इन्द्रस्य तद्वीर्यम्] इन्द्रके उस पराक्रम तथा 'कर्म'की [यदहिं विवृश्चत्] जो उसने वृत्र मेघको खण्डित किया [शश्वधा प्रवाच्यम्] सदैव प्रशंसा ही होगी। उसने [परिषदः] जल-प्रवाहको प्रतिरुद्ध करनेवाले मेघको [वज्रेण निजघान] वज्रसे नष्ट कर दिया। तब [अयनम् इच्छमाना आपः] प्रवाहित होनेके लिए तत्पर वृष्टिजल [आयन्] प्रवाहित हुए।

यह दो बारकी उक्ति-प्रत्युक्तियाँ ही हुईं। अन्तिम मन्त्रमें 'कुशिक-पुत्र'ने इन्द्रके पराक्रमकी तो प्रशंसा की, किन्तु उससे नदियोंको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपनी उपेक्षाको अपना अपमान समझा। इसलिए उन्होंने स्पष्टरूपसे अपने यथार्थ मूल्यांकनके लिए बल दिया। अगले मन्त्रमें नदियाँ 'कुशिक-पुत्र' [शिल्पी या कृषक]से कहती हैं कि—

हे स्तुति करनेवाले [जरितः, एतद्वचोऽपि] इस बातको भी [मा मृष्ठा] मत भूलो कि [यत् ते घोषान्] तुम्हारी आवाज, तुम्हारे निर्णय [उत्तरा युगानि] याने युग-युग तक प्रमाणभूत रहेंगे। इसलिए आप हम नदियोंके महत्त्वको कम मत कीजिये। [हे कारो] हे शिल्पिन्, [उक्थेषु नः प्रतिजुषस्व] अपने वचनोंमें हम नदियोंका भी यथार्थ मूल्याङ्कन कीजिये। और [पुरुषत्रा] मनुष्योंके बीच [नः] हमको [मा नि कः] न्यक्कृत—तिरस्कृत—मत कीजिये।

नदियोंका कुशिक-पुत्र [शिल्पी या कृषक] के साथ यह आलङ्कारिक संवाद आगेके मन्त्रोंमें भी चल रहा है। किन्तु उन सारे मंत्रोंका अर्थ करनेकी

आवश्यकता नहीं है। इतने मन्त्रोंसे यह बात निकल आती है कि इस आलङ्कारिक संवाद द्वारा कौशिक-पुत्रका नदियोंके उद्दाम वेगको नियंत्रित करनेका दृढ़ संकल्प (बृहती मनीषा) व्यक्त होता है। और अन्तमें उसे अपने प्रयत्नमें सफलता मिलती है। नदियाँ स्वयं कहती हैं 'आ ते कारो शृणवाम वचांसि' हे शिल्पिन्, आपकी बात हमने मान ली। अब आप 'अनसा रथेन' अपने प्राणवान् रथ द्वारा हमारे ऊपरसे होकर आनन्दपूर्वक [दूरं ययाथ] निकल जाओ।

नदियोंकी इस उक्तिको सुनकर 'कुशिक-पुत्र' आनन्दसे विह्वल हो उठता है। उसके मुँहसे सहसा निकल पड़ता है कि—'अर्षादह प्रसवः सर्गतक्तः' ओ हो 'सर्गतक्त' अर्थात् जलके संकोचका 'प्रसवः' उपाय 'अर्षात्' मिल गया। वह उपाय क्या था? वह उपाय था पुल। अब उसके द्वारा 'इषितः ग्रामः' यथेष्ट समुदाय और 'भरताः' भारवाहन गाड़ियाँ आदि 'त्वा सन्तरेयुः' तुम नदियोंको पार कर सकेंगे। इसलिए [यज्ञियानां] 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' दान-दाताओं की [सुमतिं वो आवृणे] कल्याणदायिनी बुद्धिका आपके ऊपर पुल बनानेके लिए मैं आवाहन करता हूँ।

इस सूक्त के कुछ प्रमुख शब्द

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्तमें उद्दाम नदियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेके शिल्पीके दृढ़ संकल्प तथा उसमें सफलता प्राप्त करनेका वर्णन किया गया है। उसमें सुदास् राजा और उसके पुरोहित विश्वामित्रकी कथाका कोई उल्लेख नहीं है। इतिहासवादी पक्षने जिस 'कुशिकस्य सूनुः' पदका अर्थ विश्वामित्र करके इस सूक्तके साथ विश्वामित्रका सम्बन्ध जोड़नेका यत्न किया है वह शब्द, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, शिल्पी या कृषकका वाचक है। इस बातका समर्थन मन्त्रमें प्रयुक्त 'कारो' पदसे भी होता है। इतिहासवादी पक्षने 'कारो'का अर्थ 'स्तोतः' किया है। वह ठीक नहीं है। 'कृ' धातु जिससे कि 'कारु' शब्द बना है स्तुति अर्थ में पठित नहीं है। करनेके अर्थमें पठित है। अतः 'करोतीति कारुः' यह कारु शब्दका निर्वचन होता है। इतिहासवादी यास्कने जब 'कारो' का अर्थ स्तोतः किया है तो उन्होंने इसे 'गॄ' धातुसे सिद्ध माना है ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु वह तो व्यर्थकी खींच-तान है।

'कारु' शब्द सीधा 'कृ' धातुसे बना है और उसका अर्थ शिल्पी होता है। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री उदयनाचार्यने अपनी 'न्यायकुसुमाञ्जलि'के आरम्भमें 'किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मा इत्युपासते' इस रूपमें 'शिल्पी'के अर्थमें 'कारु' शब्दका प्रयोग किया है। इसलिए 'कारु' शब्द शिल्पीका वाचक है और यह इस बातका भी समर्थन करता है कि 'कुशिकस्य सूनुः'का अर्थ भी शिल्पी ही करना चाहिये विश्वामित्र नहीं। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि इस सूक्तके साथ सुदास् और विश्वामित्रकी कथाका कोई सम्बन्ध नहीं है।

विपाट्शुतुद्री शब्द

इस 'नदीसूक्त'के शब्दोंमें 'विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते' के रूपमें प्रयुक्त विपाट् तथा शुतुद्रि शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। इतिहासवादी पक्ष इन शब्दोंसे पंजाबकी प्रसिद्ध व्यास तथा सतलज नदियोंका ग्रहण करता है। किन्तु यह इन शब्दोंका रूढ़ अर्थ है। निरुक्त-सिद्धान्तके अनुसार वेदमें शब्दोंका यौगिक अर्थ ही लेना चाहिये। रूढ़ अर्थ नहीं। इस दृष्टिसे विपाट् तथा शुतुद्रि शब्द किसी विशेष नदीके वाचक न होकर सामान्यरूपसे नदियोंके दो भेदोंके ग्राहक है। एक प्रकारकी नदियाँ वे हैं जो अपने लम्बे-चौड़े फाटके कारण प्रसिद्ध होती हैं। उनको विपाट् कहते हैं। 'पाशान् मोचयति इति विपाट्' जो सीमासम्बन्धी सारे बन्धनोंको तोड़ डालती हैं। इसलिए चौड़े फाटवाली सभी नदियोंके लिए विपाट् शब्दका प्रयोग होता है। नदियोंका दूसरा वर्ग वह है जो अपनी तीव्र गतिके लिए प्रसिद्ध है। इस वर्गकी सभी नदियोंको सामान्यरूपसे 'शुतुद्रि' कहा जा सकता है। उसका अर्थ 'शतधा द्रवति अथवा आशु द्रवति इति शुतुद्रि' यह होगा। इस प्रकार 'नदीसूक्त'में प्रयुक्त 'विपाट्' तथा 'शुतुद्रि'पद भी ऐतिहासिक पक्षके समर्थक नहीं हैं। यास्कने उन्हें जो व्यास तथा सतलज नदियोंका शुद्ध नाम मान लिया है वह उचित नहीं किया है। वे दोनों यौगिक शब्द हैं। इसी प्रकार यास्कने 'कुशिकस्य सूनुः' पदको 'विश्वामित्र'का रूढ़ नाम मानकर निरुक्त-सिद्धान्तका उल्लंघन किया है। 'कुशिकस्य सूनुः' का अर्थ शिल्पी है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। शिल्पियोंका अध्यक्ष 'विश्वकर्मा'

[२८]

अश्वनामानि उत्तराणि षड्विंशतिः ।

तेषामष्टावुत्तराणि बहुवत् । अश्वः कस्मात् ? अश्नुते अध्वा-

---

[२८]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले २६ नाम अश्वके [वाचक] हैं ।

उनमेंसे अन्तिम ८ [नाम] बहुवचनान्त (बहुवत्] हैं । अश्व [शब्द) कैसे [बनता है ? यह प्रश्न है । उसका उत्तर देते हैं—क्योंकि वह] मार्गको व्याप्त करता [पार करता] है। अर्थात् 'अशूङ् व्याप्तौ' धातुसे 'अशू-प्रुषि-लटि-कणि-खटि-विशिभ्यः क्वन्' उणादि०

कहलाता है । आधुनिक शासन-व्यवस्थामें पुल, सड़क आदिका निर्माण करने-वाला राजकीय विभाग 'लोक-कर्मविभाग' (पी० डब्ल्यू० डी०) कहलाता है। और 'लोक-कर्मविभाग' का अध्यक्ष 'विश्वकर्मा' कहा जा सकता है। इस 'विश्वकर्मा' शब्दका भाव 'विश्वामित्र' शब्दसे बहुत-कुछ मेल खाता है। इसलिए लोक-कर्मविभाग [पी० डब्ल्यू० डी०], विश्वकर्मा तथा विश्वामित्र शब्द एक दूसरेसे अत्यन्त सम्बद्ध शब्द है और वे सड़क, पुल आदिका निर्माण करनेवाले सार्वजनिक निर्माण-विभागसे सम्बद्ध शब्द हैं । इस सबका फलितार्थ यह निकलता है कि इस 'नदीसूक्त'में सुदास् तथा विश्वामित्रकी कथाका कहीं न उल्लेख है और न सम्बन्ध है । यास्कने इस कथाको व्यर्थ ही इस सूक्तके साथ जोड़ दिया है। उसमें नैरुक्त सिद्धान्तका उल्लंघन भी होता है और वेदका गौरव भी घटता है । अतः यह अनुचित प्रयास है ।

अश्वके वाचक २६ शब्द

निघण्टुः—१. अत्यः, २. हयः, ३. अर्वा, ४ वाजी, ५. सप्तिः, ६. वह्निः, ७. दधिक्राः, ८. दधिक्रावा, ९. एतग्वः, १०. एतशः, ११. पैद्वः, १२. दौर्गहः, १३. औच्चैःश्रवसः, १४. तार्क्ष्यः, १५. आशुः, १६. ब्रध्नः, १७. अरुषः, १८. मांश्चत्वः, १९. अव्यथयः, २०. श्येनासः, २१. सुपर्णाः, २२. पतङ्गाः, २३ः नरः, २४. ह्रार्याणाम्, २५. हंसासः, २६. अश्वाः इति षड्विंशतिरश्व-नामानि ॥१४॥

नम् । महाशनो भवतीति वा । तत्र दधिक्रा इत्येतत् दधत्क्रामतीति वा, दधत्क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा । तस्याश्ववत् देवतावच्च निगमा भवन्ति । तत्र यद्देवतावत् तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । अथैतदश्ववत्—

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि ।
क्रतुं दधिक्रा अनु संतवीत्वत् पथामंकांस्यन्वापनीफणत् ।

[ऋ० ४-४०-४]

---

१. १५७ सूत्रसे 'क्वन्' प्रत्यय करके 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है]। अथवा वह 'बहुत खानेवाला होता है [अर्थात् 'अश भोजने' धातुसे क्वन् प्रत्यय होता है] । उन [अश्वके नामों]में से 'दधिक्राः' यह [शब्द विशेष द्रष्टव्य है । उसका निर्वचन] 'दधत् क्रामति' सवारको बैठालकर चलता है, अथवा सवारको बैठालकर हिनहिनाता है अथवा सवारको बैठालकर विशेष सुन्दर आकारवाला हो जाता है । उस ['दधिक्राः'] के अश्व अर्थवाले और देवता अर्थवाले [दोनों प्रकारके] मन्त्र पाये जाते हैं । उनमेंसे जो देवता अर्थवाले मन्त्र हैं उनकी व्याख्या आगे [दैवतकाण्ड १०-१९ में] करेंगे । अश्वके अर्थमें [अश्वके समान 'दधिक्राः'का प्रयोग] यह [अगले मन्त्रमें] है—

[स्य] वह वेगवान् घोड़ा [ग्रीवायां कक्षे अपि आसनि बद्धः] गर्दनमें, काँखमें और मुखमें भी बँधा हुआ होनेपर भी [क्षिपणिमनु तुरण्यति] चाबुकके लगते ही वेगसे दौड़ने लगता है । और ['दधिक्राः क्रतुं अनुसन्तवीत्वत्] वह सवारको धारण करके दौड़नेवाला घोड़ा इस प्रकारका कार्य करता है, इस प्रकार दौड़ता है कि [पथां अंकांसि] मार्गोंके खाई-खन्दकों [कुटिल ऊँचे-नीचे भागों] को [अन्वापनीफणत्] फाँदता चला जाता है ।

यह मंत्रका अर्थ हुआ । आगे यास्क स्वयं अपने शब्दोंमें उसकी व्याख्या करते हैं— 'अपि स' इत्यादि ।

अपि स वाजी वेजनवान् क्षेपणमनु तूर्णमश्नुते अध्वानम्। ग्रीवायां बद्धः, ग्रीवा गिरतेर्वा, गृणातेर्वा, गृह्णातेर्वा। अपि कक्षे, आसनीति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः कर्म वा प्रज्ञां वा अनुसन्तवीत्वत्। तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः पथामंकांसि पथां

गर्दनमें बँधा हुआ भी वह वेगवान् [घोड़ा] चाबुकके साथ ही वेगसे मार्गको पार करने लगता है। ग्रीवा [शब्द] 'गृ निगरणे' धातुसे अथवा 'गृ शब्दे' धातुसे ['शेव-यह्वजिह्वा-ग्रीवाप्वमीवाः' उणादि० १-१४२ सूत्रसे घञ्प्रत्ययान्त निपातित है] अथवा ग्रह-धातुसे [भी ग्रीवा शब्द बन सकता है]। कांख [बंगल]में भी बँधा हुआ और 'आसनि' मुँहमें [भी बँधा हुआ]। 'आसनि' इसकी व्याख्या [१-८ में की हुई 'आस्य' पदकी व्याख्यासे ही] हो चुकी है। ['पद्दन्नोमास्०' इत्यादि अष्टा० ६-१-६३ सूत्रसे 'आस्य' शब्दको 'ङि' परे हानेपर 'आसन्' आदेश होकर आसनि शब्द बनता है]। 'क्रतुं दधिक्राः' [यहाँ 'क्रतु' शब्दका अर्थ] कार्य अथवा प्रज्ञा [अर्थात् दौड़नेके कर्म अथवा उसके कौशल] को। 'अनुसन्तवीत्वत्' यह [तनु विस्तारे] धातुकी प्रथम प्रकृति [अर्थात् शुद्ध धातु] से बने हुए रूपका निगम [अर्थात् मन्त्रमें प्रयोग] है। [प्रकृत्यन्तः सन्नन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च। ण्यन्तो ण्यन्तसन्नन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते॥ इस वचनके अनुसार ६ प्रकारके धातु हैं। उनमें 'अनुसन्तवीत्वत्' यह रूप धातुकी प्रथम प्रकृतिका रूप है यह अभिप्राय है] 'पथां अंकांसि' अर्थात् मार्गोंके [कुटिल] ऊँचे-नीचे भागोंको।

इस मन्त्रमें 'अनुसन्तवीत्वत्' और 'अन्वापनीफणत्' ये दो क्रियापद आये हैं। ये दोनों प्रयोग कुछ विचित्रसे जान पड़ते हैं। इसलिए इन शब्दोंपर यास्कने विशेष टिप्पणी लिखी है। 'अनुसन्तवीत्वत् तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः', 'आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतिवृत्तम्' ये टिप्पणियाँ इन प्रयोगोंपर यास्कने उनके स्पष्टीकरणार्थ लिखी हैं। परन्तु उनसे भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। जो

कुटिलानि । पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा । अङ्कः अञ्चतेः । आपनीफणदिति फणतेः चर्करीतवृत्तम् ।

पथ [शब्द गत्यर्थक] पत-धातुसे या पद-धातुसे अथवा 'पथि' धातुसे 'पतः स्थ च' उणादि ४-४१२ सूत्रसे 'इनि'-प्रत्यय और अन्त-को थकार आदेश होकर 'पथिन्' शब्द बनता] है । अंक [शब्द] 'अञ्चु गतिपूजनयोः' इससे, या अञ्जु धातुसे [अंजि-अंचि-यजि-सृजिभ्यः कश्च' उणादि० ४-६५९ सूत्रसे अथवा 'अंजू व्यक्तिम्रक्षणकान्ति-गतिषु' धातुसे असुन्-प्रत्यय और अन्त वर्णको 'क' आदेश होकर बनता] है । 'आपनीफणत्' यह 'फण' [फण गतौ] धातुका [चर्करीति के समान] यङ्लुगन्तका प्रयोग है ।

पङ्क्ति एक शब्दकी व्याख्याके लिए लिखी थी, वह स्वयं उससे भी अधिक कठिन हो गयी है । 'मघवा मूल, बिडौजा टीका' इसीका नाम है । 'तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः' इसका अर्थ करते हुए स्कन्दस्वामोने 'तनोतेः'के स्थानपर 'तवतेः' पाठ माना है । 'पूर्वया प्रकृत्या'का अर्थ 'पूर्वोऽभ्यासः इत्यभ्यासलक्षणया प्रकृत्या सह साभ्यासस्य निगम इत्यर्थः' अर्थात् द्वित्व किये हुए—अभ्यास सहित—तवति धातुका रूप है ।

दुर्गाचार्यने इस 'पूर्वया प्रकृत्या निगमः'का अर्थ करते हुए लिखा है—

'प्रकृत्यन्तः सन्नन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च ।
ण्यन्तो ण्यन्तसन्नन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते ॥

आसां षण्णां धातुप्रकृतीनां या पूर्वप्रकृतिस्तयैव निगमः । न सन्प्रकृतीत्या-दीनामन्यतमया ।' अर्थात् १ प्रकृत्यन्त, २ सन्नन्त, ३ यङन्त ४ यङ्लुगन्त, ५ ण्यन्त और ६ ण्यन्त-सन्नन्त ये जो ६ प्रकारके धातु कहे हैं । उनमेंसे जो प्रथम प्रकृति अर्थात् शुद्ध धातु है उसका 'अनुसन्तवीत्वत्' यह रूप है । यह दुर्गाचार्यका मत है । इस प्रकार इस पदकी व्याख्यामें दुर्गाचार्य तथा स्कन्द-स्वामीकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकारकी है ।

दश उत्तराणि आदिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय।

[निरुक्तमें पढ़ हुए] अगले दस नाम [वैदिक-साहित्यमें आदिष्ट अर्थात्] निर्दिष्ट [विशेष देवताओं]के साथ [उनके वाहनरूपमें] जुड़नेवाले [विशेष वाहनों या अश्वोंके नाम] हैं। [वेदज्ञ लोग] साहचर्यसे ज्ञानके लिए कहते हैं [अर्थात् इनमेंसे एकके ज्ञानसे, साहचर्यके द्वारा दूसरेका ज्ञान हो जाता है]।

विशेष देवताओंके वाहनोंके दस नाम

निघण्टुः—१. हरी इन्द्रस्य। २. रोहितोऽग्नेः। ३. हरित आदित्यस्य। ४. रासभौ अश्विनोः। ५. अजाः पूष्णः। ६. पृषत्यो मरुताम्। ७. अरुण्यो गाव उषसाम्। ८. श्यावाः सवितुः। ९. विश्वरूपा बृहस्पतेः। १०. नियुतो वायोः इति दश आदिष्टोपयोजनानि ॥१५॥

निर्दिष्ट विशेष देवताओंके साथ प्रयुक्त होनेवाले इन वाहनोंके नाम ऊपर निघण्टुमें गिनाये हैं। इन नामोंकी व्याख्या भी ऐतिहासिक पक्ष तथा नैरुक्त पक्षमें अलग-अलग है। ऐतिहासिक पक्षमें 'हरी' इन्द्रके वाहन हैं, 'रोहित मृग' अग्निके वाहन हैं। किन्तु नैरुक्त पक्षमें 'हरी'का अर्थ 'पूर्वपक्षापरपक्षौ अहोरात्रे वा' है। अर्थात् इन्द्र सूर्यका नाम है और उसके साथ जो 'हरी' यह द्विवचनान्त उसके वाहनके रूपमें सम्बद्ध मिलते हैं उनसे अहोरात्र या शुक्लपक्ष और कृष्ण-पक्षका ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार 'रोहित'का साहचर्य अग्निके साथ माना जाता है। उसकी व्याख्यामें ऐतिहासिक पक्षवाले 'रोहित मृग'को अग्निका वाहन मानते हैं। किन्तु निरुक्त पक्षमें रोहित शब्द अग्निकी ज्वालाओंका वाचक है। 'हरित'का साहचर्य आदित्यके साथ है। और 'हरित'के रूपमें उनका वर्णन पाया जाता है। यहाँ ऐतिहासिक पक्ष माननेवाले हरित रंगके सूर्यके घोड़े मानते हैं। किन्तु नैरुक्त लोग रसका हरण करनेवाली सूर्यकी रश्मियों-का ग्रहण हरित शब्दसे करते हैं। इन सबका विवेचन स्कन्दस्वामीने किया है। उसका सारांश निम्नप्रकार है—

१—'युक्ष्वा हि केशिना हरी' [ऋ० १-१०-३] में इन्द्र देवताके साथ

उसके वाहन रूपमें 'हरी' पदका प्रयोग पाया जाता है। ऐतिहासिक पक्षवाले इन्द्रको देवताओंका राजा और 'हरी'से उसके अश्वोंका ग्रहण करते हैं। किन्तु नैरुक्त, जो वेदमें अनित्य इतिहास नहीं मानते हैं, 'इन्द्र'का अर्थ सूर्य तथा 'हरी'का अर्थ अहोरात्र अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष करते हैं।

२—इसी प्रकार 'यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे' [ऋ० १-९४-१०] इस मन्त्रमें अग्नि देवता है और उसके साथ 'रोहित'का उसके रथके वाहनके रूपमें वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक लोग यहाँ अग्नि नामका कोई अनित्य देहधारी देवता और 'रोहित' को उसके रथका वाहन मानते हैं। परन्तु नैरुक्त लोग वेदमें अनित्य इतिहास नहीं मानते हैं, इसलिए वे यहाँ 'रोहित' शब्दसे अग्निकी ज्वालाओंका ग्रहण करते हैं।

३—इन 'आदिष्टोपयोजन' वाले १० पदार्थोंमें तीसरा 'हरित' शब्द आदित्यके साथ उसके वाहनके रूपमें जुड़ा हुआ कहा जाता है। 'सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति' [ऋ० १-५०-८] इस मन्त्रमें सूर्य देवता है और उसके रथके वाहनरूपमें 'हरितः'का निर्देश है। ऐतिहासिक लोग 'हरित'का अर्थ हरे रङ्गके सूर्यके घोड़े करते हैं। किन्तु नैरुक्त सूर्यकी रश्मियोंका ग्रहण करते हैं।

४—अश्विनोंके साथ रासभोंका वर्णन मिलता है। जैसे 'युञ्जाथां रासभं रथे' [ऋ० ८-८५-७] इस मन्त्रमें ऐतिहासिक पक्षवाले रासभोंको अश्विनीकुमारोंके वाहन मानते हैं, किन्तु नैरुक्त लोग प्रदोषकाल अर्थात् प्रातः और सायंके झुटपुटावाले कालका, रासभके समान धूसर वर्ण होनेसे, रासभसे ग्रहण करते हैं। और 'अश्विन' पदसे सूर्यका ग्रहण करते हैं।

५—'अजाः'का सम्बन्ध 'पूषा'के साथ पाया जाता है। 'आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः' [ऋ० १०-२६-८] यहाँ ऐतिहासिक पक्षवाले 'अज' अर्थात् बकरोंको 'पूषा' देवताके रथके वाहन मानते हैं। किन्तु नैरुक्त 'पूषा' का अर्थ सूर्य और न उत्पन्न होनेके कारण उसकी रश्मियोंको 'अजाः' कहते हैं।

६. 'पृषती'का साहचर्य 'मरुतों'के साथ पाया जाता है। 'उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वम्' [ऋ० १-३९-६] इस मन्त्रके देवता 'मरुत' हैं और उनके रथके वाहनरूपमें 'पृषती' का उल्लेख है। ऐतिहासिक लोग 'पृषती' अर्थात्

मृगियोंको मरुत देवताके रथका वाहन मानते हैं। परन्तु नैरुक्त वर्षाकालकी विचित्र मेघमालाका ग्रहण इस 'पृषती' शब्दसे करते हैं।

७. इसी प्रकार "उदपप्तन् अरुणा भानवो' [ऋ० १-९२-२] इस मन्त्रकी देवता 'उषाः' है। उनके साथ अरुणा गौओं का साहचर्य कहा गया है। ऐतिहासिक पक्षवाले अरुणा गौओंको उसके रथका वाहन मानते हैं, किन्तु नैरुक्त पक्षके लोग प्रातःकालके समय सूर्यकी अरुण वर्णकी रश्मियोंका ग्रहण इस शब्दसे करते हैं।

८, इसी प्रकार सविताके साथ 'श्यावाः' पदका साहचर्य पाया जाता है। ऐतिहासिक पक्षवाले उससे सूर्यके काले रंगके घोड़ोंका ग्रहण करते हैं, किन्तु नैरुक्त पक्षमें 'श्यावाः' पदसे सायंकालीन अस्त होते हुए सूर्यकी किरणोंका ग्रहण होता है।

९. इसी प्रकार ऐतिहासिक लोग 'विश्वरूप'को बृहस्पति देवताका वाहन मानते हैं। किन्तु नैरुक्त पक्षमें 'छन्दांसि वै विश्वरूपाणि' छन्दोंका ही विश्वरूप शब्दसे ग्रहण करते हैं।

१०. ऐतिहासिक लोग 'नियुत' नामसे वायुके घोड़ोंका ग्रहण करते हैं, किन्तु नैरुक्त पक्षमें 'नियुत' शब्दसे आँधीके समय घास-फूँस-धूलि आदिके सम्मिश्रणका ग्रहण करते हैं।

८इस सब विषयका विवेचन बहुत संक्षित रूपमें स्कन्द-स्वामीने अपने निरुक्त-भाष्यमें किया है। अन्य किसी व्याख्याकारने इसकी चर्चा नहीं की है। इसका कारण यह है कि स्कन्दस्वामी वेदोंमें अनित्य इतिहासको नहीं मानते हैं। 'रमध्वं मे वचसे सौम्याय' आदि मन्त्रोंमें जिस विश्वामित्रके उपाख्यानकी चर्चा ऐतिहासिक पक्षके अनुसार इस खण्डमें की गयी है उसे भी वे इतिहासपरक नहीं मानते हैं। उसकी निरुक्तपक्षमें व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—

'नित्यपक्षे प्रावृषि प्लावितोभयकूला नदीः, सर्वमित्रो भगवानादित्योऽध्येषतीव 'रमध्वं मे' इत्यादि। 'देशप्लवनं मा कार्ष्ट, यज्ञानां संव्यवहार्या भवत इति जगतः पालनकामः। क्रंशते औषसः प्रकाशः कुशिकः। कुशिकस्य प्रकाशस्य सूनुरहं आदित्यः। तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः।'

इसका अभिप्राय यह है कि इस मन्त्रसे 'कुशिकस्य सूनुः' पदसे कुशिक

ज्वलति कर्माण उत्तरे धातव एकादश ।
तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि ।
इति निरुक्ते द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले ११ धातु दीप्त्यर्थक हैं ।

[निरुक्तमें पढ़े हुए] अगले उतने ही [अर्थात् ११] नाम दीप्त्यर्थक हैं ॥२८॥

यह द्वितीय अध्यायका सप्तम पाद समाप्त हुआ
यह 'निरुक्त'का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

राजाके पुत्र विश्वामित्र नामक ऋषिका ग्रहण नहीं करना चाहिये । यहाँ 'कुशिक' का अर्थ है उषःकालका प्रकाश और उसका पुत्र आदित्य ही 'कुशिकस्य सूनुः' पदसे गृहीत होता है । वही अलङ्काररूपमें वर्षाकालीन नदियोंसे प्रार्थना कर रहा है । हमने अपनी व्याख्यामें 'कुशिकस्य सूनुः'का अर्थ कृषक-पुत्र या शिल्पी किया है ।

इस प्रकार वेदोंमें इतिहास माननेवाला पक्ष, एक पक्षमात्र है । वह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है । नैरुक्त और मीमांसक आदि वेदोंकी व्याख्या करनेवाले प्रमुख शास्त्रोंमें ऐतिहासिक पक्षको त्याज्य ही ठहराया गया है ॥२८॥

दीप्त्यर्थ ११ धातुएँ

निघण्टुः—१. भ्राजते, २. भ्राशते, ३. भ्राश्यति, ४. दीदयति; ५. शोचति, ६. मन्दते, ७. भन्दते, ८. रोचते, ९. ज्योतते, १०. द्योतते, ११. द्युमत् इत्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥१६॥

दीप्त्यर्थक ११ नाम

निघण्टुः—१. जमत्, २. कल्मलीकिनम्, ३. जंजणाभवन्, ४. मल्मलाभवन्, ५. अर्चिः, ६. शोचिः, ७. तपः, ८. तेजः, ९. हरः, १०. हृणिः, ११. शृंगाणि-शृंगाणि इत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि ॥१७॥

इति निघण्टौ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः पादः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[१]

कर्मनामानि उत्तराणि षड्विंशतिः ।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

[१]

अगले २६ कर्मके नाम [निघण्टुमें दिये गये] हैं [ये २६ नाम 'अपः' से लेकर 'शिल्पम्' तक लिये गये हैं]।

अथ निरुक्त-दीपिकायां तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

निरुक्त निघण्टुकी टीका है। निरुक्तके इस तृतीयाध्यायके आरम्भमें निघण्टुके द्वितीयाध्यायकी टीका आरम्भ हो रही है। निघण्टुके द्वितीयाध्यायके आरम्भमें सबसे पहिले कर्मवाचक २६ नाम दिये गये हैं। इन नामोंमेंसे किसी एक भी नामका निर्वचन निरुक्तकारने नहीं दिखलाया है। केवल कर्म शब्दका निर्वचन ही उन्होंने किया है। इसीका निर्देश करते हुए निरुक्तकार यास्क लिखते हैं— 'कर्म' इत्यादि।

निघण्टुः—१ अपः, २ अप्नः, ३ दंसः, ४ वेषः, ५ वेपः, ६ विष्ट्वी, ७ व्रतम्, ८ कर्वरम्, ९ शक्म, १० क्रतुः, ११ करणम्, १२ करणानि, १३ करांसि, १४ करन्ती, १५ करिक्रत्, १६ चक्रत्, १७ कर्त्वम्, १८ कर्तोः, १९ कर्तवे, २० कृत्वी, २१ धीः, २२ शची, २३ शमी, २४ शिमी, २५ शक्तिः, २६ शिल्पम् इति षड्विंशतिः कर्मनामानि ॥१॥

आगे कर्म शब्दका निर्वचन करनेके लिए निरुक्तकार प्रश्न करते हैं— 'कर्म' इत्यादि।

कर्म कस्मात् ? क्रियते इति सतः ॥१॥

[२]

अपत्यनामानि उत्तराणि पञ्चदश।

अपत्यं कस्मात् ? अपततं भवति, नानेन पततीति वा।

कर्म किस [धातु] से [अथवा कैसे बनता है अर्थात् 'कर्म' पदका निर्वचन किस प्रकार होता है] ?

'क्रियते इति कर्म' जो किया जाय वह कर्म [कहलाता] है। [यह कर्म पदका निर्वचन है। इसमें 'सतः' पद कारकका सूचक है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म पदकी व्युत्पत्ति कर्म कारकमें होती है। इसी कर्म कारकका निर्देश यहाँ 'सतः' पदसे किया गया है] ॥१॥

[२]

अगले १५ नाम सन्तानके वाचक हैं। [ये नाम 'तुक्' से लेकर 'बीजम्' पर्यन्त निघण्टुमें दिये हैं। इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण न होनेसे 'पुत्र' नाम नहीं आया है। ऋग्वेदमें पुत्र शब्दका प्रयोग पुत्रः, पुत्रम् अनेक रूपोंमें और अनेक वार हुआ है।]

अपत्य [शब्द] कैसे [बनता है अर्थात् अपत्य पदका निर्वचन क्या है] ?

'अपततं भवति' अर्थात् पितासे अलग होकर विस्तारको प्राप्त होता है, अथवा जिसके कारण [दुःख या विनाशके गर्तमें] नहीं गिरता है [इसलिए सन्तानको अपत्य कहा जाता है]।

इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'क्रियते' इत्यादि।

निघण्टुः—१ तुक्, २ तोकम्, ३ तनयः, ४ तोक्म, ५ तक्म, ६ शेपः, ७ अप्नः, ८ गयः, ९ जाः, १० अपत्यम्, ११ यहुः, १२ सूनुः, १३ नपात्, १४ प्रजा, १५ बीजम् इति पञ्चदश अपत्यनामानि ॥२॥

इन १५ अपत्यवाचक पदोंमेंसे भी किसीका निर्वचन यास्कने नहीं किया है। केवल इस 'अपत्य' शब्दका ही निर्वचन निम्नप्रकार देते हैं—'अपत्यम्' इत्यादि।

तद्यथा जनयितुः प्रजा एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः ।

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः ॥
[ऋ० ७-४-७]

जैसे कि उत्पन्न करनेवाले [पिता] की ही औरस सन्तान [वास्तविक सन्तान] होती है इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाले ऋग्वेदके दो मन्त्र [ऋचाएँ] आगे देते हैं ।

इस प्रश्नके उत्तरमें निरुक्तकारने 'अपत्य' शब्दके दो प्रकारके निर्वचन दिखलाये हैं । पहिला निर्वचन 'अपततं भवति' अर्थात् पितुः सकाशात् अपेत्य पृथक् भूत्वा ततं भवति—पितासे अलग होनेके बाद वंशके विस्तारको उत्पन्न करता है, इसलिए सन्तानको 'अपत्य' नामसे कहा जाता है । इस व्युत्पत्तिपक्षमें 'अप' उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातुसे 'अध्न्यादयश्च' [उणादि ४–५१२] इस सूत्रसे यक् प्रत्यय द्वारा 'अपत्य' शब्द सिद्ध होता है । दूसरी व्युत्पत्ति 'न अनेन पततीति वा' जिसके कारण पिता दुःखमें नहीं पड़ता है और वंश विनाशके गर्तमें नहीं पड़ता है, यह की है । इस व्युत्पत्तिके पक्षमें नञ्पूर्वक 'पत' धातुसे पूर्वोक्त 'अध्न्यादयश्च' [४–५५२] सूत्रसे ही यक् प्रत्यय करके अपत्य शब्द सिद्ध होता है । इन्हीं दोनों बातोंको मनमें रखकर निरुक्तकार अपत्य शब्दके निर्वचनसम्बन्धी पूर्व प्रश्नका उत्तर निम्न प्रकार देते हैं—'अपततम्' इत्यादि ।

स्वयं अपने द्वारा अपनी पत्नीमें उत्पादित पुत्र 'औरस पुत्र' कहलाता है । औरस पुत्रके अतिरिक्त गोद लिये हुए, 'कृतक', 'कानीन' आदि अन्य अनेक प्रकारके पुत्रोंका भी उल्लेख स्मृति-ग्रन्थोंमें मिलता है । वे सब यथार्थ पुत्र नहीं हैं । केवल कामचलाऊ पुत्र हैं । औरस पुत्र ही वास्तविक पुत्र हैं । 'नानेन पतति' यह व्युत्पत्ति उस औरस पुत्रसे ही सम्बन्ध रखती है । अन्योंसे नहीं, इस बातको निरुक्तकार आगे ऋग्वेदके दो मन्त्रों द्वारा सिद्ध करते हुए लिखते हैं—'तद्यथा' इत्यादि ।

परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यम्। अरणस्य रेक्णः। अरणो अपार्णो भवति। रेक्ण इति धननाम, रिच्यते प्रयतः। नित्यस्य रायः पतयः स्याम पित्र्यस्येव धनस्य। न शेषो अग्ने अन्यजात-

---

[अरणस्य अर्थात] दूसरेके [रेक्णः] धन अर्थात् पुत्रका [परिषद्यं अर्थात्] परित्याग कर देना चाहिये [दूसरेके पुत्रको कभी अपना पुत्र नहीं समझना चाहिये]। इसके विपरीत हम सदा रहनेवाले [नित्य] धन [अर्थात् औरस पुत्र] के स्वामी बनें। हे अग्ने, [अन्यसे उत्पन्न [शेषः अर्थात] पुत्र [अर्थात् गोद लिया हुआ कृतक पुत्र वास्तविक] पुत्र नहीं होता है, इसलिए [वास्तविक पुत्रके अभावमें कृतक पुत्र द्वारा कार्यसाधनका उपदेश देकर] हमारे [कल्याणके] [मार्गको दूषित न करें। [अचेतानस्य अस्ति 'अचेतान' अर्थात्] मूर्ख पुरुषके लिए तो [गोद आदि लिया हुआ कृतक पुत्र भी पुत्र] है [किन्तु बुद्धिमान् पुरुष कृतक पुत्रको पुत्र नहीं मानते हैं]।

['परिषद्यं' परिहर्तव्यम्] त्याग देना चाहिये। [नोपसर्तव्यं] कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये। [अरणस्य रेक्णः अर्थात्] दूसरेके धन [अर्थात्] दूसरेके पुत्रको अपने पुत्रके समान कभी नहीं मानना चाहिये। आगे 'अरणः' पदका निर्वचन करते हैं। 'अरणः अपार्णो भवति' अर्थात्] जो [पिताके] ऋणसम्बन्धसे रहित है वह 'अरणः [अन्य] होता है। 'रेक्ण' यह धनका नाम है। क्योंकि [प्रयतः अर्थात्] मरनेवालेके बाद [यहाँ संसारमें ही] पड़ा रह जाता है। [इसलिए 'रेक्ण' यह धनका नाम है] हम पैतृक-सम्पत्तिके समान नित्य [सदा रहनेवाले] धन [अर्थात् पुत्र]के स्वामी हों। हे अग्ने!

अस्ति । शेष इति अपत्यनाम, शिष्यते प्रयतः । अचेतयमानस्य तत् प्रमत्तस्य भवति । मा नः पथो विदूदुष इति ॥२॥

अन्यसे उत्पन्न [शेषः अर्थात्] पुत्र, पुत्र नहीं है।' शेष यह सन्तानका नाम है, क्योंकि मरनेवाले [पिता]के बाद शेष रह जाता है। 'अचेतमानस्य' अर्थात् मूर्ख पुरुषके लिए तो वह [कृतक पुत्र भी पुत्र] है। [पर बुद्धिमान् पुरुष कृतक पुत्रको पुत्र नहीं समझते हैं। इसलिए आप] हमारे [कल्याणके] मार्गको दूषित न करें ॥२॥

इस मन्त्रमें 'अरणस्य' शब्द अतिपरोक्षवृत्ति शब्द है। उसका अर्थ अपगत-ऋणसम्बन्धवाला किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण [अ० ३३-१] में 'ऋणमस्मिन् सन्नयति' यह वचन मिलता है। इसका अर्थ है कि पुत्र उत्पन्न होते ही पितृ-ऋणसे ऋणवान् हो जाता है। वंश-परम्पराकी रक्षाके लिए ही यह पितृ-ऋणकी व्यवस्था की गयी है। पुत्रोत्पादनके बाद ही मनुष्य इस पितृ-ऋणसे उऋण हो जाता है। 'जायमान एव नरस्त्रिभिर्ऋणैः ऋणवान् जायते' आदि वचनके अनुसार उत्पन्न होते ही मनुष्यके ऊपर १ पितृ-ऋण, २ ऋषि-ऋण तथा ३ देव-ऋण नामके तीन ऋण आ जाते हैं। उपनयन-संस्कारके समय बालकको जो तीन तारवाला यज्ञोपवीत प्रदान किया जाता है उसका उद्देश्य भी इस त्रिविध ऋणको उतारनेके लिए सदा जागरूक एवं सचेष्ट बने रहनेकी भावनाको बद्धमूल करना ही है। इनमेंसे बालकका पितृ-ऋण अपनी वंश-परम्पराके संचालन द्वारा ही उतरता है। औरस पुत्रके ऊपर अपनी वंश-परम्पराके चलानेके निमित्त यह पितृ-ऋण रहता है। मुख्यतः अपने मूल वंशके प्रति ऋणवान् होते हुए भी नवीन कुलमें प्रायः कृतक-पुत्र इस ऋणसे मुक्त होता है, इसीलिए अपगत-ऋणसम्बन्ध होनेके कारण उसको यहाँ 'अरणः' कहा गया है। इसी बातका प्रतिपादन यास्कने यहाँ 'अरणः अपार्णो भवति' लिखकर किया है ॥२॥

[३]

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित् स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥

[ऋ० ७-४-८]

---

[३]

[अन्यके पुत्रको कभी अपना पुत्र नहीं समझना चाहिये] इसको और अधिक स्पष्ट करनेके लिए अगली ऋचा [निम्न-प्रकार] है—

[सुशेवः अर्थात् परिचर्या आदिके द्वारा] अत्यन्त सुख देने-वाला होनेपर भी [अन्योदर्यः] दूसरेके [उदर अर्थात्] वीर्यसे उत्पन्न [उद्गम्यमानत्वात् उदरसामीप्याद्वा रेतोऽत्रोदरमुच्यते—स्कन्द-स्वामी। पुत्रको 'नहि ग्रभाय' अपने पुत्रके रूपमें] ग्रहण नहीं करना चाहिये। ['मनसा मन्तवा उ' अर्थात्] मनमें भी [यह मेरा पुत्र है ऐसा] नहीं समझना चाहिये। [अगले चरणमें इसका कारण बतलाते हैं] क्योंकि वह फिर भी उसी घरमें चला जाता है [जहाँसे कि गोद लिया गया था], इसलिए ['वाजी' अर्थात् वेगवान्] शक्तिशाली और ['अभीषाट्' अर्थात्] शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ नवीन पुत्र हमको प्राप्त हो।

यह इस मन्त्रका अर्थ हुआ। इसीके अनुसार अगली पंक्तियोंमें निरुक्तकार इस मन्त्रकी व्याख्या अपने शब्दोंमें निम्नप्रकार करते हैं—'नहि' इत्यादि।

नहि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमोऽप्यन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्र इति । अथ स ओकः पुनरेव तदेति यत आगतो भवति । आक इति निवासनाम उच्यते । एतु नो वाजी वेजनवान्, अभिषहमाणः सपत्नान् । नवजातः स एव पुत्र इति ॥३॥

[४]

अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति । पुत्रदायाद्य इत्येके—

[नहि ग्रभाय] नहीं ग्रहण करना चाहिये । [सुशेवः] अत्यन्त सुखप्रद होनेपर भी [अन्योदर्यः] दूसरेके वीर्यसे उत्पन्न । मनमें भी नहीं सोचना चाहिये कि यह मेरा पुत्र हो सकता है । क्योंकि वह फिर उस घरमें चला जाता है जहाँ से कि वह आया था । 'ओक' यह निवास [घर] का नाम है । 'वाजी' 'अर्थात् शक्तिशाली पुत्र हमको प्राप्त हो । [अभीषाट् अर्थात्] शत्रुओंका नाश करनेवाला नवीन उत्पन्न हुआ वह ही स्वाभाविक] पुत्र है ॥३॥

[४]

अब [कुछ लोग] इस [अगली ऋचा] को पुत्रीके दायभागाधिकार [के समर्थन] में उद्धृत करते हैं । दूसरे लोग पुत्रके दायाधिकार [के समर्थन] में [इसी ऋचाको उद्धृत करते हैं]—

दायाधिकारकी मीमांसा

अपत्य नामोंके विवेचनके प्रसंगमें निरुक्तकारने पिछले दो मन्त्रों द्वारा कृतक आदि अन्य पुत्रोंकी अपेक्षा औरस पुत्रकी विशेषताका प्रतिपादन किया है । अब आगे इसी प्रसंगमें पुत्र तथा पुत्रीके दायभागाधिकारके विषयमें विवेचन करते हैं ।

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥
[ऋ० ३-३१-१]

[वह्नि अर्थात् वोढा, अर्थात् जामाताका भी पालन करनेवाला] कन्याका पिता [ऋतस्य अर्थात् सन्तानोत्पादनरूप] प्रजनन-यज्ञके विधानका आदर करता हुआ [अर्थात् पुत्र एवं पुत्री दोनोंके उत्पादनमें समानरूप ही प्रजनन-प्रक्रिया होती है इस बातको समझकर विवाहके समय ही] कन्याके पुत्रभावको [जामाता और उसके पक्षसे] कह देता है। [यत्र दुहितुः सेकं ऋञ्जन्] जब कन्याके पतिको प्राप्त करता है तब और [नृप्त्यंगात्] नातीको प्राप्त करके [उस नातीको पोता मान कर] 'दुहितुः पुत्रभावं शास्ति' पुत्रीके पुत्रभावका कथन करता है और ['संशग्म्येन मनसा दधन्वे'] शान्त मनसे उसको धारण करता है।

यास्कने केवल इस मन्त्रके पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या की है। उत्तरार्द्ध भागको यहाँ बिल्कुल छोड़ दिया है। आगे पृष्ठ २६८ पर उसकी व्याख्या करेंगे। मन्त्रमें 'वह्नि' शब्द आया है। यास्कने उसका अर्थ 'वोढा' किया है। साधारणतः कन्याके प्रसंगमें 'वोढा' उसके पतिको कहते हैं। किन्तु यहाँ 'वह्नि' या 'वोढा' शब्द कन्याको जामाताके या उसके पतिके पास पहुँचानेवाले कन्याके पिताके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा समझ लेनेपर ही मन्त्रका अर्थ ठीक लगेगा अन्यथा नहीं।

इस 'वह्नि' या 'वोढा' पदकी व्याख्या दुर्गाचार्य तथा स्कन्दस्वामीने अलग अलग की है। दुर्गाचार्यने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

'शासद्वह्निः—प्रशास्ति प्रख्यापयति प्रज्ञापयतीत्यर्थः। कः पुनरसौ प्रशास्ति ? किं वा प्रशास्तीति ? 'वोढा' य उद्वोढा स्त्रियो भवति स तस्यां या जायते दुहिता तस्याः पुत्रभावं प्रशास्ति सन्तानकर्मणे अर्थाय।'

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता, दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान् प्रजननयज्ञस्य, रेतसो वा, अंगादंगात् सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य, मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति। तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्—

[वोढा अर्थात् कन्यादानके समय पति या जामाताके पास पहुँचानेवाला कन्याका पिता सन्तानकर्मके लिए [अर्थात् पुत्र द्वारा किये जानेवाले कार्योंके सम्पादनके निमित्त] पुत्रीके भी पुत्रभावको घोषित करता है। [आगे 'दुहिता' शब्दका निर्वचन करते हैं। सुयोग्य वर आदिको खोजकर पुत्रीका पूर्ण] हितसाधन करना बड़ा कठिन होता है, इसीसे उसे 'दुहिता' कहते हैं। [यह 'दुहिता' पदका एक निर्वचन हुआ। दूसरा निर्वचन देते हैं] अथवा दूर [देशमें विवाहित] होनेपर हितकर होती है [इसलिए 'दुहिता' कहलाती है। अथवा [तीसरे प्रकार 'दुहिता'का निर्वचन यह है कि कन्या पितासे सदैव कुछ-न-कुछ दुहती—प्राप्त करती—रहती है। इसलिए] दुहनेवाली होनेसे [दुहिता कहलाती है]। नातीको पाकर अर्थात् दुहिताके पुत्र दौहित्रको पाकर मानो पौत्रको प्राप्त करता है। प्रजनन-यज्ञ [अर्थात् सन्तानोत्पादन]के विधानको जाननेवाला। अथवा अंग अंगसे उत्पन्न हुए, हृदयसे समुद्भूत तथा माताके भीतर आधान किये गये वीर्यके विधानका आदर करते हुए पुत्र तथा पुत्री दोनोंको समान माननेवाला कन्याका पिता कन्याको भी पुत्रवत् समझता है] इसलिए [पुत्र तथा पुत्री दोनों समानरूपसे [पिताकी सम्पत्तिमें] दायभागके अधिकारी हैं। यही बात निम्नांकित ऋचा तथा श्लोकके द्वारा कही गयी है।

निरुक्तकार यास्क अगली पंक्तियोंमें मंत्रके पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'प्रशास्ति' इत्यादि।

अङ्गा॑दङ्गात् सम्भ॑वसि॒ हृद॑या॒दधि॑जायसे ।
आ॒त्मा वै पु॒त्रना॒मासि॒ स जी॑व श॒रद॑ः श॒तम् ॥
इति [शतपथ० १५-९-४-२६ तथा गोभिलगृह्यसूत्र अ० २]।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

हे पुत्र ! तुम [तुम मेरे] अंग अंगसे उत्पन्न हुए और हृदयसे आविर्भूत हुए हो इसलिए पुत्रके रूपमें मेरे ही स्वरूपभूत हो। तुम सौ वर्ष तक जीते रहो।

[पुत्र तथा पुत्रीरूप] दोनों सन्तानोंका दायभागमें धर्मानुसार अधिकार होता है, यह बात सृष्टिके आरम्भमें स्वायम्भुव मनुने कही थी।

इसका अभिप्राय यह है—दुर्गाचार्य 'वह्नि' या 'वोढा' पदसे स्त्रीके पतिका ग्रहण कर रहे हैं। परन्तु स्कन्दस्वामी इस 'वोढा' पदसे कन्याके पिताका ग्रहण करते हैं। बचपनमें कन्याको गोदमें खिलानेवाला होनेके कारण पिता उसका 'वोढा' होता है और यौवनमें जामाता या कन्याके पतिके पास उसको पहुँचानेवाला होनेसे पिताको 'वोढा' कहा जा सकता है। इसी बातको स्कन्दस्वामीने इस प्रकार लिखा है—

"शासत्' शास्ति आचष्टे इत्यर्थः। वह्निः पिता। जातमात्राया उत्सङ्गेन दानकाले च जामातरं प्रति वोढृत्वात् वह्निरुच्यते।"

इन दोनों श्लोकोंमेंसे पहिला श्लोक शतपथ ब्राह्मण [१५-९-४-२६] तथा गोभिलगृह्यसूत्र [अ० २]में आया है। ब्राह्मण-ग्रन्थमें पठित होनेके कारण ही उसपर स्वरचिह्न लगा दिये गये हैं। और दूसरा मनुस्मृति [९-१३३](?) का है। निरुक्तकारने इनको 'ऋक्श्लोकाभ्यां'शब्द द्वारा उद्धृत किया है। इनमेंसे किसीका भी ऋग्वेदसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यहाँ 'ऋक् शब्दसे ऋग्वेदके मन्त्रका

न दुहितर इत्येके । 'तस्मात् पुमान् दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते' । 'तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति, न पुमांसमिति च ।' स्त्रीणां दान-विक्रय-अतिसर्गा विद्यन्ते, न पुंसः ।

पुंसोऽपीत्येके, शौनःशेपे दर्शनात् ।

दूसरे लोग कहते हैं कि कन्याका [दायभागमें] अधिकार नहीं है। [वे अपने पक्षके समर्थनमें दो ब्राह्मण-वचन प्रस्तुत करते हैं] 'इसलिए पुरुष ही दायभागका अधिकारी है, स्त्री दायाधिकारिणी नहीं है।' [यह एक ब्राह्मण-वचन है जो कन्याके दायभागके अधिकारका निषेध करता है। दूसरा वचन और भी है कि ['इसीलिए उत्पन्न हुई स्त्रीको [विवाहादि द्वारा] बाहर कर देते हैं, पुत्रको नहीं।' [इसीके साथ अपने पक्षके समर्थनमें युक्ति देते हैं कि] स्त्रियोंके (१) दान [ब्राह्म विवाहके समय कन्यादानके रूपमें], (२) विक्रय [धन लेकर विवाहके रूपमें] और [स्वयंवर या गान्धर्व विवाहके अवसरपर] (३) अतिसर्ग पाये जाते हैं, पुरुषके नहीं। [इसलिए पुरुष ही दायभागका अधिकारी है कन्या नहीं। यह पूर्वपक्ष है। आगे इसका खण्डन करते हैं]।

दूसरे लोग कहते हैं कि पुरुषके भी [दान, विक्रय, अतिसर्ग देखे जाते] हैं। शुनःशेपके [विक्रयादिके] दिखलायी देनेसे [दान, विक्रय और अतिसर्गके आधारपर कन्याके दायभागके अधिकारका निषेध नहीं किया जा सकता है]।

ग्रहण न करके 'अर्च्यते स्तूयते अनया इति ऋक्' इस व्युत्पत्ति द्वारा पुत्रके 'स्तुति-परक श्लोकों द्वारा' यह अर्थ करना चाहिये। दूसरे श्लोकमें 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' स्वायम्भुव मनुका उल्लेख किया गया है। भारतीय इतिहासमें कालकी गणना मन्वन्तरोंके द्वारा की गयी है। सृष्टिके आरम्भसे अबतक ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं। यह सातवां मन्वन्तर चल रहा है। ये सब मन्वन्तर

[५]

अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम् ।

---

[५]

अभ्रातृमती-कन्याका दायभागमें अधिकार है यह दूसरे पक्षका [सिद्धान्तपक्षका मत है। जैसा कि अथर्ववेद [१-१७-१] में] निम्न-प्रकारसे कहा है—

मनुके नामसे ही आरम्भ होते हैं। सबसे पहिला मन्वन्तर स्वायम्भुव मनुके नामसे प्रसिद्ध है। इसीलिए यहाँ 'विसर्गादौ' सृष्टिके आरम्भमें 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' स्वायम्भुव मनुने कहा है, ऐसा लिखा है। उनके बाद २.स्वारोचिष, ३ औत्तम, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष मनुके नामसे ५ मन्वन्तर और बीत चुके हैं। अब इस समय सातवें वैवस्वत मनुके नामसे यह सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। मनुस्मृति इन्हीं मनुकी बनायी हुई मानी जाती है। उसके नवमाध्यायमें दाय-भागका विचार किया गया है। ऊपर उद्धृत श्लोकोंमेंसे दूसरा श्लोक मनु-स्मृतिसे (?) ही लिया गया है ॥४॥

अभ्रातृमतीवाद

ऊपरके श्लोकमें पुत्र तथा पुत्रीका समानरूपसे दायाधिकार बतलाया है। किन्तु दूसरे व्याख्याकार इस पुत्रीके दायाधिकारको अभ्रातृमती कन्यातक ही सीमित रखते हैं। अर्थात् कन्या उसी अवस्थामें पैतृक सम्पत्तिकी अधिकारिणी होती है जब कि उसका कोई भाई न हो। यही सिद्धान्त पक्ष है। इसको आगे देंगे। उसके पहिले एक पूर्वपक्ष और प्रस्तुत करते हैं। उस पूर्वपक्षके अनुसार कन्याका दायभागमें सर्वथा किसी भी प्रकारका अधिकार नहीं है। इस पक्षके माननेवाले अपने पक्षके समर्थनमें दो वचन ब्राह्मणग्रन्थोंसे उद्धृत करते हैं और यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं। 'तस्मात् पुमान् दायादो अदायादा स्त्रीति विज्ञायते', 'तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्' ये वचन मैत्रायणी संहिता [४-६-४] तथा [४-७-९]में, तैत्तिरीयब्राह्मण [६-४-११] तथा काठक-संहिता [२०-९]में पाये जाते हैं। इनके आधारपर इस पक्षवाले कन्याके

दायभागके अधिकारका खण्डन करते हैं। उसके साथ ही वे अपने पक्षके समर्थनमें तीन युक्तियाँ निम्नप्रकार देते हैं कि विवाहके अवसरपर कन्याका 'दान' होता है जो 'कन्यादान'के नामसे लोकप्रसिद्ध ही है। पुत्रका दान नहीं होता है। इसलिए पुत्र ही दायभागका अधिकारी है, कन्या नहीं। इसी प्रकार कन्याका विक्रय किया जाता है। अर्थात् वरपक्षसे कुछ निश्चित धन-राशि लेकर जो कन्याका विवाह किया जाता है वह कन्या-विक्रय कहलाता है। इस प्रकार पुत्रका विक्रय नहीं होता है। स्वयंवरादि या गान्धर्व विवाहके रूपमें जो कन्याका अन्यत्र गमन है वह 'अतिसर्ग' शब्दसे कहा गया है। कन्याके ये (१) दान, (२) विक्रय और (३) अतिसर्ग तीनों होते हैं, पुत्रके नहीं। इसलिए पुत्र ही दायभागका अधिकारी है, कन्या नहीं, यह इस पक्षके माननेवालोंका अभिप्राय है। इसीको ग्रन्थकारने अगली पंक्तियोंमें निम्नप्रकार दिखलाया है—'न दुहितरः' इत्यादि।

शुनःशेपकी कथा एतरेयब्राह्मणकी सप्तम पञ्चिकाके (३३वें) अध्यायमें तथा महाभारत अनुशासनपर्व (६-६)में पायी जाती है। शुनःशेपके पिताका नाम अजीगर्त था। अजीगर्तके तीन पुत्र थे। १ शुनःशेप, २ शुनःपुच्छ तथा ३ शुनोलाङ्गूल। किसी समय अजीगर्त भूखसे अत्यन्त व्याकुल होकर इधर-उधर घूम रहा था उस समय हरिश्चन्द्रने १०० मुद्रा देकर शुनःशेपको खरीद लिया था। इस प्रकार शुनःशेपका विक्रय पाया जाता है। वैसे भी स्मृति-ग्रन्थोंमें दत्तक, क्रीतक आदि पुत्रोंका वर्णन मिलता है। एतरेयब्राह्मण [३३-६]में मधुच्छन्दाका तथा महाभारत वनपर्व [१०५-१०७] और रामायण [१-३८]में असमंजसके उपाख्यान पाए जाते हैं। इनमें मधुच्छन्दावाले उपाख्यानमें विश्वामित्र द्वारा मधुच्छन्दाके 'अतिसर्ग' परित्याग तथा राजा सगर द्वारा असमंजसके 'अतिसर्ग' परित्यागका वर्णन पाया जाता है। इसलिए दान, विक्रय और अतिसर्गके आधारपर यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि कन्याका दायभागमें अधिकार नहीं है। मनुस्मृतिमें स्पष्ट कहा है—

'यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥' [९-१३०]

अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः ॥
[अथर्व १-१७-१]

[मासिक धर्मके समय स्त्रियोंके] वस्त्रोंको लाल रंग देनेवाली जो ये सारी नाड़ियां प्रवाहित हो रही हैं [गर्भस्थापनके बाद] अभ्रातृमती कन्याके समान उन सबका [रक्त-प्रवाहका] मार्ग अवरुद्ध हो जाता है ।

अभ्रातृमतीवाद सिद्धान्तपक्ष

दायभागके विवेचनमें ऊपर दो मत दिये गये है। पहिले मतमें पुत्र और कन्या दोनोंका समानरूपसे दायाधिकार बतलाया गया है। और दूसरे मतमें कन्याके दायभागके अधिकारका सर्वथा अस्वीकार किया गया है। ये दोनों सिद्धान्तपक्ष नहीं हैं। इन दोनोंके बीचका मध्यमार्ग सिद्धान्तपक्ष है। उसमें न तो प्रत्येक कन्याका अपने भाईके समान दायभागमें अधिकार माना गया है और न सर्वथा उसके अधिकारका निषेध किया गया है। अपितु मध्यम-मार्गका अवलम्बन कर केवल उस कन्याका दायभागमें अधिकार माना गया है जिसका कोई भाई न हो। इसीको यहाँ 'अभ्रातृमतीवाद' नामसे कहा गया है। आगे निरुक्तकार इसी 'अभ्रातृमतीवाद' वाले सिद्धान्तपक्षको निम्नप्रकार उपस्थित करते हैं—'अभ्रातृमती०' इत्यादि।

इस मन्त्रमें शरीरकी रक्तवाहिनी नाड़ियोंका वर्णन है। मासिक धर्मके समय ये रक्तवाहिनी नाड़ियाँ स्त्रियोंके वस्त्रको रक्तस्राव द्वारा लाल रंग देती हैं, इसलिए मन्त्रमें उनको 'लोहितवाससः' कहा है। गर्भस्थापित हो जानेके बाद ये नाड़ियाँ गर्भकी पुष्टिके लिए अपने मासिक स्रावको बन्द कर देती हैं। इसी बातको उपमा द्वारा यहाँ स्पष्ट किया गया है। 'अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः' जैसे भ्रातृहीन कन्या अपने पितृकुलके रक्षण और पोषणके लिए 'हतवर्त्म' पति-कुलमें गमनसे रुक जाती हैं इसी प्रकार ये रक्तवाहिनी नाड़ियां गर्भस्थापनके बाद उसके पोषणके लिए अपने बाह्य प्रवाहको रोक देती हैं। यह इस मन्त्रका

अभ्रातृका इव योपास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय। हतवर्त्मन इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः ॥४॥

भ्रातृहीन कन्याके समान सन्तानकर्म अर्थात् [वृद्धावस्थामें पिताको भोजनाच्छादनादिरूप] पिण्डदानके निमित्त भ्रातृहीन कन्याके समान [ये नाड़ियां भी] अवरुद्धगति हो जाती हैं। इससे अभ्रातृमती कन्याका [पितृकुलको छोड़कर] बाहर न जाना [अथवा विवाह न होना] उपमा द्वारा सिद्ध होता है।

भाव है। उसमें 'अभ्रातर इव योषा' इस उपमा द्वारा अभ्रातृमती कन्याके दायभागाधिकारकी पुष्टि होती है। इसी अभिप्रायसे मन्त्रको यहाँ उद्धृत किया गया है। मन्त्रका अर्थ ऊपर दिया है।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे निरुक्तकार इस मन्त्रका अर्थ देते हैं— 'अभ्रातृका' इत्यादि।

मनुस्मृतिमें भी इसी बातका प्रतिपादन निम्नप्रकारसे किया है—

'यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत् तु तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥' [३-११]
'अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मे स्यात् स्वधाकरम् ॥' [९-१२७]

रामचन्द्र आदिके जन्मके पूर्व राजा दशरथको शान्ता नामकी एक कन्या हुई थी। दशरथने राजा रोमपादके साथ उसका विवाह इसी आधार या शर्तपर किया था कि उसका पुत्र मेरे लिए पुत्रका काम करेगा। उत्तररामचरितमें भवभूतिने लिखा है—

'कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत्।
अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ ॥'

अभ्रातृमती कन्याका ही दायभागमें अधिकार है इस बातको उपमा द्वारा सूचित करनेवाला एक और मन्त्र आगे उद्धृत करते हैं। इस मन्त्रकी देवता उषा है। उषा मानो सूर्यकी पुत्री है। उसका और कोई भाई नहीं है। इसलिए उषा सूर्यकी अभ्रातृका कन्या है। जैसे अभ्रातृका कन्या विवाहित होनेपर भी

नहीं

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥

[ऋ० १-१२४-७]

अगली [ऋचा] इस [अभ्रातृमती कन्याके दायभागाधिकार] को और अधिक खोलकर कहती है।

अभ्रातृका कन्या जैसे [पतिकुलको छोड़कर अपने पुत्रको साथ लेकर] माता-पिताके पास वापिस आ जाती है [इसी प्रकार उषा सूर्यके पास आ जाती है। पतिकुलके धनकी प्राप्तिके लिए जैसे [अपतिका अपुत्रा नारी] गर्त [न्याय-मञ्च] पर आरोहण करती है। [अर्थात् न्यायालयके कटघरेमें खड़ी होती है इसी प्रकार उषा प्रतिदिन आकाशमें स्थित होकर सौन्दर्यको प्राप्त करती है] पतिकी कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रोंको धारण किये हुए पत्नी और हसनशीला स्त्रीके समान उषा अपने सौन्दर्यको चारों ओर बिखेर रही है।

अपने पुत्रको लेकर पिताके भरण-पोषण एवं सेवाके लिए पिताके पास आ जाती है इसी प्रकार उषा 'पुंसः' अर्थात् 'पितॄन्' माता पिताके पास 'प्रतीची एति' उलटी वापिस आ जाती है। यह मन्त्रमें दी हुई प्रथम उपमाका अभिप्राय है। इससे निरुक्तकारने अभ्रातृमती कन्याको दायभागका अधिकार प्राप्त होता है यह बात सिद्ध की है। मन्त्रमें इसी सम्बन्धमें तीन उपमाएँ और दी हैं। 'गर्तारुगिव सनये धनानाम्' यह दूसरी उपमा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें केवल उषाका वर्णन है। अभ्रातृमती कन्यासे इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसे अपुत्रा स्त्रीके अपतिका अर्थात् विधवा हो जानेपर उसे पतिकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारके समर्थनमें प्रयुक्त किया जा सकता है। अपुत्रा और साथ ही अपतिका स्त्री पतिकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार प्राप्त करनेके लिए राजद्वार अर्थात् न्यायालयका आश्रय लेती है। न्यायालयोंमें प्रार्थीके खड़े होनेके लिए जो स्थान

अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय, न पतिम् ।

अभ्रातृका कन्याके समान [उषा प्रतिदिन 'पुंसः' अर्थात्] माता-पिताके पास वापिस आ जाती है । ['पुंसः' पदको निरुक्तकारने यहाँ द्वितीया विभक्तिका रूप माना है । इसलिए द्वितीयान्त 'पितृन्' पदसे उसकी व्याख्या की है । अभ्रातृमती कन्या जैसे पितृकुलमें वापिस आ जाती है इसी प्रकार उषा अपने पिता सूर्यके पास वापिस आ जाती है । यह उपमाका भाव है । क्यों वापिस आ जाती है इसको कहते हैं] पिण्डदान आदि सन्तानोचित कार्योंके सम्पादनके लिए [पिताके पास आ जाती है] पतिके पास नहीं । ['पिण्डं कवलं' इति हेमः । इस कोशके अनुसार पिण्डका अर्थ ग्रास या भोजन है । 'लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ।' इत्यादिमें भी 'पिण्ड' पद ग्रास या भोजनका वाचक है] ।

नियत होता है उसे वेदमें 'गर्तारुग' नामसे कहा है । जिसपर खड़ी होकर पति-धनकी प्राप्तिकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीको वेदमें 'गर्तारुगिव सनये धनानाम्' कहा है । इस गर्तारोहिणी स्त्रीसे उषाकी उपमा दी गयी है । जैसे गर्तारोहिणी स्त्री धनको प्राप्त करती है इसी प्रकार उषा प्रतिदिन आकाशमें आरूढ़ होकर अपने सौन्दर्यात्मक वैभवको प्राप्त करती है । यह दूसरी उपमाका अभिप्राय है । उषा जो प्रतिदिन अपना दिव्य सौन्दर्य प्रदर्शित करती है उसके सम्बन्धमें मन्त्रमें दो उपमाएँ आगे और दी गयी हैं । जैसे ऋतुकालमें मलिन वस्त्रादि धारण करनेवाली पत्नी ऋतुस्नानके बाद पतिकी कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रोंसे सजकर पतिके सन्मुख अपने रूपको प्रदर्शित करती है इसी प्रकार रात्रिके मलिन अन्धकारका नाश होनेके बाद उषा अपने अभिनव सौन्दर्यको बिखेरती हुई उदित होती है, यह 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' इस तीसरी उपमाका अभिप्राय है । चौथी उपमा 'उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः' स्पष्ट ही है । हसनशीला स्त्रीके समान उषा अपने 'अप्सः' अर्थात् रूपको 'निरिणीते' प्रकाशित

गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्तः सभास्थाणु-र्गृणातेः। सत्यसङ्गरो भवति। तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका साऽऽरोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति। सा रिक्थं लभते।

[पतिके] धनकी प्राप्तिके लिए [न्यायालयके कटघरे या मञ्च रूप] 'गर्त'के ऊपर आरोहण करनेवाली [अपुत्रा और अपतिका] दाक्षिणात्या स्त्रीके समान [उषा आकाशमें आरोहणकर सौन्दर्यको प्राप्त करती है]। 'गर्त' सभा [राजद्वार या न्यायालय] के मञ्च को कहते हैं। [गर्त शब्द] गृ-धातुसे बनता है। सत्यकी घोषणा करनेवाला होता है [इसलिए न्यायालयके मंचको 'गर्त' कहते हैं]। जो अपुत्रा और अपतिका स्त्री होती है वह वहाँ [न्यायालयमें] उस 'गर्त' पर आरोहण करती है। वह [न्यायाधिकारी या प्राड्विवाक—वकील] उससे [अक्षैराघ्नन्ति] प्रश्नोत्तर [या जिरहरूप वाग्व्यापार] करते हैं। उसके बाद [उसका पक्ष सत्य सिद्ध होनेपर] उसको [पतिके] धनकी प्राप्ति हो जाती है।

करती है। इन चार उपमाओं द्वारा वेदमें उषाके दिव्य सौन्दर्यको प्रकाशित किया गया है। इनमें पहिली उपमासे अभ्रातृमती कन्याके दायभागमें अधिकार-की सिद्धि होती है। इसीलिए निरुक्तकारने इस मन्त्रको यहाँ उद्धृत किया है। वे लिखते हैं—

यह मन्त्रका शब्दार्थ हुआ। आगे निरुक्तकार इस मंत्रकी व्याख्या अपने शब्दोंमें करते हैं—'अभ्रातृकेव' इत्यादि।

इसमें 'अक्षैराघ्नन्ति' पद आये हैं। 'अक्ष' शब्दका अर्थ पांसा भी होता है और इन्द्रिय भी होता है। दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी आदि अन्य टीका-कारोंने 'अक्ष' शब्दका अर्थ पांसा ही लिया है। पर आज वह बहुत अच्छा प्रतीत नहीं होता है। इसलिए हमने अक्ष शब्दको इन्द्रियपरक मान कर 'अक्षै-राघ्नन्ति' का अर्थ 'प्रश्नोत्तर या जिरह करते हैं यह किया है। 'गर्त' शब्दका एक अर्थ 'सभास्थाणु' ऊपर दिया गया है। आगे उसके अन्य अर्थ भी प्रसंगतः दिखला देते हैं—'श्मशानसंचयः' इत्यादि।

श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते। गुरतेः। अपगूर्णो भवति। श्मशानं श्मशयनम्। श्म शरीरम्। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। श्मश्रु लोम। श्मनि श्रितं भवति। लोम लुनातेर्वा लीयतेर्वा।

श्मशानका संचय [मिट्टी या लकड़ीका ढेर] भी 'गर्त' कहा जाता है। क्योंकि ऊपरको उठा हुआ होता है। [इस पक्षमें 'गर्त' शब्द] 'गूरी संयमने' धातुसे [बनता] है।

'श्म' अर्थात् शरीर जहाँ शयन करता है उसको 'श्मशान' कहते हैं। श्म शरीरका नाम है। [हिंसार्थक] 'शॄ' धातुसे अथवा 'शम' धातुसे 'शरीर' शब्द सिद्ध होता है। श्मश्रु [दाढ़ी-मूछके] लोमको कहते हैं, क्योंकि 'श्म'[शरीर]में आश्रित होता है। लोम शब्द 'लूञ् छेदने' धातुसे बनता है। अथवा 'ली' धातुसे [मनिन् प्रत्यय द्वारा] बनता है।

'गर्तारुगिव सनये धनानाम्' इस द्वितीय चरणकी जो व्याख्या यहाँ यास्कने प्रस्तुत की है वह कुछ जँच नहीं रही है। मन्त्रमें तो एक सार्वभौम नियमकी बात कही है। अपुत्रा और अपतिका स्त्रीको सर्वत्र इसी नियमसे न्यायालय द्वारा पतिकी सम्पत्तिपर अधिकार प्राप्त होता है। उसमें 'दक्षिणाजी' पदको जोड़ देना कुछ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार गर्तकी दूसरी व्याख्यामें 'श्मशानसंचयोऽपि गर्त उच्यते' इसमें 'संचय' पदका प्रयोग भी अनुपयुक्त-सा प्रतीत होता है। आगे प्रसक्तानुप्रसक्तरूपसे 'श्मशान' शब्दका अर्थ करते हैं—'श्मशानम्' इत्यादि।

श्मशानके लिए 'गर्त' शब्दका प्रयोग होता है इस बातके समर्थनके लिए निरुक्तकार आगे 'नोपरस्याविष्कुर्यात्' इत्यादि वाक्य उद्धृत करते हैं। यह वाक्य मैत्रायणीसंहिता [३-९-४] तथा काठक-संहिता [२६-६] में आया है। इसमें जो 'उपर' शब्द आया है वह यज्ञमें गाड़े जानेवाले 'यूप' के उस भागका वाचक है जो जमीनके भीतर गाड़ दिया जाता है। यूपका ऊपर रहनेवाला भाग बहुत सुन्दर तथा चिकना बनाया जाता है। जो भाग भूमिके

'नोपरस्याविष्कुर्यात् । यद्युपरस्याविष्कुर्यात् । गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः ।'

इत्यपि निगमो भवति ।

रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः । स्तुततमं यानम् ।

'आ रो॑हथो वरुण मित्र॒ गर्त॒म् ।' [ऋ० ५-६२-८]

इत्यपि निगमो भवति ।

'उपर' [अर्थात् यूपके पृथिवीके भीतर गाड़े जानेवाले भाग] को खुला न रहने दे । यदि वह खुला रह जाय तो [अपकीर्तिके कारण] यजमानकी मृत्यु हो जाती है और वह [गर्तेष्ठाः स्यात्] श्मशानमें पहुँच जाता है ।

रथको भी 'गर्त' कहते हैं । स्तुत्यर्थक 'गॄ' धातुसे [तनप्रत्यय द्वारा रथवाचक 'गर्त' शब्द] बनता है । रथ सबसे अधिक प्रशंसित यान होता है, इसलिए उसको 'गर्त' कहते हैं । आगे [ऋग्वेद ५-६२-८ से] मन्त्रके उस भागको उद्धृत करते हैं जिसमें 'गर्त' शब्द रथके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है]

'हे मित्र तथा वरुण देव ! [आप दोनों 'गर्त' अर्थात्] रथपर चढ़िये ।'

यह भी [रथवाचक 'गर्त' शब्दका प्रयोग] वेदमें मिलता है ।

भीतर गाड़ा जाता है वह वैसा ही खुरदरा टेढ़ा-मेढ़ा पड़ा रहता है । यूपको गाड़ते समय यजमानको भली प्रकारसे देख लेना चाहिये कि 'उपर' नामसे कहा जानेवाला यह भाग खुला न रह जाय । अन्यथा उसकी अपकीर्तिरूप मृत्यु हो जायगी । यह इस वाक्यका अभिप्राय है । शब्दार्थ ऊपर निर्दिष्ट है ।

'गर्त' शब्दके १ सभास्थाणु तथा २ श्मशानसंचय रूप दो अर्थ दिखला चुके हैं । अब उसका तीसरा अर्थ दिखलाते हैं— 'रथोऽपि' इत्यादि ।

इस प्रकार यहाँतक यास्कने 'अभ्रातेव' इत्यादि मंत्रके द्वितीय चरणकी व्याख्या बहुत विस्तारके साथ की । अब आगे मंत्रके अवशिष्ट तृतीय तथा चतुर्थ चरणोंकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'जायेव' इत्यादि ।

जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु, उषा हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणि । इति चतस्र उपमाः ।

'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत् तोकं ह्यस्य तद्भवति ।'

इत्यभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः ।

ऋतुकाल [की समाप्ति] के समयोंपर पतिकी कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रोंसे अलंकृत पत्नीके समान और हसनशीला दाँत निकाले हुई स्त्रीके समान उषा अपने सौन्दर्य [रूपाणि] को प्रकाशित करती है [पृष्ठ २५८ पर आये हुए 'अभ्रातेव पुंसः' इत्यादि मंत्रमें १ 'अभ्रातेव' २ 'गर्तारुगिव', ३ जायेव, ४ हस्रेव] ये चार उपमाएँ [प्रयुक्त हुई] हैं ।

'अभ्रातृमती कन्याके साथ विवाह न करे, क्योंकि वह [विवाह करनेवाला] इस [कन्याके पिता] का पुत्र बन जाता है' इसमें स्पष्टरूपसे अभ्रातृमती कन्याके साथ विवाहका निषेध किया गया है । और [कन्याके] पिताका [विवाहित वर] पुत्र हो जाता है [यह बात स्पष्टरूपसे कही गयी है । इसलिए अभ्रातृमती कन्या दायभागकी अधिकारिणी होती है यह सिद्धान्तपक्ष स्थापित हुआ ।

आगे फिर अभ्रातृमती कन्याके साथ विवाह न करने और उसके पितृकुलमें आनेकी बातके समर्थनके लिए वाक्य उद्धृत करते हैं—'नाभ्रातृमतीम्' इत्यादि ।

यहाँ अभ्रातृमती कन्याका दायभागमें अधिकार है इसके समर्थनका प्रकरण चल रहा था । इसमें 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत् तोकं ह्यस्य तद् भवति' इस वाक्यने एक नयी बात जोड़ दी है कि अभ्रातृमती कन्याके साथ विवाह ही नहीं करना चाहिये । क्योंकि ऐसा करनेसे वह अर्थात् विवाह करनेवाला उसका अर्थात् अभ्रातृमती कन्याके पिताका पुत्र बन जाता है । यह धार्मिक दृष्टिसे एक हानि है, किन्तु इस प्रकारका अभ्रातृमती कन्याके साथ किया हुआ विवाह कभी-कभी आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त लाभकर हो जाता है । इसलिए धनिक

पिता यत्र दुहितुरप्रत्तायाः रेतःसेकं प्रार्जयति सन्दधात्यात्मानं सङ्गमेन मनसेति ॥५॥

[अभ्रातृमती कन्याका] पिता जब बाहर न जानेवाली [अर्थात् पितृगृहमें ही रहनेवाली] अपनी अविवाहिता कन्याके लिए वीर्य-सिंचन करनेवाले पतिको प्राप्त करता है तब वह अपनेको शान्त मनसे धारण करता है ॥५॥

परिवारकी अभ्रातृमती कन्याके साथ विवाह करना लोग पसन्द करते हैं, क्योंकि उस दशामें कन्यापक्षकी सम्पत्तिकी भी प्राप्ति उनको हो जाती है।

इसके पूर्व पृ० २५४ पर 'शासद्वह्नि' इत्यादि मन्त्र दिया गया था। वहाँ इस मन्त्रके द्वारा पुत्र और पुत्री दोनोंकी समान स्थितिका प्रतिपादन करके दोनोंका समानरूपसे दायभागाधिकार सिद्ध किया गया था। किन्तु उस स्थलपर मन्त्रके केवल पूर्वार्ध भागका अर्थ दिया गया था। उत्तरार्द्ध भागका अर्थ वहाँ नहीं दिया गया था। इसका कारण यह है कि वहाँ पुत्र तथा पुत्री दोनोंकी समानता दिखलाकर दोनोंके समान अधिकारका समर्थन किया जा रहा था। मन्त्रका केवल पूर्वार्द्ध भाग ऐसा था जिससे इस बातकी पुष्टि की जा सकती है। किन्तु यदि मन्त्रके उत्तरार्द्ध भागको भी उसके साथ मिला दिया जाय तो उससे दोनोंके समान अधिकारकी पुष्टि न होकर अभ्रातृमती कन्याके ही अधिकारकी सिद्धि होती है। इसलिए वहाँ दोनोंके समान अधिकारको दिखलानेवाले पक्षके समर्थनके अवसरपर उत्तरार्द्ध भागका अर्थ नहीं किया था। अब अभ्रातृमती कन्याके अधिकारके समर्थनके अवसरपर उस मन्त्र-भागका भी विशेष महत्त्व है, इसलिए इतने पीछे छूटे हुए मन्त्रभागको यहाँ फिर उद्धृत कर उसका अर्थ देते हैं।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जब अभ्रातृमती कन्याके पिताको विवाह कर लेनेके बाद उसके घरपर रहनेवाला वर मिल जाता है तो उसे अपने पुत्र न होनेका दुःख नहीं रहता है और उसका मन शान्त हो जाता है। इस प्रकार मन्त्रके इस उत्तरार्द्ध भागसे अभ्रातृमती कन्याके दायभागके सिद्धान्तकी पुष्टि

[६]

अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेधे उदाहरन्ति ।
ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ।

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥
[ऋ० ३-३१-२]

---

[६]

अब [कुछ लोग] इस [आगे दी जानेवाली 'न जामये' इत्यादि ऋचा] को [जामि अर्थात्] बहिनके [रिक्थ अर्थात्] दायभागके अधिकारके निषेधके लिए उद्धृत करते हैं। किन्तु दूसरे लोग केवल 'पुत्रिका'के ज्येष्ठभागकी प्राप्तिके निषेधकरूपमें इसको प्रस्तुत करते हैं। [मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है]—

[तान्वः अर्थात्] पुत्र [अर्थात् भाई, जामये अर्थात्]बहिनके लिए [रिक्थ अर्थात् धन] पैतृक सम्पत्तिको [विशेषरूपसे] नहीं छोड़ता है। किन्तु उस [बहिन] को ['सनितुः' अर्थात्] [विवाह करनेवालेके लिए गर्भधारण करनेवाली बना देता है [अर्थात् पहिले जो यह व्यवस्था पुत्रिकाके रूपमें की गयी थी कि कन्याका पुत्र कन्याके पिताके पुत्रकार्यका संम्पादन करेगा उस बन्धनसे उसको मुक्त कर देता है]। यद्यपि माता-पिता [कन्याके भारको वहन] करनेवाले [वह्नि पुत्र] और अवह्नि [इस प्रकारके भारको वहन न करनेवाली] कन्या दोनोंको उत्पन्न करते हैं, किन्तु उनमेंसे एक [अर्थात्] पुत्र [पिता सम्बन्धी सेवादि] उत्तम कर्मोंका कर्त्ता होता है, और दूसरा [अर्थात् अवह्नि कन्या पाल-पोषकर ऋन्धन्] अर्थात् दूसरेको प्रदान कर दी जाती है।

होती है। मन्त्रके पहिले पूर्वार्द्ध भागसे यद्यपि पुत्र तथा पुत्री दोनोंके अधिकारकी सिद्धि होती थी परन्तु वह भी अभ्रातृमती कन्यासे सम्बद्ध थी। कन्यामात्रसे नहीं। यह बात मन्त्रके उत्तरार्द्ध भागको मिलाकर ही प्रतीत होती है, इसलिए

मन्त्रके उत्तरार्द्धका अर्थ ग्रन्थकारने यहाँ अभ्रातृमती कन्याके अधिकार-के प्रसंगमें इस पूर्वत्यक्त मन्त्रभागका अर्थ किया है ॥५॥

भ्रातृमती कन्याके दायाधिकारका निषेध

ऊपरके विवेचनमें अभ्रातृमती कन्याके दायाधिकारका प्रतिपादन किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि भ्रातृमती कन्याका दायभागमें अधिकार नहीं है। इस अर्थापत्ति द्वारा निकलनेवाले सिद्धान्तकी पुष्टिके लिए ग्रन्थकार आगे एक और मन्त्र उद्धृत करते हैं जिसमें स्पष्टरूपसे 'जामि' अर्थात् वहिन अर्थात् भ्रातृमती कन्याके अधिकारका निषेध किया गया है। किन्तु दूसरे लोग उसे वहिन या भ्रातृमती कन्याके अधिकारका निषेधक न मानकर केवल पुत्रिकाके ज्येष्ठ भागके अधिकारका निषेधक मानते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। अभ्रातृमती कन्याको जब पुत्रके समान मानकर उसका विवाह अन्यके साथ किया जाता है और विवाहके पहिले उसे इस स्थितिका परिचय करा दिया जाता है कि इस कन्याका जो पुत्र होगा वह अपने नानाका पुत्र होगा तो उस दशामें उस कन्याको 'पुत्रिका' कहा जाता है। कभी ऐसा हो सकता है कि पुत्रीके उत्पन्न होनेके वाद वहुत लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनेपर भी किसी पुत्र-की उत्पत्ति न हो और पिता पुत्रोत्पत्तिकी ओरसे निराश होकर कन्याको 'पुत्रिका' मानकर उसका विवाह कर दे। जैसा कि दशरथके हुआ था। दशरथके शान्ता नामकी कन्या थी। उसके वाद उनके कोई पुत्र न हुआ तो उन्होंने 'अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ' 'पुत्रिका' वना कर राजा रोम-पादके साथ उसका विवाह कर दिया। उसके वाद उनके रामचन्द्रादि पुत्र उत्पन्न हो गये। ऐसी अवस्थामें यदि सम्पत्तिके वटवारेका प्रश्न आवे, उसी स्थितिका वर्णन इस मन्त्रमें किया गया है यह दूसरे लोगोंका मत है। धर्मशास्त्र-की व्यवस्थाके अनुसार सम्पत्तिके वटवारेमें सबसे बड़े पुत्रको कुछ अधिक भाग मिलता है। इस दृष्टिसे यदि दशरथकी सम्पत्तिका वटवारा होता तो 'पुत्रिका' होनेके नाते शान्ताको ज्येष्ठ भाग प्राप्त होना चाहिये था। आगे उद्धृत किये जाने-वाला 'न जामये तान्वः' इत्यादि मन्त्र ऐसे अवसरोंपर 'पुत्रिका'के ज्येष्ठभागके अधिकारका ही निषेध करता है, वहिनके अधिकारका सर्वथा निषेध नहीं करता

न जामये भगिन्यै । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम् । जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति । तान्व आत्मजः पुत्रः रिक्थं प्रारिचत् प्रादात् चकारैनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य । यदिह मातरोऽजनयन्त वह्निं पुत्रम् , अवह्निं

'जामये' अर्थात् भगिनीके लिए नहीं छोड़ता है। अन्य अर्थात् पति इसमें सन्तानको उत्पन्न करता है, इसलिए बहिनको 'जामि' कहा जाता है। अथवा [जामि शब्द] गत्यर्थक 'जम' धातुसे बनता है, प्रायः [पितृगृहसे] बाहर कर दी जाती है [इसलिए बहिनको 'जामि' कहते हैं]। ['तान्वः' अर्थात् आत्मज] पुत्र ['रिक्थ' अर्थात्] धनको नहीं देता है। 'सनितुः' अर्थात् पाणिग्रहण करनेवालेके लिए इसे गर्भ धारण करनेवाली बना देता है। [अर्थात् पुत्रिकाके रूपमें जो बन्धन उसपर था उसको समाप्त कर देता है] यद्यपि माता-पिता वह्नि [अर्थात् स्त्रीके भारको वहन करनेवाले] पुत्र और अवह्नि

है यह दूसरे विवेचकोंका मत है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए निरुक्तकार अगला मन्त्र देते हैं—'न जामये' इत्यादि।

जैसा कि इस मन्त्रकी अवतरणिकामें कहा गया है। इस मन्त्रकी व्याख्या विद्वान् लोग दो प्रकारसे करते हैं। एक तो यह कहते हैं कि इसमें स्पष्टरूपसे बहिनके दायाधिकारका निषेध है। दूसरे लोग इससे केवल 'पुत्रिकाके ज्येष्ठ भागके अधिकारका निषेध मानते हैं। यह दो प्रकारका अर्थभेद मुख्यतः 'न आरैक्' पदके आधारपर हो जाता है। पहिले मतवाले 'न आरैक्' का अर्थ बिल्कुल नहीं छोड़ता ऐसा करते हैं और दूसरे पक्षवाले 'न प्रारिचत्—प्रकर्षेण न आरिचत्'का विशेषरूपसे अर्थात् ज्येष्ठ भागके रूपमें नहीं छोड़ता है यह अर्थ करते हैं। इस द्वितीय मतके माननेवाले पुत्र तथा कन्या दोनोंका दायभागमें समान अधिकार मानते हैं। इसलिए बहिनके नाते उसका पिताकी सम्पत्तिमें सामान्यरूपसे समान अधिकार तो है ही, किन्तु भाइयोंमें सबसे बड़ी होनेके नाते उसे बड़ा भाग प्राप्त नहीं होगा। यह इस मन्त्रका आशय इस मतमें माना जाता है। अगली पंक्तियोंमें निरुक्तकार इस मन्त्रका अर्थ देते हैं—'न जामये भगिन्यै' इत्यादि।

च स्त्रियम् , अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायादः । अन्यतरोऽर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै ॥६॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

[अर्थात् इस प्रकारके भारसे रहित] कन्या दोनोंको उत्पन्न करते हैं, किन्तु उनमेंसे एक [अर्थात्] पुत्र सन्तानका कर्ता होता है। इसलिए पुरुष पुत्र दायभागका अधिकारी होता है और दूसरा अर्थात् बहिन पालन-पोषणकर दूसरेको दे दी जाती है ॥६॥

इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा कुछ लोग कन्याके दायभागका सर्वथा निषेध करते हैं और कुछ लोग 'पुत्रिका' के ज्येष्ठ भागपर अधिकारका निषेध करते हैं। समभागका अधिकार तो उसका स्वीकार ही करते हैं। इस मतका समर्थन मनुके निम्न श्लोकसे भी होता है—

'पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याद् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥' [९–१३४] ।

अर्थात् कन्याको 'पुत्रिका' बना देनेके बाद अर्थात् उसका पुत्र अपने नानाके कुलका कार्य-सम्पादन करेगा ऐसा निश्चय करके विवाह कर देनेके बाद यदि पुत्र उत्पन्न हो जाय तो दायभागमें उस कन्याका बराबरका भाग होगा। परिवारमें सबसे बड़ा होनेके नाते जो बड़ा भाग पुत्रको मिलता वह स्त्री होनेके कारण 'पुत्रिका' को नहीं मिलता है। यही मन्त्र तथा श्लोक दोनोंका आशय है।

इस प्रकार द्वितीय अध्यायके इस प्रथम पादमें निरुक्तकारने निघण्टुके केवल कर्मवाचक तथा अपत्यवाचक पदोंकी व्याख्या की है। कर्मवाचक २६ नामोंमें केवल एक कर्मपदका तथा अपत्यवाचक १५ नामोंमेंसे केवल एक अपत्यपदका निर्वचन ही इसमें दिखलाया है।

इस पादमें भी खण्डोंके परम्परागत विभाजनमें कुछ थोड़ासा परिवर्तन कर हमने खण्डविभाजनको अधिक स्पष्ट एवं विषयानुकूल बनानेका यत्न किया है। किन्तु खण्डोंकी कुल संख्या परम्परागत विभाजनके अनुसार ६ ही रखी है।

यह तृतीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ।

द्वितीयः पादः

[७]

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः । मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति । मनस्यमानेन सृष्टाः । मनस्यतिः पुनर्मन-

---

द्वितीय पाद

[७]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले २५ नाम मनुष्य-वाचक हैं।

मनुष्य क्यों [मनुष्यनामसे कहे जाते हैं ? यह प्रश्न है']। इसका उत्तर देते हैं] (१) मननपूर्वक कर्मोंको करते हैं अथवा (२) उत्तम विचारवान् [परमात्मा अथवा पिता]के द्वारा इनकी रचना की गयी है, [इसलिए मनुष्यनामसे कहे जाते हैं। इस निर्वचनमें प्रशस्त मनके बोधक 'मनस' धातुसे यत् प्रत्यय करके मनुष्य शब्द सिद्ध किया गया है। इसलिए निरुक्तकार आगे 'मनस' धातुका अर्थ बतलाते हैं] 'मनस' धातु [मनस्वीभाव अर्थात्] प्रशस्त मनका

मनुष्यके वाचक २५ नाम

निघण्टुः—१ मनुष्याः, २ नरः, ३ धवाः, ४ जन्तवः, ५ विशः, ६ क्षितयः, ७ कृष्टयः ८ चर्षणयः ९ नहुषः, १० हरयः, ११ मर्याः, १२ मर्त्याः, १३ मर्ताः, १४ व्राताः, १५ तुर्वशाः, १६ द्रुह्यवः, १७ आयवः, १८ यदवः, १९ अनवः, २० पूरवः, २१ जगतः, २२ तस्थुषः, २३ पञ्चजनाः, २४ विवस्वन्तः, २५ पृतनाः इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥३॥

आगे निरुक्तकार इन २५ मनुष्यवाचक शब्दोंमेंसे सबसे पहिले 'मनुष्य' शब्दके ही चार प्रकारके निर्वचन दिखलाते हैं। इनमेंसे पहिले निर्वचनमें 'मन' तथा 'षिवु तन्तुसन्ताने' दो धातुओंको मिला और उनसे 'यत्' प्रत्यय करके 'मनुष्य' शब्दकी सिद्ध किया है। दूसरे निर्वचनमें प्रशस्त मनके सूचक 'मनस' धातुसे मनुष्य शब्दकी सिद्धि मानी है। ये दोनों निर्वचन मनुष्यकी मनन-शक्तिकी विशेषताके आधारपर किये गये हैं। अगली दो व्युत्पत्तियाँ मनुष्य-

प/ स्त्रीभावे। मनोरपत्यं मनुष्षो वा। तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति।

तद॒द्य वा॒चः प्र॑थ॒मं म॑सीय॒ येनासु॑राँ अ॒भि दे॒वा असा॑म।
ऊर्जा॑द उ॒त य॑ज्ञियासः॒ पञ्च॑जना॒ मम॑ हो॒त्रं जु॑षध्वम्॥
[ऋ० १०-५३-४]

बोधक हैं। [आगे वंशप्रवर्तक मनुके नामके आधारपर मनुष्य शब्दकी दो व्युत्पत्तियाँ देते हैं] अथवा (३) मनुकी सन्तान होनेसे ['मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' अष्टा० ४-१-१६१ सूत्रसे मनु शब्दसे 'यत्' प्रत्यय तथा 'षुक्'का आगम करके मनुष्य शब्द बनता है] अथवा ४ मनुष्की सन्तान होनेसे [मनुष्य कहलाते हैं। इस निर्वचनमें मनु शब्दको उकारान्त शब्द न मानकर षकारान्त शब्द माना है और इससे केवल यत् प्रत्यय करके मनुष्य शब्द सिद्ध किया है।]।

उनमेंसे 'पञ्चजनाः' इस [शब्दके प्रयोगसे युक्त निगमाः अर्थात्] बहुत मन्त्र मिलते हैं। [उनमेंसे उदाहरणके लिए एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं]।

हे [ऊर्क् अर्थात्] अन्नका भक्षण करनेवाले [निरामिषभोजी] तथा यज्ञप्रेमी [पञ्चजनाः अर्थात्] मनुष्यो! आप सब ['जुषी प्रीतिसेवनयोः'] प्रेमपूर्वक हमारे यज्ञका सेवन करें। [और उस यज्ञमें सम्मिलित होकर] आज हम सब वाणीके सर्वोपरि महत्त्वको समझें जिसके द्वारा कि हम सब विद्वान् लोग [देवाः] असुरों [अर्थात् अविद्वानों] पर ['अभि असाम' अर्थात्] विजय प्राप्त कर सकें।

की आदि वंशपरम्पराके प्रवर्तक मनुके आधारपर की गयी है। निरुक्तकी दिखलायी हुई मनुष्यकी ये चारों व्युत्पत्तियाँ या निर्वचन ऊपर निर्दिष्ट हैं।

इन मनुष्यवाचक २५ शब्दोंमें एक 'पञ्चजनाः' शब्द आया है। इस 'पञ्चजनाः' शब्दका प्रयोग बहुत मन्त्रोंमें आता है। इसलिए निरुक्तकार यहाँ उसका विशेषरूपसे उल्लेख करते हुए लिखते हैं—'तत्र पञ्चजना' इत्यादि।

तदद्य वाचः परमं मसीय येन सुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरताः स्थानेषु। अस्ताः स्थानेभ्यः इति वा। अपि वा असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः।

आज हम सब वाणीके उस सर्वोपरि महत्त्वको स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा हम [देवगण अर्थात्] विद्वान् लोग [असुरों अर्थात्] मूर्खोंके ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। [जो अपनी मूर्खताके कारण अपने उत्तम पदों या] स्थानोंपर भली प्रकार निभते नहीं हैं अथवा उत्तम स्थानों [अथवा पदोंपर पहुँचनेके बाद भी अज्ञानके कारण निभ न सकनेसे] पतित कर दिये जाते हैं [वे 'असुर' कहलाते हैं]।

'असु' नाम प्राणका है, क्योंकि वह शरीरमें प्रविष्ट कराया जाता है [अतः 'असु क्षेपणे' धातुसे प्राणवाचक 'असु' शब्द बनता है। प्राण शक्तिका नाम भी है] उससे युक्त होनेसे [असुर कहलाते हैं]।

इस मन्त्रमें वाणीके महत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। वाणी या वाग्देवी ही वह दिव्य शक्ति है जिसके द्वारा देव अर्थात् विद्वान् असुरों अर्थात् अविद्वान् या मूर्ख लोगोंके ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसी आशयसे समस्त यज्ञप्रेमियोंको अपने यज्ञमें सम्मिलित होकर वाणी द्वारा असुरोंको पराजित करनेकी क्षमता प्राप्त करनेके लिए आमन्त्रित करते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—'तदद्य' इत्यादि।

आगे निरुक्तकार सुर, असुर, पञ्चजन आदि पदोंका अर्थ एवं निर्वचन दिखलाते हुए मन्त्रकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—'तदद्य वाचः' इत्यादि।

इस अनुच्छेदमें 'असुर' शब्दका निर्वचन दो प्रकारसे किया गया है। पहिले निर्वचनमें 'सुरत' शब्दके साथ नञ्-समास और 'क्त' प्रत्ययका लोप करके 'असुर' शब्द बनाया गया है। जो अपने पदों या स्थानोंपर भली प्रकार निभ नहीं सकते हैं अर्थात् कार्य नहीं कर सकते हैं। वे मूर्ख मनुष्य 'असुर' कहलाते हैं। दूसरे निर्वचनमें 'असु क्षेपणे' धातुसे औणादिक 'उरन् प्रत्यय' उणादि [१-४२] सूत्रसे कर असुर शब्द बनाया गया है। आगे असुर शब्दका तीसरे प्रकारसे निर्वचन दिखलाते हैं। इसमें प्राणवाचक 'असु' शब्दसे मत्वर्थमें 'रन्' प्रत्यय करके असुर शब्द बनाया गया है।

'सोऽर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम् ।' इति विज्ञायते ।

ऊर्जाद उत यज्ञियासः । अन्नादाश्च यज्ञियाश्चोर्गित्यन्ननामोर्जयतीति सतः । पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा । पञ्चजना मम

[परमात्मा प्रजापतिने] उत्तम अंशसे देवताओंकी रचना की यही देवताओंका सुरत्व है [अर्थात् उत्तम भावोंसे निर्मित होनेके कारण ही देवताओंको 'सुर' कहा जाता है] और अशुभ अंशसे असुरोंकी रचना की यही असुरोंका असुरत्व है। यह [ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें इन शब्दोंके निर्वचनसे] विदित होता है ।

'ऊर्जादः' अर्थात् अन्नको खानेवाले [निरामिषभोजी] और 'यज्ञियासः' अर्थात् यज्ञप्रेमी । 'ऊर्क्' यह अन्नका नाम है, क्योंकि वह बलको बढ़ानेवाला है। [बलवर्धक होनेसे अन्न 'ऊर्क्' कहा गया है। उसका पर्यायवाची शब्द पक्व भी है। उसका निर्वचन प्रसंगतः आगे देते हैं।' 'पक्व' [अन्न] भली प्रकारसे काटने योग्य होता है। पञ्चजन [अर्थात् मनुष्यगण] मेरे यज्ञका प्रीतिपूर्वक

इस निर्वचनमें प्राण या शक्तिके वाचक 'असु' शब्दसे मत्वर्थमें औणादिक 'रन् प्रत्यय' करके 'असुर' शब्द बनता है। यहाँ मत्वर्थमें जो 'रन् प्रत्यय' होता है, उसे निन्दार्थमें समझना चाहिये ।

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

इत्यादि कारिकाके अनुसार मत्वर्थक प्रत्यय जहाँ प्रशंसा तथा बाहुल्यादि अर्थोंमें हो सकते हैं वहाँ निन्दार्थमें भी हो सकते हैं। यहाँ 'असुर' शब्दमें निन्दार्थमें ही मत्वर्थक रन् प्रत्यय उपयुक्त होता है। ऐसा माननेसे निन्दित प्राण अथवा निन्दित शक्तिवाले दुष्ट और मूर्ख जन 'असुर' कहलाते हैं। यह इस तीसरे निर्वचनका अभिप्राय है। आगे ब्राह्मणग्रन्थोंमें दिये 'सुर' तथा 'असुर' शब्दोंके निर्वचनको ग्रन्थकार उद्धृत करते हैं— 'सोऽर्देवान्' इत्यादि ।

होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मान्निषदनो भवति निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

सेवन करें। [यहाँ पञ्चजन शब्दसे] १ गन्धर्व, २ पितर, ३ देव, ४ असुर और ५ राक्षस [इन पाँचका ग्रहण होता है। औपमन्यव लोग [पञ्चजन शब्दसे] चारों वर्ण और पञ्चम निषाद [का ग्रहण होता है, यह कहते हैं]। निषाद क्यों [निषाद नामसे कहा जाता है? यह प्रश्न है। इसका उत्तर देते हैं] इसमें पाप विशेषरूपसे रहता है [इसलिए 'नि' उपसर्गपूर्वक 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इस धातुसे 'निषाद' पद सिद्ध होता है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]।

यहाँतक मन्त्रके पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या हुई। आगे मन्त्रके उत्तरार्द्धकी व्याख्या करते हुए उसके 'ऊर्जादः', 'यज्ञियासः' और 'पञ्चजनाः' पदोंके अर्थ दिखलाते हैं—'ऊर्जादः' इत्यादि।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने 'पञ्चजन' पदकी दो प्रकारकी व्याख्या प्रस्तुत की है। पहिली व्याख्याके अनुसार १ गन्धर्व, २ पितर, ३ देव, ४ असुर और ५ राक्षस ये पाँचों मिलकर पञ्चजन कहलाते हैं। यह सम्भवतः यास्कका अपना मत है। दूसरी व्याख्या औपमन्यव-मतके अनुसार की गयी है। इसके अनुसार चारों वर्ण और पांचवां निषाद मिलकर पञ्चजन कहलाते हैं। निरुक्तकारने ये दोनों प्रकारकी व्याख्याएं यहाँ प्रस्तुत तो कर दी हैं, किन्तु वे सर्वथा अनुपयुक्तसी प्रतीत होती है। यहाँ ग्रन्थकार मनुष्यवाचक नामोंमें आये हुए 'पञ्चजनाः' पदका विवेचन कर रहे हैं। इस दृष्टिसे यहाँ आया हुआ 'पञ्चजनाः' पद एक और मनुष्य-वाचक रूढ़ पद है। पञ्चपद संख्यावाचक नहीं है और न 'जनाः'-से अलग स्वतन्त्र पद है। इसलिए औपमन्यव-मतसे या अपने मतसे जो पाँच पाँचकी गणना यहाँ करायी गयी है वह सर्वथा अनुपयुक्त है। दूसरी बात यह भी है कि अपने मतसे जो गन्धर्व, पितर, देव, असुर तथा राक्षसोंको मिलाकर

'पञ्चजनाः'का स्वरूप दिखलाया है वह इस दृष्टिसे भी अनुपयुक्त है कि ये सब देवयोनिमें गिने जाते हैं मनुष्ययोनिसे उनका सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'पञ्चजनाः' शब्द मनुष्यके नामोंमें आया है। इसलिए इस 'पञ्चजनाः' शब्दसे उन पांचोंका ग्रहण करना उचित नहीं हैं, जब कि यास्कने इन पाचों शब्दोंको मनुष्य-वाचक 'पञ्चजनाः'की व्याख्यामें दिया है तो उनकी व्याख्या भी मनुष्यपरक होनी चाहिये। वैदिक व्यवस्थामें मानवजाति या मानव-समाजका विभाग वर्णव्यवस्था तथा आश्रमव्यवस्थाके रूपमें दो प्रकारसे किया है। दोनों ओरके विभागोंमें चार वर्ण तथा चार आश्रम इस तरह मानवसमाजके चार-चार भाग माने हैं। इनमेंसे वर्णविभागको यहाँपर औपमन्यवने 'पञ्चजनाः'की व्याख्यामें गिन लिया है। इसलिए गन्धर्व आदिसे मानवसमाजका आश्रमविभागरूप द्वितीय विभाग ही लिया जा सकता है। औपमन्यवने चार वर्णोंके साथ पञ्चम निषादको जोड़ कर 'पञ्चजनाः'की पाँच संख्याकी पूर्ति की है। इसी प्रकार आश्रमरूप विभागमें व्रात्यको लेकर पाँच संख्याकी पूर्ति की जा सकती है। निषाद वर्णधर्मोंसे शून्य 'निषण्णमस्मिन् पापकम् इति निषादः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार निकृष्टतम मनुष्य है। इसी प्रकार 'सावित्रीपतितो व्रात्यः' आश्रमधर्मोंसे रहित निकृष्ट श्रेणीका मानव 'व्रात्य' कहलाता है। इस प्रकार गन्धर्वादि पदोंकी आश्रम-परक व्याख्या करनेपर 'गां वाणीं विद्यां धारयति इति गन्धर्वः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मचारीको 'गन्धर्व' कहा जा सकता है। पितर पद वानप्रस्थियोंके लिए और देव पद संन्यासियोंके लिए प्रयुक्त हो सकता है। राक्षस पद व्रात्यके अर्थमें और परिशेषसे 'असुर' पद गृहस्थका वाचक हो सकता है। इस प्रकार गन्धर्व आदि पदोंसे चारों आश्रम तथा व्रात्यका ग्रहण करनेपर उन्हें मानव-विभागसे सम्बद्ध करके कथंचित् 'पञ्चजनाः' की व्याख्याके साथ जोड़ा जा सकता है।

'बृहद्देवता'में इस 'पञ्चजनाः' पदकी व्याख्या निम्नप्रकार की गयी है—

'शालामुख्यः प्रणीतश्च पुत्रो गृहपतेश्च यः।
उत्तरो दक्षिणश्चाग्निर् एते पञ्चजनाः स्मृताः ॥६७॥

मनुष्याः पितरो देवा गन्धर्वोरगराक्षसाः।
गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा यक्षराक्षसाः ॥६८॥

यत्पाञ्चजन्यया विशा [ऋ० ८-६३-७] ।

पञ्चजनीनया विशा । पञ्चपृक्ता संख्या स्त्रीपुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा ॥७॥

'पाञ्चजन्यया विशा' अर्थात् पञ्चजनात्मक 'प्रजाके द्वारा । पांच संख्या संपृक्त [अर्थात् तीनों लिंगोंमें समानरूपसे सम्बद्ध होनेवाली संख्या] है । [अर्थात् 'संपृक्ता' शब्द 'पृची सम्पर्चने' धातुसे बना है । आगे 'संपृक्ता'का अर्थ स्वयं दिखलाते हैं] स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंगोंमें समान रहनेवाली संख्या है ॥७॥

यास्कौपमन्यवावेतान् आहतुः पञ्च वै जनान् ।
निषादपञ्चमान् वर्णान् मन्यते शाकटायनः ॥६९॥

ऋत्विजो यजमानं च शाकपूणिस्तु मन्यते ।
होताध्वर्युस्तथोद्गाता ब्रह्मा चेति वदन्ति तान् ॥७०॥

चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् च प्राणश्चेत्यात्मवादिनः ।
गन्धर्वाप्सरसो देवा मनुष्याः पितरस्तथा ॥७१॥ [अ० ७]

आगे निरुक्तकार 'पञ्चजन' पदके प्रयोगवाला एक और मन्त्र उद्धृत करते हैं । यह पूरा मन्त्र यहाँ नहीं दिया गया है । उसका केवल प्रारम्भका भाग उद्धृत किया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत ।
अस्तृणाद् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः ॥ [ऋ० ८-६३-७]

इसमें 'इन्द्र' अर्थात् राजाका वर्णन है । राजा विपः अर्थात् मेधावी, 'अर्यः' अर्थात् समर्थ और 'मानस्य च क्षयः' मान-मर्यादाका निवासस्थान होता है । लोकप्रिय राजाके लिए 'पाञ्चजन्यया विशा' सारी मानवसमाजरूप प्रजाके द्वारा 'घोषाः असृक्षत' जयघोष किये जाते हैं । यह मन्त्रका अभिप्राय है । निरुक्तकारने इस मन्त्रके प्रारम्भका केवल 'पाञ्चजन्यया विशा' इतना भाग उद्धृत करके ही उसका अर्थ कर दिया है—'पञ्चजनीनया' इत्यादि ॥७॥

[८]

वाहुनामान्युत्तराणि द्वादश । वाहू कस्मात्प्रवाधत आभ्यां कर्माणि ।

---

[८]

[मनुष्यनामोंके वाद] अगले १२ वाहुओंके नाम हैं। 'वाहू' क्यों [कही जाती हैं? यह प्रश्न है इसका उत्तर देते हैं]। इनके द्वारा कर्मोंको विलोडित करता है [अर्थात् नाना प्रकारके कार्योंको करता है। इसलिए इनको वाहु नामसे कहा जाता है]।

वाहु-वाचक १२ शब्द

इस प्रकार यहाँतक मनुष्यवाचक नामोंकी व्याख्या हुई। निघण्टुमें मनुष्यवाचक नामोंके वाद १२ वाहु-वाचक शब्द दिये गये हैं। अव निरुक्त-कार उनकी व्याख्या करने जा रहे हैं। वे वाहुवाचक १२ शब्द निम्न-प्रकार हैं--

निघण्टुः---१ आयती, २ च्यवाना, ३ अभीशू, ४ अप्नवाना, ५ विनिङ्गृसौ, ६ गभस्ती, ७ करस्नौ, ८ वाहू, ९ भुरिजौ, १० क्षिपस्ती, ११ शकरी, १२ भरित्रे इति द्वादश वाहुनामानि ॥४॥

इन्हीं १२ वाहुवाचक पदोंका संकेत करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं— 'वाहुनामानि' इत्यादि।

इस निर्वचनके अनुसार वाहु शब्द 'वाधृ विलोडने' धातुसे 'अर्जि-दृशि-कमि-अमि-पशि-वाधामृजिपसि-तुग्धुगदीर्घहकाराश्च' इस उणादि [१-२७] सूत्रसे 'कु' प्रत्यय और धकारके स्थानपर हकार होकर 'वाहु' शब्द वनता है। इसीलिए निरुक्तकारने 'प्रवाधते आभ्यां कर्माणि' यह 'वाहू' पदका निर्वचन किया है। इस वाहु शब्दके प्रयोगवाला कोई मन्त्र उद्धृत नहीं किया है और आगे वाहुसे सम्बद्ध अङ्गुलिवाचक २२ पदोंका विवेचन करने लगे हैं। निघण्टुमें वाहुवाचक १२ नामोंके वाद पादटिप्पणीमें प्रदर्शित अंगुलिवाचक २२ नाम दिये हैं।

अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुलयः कस्माद्-ग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाग्रसारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्जनादेव स्युः। तासामेषा भवति—

[बाहुनामोंके बाद] अगले २२ अङ्गुलिके नाम [निघण्टुमें दिये हैं]। अङ्गुलि क्यों [कहलाती हैं? इस प्रश्नका उत्तर अङ्गुलि-पदके निर्वचन द्वारा देते हैं—] (१) अग्रगामिनी होती हैं, [अर्थात् 'अग्र' पूर्वक 'गम' धातुसे 'उणादयो बहुलम्' के बाहुलकसे सिद्ध 'उलि' प्रत्यय और 'ग्र' का लोप करके 'अङ्गुलि' पद बनता है] अथवा (२) आगे चलनेवाली होती हैं] अर्थात् 'अग्र'पूर्वक 'गल स्रवणे' धातुसे उसी प्रकार 'उलि' प्रत्यय और 'ग्र' का लोप आदि करके 'अङ्गुलि' पद बनता है] अथवा [३] अग्रकारिणी होती हैं अथवा (४) अग्रसारिणी होती हैं अथवा (५) चिह्न डालनेवाली [अङ्कनाः] होती हैं [अर्थात् 'अकि लक्षणे' धातुसे 'अङ्गुलि' शब्द बनता है] अथवा ['अञ्चु गतिपूजनयोः' धातुसे अङ्गुलि शब्द बनता है। इसलिए अङ्गुलियाँ अञ्चना अर्थात्] (६) पूजन करनेवाली होती हैं [इस-लिए अङ्गुलि कहलाती हैं] अथवा['अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' इस 'अञ्जू' धातुसे निष्पन्न होनेके कारण अभ्यञ्जन अर्थात्] (७) काजल लगाने या मालिश करनेके कारण [अङ्गुलि कही जाती हैं।

अङ्गुलिवाचक २२ नाम

निघण्टुः—१ अग्रुवः, २ अण्व्यः, ३ व्रिशः, ४ क्षिपः, ५ शर्याः, ६ रशनाः, ७ धीतयः, ८ अथर्यः, ९ विपः, १० कक्ष्याः, ११ अवनयः, १२ हरितः, १३ स्वसारः, १४ जामयः, १५ सनाभयः, १६ योक्त्राणि, १७ योजनानि, १८ धुरः, १९ शाखाः, २० अभीशवः २१ दीधितयः, २२ गभस्तयः इति द्वाविंशतिर-ङ्गुलिनामानि ॥५॥

इनकी व्याख्या करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—'अङ्गुलिनामान्युत्तराणि' इत्यादि।

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।
दशाभीशुभ्य अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ॥
[ऋ० १०।९४।७]

उन [अंगुलियों]की यह [आगे दी हुई 'दशावनिभ्यः' आदि ऋचा] है—

[अवनिभ्यः अवन अर्थात्] रक्षण करनेवाली दस [अंगुलियों] को, [कक्ष्येभ्यः अर्थात् कर्मोंको] प्रकाशित करनेवाली दस [अंगुलियों] को, [दशयोक्त्रेभ्यः अर्थात् पदार्थोंको] जोड़नेवाली दस [अंगुलियों] को, [दशयोजनेभ्यः अर्थात् वस्तुओंको] मिलानेवाली दस [अंगुलियों] को, [दशाभीशुभ्यः अर्थात् कर्मोंमें] व्यापृत दस [अंगुलियों] को, [अजरेभ्यो दश अर्थात्] जरारहित [अर्थात् सदा कार्यमें लगी रहनेवाली] दस [अंगुलियों] को और [युक्ता धुरो वहद्भ्यः दश] दिये हुए कामको सम्पन्न करनेवाली दस [अंगुलियों] को [अर्चत अर्थात्] पूजित करो ।

इस प्रकार निरुक्तकारने १ अग्रपूर्वक 'गम' धातुसे, २ अग्रपूर्वक 'गल' धातुसे, ३ अग्रपूर्वक 'कृ' धातुसे, ४ अग्रपूर्वक 'सृ' धातुसे, ५ 'अञ्चु गतिपूजनयोः' धातुसे, ६ 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण-कान्तिगतिषु' इस धातुसे अर्थात् कुल मिलाकर सात प्रकारसे 'अंगुलि' शब्दका निर्वचन दिखलाया है। उणादि [४-१] में गत्यर्थक अगि धातुसे उलि प्रत्यय करके अंगुलि शब्दकी सिद्धि की है। वह सबसे अच्छा निर्वचन है। किन्तु यास्कने यहाँ उसकी कोई चर्चा नहीं की है। और उससे भिन्न प्रकारके अनेक निर्वचन दिखलाये हैं।

इसमें 'अवनिभ्यः' आदि सातों चतुर्थ्यन्त पदोंमें द्वितीयाके स्थानपर चतुर्थी विभक्ति है। इसलिए अर्थ करते समय उनको द्वितीयान्त मानकर ही अर्थ किया गया है। मन्त्रमें 'अवनिभ्यः', 'कक्ष्येभ्यः' आदि जो अङ्गुलियोंके विशेषण दिये हैं उनका अङ्गुलियोंके साथ सामंजस्य दिखलाते हुए निरुक्तकार आगे लिखते हैं— 'अवनयः' इत्यादि।

अवनयोऽङ्गुलयो भवन्त्यवन्ति कर्माणि। कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्। अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि। दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः। धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः। इयमपीतरा धूरेतस्मादेव। विहन्ति वहम्। धारयतेर्वा ॥८॥

[९]

कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश।

अङ्गुलियाँ कर्मोंकी रक्षा करती हैं, इसलिए 'अवनि' कहलाती हैं। कर्मोंको प्रकाशित करती हैं, इसलिए 'कक्ष्या' कही जाती हैं। 'योक्त्र' और 'योजन' ये दोनों [विशेषण] स्वयं व्याख्यात हैं [अर्थात् उनका अर्थ स्पष्ट ही है, [अतः स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है]। कर्मोंमें व्याप्त होनेसे 'अभीशु' [अंगुलियोंका विशेषण दिया गया है]। 'दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः'में 'धुर' शब्द वधार्थक 'धूर्व' धातुसे बनता है। यह [लोकमें प्रयुक्त गाड़ीकी धुराका वाचक] धूः शब्द भी इसी [वधार्थक 'धूर्व' धातु]से [बनता] है। क्योंकि वह वहन करनेवाले [बैलों]को विशेषरूपसे पीड़ित करता है। अथवा धारणार्थक 'धृ' धातुसे [धूः शब्द बनता है] ॥८॥

[९]

[निघण्टुमें अंगुलि-नामोंके बाद] अगले १८ कान्ति अर्थात् इच्छा अर्थवाले धातु हैं। [वे १८ धातु नीचे पादटिप्पणीमें दिये हैं।]

कान्त्यर्थक १८ धातु

निघण्टुः—१. वश्मि, २. उश्मसि, ३. वेति, ४. वेनति, ५. वेसति, ६. वाञ्छति, ७. वष्टि, ८. वनोति, ९. जुषते, १०. हर्यति, ११. आचके, १२. उशिक्, १३. मन्यते, १४. छन्त्सत्, १५. चाकनत्, १६. चकमानः, १७. कनति, १८. कानिषत् इत्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥६॥

अन्ननामान्युत्तराणि अष्टाविंशतिः । अन्नं कस्मात् ? आनतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा ।

अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

[निघण्टुमें कान्त्यर्थक १८ धातुओंके बाद] अगले २८ नाम अन्नके हैं। [वे अन्नवाचक २८ नाम पादटिप्पणीमें दिये गये हैं]।

अन्न क्यों [कहा जाता है? अर्थात् अन्न पदका क्या निर्वचन है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं] (१) समस्त प्राणियोंको आनत अर्थात् प्राप्त होता है, इसलिए [आङ्पूर्वक 'नम' धातुसे उपसर्गको ह्रस्व करके 'अन्न' शब्द बनता है] अथवा (२) [भक्षणार्थक] 'अद्' धातु से [अन्न शब्द बनता है। उणादिमें [३-१०] सूत्रमें 'अन प्राणने' धातुसे 'अन्न' शब्दकी सिद्धि की गयी है। इसलिए 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' कहा जाता है। यास्कने इस निर्वचनका यहाँ उल्लेख नहीं किया है]।

[अन्नसे सम्बद्ध होनेसे] आगे भोजनार्थक १० धातु [निघण्टुमें दिये गये] हैं, [वे नीचे पादटिप्पणीमें निर्दिष्ट हैं]।

अन्नके वाचक २८ नाम

निघण्टुः—१. अन्धः, २. वाजः, ३. पयः, ४. श्रवः, ५. पृक्षः, ६. पितुः, ७. सुतः, ८. सिनम्, ९. अवः, १०. क्षु, ११. धासिः, १२. इरा, १३ इला, १४. इषम्, १५. ऊर्क्, १६. रसः, १७. स्वधा, १८. अर्कः, १९. क्षद्म, २०. नेमः, २१. ससम्, २२. नमः, २३. आयुः, २४. सूनृता, २५. ब्रह्म, २६. वर्च्चः, २७. कीलालम्, २८ यशः इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ।।७।।

भोजनार्थक १० धातु

निघण्टुः—१. आवयति, २. भर्वति, ३. बभस्ति, ४. वेति, ५. वेवेष्टि, ६. अविष्यन्, ७. वप्सति, ८. भसथः, ९. बब्धाम्, १०. ह्वरति इति दश अत्तिकर्माणः ।।८।।

अन्नसे बलकी प्राप्ति होती है, इसलिए अन्न और अत्त्यर्थक धातुओंके बाद निघण्टुकारने आगे बलके वाचक २८ नाम दिये हैं। निघण्टुमें उनका पाठ पाद-टिप्पणीके अनुसार है—

बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। बलं कस्माद्? बलं भरं भवति बिभर्तेः।

धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव। धनं कस्मात्? धिनोतीति सतः।

अगले अट्ठाईस नाम बलके हैं। बल क्यों [कहलाता है] अर्थात् 'उस पदका निर्वचन क्या है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं [भरण करनेवाला होता है, [इसलिए बल कहलाता है। अर्थात् 'डुभृञ् धारण-पोषणयोः' धातुसे 'अप्' प्रत्यय, 'भ'को 'ब' तथा 'र'को 'ल' करके 'बल' शब्द सिद्ध होता है]।

[निघण्टुमें बल-नामोंके बाद] आगे २८ ही धनके नाम हैं। धन क्यों [धन नामसे कहा जाता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि प्रीणनार्थक स्वादिगणी] 'धि' धातुसे बननेके कारण [धिनोति प्रीणयति इति धनम्' इस व्युत्पत्तिसे धन कहा जाता है]।

निघण्टुः—१. ओजः, २. पाजः, ३. शवः, ४. तवः, ५. तरः, ६. त्वक्षः, ७. शर्द्धः, ८. बाधः, ९ नृम्णम्, १०. तविषी, ११. शुष्मम्, १२. शुष्णम्, १३ दक्षः, १४ वीळु. १५ च्यौत्नम्, १६ शूषम्, १७ सहः, १८ यहः, १९ वधः, २० वर्गः, २१ वृजनम्, २२ वृक्, २३ मज्मना, २४ पौंस्यानि, २५ धर्णसिः, १५ द्रविणम्, २७ स्यन्द्रासः, २८ शम्बरम् इत्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥९॥

बलका सम्बन्ध धनसे होता है अतएव बल-वाचक नामोंके बाद निघण्टुकारने धन वाचक २८ शब्दोंका संग्रह निम्नप्रकार किया है—

निघण्टुः—१ मघम्, २ रेक्णः, ३ रिक्थम्, ४ वेदः, ५ वरिवः, ६ श्वात्रम्, ७ रत्नम्, ८ रयिः, ९ क्षत्रम्, १० भगः, ११ मीहुळम्, १२ गयः, १३ द्युम्नम्, १४ इन्द्रियम्, १५ वसु, १६ रायः, १७ राधः, १८ भोजनम्, १९ तना, २० नृम्णम्, २१ बन्धुः, २२ मेधा, २३ यशः, २४ ब्रह्म, २५ द्रविणम्, २० श्रवः, २७ वृत्रम्, २८ वृतम् इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥१०॥

निरुक्तकार आगे इन्हीं धन-नामोंका निर्देश करके 'धन' पदका निर्वचन करते हैं—'धनं कस्मात्' इत्यादि।

धनके प्रसंगमें विशेषधनरूप गौके ९ नामोंका संग्रह निघण्टुकारने पादटिप्पणीके अनुसार किया है—

गोनामान्युत्तराणि नव ।
क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश ।
क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश ।
गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम् ।

[निघण्टुमें] अगले नौ नाम 'गौ'के [दिये] हैं ।
[निघण्टुमें] अगले दस धातु क्रुध्यति क्रियाके वाचक हैं ।
[निघण्टुमें] अगले ग्यारह क्रोध-नाम हैं ।
आगे १२२ गत्यर्थक धातु हैं । [निघण्टुमें उनका संग्रह निम्न-प्रकार किया गया है] ।

निघण्टुः—१ अघ्न्या, २ उस्रा, ३ उस्रिया, ४ अही, ५ मही, ६ अदितिः, ७ इला, ८ जगती, ८ शक्वरी इति नव गोनामानि ॥११॥

इन्हीं नौ गौ-नामोंका संकेत करते हुए निरुक्तकार आगे लिखते हैं—'गोनामानि' इत्यादि ।

'गौ'के किसी भी नामका यहाँ निर्वचन न करके निरुक्तकार अगले क्रोधार्थक दस धातुओंका निर्देश करते हैं । इन क्रोधार्थक धातुओंकी गणना पादटिप्पणीमें की गयी है—

निघण्टुः—१ रेलते, २ हेलते, ३ भामते, ४ हृणीयते, ५ भ्रीणाति, ६ भ्रेषति, ७ दोधति, ८ वनुष्यति, ९ कम्पते, १० भोजते इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥१२॥

क्रुध्यति क्रियाके सम्बन्धसे आगे क्रोधके वाचक ११ नामोंका अर्थात् संज्ञावाचकपदोंका निघण्टुमें संग्रह किया गया है—

निघण्टुः—१ हेलः, २ हरः, ३ हृणिः, ४ त्यजः, ५ भामः, ६ एहः, ७ ह्वरः, ८ तपुषी, ९ जूर्णिः, १० मन्युः, ११ व्यथिः इत्येकादश क्रोधनामानि ॥१३॥

गत्यर्थक १२२ धातु

निघण्टुः—१ वर्तते, २ अयते, ३ लोटते, ४ लोठते, ५ स्यन्दते, ६ कसति, ७ सर्पति, ८ स्यमति, ९ स्रवति, १० स्रंसते, ११ अवति, १२ श्च्योतति, १३. ध्वंसति, १४ वेनति, १५ मार्ष्टि, १६ भुरण्यति, १७ शवति, १८ कालयति, १९ पेलयति, २० कण्टति, २१ पिस्यति, २२ विस्यति, २३ मिस्यति, २४ प्रवते, २५ प्लवते, २६ च्यवते, २७ कवते, २८ गवते, २९ नवते, ३० क्षोदति,

क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः । क्षिप्रं कस्मात्संक्षिप्तो विकर्षः ॥

[निघण्टुमें १२२ गत्यर्थक धातुओंके बाद] अगले २६ नाम क्षिप्र [शीघ्रता] के हैं। [इनमेंसे क्षिप्र शब्दका निर्वचन करते हुए निरुक्त-कार लिखते हैं] क्षिप्र क्यों कहलाता है अर्थात् क्षिप्र शब्दका क्या निर्वचन है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं। [कालकी] दूरी [जिससे] कम हो जाती है [उस शीघ्रताको क्षिप्र कहते हैं]।

३१ नक्षति, ३२ सक्षति, ३३ म्यक्षति, ३४ सचति, ३५ ऋच्छति, ३६ तुरीयति, ३७ चतति, ३८ अतति, ३९ गाति, ४० इयक्षति, ४१ सश्चति, ४२ त्सरति, ४३ रंहति, ४४ यतते, ४५ भ्रमति, ४६ ध्रजति, ४७ रजति, ४८ लजति, ४९ क्षियति, ५० धमति, ५१ मिनाति, ५२ ऋण्वति, ५३ ऋणोति, ५४ स्वरति, ५५ सिसर्ति, ५६ वे(वि)पिष्टि, ५७ योषिष्टि, ५८ रिणाति, ५९ रीयते, ६० रेजति, ६१ दध्यति, ६२, दभ्नोति, ६३ युध्यति, ६४ धन्वति, ६५ अरुषति, ६६ आर्यति, ६७ डीयते, ६८ तकति, ६९ दीयति, ७० ईषति ७१ फणति, ७२ हनति, ७३ अर्दति, ७४ मर्दति, ७५ सर्स्रृते, ७६ नसते, ७७ हर्यति, ७८ इयर्ति, ७९ ईर्ते, ८० ईङ्खते,८१ अयति, ८२ श्वात्रति, ८३ गन्ति, ८४ आगनीगन्ति, ८५ जङ्गन्ति, ८६ जिन्वति, ८७ जसति, ८८ गमति, ८९ भ्रति, ९० भ्राति, ९१ भ्रयति, ९२ वहते, ९३ रथर्यति, ९४ जेहते, ९५ ष्वःकति, ९६ क्षुम्पति, ९७ प्साति, ९८ वाति, ९९ याति, १०० इषति, १०१ द्राति, १०२ द्रूलति, १०३ एजति, १०४ जमति, १०५ जवति, १०६ वञ्चति, १०७ अनिति, १०८ पवते, १०९ हन्ति, ११० सेधति, १११ अगन्, ११२ अजगन्, ११३ जिगाति, ११४ पतति, ११५ इन्वति, ११६ द्रमति, ११७ द्रवति, ११८ वेति, ११९ हयन्तात्, १२० एति, १२१ जगायात्, १२२ अयुथुः इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥१४॥

इसके आगे निघण्टुमें २६ नाम क्षिप्र [शीघ्रता] के वाचक हैं। वे निम्न-प्रकार हैं—

निघण्टुः—१ नु, २ मक्षु, ३ द्रवत्, ४ ओषम्, ५ जीराः, ६ जूर्णिः, ७ शूर्ताः, ८ शूघनासः, ९ शीभम्, १० तृपु, ११ तूयम्, १२ तूर्णिः, १३ अजिरम्, १४ भुरण्युः १५ शु, १६ आशु, १७ प्राशुः, १८ तूतुजिः, १९ तूतुजानः, २० तुज्यमानासः, २१ अज्राः, २२ साचीवित्, २३ द्युगत्, २४ ताजत्, २५ तरणिः, २६ वातरंहा इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥१५॥

अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश। अन्तिकं कस्मात्? आनीतं भवति॥९॥

[१०]

संग्रामनामान्युत्तराणि षट्चत्वारिंशत्। संग्रामः कस्मात्? सङ्गमनाद्वा, सङ्गरणाद्वा, सङ्गतौ ग्रामाविति वा। तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति।

[निघण्टुमें] अगले ११ नाम समीपवाचक हैं। अन्तिक क्यों [कहलाता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं] पासमें लाया हुआ होता है ॥९॥

[१०]

[निघण्टुमें अन्तिक-नामोंके बाद] अगले ४६ संग्रामवाचक नाम हैं। संग्राम क्यों? [अर्थात् संग्राम पदका निर्वचन क्या है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—इसमें दोनों पक्षोंके बहुतसे लोगोंके] इकट्ठे होनेसे अथवा बहुत बोलनेसे [यह संग्राम कहलाता है]। अथवा दो ग्राम [दो दल] इकट्ठे होते हैं [इसलिए संग्राम कहलाता है]।

उन [संग्रामवाचक शब्दों] मेंसे 'खल' इस [शब्दके सन्देह-जनक] अनेक मन्त्र मिलते हैं। [जैसे]—

अन्तिकवाची ११ नाम निघण्टुमें निम्नप्रकार गिनाये गये हैं—

निघण्टुः—१ तलित्, २ आसात्, ३ अम्बरम्, ४ तुर्वशे, ५ अस्तमीके, ६ आके, ७ उपाके, ८ अर्वाके, ९ अन्तमानाम्, १० अवमे, ११ उपमे इत्येकादश अन्तिकनामानि ॥१६॥

संग्रामवाचक ४६ नाम

निघण्टुः—१ रणः २ विवाक्, ३ विखादः, ४ नदनुः, ५ भरे, ६ आक्रन्दे, ७ आहवे, ८ आजौ, ९ पृतनाज्यम्, १० अभीके, ११ समीके, १२ ममसत्यम्, १३ नेमधिता, १४ सङ्काः, १५ समितिः, १६ समनम्, १७ मीळ्हे, १८ पृतनाः, १९ स्पृधः, २० मृधः, २१ पृत्सु, २२ समत्सु, २३ समर्ये, २४ समरणे, २५ समोहे, २६ समिथे, २७ संख्ये, २८ संगे, २९ संयुगे, ३० संगथे, ३१ संगमे, ३२ वृत्रतूर्ये, ३३ पृक्षे, ३४ आणौ, ३५ शूरसातौ, ३६ वाजसातौ, ३७ समनीके, ३८ खले, ३९ खजे, ४० पौंस्ये, ४१ महाधने, ४२ वाजे, ४३ अज्म, ४४ सद्म, ४५ संयत्, ४६ संवत इति षट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि ॥१७॥

अ॒भी॑३॒दमेक॒मेको॑ अस्मि नि॒ष्षाल॒भी द्वा किमु॒ त्रयः॑ करन्ति ।
खले॒ न प॒र्षान्प्रति॑ हन्मि॒ भूरि॒ किं मा॑ निन्दन्ति॒ शत्र॑वोऽनि॒न्द्राः॥
[ऋ० १०-४८-७]

अभिभवामीदमेकमेकोऽस्मि निःषहमाणः सपत्नानभिभवामि द्वौ किं मा त्रयः कुर्वन्ति । एक इता संख्या । द्वौ द्रुततरा संख्या।

[निष्पाड् अर्थात्] शत्रुओंको सहन न करनेवाला मैं [एकः] अकेला ही[एकम् अपनेको अद्वितीय शूरवीर समझनेवाले वड़े-से-वड़े] अकेले शत्रुको [अभि अस्मि—अभिभवामि] पराजित कर सकता हूँ। [द्वौ त्रयः किमु करन्ति] दो अथवा तीन [अर्थात् बहुतसे शत्रु मिल कर] भी मेरा क्या विगाड़ सकते हैं? ['खले पर्षान् न'] जैसे खलि-हानमें [अन्नके वहुतसे पर्ष अर्थात्] पूले कुचल डाले जाते हैं इस प्रकार मैं संग्राममें वहुत शत्रुओंको कुचल सकता हूँ। [अनिन्द्राः शत्रवः] सामर्थ्य-हीन शत्रु मेरी निन्दा क्या करते हैं?

[निःषहमाणः सपत्नान्] शत्रुओंको सहन न करनेवाला [अस्मि एकः] अकेला ही मैं [इदमेकम् अभिभवामि] इस अकेले [शत्रु या जगत्] को पराजित कर सकता हूँ। [द्वौ किं मां त्रयः कुर्वन्ति] दो या तीन मेरा क्या कर सकते हैं? [आगे एक, दो तथा तीन संख्याके वाचक पदोंका निर्वचन दिखलाते हैं] एक संख्या [पदार्थों तक इता अर्थात्] पहुँची हुई होती है। दो संख्या [द्रुततरा अर्थात् एक

अन्तिक-नामोंके निर्देशके वाद निरुक्तकार आगे संग्रामवाचक ४६ नामोंका संकेत करके संग्राम शब्दका निर्वचन दिखलाकर संग्राम-वाचक 'खल' इस पदके प्रयोगका उदाहरण आगे देते हैं—'तत्र' इत्यादि।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि 'संग्राम' शब्द तीन प्रकारसे वनाया जा सकता है। एक 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गम' धातुसे; दूसरे 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गृ' धातुसे और तीसरे संपूर्वक ग्राम शब्दको मिलाकर संग्राम शब्द बनाया जा सकता है। ग्राम शब्द समूहवाचक है। इन संग्रामवाचक नामोंमें एक 'खल' शब्द भी आया है। खल शब्दका दूसरा अर्थ खलिहान भी होता है। इसलिए कहीं-

त्रयस्तीर्णतमा संख्या । चत्वारश्चलिततमा संख्या । अष्टावश्नोतेर्नव न वननीया नावाप्ता वा । दश दस्ता दृष्टार्था वा । विंशतिर्द्वि-

संख्यासे भी आगे हुई होती है। तीन संख्या [तीर्णतम अर्थात्] उसको भी पार कर जानेवाली [दो संख्यासे भी अधिक देशमें व्यापक] होती है। [एक, दो और तीन संख्याएँ तो मन्त्रमें आयी थीं। उनके प्रसंगसे अन्य संख्या-वाचक पदोंका भी निर्वचन दिखलाते हैं] चार संख्या [तीनसे भी] अधिक आगे बढ़ी हुई है। [पञ्च संख्याका निर्वचन 'पञ्च-जन' शब्दकी व्याख्याके अवसरपर पृष्ठ २७९ में 'पञ्चपृक्ता संख्या' इस प्रकार कर चुके हैं। षट्का निर्वचन ४-२६ में तथा सप्तका निर्वचन ४-२७ में आगे करेंगे। इसलिए इन तीनोंको छोड़कर आगे 'अष्टौ' संख्याका निर्वचन करते हैं] अष्टन् यह संख्या व्यापक होनेसे ['अशूङ् व्याप्तौ' धातुसे 'सप्यशूभ्यां तुट् च' इस उणादि १-१५६ सूत्रसे 'कनिन्' प्रत्यय तथा 'तुट्'का आगम करके 'सप्तन्' तथा 'अष्टन्' दोनों पद बनते हैं। नव संख्या विभजनीय या प्राप्तव्य नहीं होती है, [इसलिए नव कहलाती है : इसका यह आशय है कि जब किसीको ९ चीजें देनी या लेनी होती हैं तो प्रायः ९के स्थानपर पूरी १० चीजें ली या दी जाती हैं। इसलिए नव संख्या 'न वननीया—न विभजनीया' या 'न प्राप्ता वा भवति'। दस संख्या [दस्ता 'दसु उपक्षये' उपक्षीण] समाप्त होनेवाली अन्तिम संख्या है। [अगली संख्याएँ दसके योगसे बनती हैं] अथवा दृष्टार्था [एकादश, द्वादश आदि अन्य [संख्याओंमें बार-बार देखी जानेसे दृश+अन्=दशन्] होती है। दो दस मिलानेसे विंशतिः २० संख्या होती है। और दस बार दस जोड़नेसे 'शतम्'

कहीं सन्देह हो जाता है कि यहाँ 'खल' शब्दका संग्राम अर्थ लिया जाय अथवा खलिहान। इसी प्रकारका एक मन्त्र आगे उद्धृत करते हैं—

इस मन्त्रका देवता वैकुण्ठ इन्द्र है। इसका अर्थ कुण्ठारहित अकुण्ठित शक्तिवाला इन्द्र अर्थात् राजा या परमात्मा है। यह अकुण्ठितशक्ति राजा अथवा परमात्मा अपनी सामर्थ्यको प्रकाशित करते हुए कहता है—'अभीद०' इत्यादि।

र्दशतः। शतं दशदशतः। सहस्रं सहस्वत्। अयुतं प्रयुतं नियुतं तत्तदभ्यस्तम्। अर्बुदो मेघो भवत्यरणम् अम्बु तद्दोऽम्बुदोम्बुमद्भातीति वाम्बुवद्भवतीति वा स यथा महान् बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्।

'खले न पर्षान् प्रतिहन्ति भूरि।' खल इव पर्षान् प्रतिहन्ति

सौ संख्या बनती है। सहस्र संख्या सहस्वत् अर्थात् बलवान् होती है। [अर्थात् 'सहस्' शब्दसे मतुबर्थमें 'र' प्रत्यय करके 'सहस्र' शब्द बनता है]। अयुत [दस हजार], नियुत [एक लाख] और प्रयुत [दस लाख] पूर्व-पूर्वको दसगुना करनेसे [अभ्यस्तम्] बनता है। [आगे अरब संख्याके लिए 'अर्बुदम्' शब्द आता है। उस 'अर्बुद' संख्याकी तुलना अम्बुद अर्थात् मेघके साथ करते हुए आगे उसका निर्वचन दिखलाते हैं] अम्बुद मेघका नाम है। 'अरण' अर्थात् जल, उससे-[जैसे संख्यावाचक 'अर्बुद' शब्द बनता है इसी प्रकार] अम्बुद बनता है। [इसलिए वह 'अर्बुद' संख्या] मेघके समान शोभित होती है अथवा मेघके समान होती है [इसलिए अर्बुद कहलाती है। आगे मेघसे 'अर्बुद' संख्याकी समानता दिखलाते हैं] जैसे बरसते समय वह [मेघ] महान् अतिविस्तीर्ण [बहु] हो जाता है इसी प्रकार 'अर्बुद' संख्या भी बहुत हो जाती है।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ, निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे अनेक शब्दोंका निर्वचन करते हुए आगे निम्न प्रकारसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'अभि०' इत्यादि।

'अभीदमेको' इत्यादि मन्त्रकी व्याख्या चल रही थी। उसके पूर्वार्द्धमें एकः, द्वौ, त्रयः ये तीन संख्या-वाचक पद आये थे। उनका निर्वचन करनेके बाद प्रसंगतः अन्य संख्यावाचक पदोंका भी निर्वचन इतने विस्तारके साथ निरुक्तकारने यहाँ दिखला दिया है। मन्त्रके उत्तरार्द्ध भागकी व्याख्या बीचमें छूट ही गयी थी। इसलिए अब आगे उस उत्तरार्द्ध भागकी व्याख्या करते हैं—'खले न' इत्यादि।

भूरि। खल इति संग्रामनाम खलतेर्वा स्खलतेर्वा। अयमपीतरः खल एतस्मादेव, समास्कन्नो भवति। किं मा निदन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः। य इन्द्रं न विविदुरिन्द्रो ह्यहमस्म्यनिन्द्रा इतर इति वा ॥१०॥

[खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि] खलिहानमें जैसे पूले कुचल दिये जाते हैं इस प्रकार मैं बहुतसे शत्रुओंको कुचल सकता हूँ। 'खल' यह संग्रामका वाचक है। 'खल' धातुसे अथवा 'स्खल' धातुसे [संग्राम-वाचक 'खल' शब्द बनता है] यह दूसरा [खलिहान-वाचक खल शब्द] भी इसीसे बनता है अर्थात् जिसमें योद्धा अथवा अन्न गिरता है या पीसा या मला जाता है वह खलिहान तथा संग्राम दोनों शब्द भ्रंशार्थक 'खल' धातुसे अथवा हिंसार्थक 'स्खल' धातुसे बनते हैं। अथवा अन्नके खलिहान पक्षमें उसकी तीसरी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं कि वह फैले हुए अन्नसे] व्याप्त होता है। [किं मां निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः] जो इन्द्रको नहीं समझते हैं वे शत्रु मेरी निन्दा क्या करते हैं। मैं [अर्थात् परमात्मा या राजा] इन्द्र [परमैश्वर्यवान् 'इदि परमैश्वर्ये'] हूँ, अन्य [शत्रुगण अनिन्द्र] इन्द्रसे भिन्न हैं ॥१०॥

संग्राम नामोंके बाद संग्रामसे सम्बद्ध होनेसे व्याप्त्यर्थक १० धातुओंका निघण्टुमें संग्रह किया गया है।

व्याप्त्यर्थक १० धातु

निघण्टु :–१ इन्वति, २ नक्षति, ३ आक्षाणः, ४ आनट्, ५ आष्ट, ६ आपानः, ७ अशत्, ८ नशत्, ९ आनशे, १० अश्नुत इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥१८॥

यहाँ व्याप्त्यर्थक धातुओंका संग्रह किया गया है। किन्तु इन १० धातुओंमें 'आक्षाणः' तथा 'आपानः' ये दो नाम पद भी आ गये हैं। इसलिए निरुक्तकार अपनी व्याख्यामें उनका अलग निर्देश करके उनका निर्वचन भी दिखलाते हुए लिखते हैं—'तत्र' इत्यादि।

[११]

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नामनी आक्षाणः—आश्नुवानः, आपानः—आप्नुवानः।

वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत्। तत्र वियात इत्येतद्वियातयत इति वियातयेति वा ॥

---

[११]

[संग्राम नामोंके बाद निघण्टुमें] अगले दस धातु व्याप्त्यर्थक हैं। उनमें दो नाम हैं—१ आक्षाणः अर्थात् आश्नुवानः सर्वत्र व्यापक और २ 'आपानः' अर्थात् आप्नुवानः सर्वत्र पहुँचा हुआ [यह इन दोनों नाम पदोंका, जो कि व्याप्त्यर्थक धातुओंके साथ पढ़े हुए हैं, निर्वचन तथा अर्थ है]।

[निघण्टुमें] अगले ३३ धातु वधार्थक हैं। उनमें 'वियातः' यह [नाम पद और सम्बोधन विभक्तिमें है। उसका अर्थ] है—वियातयितः [अर्थात् हे यातनादेनेवाले] [यह सम्बोधन नामपरक हो सकता है।] अथवा वियातय, कष्ट प्रदान करो, [इस रूपमें क्रियापरक हो सकता है]।

संग्रामके प्रसंगसे ही निघण्टुमें आगे वधार्थक ३३ धातुओंका संग्रह किया गया है।

वधार्थक ३३ धातु

निघण्टु :—१ दभ्नोति, २ श्नथति, ३ ध्वरति, ४ धूर्वति, ५ तृणक्ति, ६ वृश्चति, ७ कृण्वति, ८ कृन्तति, ९ श्वसिति, १० नभते, ११ अर्दयति, १२ स्तृणाति, १३ स्नेहयति, १४ यातयति, १५ स्फुरति, १६ स्फुलति, १७ निवपन्तु, १८ अवतिरति, १९ वियातः, २० आतिरत्, २१ तल्ति, २२ आखण्डल, २३ द्रूणाति, २४ रम्णाति, २५ श्रृणाति, २६ शम्नाति, २७ तृणेढ्लि, २८ ताढलि, २९ नितोशते, ३० निबर्हयति, ३१ मिनाति, ३२ मिनोति, ३३ धमति इति त्रयस्त्रिंशद् वधकर्माणः ॥१९॥

आखंण्डल॒ प्रहूंयसे ॥ [ऋ० ८-१७-१२]

आखण्डयितः ! खण्डं खण्डयतेः । तडिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म ताडयतीति सतः ।

त्वया॑ व॒यं सु॒वृधा॑ ब्रह्मणस्पते स्पा॒र्हा वसु॑ मनु॒ष्या द॑दीमहि ।
या नो॑ दूरे त॒डितो॒ या अरा॑तयो॒ऽभि सन्ति॑ ज॒म्भया॒ ता अ॑न॒प्नसः॑ ॥
[ऋ० २-२३-९]

हे आखण्डल [इन्द्र] ! हम आपका आह्वान [सोमपानके लिए] करते हैं। [आखण्डलका अर्थ] हे आखण्डयितः ! है। खण्ड पद 'खडि भेदने' धातुसे बनता है। [यह खांडका वाचक भी होता है]।

हे ब्रह्मणस्पते ! [राष्ट्रपते राजन् ! 'सुवृधा त्वया' राष्ट्रकी] उत्तम वृद्धि करनेवाले आपके द्वारा [वयं मनुष्याः स्पार्हा वसु आददीमहि] हम प्रजाजन स्पृहणीय धनोंको प्राप्त करें [राष्ट्रको समृद्धिशाली बनावें। 'या नः दूरे या तडितः अरातयः अभिसन्ति'] हमारे जो दूरवर्ती या समीपवर्ती शत्रु हैं। [ताः अनप्नसः जम्भय] उन अपरूप या नाना रूपवाले शत्रुओंका आप विनाश करें।

इन वधार्थक ३३ शब्दोंमें भी ३० धातु तथा ३ नाम पद हैं। इसीलिए यहाँ भी 'नामानि' अथवा 'धातवः' शब्दका उल्लेख न करके निघण्टुकारने 'वधकर्माणः' इस सामान्य पदका ही ग्रहण किया है। जो नाम तथा धातु दोनोंमें समानरूपसे लग सकता है। इनमें वियातः, तळित् और आखण्डल ये तीन नाम पद हैं। इसलिए उनका विशेषरूपसे निर्देश कर निर्वचन आदि दिखलाते हैं—'तत्र' इत्यादि।

'वियात' पदके समान 'आखण्डल' पद भी इन क्रिया पदोंके बीच नाम पद पड़ा हुआ है। यह सम्बोधनका रूप है। 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'खडि' धातुसे उणादि 'अलच्' प्रत्यय करके 'आखण्डल' शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ शत्रुओंको खण्डित करनेवाला, शत्रुओंका नाश करनेवाला यह होता है। 'आखण्डल' यह इन्द्रका नाम है। उसका उदाहरण देते हैं—'आखण्डल' इत्यादि।

त्वया वयं सुवर्द्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददीमहि याश्च नो दूरे तडितो याश्चान्तिकेऽरातयोऽदानकर्माणो वा, अदानप्रज्ञा वा जम्भय ता अनप्नसोऽप्न इति रूपनामाप्नोतीति सतः। विद्युत्तडिद्भवतीति शाकपूणिः। सा ह्यवताडयति दूराच्च दृश्यतेऽपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्।

हे ब्रह्मणस्पते ! उत्तमरूपसे [राष्ट्रकी] वृद्धि करनेवाले आपके द्वारा हम, मनुष्योंके लिए [अर्थात् प्रजाजनोंके लिए] स्पृहणीय धनोंको प्राप्त करें। हमारे जो दूरवर्ती तथा तडितः अर्थात् समीपवर्ती अराति [शत्रु] हैं [आगे अराति शब्दका निर्वचन करते हैं। अराति शब्द 'रा दाने' धातुसे बना है। जो कर आदिको] न देनेवाले अथवा जो [अदानप्रज्ञा] दानकी भावनासे रहित हैं उन कुरूप या नानारूप शत्रुओंका आप विनाश करें। 'अप्न' यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे ['आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' उणादि २२६ सूत्र से 'क्विप्' प्रत्यय, और धातुको ह्रस्व तथा 'आपः कर्माख्यायाम्' उणादि ६५७ सूत्रसे नुट्का आगम करके वनता है, इसलिए आश्रयमें] व्याप्त होनेसे रूपका नाम है।]

शाकपूणि आचार्यका मत है कि 'तडित्' विद्युत्का नाम है। क्योंकि वह मार देती है और दूरसे दिखलाई देती है। [शाकपूणि द्वारा किये गये इस निर्वचनके अनुसार तडित् पद दूरका बोधक भी हो सकता है। किन्तु निरुक्तकार कहते हैं कि] यहाँ भी [तडित् पद] समीप-वाचक ही अभिप्रेत है। आगे दूसरा मन्त्रका टुकड़ा उद्धृत करते हैं जिसमें 'अन्तिक' के अर्थमें ही 'तडित्' शब्दका प्रयोग हुआ है]।

'आखण्डल' के समान 'तडित्' भी इन वधार्थक धातुओंके मध्यमें पठित नाम पद है। इसका प्रयोग समीप तथा वध दोनों अर्थोंमें होता है। उसका प्रयोग अगले मन्त्रमें किया गया है। मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकार है—'हे ब्रह्मणस्पते' इत्यादि।

दूरे चित्सन्तुडिदिवाति रोचसे ॥ [ऋ० १-९४-७]
दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यसे इति ।

[दूर होनेपर भी आप समीपस्थसे अत्यन्त शोभित होते हैं ।]

[यह मन्त्रके टुकड़ेका अर्थ है । उसीको निरुक्तकार अपने शब्दोंमें दिखलाते हैं] दूर होनेपर भी आप समीपस्थसे दिखलायी देते हैं ।

यह मन्त्रका अर्थ है । आगे निरुक्तकार अपनी शैलीसे पदोंका निर्वचन करते हुए मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार देते हैं—'दूरेऽपि' इत्यादि ।

इस मन्त्रमें 'तडित्' शब्द समीप अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । लोकमें विद्युत्के अर्थमें भी 'तडित्' शब्दका प्रयोग होता है । उसका निर्वचन करते हुए निरुक्त-कार यह दिखलाते हैं कि उसमें दूर अर्थ भी हो सकता है । फिर उसका एक और उदाहरण ऐसा देंगे जिसमें 'तडित्' पद समीप अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

यहाँ निरुक्तकारने मन्त्रका केवल द्वितीय पाद उद्धृत किया है । मन्त्रका देवता अग्नि है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यो विश्वतः सुप्रतीकः सुदृङ्ङसि दूरे चित् सन् तुडिदिवातिरोचसे ।
रात्र्याश्चिदन्धो अति देव पश्यस्यग्ने सुख्ये मा रिषामा वयं तव ॥
[ऋ० १-९४-७]

निघण्टुमें वधार्थक धातुओंके बाद वधसे सम्बद्ध होनेके कारण वज्रवाचक १८ नाम निम्नप्रकार दिये गये हैं ।

वज्रवाचक १८ नाम

निघण्टुः—१ दिद्युत्, २ नेमिः, ३ हेतिः, ४ नमः, ५ पविः, ६ सृकः, ७ वृकः ८ वधः, ९ वज्रः, १० अर्कः, ११ कुत्सः, १२ कुलिशः, १३ तुञ्जः, १४ तिग्मः, १५ मेनिः, १६ स्वधितिः, १७ सायकः, १८ परशुः इत्यष्टादश वज्र-नामानि ॥२०॥

वज्रनामान्युत्तराणि अष्टादश । वज्रः कस्माद्वर्जयतीति सतस्तत्र कुत्स इत्येतत्कृन्ततेः । ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति ॥११॥

[निघण्टुमें वधार्थक धातुओं एवं नामोंके वाद आये हुए] अगले १८ नाम वज्रके वाचक हैं। वज्र [शब्द] कैसे [बनता है ? इस प्रश्नका उत्तर करते हैं [वर्जन करनेवाला होनेसे [‘वृजी वर्जने’ धातुसे उणादि १९६ सूत्रसे ‘रन् प्रत्यय’ करके ‘वज्र’ शब्द सिद्ध होता है]। उन [वज्र-वाचक नामों]में से ‘कुत्स’ यह [नाम] ‘कृती छेदने’ धातुसे बनता है। [काटनेवाला होनेसे वज्रको ‘कुत्स’ कहा जाता है, यह अभिप्राय है।

स्तोमों [स्तुतियों]के कर्ता होनेसे ‘कुत्स’ ऋषि कहलाते हैं। ऐसा उपमन्युके अनुयायी [औपमन्यवः] मानते हैं। यहाँ भी इस [कुत्स शब्द] का [मूल] वधार्थक धातु ही है। क्योंकि उनके मित्र इन्द्रने वृत्रका वध किया था। [इसलिए ऋषि-वाचक ‘कुत्स’ शब्द भी ‘कृती छेदने’ धातुसे ही बनता है, यह यास्कका अभिप्राय है] ॥११॥

आगे निरुक्तकार इन नामोंका उल्लेख करके उनमें वज्र तथा कुत्स दो नामोंका निर्वचन दिखलाते हुए लिखते हैं—‘वज्रः’ इत्यादि।

‘कुत्स’ पद ऋषिका वाचक भी है। उस पक्षमें ‘कृती छेदने’ धातुसे ‘कुत्स’ पदका निर्वचन उचित नहीं है, इसलिए उपमन्यु और उनके अनुयायी ‘औपमन्यव’ स्तोमों = स्तुतियोंका कर्ता होनेसे ‘कृञ्’ धातुसे ऋषि-वाचक ‘कुत्स’ शब्दका निर्वचन करते हैं। निरुक्तकार यास्क इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ऋषि-वाचक ‘कुत्स’ शब्द भी ‘कृती छेदने’ धातुसे ही बनता है। ऋषि यद्यपि स्वयं किसीका छेदन करनेवाला नहीं होता है, किन्तु उनके सखा इन्द्रने वृत्रका नाश किया। इसलिए ऋषिका वाचक ‘कुत्स’ शब्द भी ‘कृती छेदने’ धातुसे ही बनता है। अपने इस मतको वे निम्न रूपसे प्रस्तुत करते हैं—‘तत्र कुत्सः’ इत्यादि ॥११॥

[१२]

ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ।
ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि ।

---

[१२]

अगले चार धातु ऐश्वर्यार्थक हैं । [वे निम्नप्रकार हैं] ।
[निघण्टुमें] अगले चार नाम ईश्वर-वाचक हैं [वे निम्नप्रकार हैं]।

निघण्टुः—१ इरज्यति, २ पत्यते, ३ क्षयति, ४ राजति इति चत्वार ऐश्वर्य-कर्माणः ॥२१॥

निघण्टुः—१ राष्ट्री, २ अर्यः, ३ नियुत्वान्, ४ इन इति चत्वारि ईश्वर-नामानि ॥२२॥

ईश्वरवाचक इन चार नामोंमें एक नाम 'इन' भी है। 'इन' का अर्थ प्रभु, स्वामी या ईश्वर होता है । यास्कने इस पदके दो प्रकारके निर्वचन किये हैं । एक 'सनितः ऐश्वर्येण', अर्थात् जो ऐश्वर्यसे युक्त है वह ईश्वर 'इन' है। दूसरा 'सनितमनेन ऐश्वर्यम्' जिसने संसारमें ऐश्वर्यका संविभाजन किया है वह 'ईश्वर' 'इन' है। यास्कके इन दोनों निर्वचनोंसे प्रतीत होता है कि उन्होंने ऐश्वर्य-वाचक 'ईश ऐश्वर्ये' तथा संभजनवाचक 'वन षण संभक्तौ' दोनों धातुओंको मिलाकर 'इन' शब्दका निर्वचन किया है । इस शब्दमें 'इ' 'ईश ऐश्वर्ये' धातुका प्रति-निधि है और 'न' अंश 'वन पण संभक्तौ' धातुका अंश है । इस प्रकार अनेक धातुओंसे मिलाकर एक शब्दके निर्वचनके और भी उदाहरण निरुक्तमें पाये जाते हैं । जैसे 'सत्य' पदका निर्वचन 'अस् भुवि' तथा 'इण् गतौ' धातुओंको मिलाकर किया गया है। 'अस् भुवि' के 'सत्' और 'इण् गतौ' का णिजन्त 'आययति' रूपमेंसे यकार लेकर 'सत्य' शब्द बनाया गया है । इसी प्रकार यहाँ 'इन' शब्द भी दो धातुओंसे मिलाकर बनाया गया है ।

'इन' शब्दका प्रयोग दिखलानेवाला जो मन्त्र यहाँ दिया गया है वह भी विशेषरूपसे महत्त्वपूर्ण है । उसके यास्कने 'आधिदैविक' तथा 'आध्यात्मिक' दो प्रकारके अर्थ किये हैं । 'आधिदैविक' पक्षमें उसमें सूर्य-देवका वर्णन है । इस पक्षमें 'सुपर्णाः'का अर्थ 'आदित्यरश्मयः' और 'अमृतम्'का अर्थ 'जल' होता है ।

तत्रेन इत्येतत्सनित ऐश्वर्येणेति वा सनितमनेनैश्वर्यमिति वा।
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥
[ऋ० १-१६४-२१]

यत्र सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयोऽमृतस्य भागमुदकस्यानिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वाभिप्रयन्तीति वेश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति ।

[निघण्टुमें] अगले चार नाम ईश्वर-वाचक हैं। उनमेंसे 'इन' [भी एक नाम है। उसका निर्वचन दो प्रकारसे होता है] १ जो 'ऐश्वर्यसे युक्त है' अथवा २ जिसने ऐश्वर्यका विभाजन किया है। [ईश्वर-वाचक 'इन' शब्दका प्रयोग मन्त्रमें निम्नप्रकार पाया जाता है]—

['सुपर्णाः' अर्थात् सुन्दररूपसे गमन करनेवाली सूर्यकी किरणें 'अमृतस्य भागम्' अर्थात् जलके अंशको 'अनिमेषम्' अर्थात् निरन्तर 'विदथा अभिस्वरन्ति' अर्थात् अपने कर्तव्यके ज्ञानके कारण 'अभिप्रयन्ति' ले जाती हैं—पहुँचाती रहती हैं 'इनो विश्वस्य' सबका स्वामी [ईश्वर] और 'भुवनस्य गोपाः' समस्त प्राणियोंका रक्षक आदित्य 'स धीरः' वह 'धीमान्' अर्थात् प्रशस्त बुद्धिशाली, बुद्धिका प्रेरक [धियम् ईरयति इति धीरः] आदित्य 'अत्र पाकम् आविशतु'

'अध्यात्म'पक्षमें 'सुपर्णाः'पदका अर्थ 'सुपतनानि इन्द्रियाणि' और 'अमृत' पदका अर्थ ज्ञान होता है। 'अभिस्वरन्ति' पदका अर्थ 'अभिहरन्ति' ले जाते हैं यह होता है। और 'आविवेश' इस क्रियापदमें दोनों पक्षोंमें लकारका व्यत्यय अर्थात् लिट्के स्थानपर लोट् लकार मानकर 'आविवेश' का अर्थ 'आविशतु' करना होता है। 'आधिदैविक पक्षमें इस मन्त्रमें गायत्री-मन्त्रके 'तत्सवितुर्वृणीमहे भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' का अनुवाद-सा पाया जाता है। इस स्थलकी पंक्तियोंका अर्थ निम्नप्रकार है—'यत्र' इत्यादि ।

धीरो धीमान् पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आदित्य इत्युपनिषद्वर्णो भवतीत्यधिदैवतम्।

इस प्रक्तव्य प्रज्ञावाले अर्थात् जिसकी बुद्धिका परिपाक—शोधन—अभीष्ट है उस [उपासक] के भीतर प्रविष्ट हो। [तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' इस गायत्री-मंत्रका यह बिल्कुल भावानुवाद है]। अथवा 'पाकः' को भी यदि आदित्यका विशेषण माना जाय तो 'परिपक्व प्रज्ञावाला आदित्य।' यह अर्थ होगा]।

मन्त्रार्थ करनेके बाद यास्कने एक पंक्ति लिखी है—'इत्युपनिषद्वर्णो भवतीत्यधिदैवतम्'। यह पंक्ति अस्पष्ट और क्लिष्ट है। इसलिए प्राचीन टीकाकारोंने इस पंक्तिके जो अर्थ किये हैं वे भी स्पष्ट नहीं हो सके हैं। दुर्गाचार्यने लिखा है—

'इतिशब्दः प्रकरणप्रदर्शनार्थः। एवमयम् उपनिषद्वर्णो भवतीति। यद्वा ज्ञानमुपगतस्य सतो गर्भजन्मजरामृत्यवो निश्चयेन सीदन्ति सा रहस्यविद्या उपनिषदित्युच्यते। उपनिषद्भावेन वर्ण्यते इति उपनिषद्वर्णः। अधिदैवतमुक्तम्।'

दुर्गाचार्यकी इस व्याख्यासे पंक्तिका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। स्कन्दस्वामीने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

'उपनिषद्वर्णः। रहस्यविद्या उपनिषत्। वर्णनं वर्णः, तद्विषयं व्याख्यानं नैश्रेयसं ज्ञानमुपनिषीद्वर्णः। तदर्थं वोपनिषीदन्त्याचार्याः। तेभ्यश्च वर्णयन्त्याचार्याः इति उपनिषद्वर्णो भवति।'''अथवोपनिषद्वर्णता 'असौ वा आदित्यो मधु' इत्यादि।'

इन व्याख्यानोंका अभिप्राय यह है कि इस मन्त्रमें उपनिषदोंकी शैलीसे विषयका वर्णन या प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर प्रतीकोपासनाओंका वर्णन मिलता है। इनमें आपाततः किसी आधिभौतिक विषयकी उपासनाका वर्णन होता है, किन्तु उसका अभिप्राय आधिभौतिक तत्त्वसे परे किसी आध्यात्मिक तत्त्वका प्रतिपादन करना होता है। जैसे 'पञ्चाग्निविद्या' छान्दोग्यमें आयी है। आपाततः उसमें भौतिक अग्निका वर्णन मालूम होता है,

अथाध्यात्मं यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाण्यमृतस्य भागं ज्ञानस्यानिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वाभिप्रयन्तीति वेश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति धीरो धीमान्पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥१२॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादः

यह [प्रकृत मन्त्रका वर्णन] उपनिषदोंकीसी शैलीका वर्णन है, इस लिए यह आधिदैविक [अर्थ हमने दिया] है।

[उपनिषदोंकी शैलीसे वर्णन होनेके कारण] अब [मन्त्रका] आध्यात्मिक अर्थ [निम्न प्रकार होता है] जहाँ [जिस आत्मामें] सुन्दर गतिवाली इन्द्रियाँ अमृत अर्थात् ज्ञानके अंशको [वेदनेन अर्थात्] चित्तवृत्तियों द्वारा निरन्तर पहुँचाती हैं सब इन्द्रियोंका स्वामी और रक्षक वह धीर आत्मा इस बुद्धिको परिपक्व शुद्ध बनावे। धीर-धीमान्। 'पाकः' [का अर्थ] परिपाकके योग्य होता है। अर्थात् परिपक्व बुद्धिवाला आत्मा। यह आत्माकी गतिका प्रतिपादन करता है ॥१२॥

यह तृतीयाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त हुआ।

किन्तु वस्तुतः वह आध्यात्मिक तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली विद्या है। इसी प्रकार इस मन्त्रमें आपाततः देखनेसे सूर्यके आधिभौतिक रूपका वर्णन पाया जाता है, किन्तु वह वस्तुतः आधिभौतिक स्वरूपसे परे उसके आधिदैविक स्वरूपका या आध्यात्मिक तत्त्वका प्रतिपादक मंत्र है। 'सूर्यकी रश्मियाँ जलको उड़ा कर ले जाती हैं' इत्यादि सूर्यकी भौतिक क्रियाका इसमें जो वर्णन है वह उसका आधिभौतिक रूप है। उससे 'तत्सवितुर्भर्गो देवस्य धीमहि' के समान 'स पाकमत्राविवेश' से जो उससे बुद्धिको परिपक्व बनाने या शोधनकी प्रार्थना की गयी है वह उसका आधिदैविक रूप है। यह आधिदैविक रूप उसे उपनिषद्की वर्णनशैलीसे प्राप्त होता है। इसलिए निरुक्तकारने इस आधिदैविक स्वरूपको

तृतीयः पादः

[१३]

बहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बहु कस्मात्प्रभवतीति सतः। ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश। ह्रस्वो ह्रसतेः॥

तृतीय पाद

[१३]

[निघण्टुमें पिछले पादके अन्तमें दिये हुए ईश्वर-वाचक चार नामोंके बाद] अगले १२ नाम बहुत [भूमा] के वाचक हैं। [उपनिषदादिमें ईश्वर या परमात्माको 'भूमा' कहा है, इसलिए ईश्वर-वाचक नामोंके बाद बहु-वाचक शब्दोंको दिया गया है] 'बहु' क्यों [कहा जाता है? इसका उत्तर करते हैं] सामर्थ्यवान् होनेसे।

इसके आगे [निघण्टुमें] अगले ११ नाम ह्रस्वके हैं। 'ह्रस्व' [पद] 'ह्रस' धातुसे बनता है।

'इत्युपनिषद्वर्णः' कहा है। उपनिषत्-पद्धतिसे इसमें मंत्रका आध्यात्मिक अर्थ भी होता है। उस आध्यात्मिक अर्थको आगे देते हैं। इस प्रकार सूर्यकी भौतिक प्रक्रियाका वर्णन करनेवाले मन्त्रसे आधिदैविक और आध्यात्मिकरूप जो दो प्रकारके और अर्थ भी प्रतीत होते हैं वे उपनिषदोंकी वर्णनशैलीसे ही निकलते हैं, इसलिए इसको निरुक्तकारने 'उपनिषद्वर्ण' अर्थात् उपनिषदोंकी वर्णनशैली कहा है। इसी बातको अगली पंक्तिमें निम्नप्रकार कहते हैं—'इत्युपनिषद्' इत्यादि ॥१२॥

निघण्टुमें बहु-वाचक १२ नामोंका संग्रह निम्नप्रकार किया गया है। यहाँसे निघण्टुका तृतीयाध्याय आरम्भ होता है।

बहुवाचक १२ शब्द

निघण्टुः—१ उरु, २ तवि, ३ पुरु, ४ भूरि, ५ शश्वत्, ६ विश्वम्, ७ परीणसा, ८ व्यानशिः, ९ शतम्, १० सहस्रम्, ११ सलिलम्, १२ कुवित् इति द्वादश बहुनामानि ॥१॥

अर्थात् अल्पार्थक ह्रस धातुसे उणादि (१-१५१) सूत्रसे बाहुलमें वन् प्रत्यय होकर ह्रस्व शब्द सिद्ध होता है। बहुतका विपरीत ह्रस्व होता है, इसलिए बहुवाचक नामोंके बाद ह्रस्व-वाचक नाम दिये गये हैं।

महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः । महान्कस्मान्मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिर्महनीयो भवतीति वा। तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साऽभ्यासात् ॥

निघण्टुमें अगले २५ महत्के नाम हैं।

महान् क्यों [कहलाता है ? इसका उत्तर देते हैं] परमाणमें अन्य [छोटों]को पीछे छोड़ देता है [इसलिए 'मा' तथा 'हा' धातुके योगमें 'वर्तमाने पृषद्वृहन्महत०' उणादि (२४१) सूत्रसे 'अति-प्रत्यय' द्वारा महत् शब्द बनता है] यह शाकपूणिका मत है। अथवा महनीय पूजनीय होता है [इसलिए महान्को 'महत्' कहा जाता है]। उन [२५ महत्के नामोंमेंसे 'ववक्षिथ' तथा 'विवक्षसे' ये दोनों अभ्यास अर्थात् द्वित्व किये हुए 'वच' धातुसे अथवा 'वह' धातुसे [बनते हैं]।

ह्रस्ववाचक १२ शब्द

निघण्टुः—१ ऋहन्, २ ह्रस्वः, ३ निघृष्वः, ४ मायुकः, ५ प्रतिष्ठा, ६ कृधु, ७ वम्रकः, ८ दभ्रम्, ९ अर्भकः, १० क्षुल्लकः, ११ अल्पः इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥२॥

[ह्रस्वके विपरीत 'महत्' होता है, इसलिए निघण्टुमें ह्रस्वके बाद] 'महत्'-वाचक २५ नामोंका संग्रह निम्नप्रकार किया गया है—'महन्' इत्यादि।

महत्-वाचक २५ शब्द

निघण्टुः—१ महत्, २ ब्रध्नः, ३ ऋष्वः, ४ बृहत्, ५ उक्षितः ६ तवसः, ७ तविषः, ८ महिषः, ० अभ्वः, १० मुक्षाः, ११ उक्षाः, १२ विहायाः, १३ यह्वः, १४ ववक्षिथ, १५ विवक्षसे, १६ अम्भृणः, १७ माहिनः, १८ गभीरः, १९ ककुहः, २० रभसः, २१ व्राधन् २२ विरप्शीः, २३ अद्भुतम्, २४ बंहिष्ठः, २५ बर्हिषत् इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥३॥

निरुक्तकार इन महत् वाचक २५ नामोंमेंसे महत्, ववक्षिथ और विवक्षसे इन तीन नामोंका निर्वचन आगे देते हैं—'महान्' इत्यादि।

गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः ।
गृहाः कस्माद् ? गृह्णन्तीति सताम् ।
परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

[महत् नामोंके बाद निघण्टुमें] अगले २२ गृहवाचक [शब्द] नाम हैं । गृह क्यों [गृह नामसे कहे जाते हैं ? इसका उत्तर देते हैं कि वे धन, धान्यादिको अपने भीतर] ग्रहण करनेवाले होते हैं ।

[निघण्टुमें गृहनामोंके बाद] अगले दस सेवार्थक धातु [संगृहीत किये गये] हैं ।

महत्-वाचक पदोंमें आये हुए 'ववक्षिथ' तथा 'विवक्षसे' ये दोनों क्रियापद प्रतीत होते हैं । इसलिए दुर्गाचार्य और देवराजयज्वाने इनको आख्यात पद ही माना है । किन्तु यास्काचार्यने यहाँ इस प्रकारका कोई उल्लेख नहीं किया है ।

गृहवाचक २२ शब्द

निघण्टु :—१ गयः, २ कृदरः, ३ गर्तः, ४ हर्म्यम् , ५ अस्तम् , ६ पस्त्यम् , ७ दुरोणे, ८ नीडम् , ९ दुर्याः, १० स्वसराणि, ११ अमा, १२ दमे, १३ कृत्तिः, १४ योनिः, १५ सद्म, १६ शरणम्, १७ वरूथम्, १८ छर्दिः, १९ छदिः, २० छाया, २१ शर्म, २२ अज्म इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥४॥

निरुक्तकार इनमेंसे केवल गृह पदका निर्वचन निम्नप्रकार दिखलाते हैं— 'गृहाः' इत्यादि ।

अर्थात् 'ग्रह' धातुसे 'घ-प्रत्यय' और सम्प्रसारण करके 'गृहाः' पद बनता है । गृह शब्द सामान्यतः नपुंसकलिंगी शब्द है, किन्तु पुल्लिगमें नित्य बहुवचनान्त रूपमें 'गृहाः' पदका प्रयोग होता है । एकवचन या द्विवचनमें पुल्लिग गृह शब्दका प्रयोग नहीं होता है ।

सेवार्थक १० धातु

निघण्टुः—१ इरज्यति, २ विधेम, ३ सपर्यति, ४ नमस्यति, ५ दुवस्यति, ६ ऋध्नोति, ७ ऋणद्धि, ८ ऋच्छति, ९ सपति, १० विवासति इति दश परिचरणकर्माणः ॥५॥

सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः ।

सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः । खं पुनः खनतेः ।

रूपनामान्युत्तराणि षोडश । रूपं रोचतेः ।

[निघण्टुमें] अगले २० नाम सुखवाचक हैं।

सुख क्यों [सुख नामसे कहा जाता है? इसका उत्तर देते हैं कि वह] इन्द्रियोंके लिए हितकारी होता है, इसलिए इसको सुख कहते हैं ['सुहितं खेभ्यः' इस निर्वचनमें आये हुए 'ख' का निर्वचन करते हैं—'ख' नाम इन्द्रियोंका है, क्योंकि] 'ख' 'खन' धातुसे [बना है अर्थात् इन्द्रियाँ शरीरमें खुदी हुईसी होती हैं, इसलिए उनको 'ख' कहते हैं और इन इन्द्रियोंको अच्छा लगनेवाला 'सुख' कहलाता है।

[निघण्टुमें] अगले १६ रूपवाचक नाम हैं। रूप [पद दीप्त्यर्थक] 'रुच' धातुसे [बनता है]।

परिचरण अर्थात् सेवासे सुखकी प्राप्ति होती है, इसलिए परिचरणार्थक धातुओंके बाद सुख-वाचक २० नामोंको निघण्टुमें संकलित किया गया है।

सुखवाचक २० शब्द

निघण्टुः—१ शिम्बाता, २ शतरा, ३ शातपन्ता, ४ शिल्गुः, ५ स्यूमकम्, ६ शेव्रधम्, ७ मयः, ८ सुग्म्यम्, ९ सुदिनम्, १० शूषम्, ११ शुनम्, १२ शग्मम्, १३ भेषजम्, १४ जलाषम्, १५ स्योनम्, १६ सुम्नम्, १७ शेवम्, १८ शिवम्, १९ शम्, २० कम् इति विंशतिसुखनामानि ॥६॥

आगे निरुक्तकार इन २० नामोंमेंसे केवल एक 'सुख' पदका निर्वचन करते हैं—'सुखम्' इत्यादि।

[निघण्टुमें सुखवाचक नामोंके बाद] सोलह रूपवाचक नामोंका संकलन निम्नप्रकार किया गया है।

रूपवाचक १६ नाम

निघण्टुः—१ निर्णिक्, वव्रिः, ३ वर्पः, ४ वपुः, ५ अमतिः, ६ अप्सः, ७ प्सुः. ८ अप्नः, ९ पिष्टम्, १० पेशः, ११ कृशनम्, १२ मरुत्, १३ अर्जुनम्, १४ ताम्रम्, १५ अरुषम्, १६ शिल्पम् इति षोडश रूपनामानि ॥७॥

२०

प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश ।
प्रज्ञानामान्युत्तराणि एकादश ।
सत्यनामान्युत्तराणि षट् ।

[निघण्टुमें रूपवाचक नामोंके बाद] अगले दस प्रशस्य [श्रेष्ठ] वाचक शब्द हैं ।

[निघण्टु में प्रशस्य-वाचक नामोंके बाद] अगले ११ प्रज्ञा-वाचक नाम दिये हैं ।

[निघण्टुमें प्रज्ञा-वाचक नामोंके बाद] अगले ६ नाम सत्यके वाचक [पढ़े गये] हैं ।

इनमेंसे निरुक्तकारने केवल एक रूप शब्दका निर्वचन ऊपर निर्दिष्ट प्रकारसे किया है—'रूपम्' इत्यादि ।

प्रशस्यवाचक १० नाम

निघण्टुः—१ अस्रेमा, २ अनेमा, ३ अनेद्यः, ४ अनवद्यः, ५ अनभिशस्त्यः, ६ उक्थ्यः, ७ सुनीथः, ८ पाकः, ९ वामः, १० वयुनम् इति दश प्रशस्यनामानि ॥८॥

इन १० प्रशस्य-वाचक नामोंमेंसे किसीका भी निर्वचन निरुक्तकारने नहीं किया है । आगे ११ प्रज्ञा-वाचक नाम निघण्टुमें दिये गये हैं । उनका निर्देश निरुक्तकार अगले खण्डमें करते हैं । किन्तु उनमेंसे भी किसी पदका निर्वचन आदि उन्होंने नहीं किया है ।

वे ११ प्रज्ञावाचक नाम निघण्टुमें निम्नप्रकार गिनाये गये हैं ।

प्रज्ञावाचक ११ नाम

निघण्टुः—१ केतुः, २ केतः, ३ चेतः, ४ चित्तम् , ५ क्रतुः, ६ असुः, ७ धीः, ८ शची, ९ माया, १० वयुनम्, ११ अभिख्या इति एकादश प्रज्ञानामानि ॥९॥

इन प्रज्ञा-वाचक नामोंमेंसे किसीका निर्वचन निरुक्तकारने नहीं किया है । और इसके आगे आनेवाले सत्य-वाचक नामोंका निर्देश अगले खण्डमें करते हैं ।

वे सत्य-वाचक ६ नाम निघण्टुमें निम्नप्रकार गिनाये गये हैं ।

निघण्टुः—१ बट् , २ श्रत् , ३ सत्रा, ४ अद्धा, ५ इत्था, ६ ऋतम् इति षट् सत्यनामानि ॥१०॥

सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा।

अष्टा उत्तराणि पदानि पश्यतिकर्माण उत्तरे धातवश्चिक्यत्-प्रभृतीनि च नामान्यामिश्राणि।

सत्य क्यों [इस सत्य नामसे कहा जाता है? इसका उत्तर देते हैं] सज्जनोंमें फैला होता है या पाला जाता है ['तायृ सन्तान-पालनयोः'] अथवा सत्पदार्थों [अथवा सद्व्यक्तियों]से उत्पन्न होता है। [अर्थात् 'सत्'से 'यत्' प्रत्यय करनेसे सत्य पद बनता है।

[निघण्टुमें] अगले आठ पद दर्शनार्थक हैं। [जिनमें] चिक्यत् आदि [अर्थात् चिक्यत्, चाकनत् और अवचाकशत् ये तीन धातु अर्थात्] आख्यात तथा नाम दोनों मिले हुए हैं।

आगे निघण्टुमें पठित दर्शनार्थक आठ धातु तथा नाम दोनोंके मिश्रणका उल्लेख करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—'अष्टा' इत्यादि।

[निघण्टुमें अगले आठ दर्शनार्थक धातु तथा 'चिक्यत्' आदि नाम और धातु मिश्रितरूपमें [दिये गये] हैं।

दर्शनार्थक ८ धातु तथा नाम

निघण्टुः—१ चिक्यत्, २ चाकनत्, ३ आचक्ष्म, ४ चष्टे, ५ विचष्टे, ६ विचर्षणिः, ७ विश्वचर्षणिः, ८ अवचाकशत् इति अष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥११॥

इन मिश्रित दर्शनार्थक आठ पदोंमें 'विचर्षणिः तथा 'विश्वचर्षणिः' ये दो नाम-पद हैं, 'आचक्ष्म', 'चष्टे' और विचष्टे' ये तीन आख्यात-पद हैं एवं शेष चिक्यत्, चाकनत् तथा अवचाकशत् ये तीन नाम तथा आख्यात दोनों रूपोंमें प्रयुक्त होनेवाले आमिश्रित पद हैं। इन्हींका उल्लेख ऊपर निरुक्तकारने किया है।

निरुक्तके पुराने संस्करणोंमें 'उत्तरे धातवश्चायतिप्रभृतीनि च नामान्यामिश्राणि' यह पाठ पाया जाता है। इसमें 'चायति' धातुका उल्लेख किया गया है। किन्तु निघण्टुके इस खण्डमें 'चायति' धातु नहीं पढ़ा है। 'चिक्यत्' धातु पढ़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकारके प्रमादसे 'चिक्यत्प्रभृतीनि' के स्थानपर 'चायतिप्रभृतीनि' लिख जानेसे पूर्वसंस्करणोंमें 'चायतिप्रभृतीनि' पाठ छप गया है।

नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय ॥१३॥

अगले नौ पद [निघण्टुमें नाम और आख्यातके अतिरिक्त उपसर्ग तथा निपातरूप] सब पदोंके पाठकी दृष्टिसे रखे गये हैं ॥१३॥

इसका अभिप्राय यह है कि जैसा पहिले प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें कहा जा चुका है कि लौकिक पदोंके समान वैदिक पद भी १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग और ४ निपातरूप चारों भागोंमें विभक्त हैं। निघण्टुकारने अबतक जिन पदोंका संग्रह किया है वे सब नाम-पद अथवा आख्यात-पद हैं। उपसर्ग तथा निपातोंका संग्रह अबतक नहीं हुआ था। इसलिए अगले ९ पद निघण्टुकारने उपसर्ग तथा निपातके रूपमें संकलित किये हैं। इनका संकलन करनेसे निघण्टुमें सब पदोंका अर्थात् १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग तथा ४ निपात रूप चारों प्रकारके पदोंका संकलन हो जायगा, इस दृष्टिसे ही इनका पाठ यहाँ किया है। ये पद केवल पदपूर्तिके लिए प्रयुक्त होते हैं, इसलिए निघण्टुकारने उनका कोई अर्थ नहीं दिखलाया है। उनका संग्रह करनेका प्रयोजन केवल 'सर्वपद-समाम्नानाय' सर्वपद-समाम्नान अर्थात् चारों प्रकारके पदोंका निघण्टुमें समावेश किया जाना बतलाया है। निघण्टुमें इनका संग्रह निम्नप्रकार किया गया है।

उपसर्ग निपातात्मक ९ पद

निघण्टुः—१ हिकम्, २ नुकम्, ३ सुकम्, ४ आहिकम्, ५ आकीम्, ६ नकिः, ७ माकिः, ८ नकीम्, ९ आकृतम्, इति नव उत्तराणि पदानि सर्व-पद-समाम्नानाय ॥१२॥

ये सब पद संयुक्त पद हैं। इनमेंसे प्रत्येक दो-दो या तीन-तीन पदोंके योगसे बना है। 'हिकम्', 'नुकम्' आदि कुछ पद 'हि' तथा 'कम्', 'नु' तथा 'कम्' इन दो-दो निपातोंके योगसे बने हैं। 'हिकम्'में 'हि' तथा 'कम्' दोनों निपात-पद हैं। उन दोनोंके योगसे एक 'हिकम्' पद बना है। 'मधुना हिकं गतम्' [ऋ० २-३७-५] में इस 'हिकम्' पदका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'नुकम्' पद 'नु' तथा 'कम्' दो निपातोंको मिलाकर बना है। 'इमा नुकं भुवना सीषधाम' [ऋ० १०-१५७-१] में इसका प्रयोग पदपूर्तिके लिए हुआ है।

'सुकम्' पदमें 'सु' उपसर्ग तथा 'कम्' निपात दोनोंका योग है। इसी प्रकार 'आकीम्'में 'आङ्' उपसर्ग तथा 'कीम्' निपात दोनोंका योग है ॥१३॥

उपमावाचक पद

उपसर्ग तथा निपातरूप इन 'सर्वपद-समाम्नानाय' सब पदोंके समाम्नानके लिए पढ़े गये ९ पदोंके बाद निघण्टुमें १२ उपमा-प्रतिपादक पदोंका नहीं, किन्तु वाक्यांशोंका संग्रह किया है। वे निम्नप्रकार पठित हैं—

निघण्टुः—१ इदमिव, २ इदं यथा, ३ अग्निर्न ये, ४ चतुरश्चिद्ददमानात्, ५ ब्राह्मणा व्रतचारिणः, ६ वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः, ७ जार आ भगम्, ८ मेषो भूतोऽभि यन्नयः, ९ तद्रूपः, १० तद्वर्णः, ११ तद्वत्, १२ तथा इत्युपमाः ॥१३॥

इनमेंसे 'इदमिव' तथा 'इदं यथा' ये दोनों श्रौती उपमाके प्रतिपादक हैं। काव्यशास्त्रमें पूर्णोपमाके श्रौती तथा आर्थी दो भेद किये हैं। 'इव' और 'यथा' शब्दका प्रयोग होनेपर 'श्रौती' उपमा होती है। इसका कारण यह है कि 'इव' और 'यथा' शब्दका प्रयोग होनेपर उपमाकी प्रतीति तत्काल हो जाती है और तुल्यादि शब्दोंका प्रयोग होनेपर उपमान और उपमेयका विचार करना पड़ता है, इसलिए उनका प्रयोग होनेपर 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। काव्यप्रकाशकारने इस भेदका विवेचन निम्न प्रकारसे किया है—

"यथा-इववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्ति इति तत्सद्भावे श्रौती उपमा।

१ 'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादौ उपमेये एव, २ 'तत् तुल्यमस्य' इत्यादौ चापमाने एव, ३ 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी।"
—काव्यप्रकाश।

'आर्थी' उपमाके प्रयोजक तुल्यादिपदोंका परिगणन यहाँ निघण्टुकारने नहीं किया है, इसलिए ये सब ही पद या वाक्यांश यहाँ 'श्रौती' उपमाके ही वाचक हैं, 'आर्थी' उपमाके नहीं। उपमाका विवेचन निरुक्तकारने कुछ अधिक विस्तारके साथ किया है, इसलिए एक नवीन प्रकरणके समान 'अथात उपमाः'

[१४]

अथात उपमाः । 'यदतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यस्तदासां कर्म' । ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वा उपमिमीते । अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ।

---

[१४]

अब उपमा [का निरूपण करते हैं]—

जो [अतत् अर्थात्] उपमानसे भिन्न होनेपर भी [तत्सदृशम् अर्थात्] उपमानके समान हो वह इन [उपमाओं] का विषय [या लक्षण] होता है। यह गार्ग्यका मत है। [वे उपमाएँ दो प्रकारकी होती हैं] १ बड़े अथवा अधिक प्रसिद्ध गुणके आधारपर छोटे [उपमेय] की उपमा दी जाती है, अथवा २ छोटे [उपमान] के साथ बड़े [उपमेय] की उपमा दी जाती है।

[इनमेंसे पहली अधिकोपमा और दूसरी हीनोपमा कही जाती है]।

से इस प्रकरणकी अवतारणा करते हुए उन्होंने सबसे पहले उपमाका लक्षण किया है। 'यदतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः' यह गार्ग्यकृत उपमाका लक्षण निरुक्तकारने यहाँ दिया है। इसका अर्थ यह है कि जो 'अतत्' अर्थात् उपमानसे भिन्न होकर 'तत्सदृशम्' उपमानके समान हो 'तदासां कर्म' वह इन उपमाओंका विषय होता है। अर्थात् 'उपमानसे भिन्न होकर भी जो उपमेयका उपमानके साथ सादृश्य है उसको उपमा कहते हैं' यह उपमाका लक्षण है। काव्यप्रकाशमें 'साधर्म्यम् उपमा भेदे' यह उपमाका लक्षण किया गया है। इसका भी यही आशय है। उपमान-उपमेयका भेद होनेपर ही उपमा होती है। उन दोनोंका अभेद होनेपर तो 'राम-रावणयोर्युद्धं राम-रावणयोरिव' इत्यादिमें उपमा-वाचक 'इव' का प्रयोग होनेपर भी उपमा नहीं 'अनन्वय' अलंकार माना जाता है। इसलिए उपमाके लक्षणमें उपमान-उपमेयके भेदका निर्देश आवश्यक है। इसीलिए निरुक्तकार तथा गार्ग्य दोनोंने उपमान-उपमेयके भेदका प्रतिपादन करनेके लिए ही यहाँ 'यत् अतत्' जो उपमानसे भिन्न होकर भी 'तत्सदृशम्' उपमानके सदृश है, यह कहा है।

तनूत्यजे॑व॒ तस्क॑रा वन॒र्गू र॑श॒नाभि॑र्द॒शभि॑र॒भ्य॑धीताम् ॥
[ऋ० १०-४-६]

तनूत्यक् नूत्यक्ता वनर्गू वनगामिनावग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते। तस्करस्तत्करो भवति यत्पापकमिति नैरुक्तास्तनोतेर्वा स्यात्संततकर्मा भवत्यहोरात्रकर्मा वा। रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। अभ्यधीतामित्यभ्यधाताम्। ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः।

'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्' [इसमें] तनूत्यक् [का अर्थ] शरीरको भी छोड़ देनेवाले अर्थात् शरीरकी रक्षाकी भी पर्वाह न करनेवाले [डाकू, यह है]। 'वनर्गू' अर्थात् वनमें रहनेवाले। [इस मन्त्रमें] अग्निका मन्थन करनेवाले [अर्थात् दो अरणियोंको मथकर अर्थात् रगड़कर अग्नि उत्पन्न करनेवाले] बाहुओंकी उपमा तस्कर [लुटेरे डाकुओं]से दी है। तस्कर [डाकूको तस्कर इसलिए कहा जाता है कि वह] उस [कामको] करता है जो पापरूप होता है। यह नैरुक्तोंका मत है [अर्थात् नैरुक्त लोग 'तस्कर' शब्दका इस प्रकारका निर्वचन करते हैं] अथवा [तस्कर शब्द] 'तनु विस्तारे' धातुसे बनता है। [उस दशामें उसका अर्थ] सन्ततकर्मा अर्थात् निरन्तर काम करनेवाला अर्थात् दिन-रात काम करनेवाला होता है। [अर्थात् तस्कर दिनमें अन्य कार्य करता है और रात्रिमें तस्कर-व्यापार करता है। इसलिए 'सन्ततकर्मा' निरन्तर कार्य करनेवाला होनेसे 'तस्कर' कहलाता है। अर्थात् इस पक्षमें 'तनु विस्तारे' धातुसे 'तस्कर' पद बनता है] 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्' इसमें 'अभ्यधीताम्'का अर्थ 'अभ्यधाताम्' धारण करें, ग्रहण करें, यह है। इसमें [उपमानभूत तस्करमें रहनेवाले कठोरतारूप] गुणका आधिक्य अभिप्रेत है। [इसलिए यह 'ज्यायसा गुणेन कनीयांसमुपमिमीते' [अर्थात् अधिकोपमा] का उदाहरण है। इसी प्रकारका एक और उदाहरण आगे देते हैं]।

यहाँ गार्ग्यका उल्लेख आदरार्थ है। एकदेशीय-मत दिखलानेके लिए नहीं। अर्थात् निरुक्तकार स्वयं भी उपमाका यही लक्षण मानते हैं। किन्तु यहाँ उसका उल्लेख उन्होंने गार्ग्यके नामसे किया है। उपमामें उपमान उपमेयकी अपेक्षा प्रायः अधिकगुणवाला या अधिक प्रसिद्ध होता है। उपमेयकी अपेक्षा यदि हीन या अप्रसिद्ध उपमानका प्रयोग किया जाय तो लौकिक अलंकारोंमें उसे हीनत्वरूप दोष माना जाता है। किन्तु यहाँ यास्कने उपमाके ये दोनों ही प्रकार दिखलाये हैं। अर्थात् वेदमें हीनोपमा और अधिकोपमा दोनों प्रकारकी उपमाओंके उदाहरण मिलते हैं। निरुक्तकारने यहाँ विशेषरूपसे हीनोपमाके दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

१—कृचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।
अस्नातापो वृषभो न प्रवेति सचेतसो तं प्रणयन्त मर्ताः॥

[ऋ० १०-४-५]

२—तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः॥

[ऋ० १०-४-६]

ये दोनों मन्त्र ऋग्वेदके दशम मण्डलमें आये हैं। इस सूक्तका देवता 'अग्नि' है। सूक्तमें कुल ६ मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंके देखनेसे प्रतीत होता है कि ये सब मन्त्र वानप्रस्थ आश्रमसे सम्बद्ध हैं। 'वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः' इस वाक्य द्वारा 'पलित' अर्थात् श्वेत केशोंके हो जानेपर वृद्ध पुरुषको 'धूमकेतु' अर्थात् यज्ञधूम जिसका चिह्न है अर्थात् यज्ञ-प्रधान होकर 'वने तस्थौ' वनमें रहनेका विधान किया गया है। 'कदाचित् जायते सनयासु नव्यः' इस वाक्य द्वारा वानप्रस्थ आश्रम-ग्रहण करनेके समयका विधान किया गया है। जब 'सनयासु' सन्ततिषु सन्तानोंके भी 'नव्यः' नवीन सन्तान उत्पन्न हो जाय तब 'धूमकेतुः' अर्थात् यज्ञ-प्रधान जीवनका अवलम्बन करके 'पलितः' श्वेतकेशोंवाला वृद्ध पुरुष 'वने तस्थौ' वनमें रहने लगे, वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर ले। यह इस मन्त्रके पूर्वार्द्धका अर्थ हुआ। मनुने भी इसी भावको 'अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्' इन शब्दोंमें प्रकट किया है। अर्थात् मन्वादि द्वारा वानप्रस्थाश्रमका जो विधान किया गया है वह इस वेदमन्त्रके आधारपर ही किया गया

है। उस वानप्रस्थ आश्रममें 'सचेतसो तं प्रणयन्त मर्ताः' बुद्धिमान् मनुष्य उनको प्रणाम करते हैं अथवा बुद्धिमान् शिष्यगण उनकी सेवा करके उनसे विद्या-ग्रहण करते हैं।

'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू' वाला मन्त्र भी वानप्रस्थ जीवनके इसी प्रसंगको आगे बढ़ाता है। पिछले मन्त्रमें वानप्रस्थको 'धूमकेतुः' अर्थात् यज्ञप्रधान कहा है। इस मन्त्रमें उसी वानप्रस्थ जीवनको दृढ़ताके साथ पालन करनेका आदेश देते हुए मन्त्रके तीसरे चरणमें 'इयं ते नव्यसी मनीषा' यह तुम्हारा नवीन निश्चय है अर्थात् वानप्रस्थ जीवनमें तुमने अभी प्रवेश किया है, इसलिए इस आश्रमके कर्तव्योंके पालनके लिए 'रथं न' रथके समान 'शुचयद्भिरङ्गैः आ युक्ष्व' शुद्ध—पवित्र—अङ्गों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अपने आपको 'आयुक्ष्व' सर्वात्मामें नियुक्त करो। अथवा 'न शुचयद्भि-रङ्गैः' मलिन न होनेवाले आलस्य-रहित अङ्गोंसे अपने इस 'रथम् आयुक्ष्व' शरीर रूपी रथको अपने वानप्रस्थ जीवनके पालनके लिए नियुक्त करो। यह मन्त्रके उत्तरार्द्धका आशय है। इस उत्तरार्द्ध भागमें जिस दृढ़तासे गृहस्थाश्रमके सुख-भोगके बाद इस वानप्रस्थ आश्रमके कठोर जीवनके पालनकी प्रेरणा की गयी है उसी दृढ़ताके पोषणके लिए मन्त्रके पूर्वार्द्धमें 'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू' आदि उपमाका प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार 'वनर्गू वनगामिनौ' वनमें रहनेवाले 'तस्कर' लुटेरे डाकू अपने शिकारको 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्' अपनी दसों अंगुलियोंसे अर्थात् दोनों हाथोंसे दबोच लेते हैं। अपने दोनों हाथोंसे कठोरतापूर्वक सर्वस्व छीन लेते हैं इसी प्रकार वानप्रस्थाश्रममें प्रवेशके बाद तुम अपनी दसों इन्द्रियोंको कसकर अपने शरीर तथा मनको आश्रमोचित कर्त्तव्योंके पालनमें नियुक्त करो। यह इस मन्त्रका भाव है। पुराने टीकाकारोंने 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्'का अर्थ दसों अंगुलियोंसे यज्ञमें सोमरसके निकालने या अरणिमन्थन करनेका विधान किया है। पूर्वार्द्धमें 'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू' यह जो उपमाका अंश है उसमें तस्करमें रहनेवाली दृढ़ता या कठोरतारूप गुणका वैशिष्ट्य या आधिक्य विशेषरूपसे अभिप्रेत है। इसलिए यास्कने इसे 'ज्यायसा गुणेन कनीयांसम् उपमिमीते'अधिक गुणवालेके साथ न्यून गुणवालेकी उपमाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है। इसी अभिप्रायसे निरुक्तकार अगली पंक्तियोंमें इसकी व्याख्या निम्न प्रकारसे करते हैं—'तनूत्यक्' इत्यादि।

कुह॑ स्विद्दो॒षा कुह॒ वस्तो॑र॒श्विना॒ कुहा॑भिपि॒त्वं क॑रत॒ः कुहो॑षतुः।
को वां॑ शयु॒त्रा वि॒धवे॑व दे॒वरं॒ मर्यं॒ न योषा॑ कृणुते स॒धस्थ॒ आ॥

[ऋ० १०-४०-२]

हे अश्विनौ! ['कुह स्विद् दोषा', दोषा अर्थात्] रात्रिमें आप कहाँ रहते हैं? [कुह वस्तोः] और दिनमें कहां? ['कुहाभिपित्वं करतः' अन्न-पानादिकी] प्राप्ति आपको कहाँसे होती है? और [कुहोषतुः'] आपका निवास-स्थान कहाँ है? [विधवा देवरमिव] जैसे [नियोगकी कामना रखनेवाली] विधवा [अपने देवर अर्थात् सन्तानोत्पादनके लिए नियुक्त किये हुए] दूसरे पतिको, अथवा [योषा मर्यं न] विवाहिता पत्नी अपने पतिको ['सधस्थे आकृणुते', सहस्थाने अर्थात्] एक आसनपर एक शय्यापर [आकृणुते] लिटालती है इस प्रकार [को वां शयुत्रा] आप दोनोंको [प्रेम-पूर्वक] कौन सुलाता है?

---

३ हीनोपमाका उदाहरण

पिछला उदाहरण 'ज्यायसा गुणेन कनीयांसमुपमिमीते' का था। अब अगला उदाहरण उपमाके दूसरे भेद 'अथापि कनीयसा ज्यायांसम्' अर्थात् छोटे उपमानके साथ बड़े उपमेयकी उपमा [अर्थात् हीनोपमा] का है। इस अगले मन्त्रके देवता 'अश्विनौ' हैं। और 'कक्षीवान्' की पुत्री 'घोषा' इस सूक्तकी ऋषिका हैं। मंत्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'हे अश्विनौ' इत्यादि।

अगली पंक्तियोंमें निरुक्तकार स्वयं अपने शब्दोंमें इस मन्त्रकी इसी प्रकारकी व्याख्या निम्नप्रकार प्रस्तुत करते हैं—'कस्विद्' इत्यादि।

क्व स्विद्रात्रौ भवथः। क्व दिवा। क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः। क्व वसथः। को वां शयने विधवेव देवरम्। देवरः कस्माद्? द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति।

आप दोनों रात्रिमें कहाँ रहते हैं और दिनको कहाँ रहते हैं? कहाँ [अन्न-पान आदिकी] प्राप्ति करते हैं। कहाँ निवास करते हैं? विधवा जैसे द्वितीय वर [नियोगके निमित्त नियुक्त किये हुए दूसरे पति] को बुलाती है इस प्रकार तुम दोनोंको कौन बुलाता है? [यहाँ विधवाके साथ प्रयुक्त हुए देवर पदका निर्वचन दिखलाते हैं कि नियुक्त पतिको] देवर क्यों कहा जाता है [अर्थात् 'देवर' पद-का क्या निर्वचन होता है? इसका उत्तर देते हैं] क्योंकि वह [नियुक्त पतिरूप देवर] द्वितीय वर कहलाता है। [आगे 'विधवा' शब्दका निर्वचन करते हैं] विधवा [विधातृका अर्थात्] पतिहीना होती है [इसलिए 'विधवा' कहलाती है]।

'विधवा' पदका यह निर्वचन निरुक्तकार यास्कने अपने मतानुसार किया। अब आगे 'चर्मशिरा' आचार्यके मतसे 'विधवा' पदके दो प्रकारके निर्वचन दिखलाते हैं। इनमेंसे 'विधवनाद्विधवा' इस निर्वचनमें 'विधवा' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'धूञ् कम्पने' धातुसे 'अप्' प्रत्यय तथा स्त्रीलिंगमें 'टाप्' करके बनता है। उस दशामें आश्रयहीना होनेसे कम्पित होती है, इसलिए 'विधवा' कहलाती है यह अर्थ होता है। और 'विधावनाद्वा विधवा' इस द्वितीय निर्वचन-में 'विधवा' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'धाव' धातुसे बनता है। क्योंकि वह अपने भरण-पोषण आदिके लिए इधर-उधर भटकती फिरती है, इसलिए विधवा कह-लाती है। ये दो प्रकारके निर्वचन 'चर्मशिरा' आचार्यके मतसे दिये हैं। इसी प्रसंगमें एक निर्वचन और भी दिया है। इसमें 'धव' शब्दका अर्थ मनुष्य या पति है। उससे विहीन होनेसे 'विधवा' कही जाती है। विधवा शब्दके इन तीनों प्रकारके निर्वचनोंको निरुक्तकारने अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकारसे प्रस्तुत किया है—'विधवनाद्' इत्यादि।

विधवनाद्वा विधावनाद्वेति चर्मशिराः । अपि वा धव इति मनुष्यनाम । तद्वियोगाद्विधवा । देवरो दीव्यतिकर्मा । मर्यो मनुष्यः मरणधर्मा । योषा यौतेराकुरुते सहस्थाने ॥१४॥

(१) विशेषरूपसे कम्पित होनेके कारण [विधवनाद्वा] अथवा (२) विशेषरूपसे इधर-उधर भागनेके कारण [विधावनाद्वा] विधवा [कहलाती] है । यह 'चर्मशिरस्' आचार्यका मत है । अथवा (३) 'धव' यह मनुष्य [अर्थात् पति] का नाम है उसके वियोगके कारण [विधवा कहलाती है] ।

'देवर' उत्तम स्तुत्य अर्थवाला होता है । [मन्त्रमें प्रयुक्त] 'मर्यः' [पद] मनुष्यका वाचक है । क्योंकि वह मरणधर्मा होता है, इसलिए मनुष्यको 'मर्य' या 'मर्त्य' कहा जाता है । अर्थात् मरणार्थक 'मृ' धातुसे 'अचो यत्' अष्टा० ३-१-९७ सूत्रसे 'यत्'-प्रत्यय करके 'मर्य' पद बनता है । 'योषा' [शब्द मिश्रण अर्थवाले] यु धातुसे [औणादिक 'स' प्रत्यय और 'टाप्' करके बनता है । 'मर्यं न योषा' इस मन्त्रभागमें मर्य तथा योषा इन दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है । यहाँ ये दोनों शब्द विवाहित स्त्री-पुरुष अर्थात् पति-पत्नी-रूप स्त्री-पुरुषोंके वाचक हैं । [आगे निरुक्तकार मन्त्रमें प्रयुक्त हुए 'कृणुते सधस्थ आ' इस भागका अर्थ करते हैं कि 'सहस्थाने आकुरुते' अर्थात्] समान स्थान अर्थात् एक शय्यापर करती है [लिटालती है] ॥१४॥

मन्त्रके 'विधवेव देवरम्' इस भागमें प्रयुक्त हुए 'देवर' पदका एक निर्वचन ऊपर दे आये हैं । उसका एक और निर्वचन आगे देते हैं । वैसे तो एक एक शब्दके दो-दो या तीन-तीन या और भी अधिक निर्वचन निरुक्तकारने दिये हैं, किन्तु यहाँ 'देवर' शब्दके दो निर्वचनोंमें उससे कुछ भिन्नता है । अन्य शब्दोंके जो अनेक प्रकारके निर्वचन दिये गये हैं वे सब प्रायः एक साथ ही दिये गये हैं । इसका विशेष प्रयोजन है । 'विधवेव देवरम्'में देवरका अर्थ द्वितीय वर किया है । लोकप्रसिद्ध अर्थके अनुसार पतिके छोटे भाईको 'देवर' कहा जाता है । प्रत्येक

[१५]

अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः । यथेति कर्मोपमा ॥

---

[१५]

अब [उपमा-वाचक जो चार] निपात पहिले ही [प्रथम अध्यायके द्वितीय पादमें] कहे जा चुके हैं [उनका भी इस प्रसंगमें स्मरण कर लेना चाहिये]।

'यथा' यह [उपमा-वाचक पद] क्रियाओंकी उपमा [क्रियाओंके सादृश्यका बोधक] है। [इसके तीन उदाहरण आगे दिये हैं। किन्तु वे तीनों अधूरे मन्त्र हैं, इसलिए हम उनके पूरे मन्त्र नीचे दे रहे हैं]

देवर 'द्वितीय वर' हो यह बात नहीं है। प्रत्येक विधवा अपने देवरको द्वितीय वरके रूपमें ग्रहण करे यह भी मन्त्रका भाव नहीं है। किन्तु जहाँ विधवाको विशेषरूपसे आवश्यकता हो तो विधवा अपने परिवार-जनोंकी अनुमतिसे और घोषित करके केवल सन्तानोत्पादनके लिए किसीके साथ 'नियोग' कर सकती है। उस समय जो नियुक्त पति होगा वह द्वितीय वर होनेसे 'देवर' कहलाता है। वह स्त्रीका वास्तविक देवर भी हो सकता है और उससे भिन्न अन्य भी कोई व्यक्ति हो सकता है। जो कोई भी नियोगके लिए द्वितीय पतिके रूपमें नियुक्त किया जाता है वह 'द्वितीय वर', 'देवर' कहलाता है। यह पहिली बार दिये हुए निर्वचनका अभिप्राय है। 'देवर' शब्दका द्वितीय निर्वचन जो आगे दिया जा रहा है वह वास्तविक साधारण देवरके अभिप्रायसे किया गया है। इस निर्वचनके अनुसार 'देवरः दीव्यतिकर्मा भवति' अर्थात् स्तुत्यर्थक 'दिवु' धातुसे उणादि [४१२ या ३-१३२] सूत्रसे 'अर' प्रत्यय करके 'देवर' शब्द बनता है। अर्थात् भाभीके साथ सदा उत्तम स्तुत्य व्यवहार करनेवाला देवर होता है। इसी अभिप्रायसे इस निर्वचनको पहिले निर्वचनके बाद कुछ व्यवधानसे दिया गया है। निरुक्तकार उसे आगे निम्नप्रकार प्रस्तुत करते हैं—'देवरो दीव्यति-कर्मा' इत्यादि।

इस मन्त्रमें (१) 'विधवेव देवरम्' और (२) 'मर्यं न योषा' ये दो उपमाएँ

प्रयुक्त हुई हैं। इनमें छोटे देवर तथा मर्यके साथ बड़े 'अश्विनौ' की उपमा दी है। अतः 'कनीयसा ज्यायांसम्'का उदाहरण है ॥१४॥

निघण्टुके जो १२ उपमावाचक पद या वाक्यांश ऊपर उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे सबसे पहिला 'इदमिव' है। अर्थात् 'इव' शब्दको उपमा-वाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त करके जो उपमा बनती है वह उपमा इस 'इदमिव' वाले प्रथम उपमाभेदके अन्तर्गत होती है। ऊपर उपमाके उदाहरणरूपमें जो दो मन्त्र प्रस्तुत किये गये हैं उन दोनोंमें ही 'इव' शब्द उपमा-वाचकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। पहिले मन्त्रमें 'तनूत्यजेव तस्करा' यह उपमा है और उसमें 'इव' ही उपमा-वाचक शब्द है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्रमें 'विधवेव देवरम्'में भी 'इव' ही उपमा-वाचक शब्द है। इसलिए ये दोनों 'इदमिव' इस प्रथम प्रकारके उपमा-भेदके उदाहरण हैं। आगे 'इदं यथा' अर्थात् जहाँ 'यथा' शब्द उपमा-वाचक पदके रूपमें प्रयुक्त किया गया हो इस प्रकारके उदाहरण देंगे। इन दोनों कार्योंके बीचमें निरुक्तकारने 'अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः' यह एक पंक्ति और दी है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम अध्यायके द्वितीय पादमें हम निपातोंके वर्णनमें भी १ इव, २ न, ३ चित् तथा ४ नु इन चार उपमा-वाचक पदोंकी व्याख्या कर चुके हैं। उपमा-निरूपणके इस प्रसंगमें भी उसको स्मरण कर लेना चाहिये, इस दृष्टिसे ग्रन्थकार इस पंक्ति द्वारा उन पूर्वव्याख्यात निपातोंका स्मरण दिलानेके लिए लिख रहे हैं—'अथ निपाताः' इत्यादि।

आगे ग्रन्थकार निघण्टुमें दूसरे स्थानपर पठित 'इदं यथा' वाले उपमाभेदका निरूपण प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं। 'श्रौती यथेववा-शब्दा इवार्थे वा वतिर्यदि।' इस नियमके अनुसार वे 'इदमिव' तथा 'इदं यथा' ये दोनों भेद 'श्रौती' उपमाके अन्तर्गत आते हैं। किन्तु यास्कने इन दोनोंमें कुछ सूक्ष्म भेद किया है। 'इदं यथा' वाले भेदकी व्याख्याका आरम्भ करते हुए उन्होंने 'यथेति कर्मोपमा' यह लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि 'यथा' इस पदसे 'कर्म' अर्थात् क्रियाओंकी उपमा दी जाती है। अर्थात् यथाशब्दसे क्रियाओंका ही सादृश्य बोधन किया जाता है। इससे फलितार्थ यह निकलता है कि निरुक्तकारने 'इदमिव'को द्रव्योपमापरक माना है। अर्थात् 'इव'के द्वारा प्रायः द्रव्योंका तथा 'यथा' पद द्वारा प्रायः क्रियाओंका साधर्म्य बोधन

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
[ऋ० ५-७८-८]

हे दस मासवाले [परिपूर्ण] गर्भ ! जैसे वायु चलती है, जैसे वन [वृक्ष] हिलता है और जैसे समुद्र हिलता है इस प्रकार तुम [धीरे-धीरे] जरायु [बच्चेके ऊपरकी झिल्ली] के साथ बाहर आ जाओ ।

किया जाता है । यह इन दोनों प्रकारोंका सूक्ष्म भेद है । अन्यत्र कहीं इस प्रकारके भेदका प्रतिपादन नहीं किया गया है । आगे निरुक्तकार इस 'इदं यथा' वाले भेदके तीन उदाहरण देते हैं और तीनोंमें क्रियाओंका ही सादृश्य बोधित किया गया है । इसी बातको आगे निम्नप्रकार लिखते हैं—

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ [ऋ० ५-७८-८]

इस मन्त्रमें दस मासवाले गर्भ अर्थात् उत्पत्तिके लिए पूर्णरूपसे प्रस्तुत बालकके जन्मके समयकी प्रार्थनाको उपमा अलंकार द्वारा सुन्दर शब्दोंमें निम्न-प्रकार प्रस्तुत कर दिया है ।

यह पहिला उदाहरण है । इसमें तीन बार उपमा-वाचक 'यथा' शब्दका प्रयोग हुआ है । उसके द्वारा उपमानभूत वात, वन तथा समुद्रकी कम्पन-क्रियाके साथ गर्भकी कम्पन-क्रियाका सादृश्य दिखलाया गया है । अतः यह कर्मोपमाका उदाहरण है । दूसरे उदाहरणके रूपमें भी निरुक्तकारने एक मन्त्रका टुकड़ा उद्धृत किया है । वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ [ऋ० १-५०-३]

इस मन्त्रका देवता सूर्य है । उसमें सूर्यकी किरणोंके प्रकाशन कार्यका प्रति-पादन करते हुए कहा गया है—'अदृश्रम्' इत्यादि ।

भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ [ऋ० १-५०-३]
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥
[ऋ० १०-९७-११]

आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा । अपिवा आप्त इव स्यात्, यावद्-व्याप्तीभूत इति ।

[अस्य केतवः] इस सूर्यकी पदार्थ-ज्ञापक [रश्मयः] किरणें [भ्राजन्तो अग्नयो यथा] अग्नियोंके समान चमकती हुई [जनान् अनु अदृश्रम्] अनकूलता-पूर्वक सब पदार्थोंको मनुष्योंको दिखलाती हैं।

[यद् अहम्] जब मैं [अर्थाद् सुवैद्य, वाजयन्] रोगके निदानको जानता हुआ [इमा ओषधीर्हस्त आदधे] इन उत्तम औषधियोंको हाथमें उठाता हूँ तो [जीवगृभः पुरा यथा] जैसे व्याधके हाथसे मारे जानेके पहिले ही जीव भयके मारे मर जाता है इसी प्रकार [औषधियोंके डरके मारे या] उनके प्रभावसे [आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति] रोगका आत्मा नष्ट हो जाता है।

[मंत्रमें आये हुए 'आत्मा' शब्दका निर्वचन करते हैं]—'आत्मा' [शब्द] 'अत सातत्यगमने' धातुसे अथवा 'आप्लृ' धातुसे [बनता है]। अथवा [सर्वत्र] पहुँचा हुआ-सा होता है। क्योंकि सर्वत्र व्यापक होता है।

इसमें सूर्यकी किरणों तथा अग्नि दोनोंकी पदार्थ-दर्शनरूप क्रियाओंका साधर्म्य दिखलाया गया है। इसलिए यह भी निरुक्तकारके अनुसार 'कर्मोपमा' का उदाहरण है। इसमें उपमेय सूर्यकिरणोंकी अनेक प्रकाशनरूप क्रिया है और उपमानरूपमें अग्निकी प्रदर्शनरूप क्रिया है। उपमानके लघुभूत होनेके कारण यह 'कनीयसा ज्यायांसम्' वाली 'हीनोपमा' का उदाहरण बनता है।

'यथा' शब्दके प्रयोगवाला तीसरा जो उदाहरण आगे दिया है वह भी अधूरा मन्त्र है। अर्थ समझनेकी दृष्टिसे उसका पूरा मन्त्र देना आवश्यक है। अतः हम पहिले पूरा मन्त्र नीचे देते हैं—

अ॒ग्निर्न ये भ्राज॑सा रु॒क्मव॑क्षसः ॥ [ऋ० १०-७८-२]

अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः ॥१५॥

जो मरुद्गण अग्निके समान दीप्यमान तथा सुन्दर वक्षःस्थल वाले हैं। [इस उपमामें] 'भ्राजस्वन्तः' दीप्यमान तथा 'रुक्मवक्षसः' सुन्दर चमकते वक्षःस्थलवाले [ये दो साधारण धर्म हैं। यही इस उपमाको यहाँ विशेषरूपसे उद्धृत करनेका कारण है। इस बातकी ओर विशेषरूपसे निरुक्तकारने व्याख्या करनेके बाद फिरसे 'भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः' इन दोनों पदोंका दुबारा निर्देश किया है] ॥१५॥

यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हमोष॑धी॒र्हस्त॑ आद॒धे ।
आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा ॥ [ऋ० १०-९७-११]

इस मन्त्रका देवता 'औषधि' है। यक्ष्मा रोगके निवारणके लिए किसी विशेष औषधिके प्रभावकी प्रशंसा करते हुए कहा जा रहा है—'यदिमा'इत्यादि।

इसमेंसे मन्त्रके उत्तरार्द्ध भागको निरुक्तकारने उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। उसमें औषधिके प्रभावसे रोगके नष्ट होनेकी क्रिया उपमेय है और अहेरिया-के डरसे जीवके नाशकी क्रिया उपमान है। अतः यह भी 'यथा' शब्दके प्रयोगमें 'कर्मोपमा' का उदाहरण है। निघण्टुमें उपमा-वाचक वाक्यांशोंमें १ 'इदमिव' और २ 'इदं यथा' के बाद तीसरा वाक्यांश 'अग्निर्न ये' दिया गया है। यह एक मन्त्रका टुकड़ा है। इसमें 'न' यह निपात उपमा-वाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अ॒ग्निर्न ये भ्राज॑सा रु॒क्मव॑क्षसो॒ वाता॑सो॒ न स्व॒युजः॑ स॒द्यऊ॑तयः ।
प्र॒ज्ञा॒तारो॒ न ज्येष्ठाः॑ सु॒नी॒तयः॑ सु॒शर्मा॑णो॒ न सोमा॑ ऋ॒तं य॒ते ॥
[ऋ० १०-७८-२]

इस मन्त्र या सूक्तका देवता 'मरुत्' है। लौकिक काव्योंमें यदि चार श्लोकोंसे अधिकका एक साथ अन्वय होता है अर्थात् यदि मुख्य क्रिया चार श्लोकोंसे अधिक श्लोकोंके व्यवधानसे आती है तो उन श्लोकोंको 'कुलकम्' कहा जाता है। यहाँ भी इसी प्रकारका मन्त्रोंका 'कुलक' है। यह दशम मण्डलके ७८ वें सूक्तका दूसरा मन्त्र है। किन्तु इस सूक्तके आठवें मन्त्रमें आयी हुई 'सुभगान् नो देवाः कृणुत' इस 'कृणुत' क्रियाका सम्बन्ध यहाँ होता है। इसलिए यह 'मन्त्र-कुलक' है। मन्त्रके चार चरणोंमें यहाँ चार उपमाएँ प्रयुक्त की गयी हैं। इन चारों उपमाओंमें एक विशेषता यह है कि उनमें उपमान-उपमेयके साधारण-धर्म एक-एक नहीं अपितु दो-दो दिये गये हैं। अथवा यों कहें कि एक साधारण-धर्मके साथ एक विशेषण पद भी चारों जगह रखा गया है। इससे वाक्य-विन्यासमें कुछ विशेष सौन्दर्य आ गया है। इन चारों उपमाओंमें सबसे पहिली उपमा 'अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः' है। इसका अर्थ है—जो देवगण 'मरुत्' अग्नि-के समान तेजस्वी तथा दीप्यमानवक्षस्थलवाले हैं वे दिव्य गुणयुक्त 'मरुत्' हमें सौभाग्यशाली बनावें। आगे आठवें मन्त्रमें आनेवाले 'सुभगान् नो देवाः कृणुत' के साथ मिलाकर इस वाक्यका यह अर्थ होता है। इसी एक चरणको निरुक्त-कारने यहाँ उद्धृत किया है।

मन्त्रके दूसरे चरणमें 'वातासो न' वायुओंके समान 'स्वयुजः सद्यऊतयः' स्वयं मिले हुए तथा सर्वदा क्रियाशील हैं, यह वायुके साथ 'मरुत्' की उपमा दी गयी है। यहाँ भी उपमान-रूप 'वाताः' और उपमेयभूत 'मरुत्'के साधारणधर्मके रूपमें 'स्वयुजः' तथा 'सद्यऊतयः' दो पद रखे गये हैं। 'न' उपमा-वाचक पद है। इसी प्रकार मन्त्रके शेष दो चरणोंमें साधारणधर्मके रूपमें दो-दो पद रखे गये हैं। यह इस उपमा-परक उदाहरणकी मुख्य विशेषता है। इस मन्त्रमेंसे 'अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः' मेंका 'अग्निर्न ये' इतना अंश निघण्टुमें उप-माओंकी गणनामें दिया गया है। वह कदाचित् अपनी दो साधारण धर्मोंवाली विशेषताके कारण ही दिया गया है। निरुक्तकारने उस उपमा-भागको पूर्ण कर उसकी व्याख्या निम्नप्रकार की है—'अग्निरिव' इत्यादि।

[१६]

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥
[ऋ० १-४१-९]

चतुरोऽक्षान्धारयतः इति तद्यथा कितवाद् विभीयादेवमेव दुरुक्ताद् विभीयान्न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ।

'जैसे चारों पांसोंको धारण करनेवाले [अर्थात् हाथमें लिये हुए 'आनिधातोः' अर्थात्]जुआरीसे[पांसे फेंकनेके पहिले दूसरा जुआरी] डरता है इसी प्रकार [सज्जन पुरुष] दुरुक्तात् अर्थात् [अन्योंके द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले] दुर्वचनों अर्थात् लोकनिन्दासे डरता रहे। कभी भी दुर्वचनोंकी इच्छा न करे [अर्थात् लोकनिन्दा होनेका अवसर न आने दे] ।

---

४ निघण्टुमें संगृहीत १२ उपमाओंमें 'चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयात्' यह चौथी उपमा है । निघण्टुमें यहाँ भी मन्त्रका एक भाग उद्धृत किया गया है । निरुक्तकारने व्याख्या करते समय उस मन्त्रको पूरा देकर निम्न प्रकारसे उसकी व्याख्या की है—'चतुरः' इत्यादि ।

५. निघण्टुमें दी हुई पाँचवीं उपमा 'जार आ भगम्' है । यह भी मन्त्रका केवल एक टुकड़ा यहाँ दिया गया है । निरुक्तकारने भी मन्त्रको पूरा नहीं किया है । केवल उतने ही अंशकी व्याख्या कर दी है । पूरा मन्त्र निम्न-प्रकार है—

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥
[ऋ० १०-११-६]

इसमें 'जार आ भगं पितरौ उदीरय' यह मुख्य वाक्य उदाहरणरूपमें विवक्षित है । 'जार'का अर्थ निरुक्तकारने 'सूर्य' किया है । क्योंकि वह रात्रिको जीर्ण करनेवाला अर्थात् रात्रिनाशक होता है । अथवा चन्द्र, तारे आदिकी

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातोऽथाप्युपमार्थे दृश्यते।

जा॒र आ भग॒म्॥ [ऋ० १०-११-६]

जार इव भगमादित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता स एव भासाम्।

तथापि निगमो भवति। स्वसु॒र्जा॒रः शृ॒णोतु नः॥

[ऋ० ६-५५-५]

'आ' इससे आङ् उपसर्गका ग्रहण होता है। उसकी व्याख्या [प्रथम अध्यायके द्वितीय पादमें समुच्चयार्थकरूपमें] पहिले ही कर चुके हैं। उसके [अर्थात् समुच्चयार्थके] अतिरिक्त [आ उपसर्ग] उपमार्थमें भी होता है। [जैसे 'जार आ भगम्'में 'आ' उपमार्थक है] 'जार जैसे भगको [प्रकाशित करता है इसी प्रकार सुपुत्र माता-पिताको प्रकाशित करे। यहाँ सूर्यको 'जार' कहा गया है, क्योंकि वह रात्रिका [जारण अर्थात्] नाश करनेवाला होता है। और वही [चन्द्र, तारे आदि] ज्योतियोंका [नाशक होता है, इसलिए भी सूर्यको 'जार' कहा जाता है] और [अन्यत्र भी इस प्रकारका मन्त्र मिलता है [जिसमें सूर्यके लिए 'जार' पदका प्रयोग किया गया है]। जैसे 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' वहिनका जार हमारी प्रार्थनाको सुने [इसमें वहिनका जार सूर्यको कहा है] उषाको इस [सूर्य]की वहिन कहा है। क्योंकि वह सूर्यके साथ रहती है अथवा दोनों [मातृ-दुग्धके समान ओस-जलरूप] रसका हरण करते हैं [इसलिए सूर्य तथा उषा

ज्योतिका नाश करनेवाला होता है, इसलिए यहाँ 'जार' पदका अर्थ 'आदित्य' है। और 'भगम्' का अर्थ सूर्यके द्वारा सेवन करने या प्रकाशित करने योग्य 'द्यावा-पृथिवी' किया है। जिस प्रकार सूर्य द्यावा-पृथिवी दोनोंको प्रकाशित करता है इसी प्रकार [अग्निः अर्थात् समाजका नेता] सुपुत्र 'पितरौ' अर्थात् माता-पिता दोनोंके नामको 'उदीरय' उज्ज्वल करे। यह इस उपमाका अभिप्राय है। इसीकी व्याख्या निरुक्तकारने निम्नप्रकार की है—'आ इत्याकारः' इत्यादि।

इत्युषसमस्य स्वसारमाह साहचर्याद् रसहरणाद्वा ।

अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात्स्त्रीभगस्तथा स्याद्भजतेः ।

दोनोंको भाई-बहिन कहा गया है। और सूर्य उस उषाका नाश करता है। सूर्यका उदय हो जानेके बाद उषाका नाश हो जाता है। इसलिए अपनी बहिन उषाका नाशक होनेसे सूर्यको 'जार' कहा है। 'इसी प्रकार' जार आ भगम्' वाले प्रस्तुत उपमा-स्थलमें भी सूर्यको ही जार कहा गया है]।

अथवा यहाँ ['जार' पदसे] मनुष्य जार [अर्थात् स्त्रीयोनिको जीर्ण करनेवाला व्यभिचारी या कामी मनुष्य] भी अभिप्रेत हो सकता है। इसी प्रकार 'भज' ['भज सेवायाम्'] धातुसे बना हुआ 'भग' [शब्द सेवन करने योग्य] स्त्रीकी योनिका [बोधक हो सकता है। इस पक्षमें उपमाका अभिप्राय यह होगा कि जैसे कामी या व्यभिचारी पुरुष स्त्रीकी योनि तथा भगनासा दोनोंको 'उदीरयति' उत्तेजित करता है इस प्रकार सुपुत्र 'पितरौ उदीरय' माता पिताको सुख-प्रदान करे]।

यहाँ निरुक्तकारने वैदिक भाषामें प्रयुक्त होनेवाले 'जार' शब्दका अर्थ सूर्य तथा 'भग' शब्दका अर्थ द्यावा-पृथिवी किया है। अपने इस अर्थकी पुष्टिमें उन्होंने 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' इस दूसरे मन्त्रभागको भी उद्धृत कर अपनी व्याख्याके औचित्यको सिद्ध करनेका यत्न किया है। किन्तु लोकमें इन दोनों शब्दोंका प्रयोग अन्य अर्थोंमें होता है—इसलिए उस लौकिक अर्थको लेकर भी उसकी संगति लगाते हुए अगली पंक्ति लिखते हैं—'अपि त्वयम्' इत्यादि।

निरुक्तकारने निघण्टुमें दी हुई उपमाओंमेंसे बीचमें पाँचवीं 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' तथा छठी 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' इन दोनोंकी व्याख्या यहाँ छोड़ दी है। 'चतुरश्चिद् ददमानाद्' इस चौथी उपमाके बाद ५ तथा ६ को छोड़कर' 'जार आ भगम्' इस सातवीं उपमाकी व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की है।

मेष इति भूतोपमा ।

मे॒षो भू॒तो॒३॑ऽभि यन्नयः ॥ [ऋ० ८-२-४०]

मेषो मिषतेस्तथा पशुः पश्यतेः । अग्निरिति रूपोपमा ।

मेष [अर्थात् 'मेषो भूतः' आदि] में [उपमेय 'अद्रिवः' इन्द्रकी मेष मेढ़ारूप] प्राणीसे उपमा दी गयी है। [मेढ़ा या भेड़का वाचक] 'मेष' शब्द मिष ['मिष स्पर्धायाम्'] धातुसे होता है। [मेष मेढ़ा पशु है इसलिए उसीके प्रसंगमें 'पशु' शब्दका भी निर्वचन कर देते हैं] पशु शब्द पश्य धातु [अर्थात् दर्शनार्थक दृश धातु] से बनता है।

इसका कारण यह है कि इन छोड़ी हुई दो उपमाओंमेंसे 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' वाली छठी उपमाकी व्याख्या प्रथम अध्यायके द्वितीय पादमें पहिले ही कर चुके हैं और 'ब्राह्मणा व्रतचारिणः' इस दूसरीकी व्याख्या आगे देवताकाण्डमें नवम अध्यायके सुभद्र पाठमें करेंगे। इसलिए यहाँ उन दोनोंको छोड़कर 'जार आ भगम्' इस सातवीं उपमाकी व्याख्या की है। और उसके आगे 'मेषो भूतोऽभियन्नयः' यह आठवीं उपमा पढ़ी है। यह भी मन्त्रका एक भाग यहाँ दिया गया है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

इ॒त्था धीव॑न्तमद्रिवः का॒ण्वं मेध्या॑तिथिम् ।

मे॒षो भू॒तो॒३॑ऽभि यन्नयः ॥ [ऋ० ८-२-४०]

इस मन्त्रका देवता 'इन्द्र' है। 'अद्रिवः' का अर्थ 'अद्रि' अर्थात् वज्रको धारण करनेवाला इन्द्र है। यहाँ इस पदसे अत्यन्त कठोर श्रमसे प्राप्त होनेवाला ऐश्वर्य [इदि परमैश्वर्ये] अभिप्रेत है। मन्त्रके 'मेध्यातिथिम्' का अर्थ पवित्र संकल्पवाला, 'धीमन्तम्'का अर्थ बुद्धिमान् मेधावी तथा 'काण्व'का अर्थ कर्मठ पुरुष है। दृढ़ संकल्पवाले मेधावी और कर्मठ पुरुषको 'अद्रि'के समान कठोर श्रमसे प्राप्त होनेवाली सफलता 'मेषो भूतः' भेड़के समान चुपचाप 'अभियन्' धीरे-धीरे अभिमुख होती हुई 'अयः' प्राप्त होती है। यह इस मन्त्रका अभिप्राय है। इससे 'मेषो भूतः' भेड़के समान यह उपमा-प्रयुक्त की गयी है। यास्कने इस उपमाको 'मेष इति भूतोपमा' 'भूतोपमा' कहा है। इसके पहिले निरुक्तकारने

हिर॑ण्यरूप॒ः स हिर॑ण्यसन्दृग॒पां नपात्सेदु हिर॑ण्यवर्णः ॥
[ऋ० २-३५-१०]

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् ।

अग्नि यह 'रूपोपमा' [का उदाहरण] है। जैसे कि—वह [अपांनपात् अर्थात्] अग्नि हिरण्य [अर्थात्] सुवर्णके समानरूप वाला [चमकीला] हिरण्यके जैसे रंगवाला [हिरण्यवर्णः] और हिरण्य के समान दिखलायी देनेवाला है। इसमें हिरण्यके समान इसका रूप है [यह 'हिरण्यरूपः' पदका अर्थ है। इसलिए यह रूपोपमा है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]।

'यथा' इस उपमा-वाचक पदके निरूपणमें 'यथेति कर्मोपमा' लिखा था इसी प्रकार यहाँ 'मेष इति भूतोपमा' लिखा है। इसका अभिप्राय यह है 'मेषो भूतः' इस उदाहरणमें 'भूत' अर्थात् प्राणीके साथ उपमा दी गयी है। इसमें 'अद्रिवः' अर्थात् 'इन्द्र' अथवा कठोर-श्रमसे प्राप्त 'सफलता' उपमेय-पद है और 'मेष' यह उपमान-पद है। इसमें 'अद्रिवः' का सीधा अर्थ इन्द्र भी किया जा सकता है। निरुक्तकार इसकी व्याख्या आगे निम्न प्रकारसे करते हैं—'मेषः' इत्यादि।

निघण्टुमें 'तद्रूपः' इस प्रकारसे नवम उपमाका निर्देश किया है। इस 'तद्रूपः' को यहाँ निरक्तकारने 'रूपोपमा' कहा है। और उसके लिए अग्निको उदाहरण माना है। इसलिए 'अग्निरिति रूपोपमा' यह पंक्ति निरुक्तकारने लिखी है। और उसके उदाहरणके लिए 'हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृक्' आदि मन्त्रभाग उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

हिर॑ण्यरूप॒ः स हिर॑ण्यसन्दृग॒पांनपा॒त् सेदु॒ हिर॑ण्यवर्णः।
हि॒र॒ण्यया॒त् परि॒योने॑र्नि॒षद्या॑ हिरण्य॒दा द॑द॒त्यन्नमस्मै ॥ [ऋ० २-३५-१०]

इस मन्त्रका देवता 'अपांनपात्' अर्थात् अग्नि है। उसको 'हिरण्यरूपः' 'हिरण्यसन्दृक्' आदि कहकर उसके रूपकी उपमा हिरण्य अर्थात् सुवर्णके साथ दी है। इसलिए इसे 'रूपोपमा' बतलाते हुए निरुक्तकार उसकी व्याख्या निम्न प्रकारसे करते हैं—'अग्निरिति' इत्यादि।

था इति च ।

तं प्र॒त्नथा॑ पू॒र्वथा॑ वि॒श्वथे॒मथा॑ ॥ [ऋ० ५-४४-१]

['प्रत्न-पूर्व-विश्व-इमात्थाल् छन्दसि' अष्टा० ५-३-१११ सूत्रसे विहित थाल्-प्रत्ययका अवशेषरूप] 'था' यह भी [उपमा-वाचक होता है। जैसे] १ 'प्रत्नथा' [प्राचीनकी तरह], २ 'पूर्वथा' [अर्थात् पहिला जैसा], ३ 'विश्वथा' [अर्थात् सब संसारके समान और ४ 'इमथा' [अर्थात् इसके समान [इन सब प्रयोगोंमें' था-प्रत्यय उपमा-वाचक है। इसलिए इन शब्दोंका अर्थ होता है] १ प्रत्नके समान, २ पूर्वके समान, ३ विश्वके समान और ४ इसके समान ।

इस 'तद्रूपः' के बाद निघण्टुमें 'तद्वर्णः' यह दसवाँ उपमा-बोधक पद दिया है। ऊपर उद्धृत किये हुए 'हिरण्यरूपः' वाले 'रूपोपमा' के मन्त्रमें ही 'हिरण्य-वर्णः' से 'तद्वर्णः' रूप 'वर्णोपमा'का भी उदाहरण आ जाता है, इसलिए निरुक्त-कारने उसका अलगसे न कोई उल्लेख किया है और न कोई उदाहरण दिया है। इसके बाद निघण्टुके क्रमसे 'तद्वत्' इस ११ वें उपमा-प्रकारका विवेचन होना चाहिए था, किन्तु निरुक्तकारने उसके पहिले 'था इति च' लिखकर उपमा-वाचक 'था' प्रत्ययका विवेचन किया है। इस उपमा-वाचक 'था' प्रत्ययका निघण्टुमें कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इसलिए निरुक्तमें उसका विवे-चन अप्रासंगिक प्रतीत होता है। किन्तु यह हो सकता है निघण्टुमें भी उपमा-वाचक 'था' प्रत्ययका उल्लेख रहा हो, किन्तु लिपिकारके प्रमादसे बादको उसका लोप हो गया हो। ऐसा माननेपर ही निरुक्तमें इस 'था' प्रत्ययके विवेचनकी संगति लग सकती है। इस 'था' प्रत्ययका विवेचन निरुक्तकारने निम्नप्रकार किया है—'था इति च' इत्यादि ।

इन प्रयोगोंमें जो 'इमथा' रूप दिया है वह 'इदम्' शब्दसे 'थाल्' प्रत्यय करके बना है। इसी प्रकार 'अदस्' शब्दसे 'अमुथा' रूप बनता है। उसका

प्रत्न इव पूर्व इव विश्व इव इम इवेति । अयमेततरोऽमुष्मा-दसावस्ततरोऽस्मात् । अमुथा यथासाविति व्याख्यातम् ॥१६॥

'अयम्' यह [इदम् शब्दसे वाच्य अर्थ] 'अमुष्मात्' [अर्थात् 'अदस्' शब्दसे वाच्य] की अपेक्षासे ['एतरः' शब्द 'इण् गतौ' धातुसे बना है। इसलिए इसका अर्थ] अधिक पास आया हुआ होता है। और ['अदस्' शब्दसे बना हुआ] 'असौ' यह [अर्थात् 'इदम्' शब्दसे बने हुए] 'अस्मात्' इससे [अस्ततरः अर्थात्] दूर फेंका हुआ होता है। [इसका भाव यह हुआ कि 'इदम्' या उससे बने 'अयम्' आदि रूप समीपस्थ वस्तुको कहते हैं और 'अदस्' अथवा उससे बने 'असौ' आदि रूप उसकी अपेक्षा दूरस्थ वस्तुके लिए प्रयुक्त होते हैं। 'अदस्' शब्दसे उपमार्थमें थाल्-प्रत्यय होकर 'अमुथा' रूप बनता है, इसलिए आगे उसका अर्थ देते हैं] 'अमुथा' [का अर्थ] 'यथा असौ' उसके समान यह होता है। यह [थाल् प्रत्ययवाले पदोंकी] व्याख्या हो गयी ॥१६॥

अर्थ 'यथा असौ' उसके समान यह होगा। इस प्रसंगमें निरुक्तकार 'इमथा' तथा 'अमुथा' के मूलभूत 'इदम्' तथा 'अदस्' शब्दोंके अर्थ दिखलानेके लिए उनका निर्वचन करेंगे। इदम्, अदस्, एतद् और तत् ये चारों सर्वनाम हैं। उनके प्रयोगके विषयमें निम्नश्लोकमें नियम तथा उनका अर्थ दिया है—

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥

अर्थात् इन चारों सर्वनामोंका प्रयोग पदार्थकी दूरी या समीपता के आधार-पर किया जाता है। 'इदम्' शब्दसे बने हुए 'अयम्' आदि रूप समीपस्थ वस्तुके लिए प्रयुक्त होते हैं। किन्तु 'एतद्' शब्दसे बने हुए 'एषः' आदि रूप उससे भी अधिक समीपवर्ती पदार्थके द्योधक हैं। 'अदस्' शब्दसे बने हुए 'असौ' आदि रूप विप्रकृष्ट अर्थात् दूरवर्ती अर्थके लिए प्रयुक्त होते हैं। और 'तत्' शब्द परोक्ष अर्थका वाचक होता है। यह इन चारों सर्वनामोंका अर्थ हुआ।

[१७]

वदिति सिद्धोपमा। ब्राह्मणवद् वृषलवत्। ब्राह्मणा इव वृषला इवेति। वृषलो वृषशीलो भवति वृषाशीलो वा।

[१७]

'वत्' यह सिद्ध पदार्थोंकी उपमाका वाचक है। जैसे 'ब्राह्मणवत्' 'वृषलवत्' ब्राह्मणके समान वृषल [शूद्र] के समान [आगे वृषल शब्दका निर्वचन करते हैं] वृषल वृषभके समान [कामी तथा नीच] स्वभाववाला होता है। अथवा वृषाशील अर्थात् वृष अशील धर्मसे रहित पापी स्वभावका होता है [इसलिए उसको 'वृषल' कहते हैं]।

यहाँ निरुक्तकारको 'इमथा' और 'अमुथा' प्रयोगोंके प्रसंगमें केवल 'इदम्' तथा 'अदस्' दो सर्वनामोंसे ही प्रयोजन है, इसलिए इन्हीं दोनोंसे बने हुए 'अयम्' तथा 'असौ' पदोंका निर्वचन करते हुए उनके अर्थका भेद निम्नप्रकारसे दिखलाते हैं—'अयमेततरः' इत्यादि।

निघण्टुमें अगला ११वाँ उपमा-वाचक रूप 'तद्वत्' दिया है। यह रूप वतिसे बना है। पाणिनिने 'तत्र तस्येव' अष्टा० ५-१-११६ तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' अष्टा० ५-१-११५ इन दो सूत्रोंसे वति-प्रत्ययका विधान किया है। 'तत्र तस्येव' सूत्रसे इवार्थमें वति-प्रत्ययका विधान है। उसके होनेपर 'श्रौती' उपमा होती है और 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्रसे जहाँ वति-प्रत्यय होता है वहाँ 'आर्थी' उपमा होती है। इस प्रकारका भेद अलंकारशास्त्रके ग्रन्थोंमें किया गया है। यहाँ निरुक्तकारने इस प्रकारका भेद न करके वति-प्रत्यय द्वारा 'वदिति सिद्धोपमा' लिखकर क्रियासे भिन्न सिद्ध पदार्थोंकी उपमाका प्रतिपादन किया है। क्रियासम्बन्धी उपमाके लिए उन्होंने 'यथेति कर्मोपमा' लिखकर 'यथा' इस उपमा-वाचक शब्दका प्रयोग उचित माना है। इस 'तद्वत्' पदके द्वारा निघण्टुमें कही हुई उपमाकी व्याख्या निरुक्तकार निम्नप्रकार करते हैं—'वदिति' इत्यादि।

यहाँ 'वृषल' शब्दके दो प्रकारके निर्वचन दिखलाये हैं। इनमेंसे एकमें 'वृष-शील' से 'वृषल' पद बनाया है। उसका अर्थ 'वृषभके समान कामी' आदि स्वभाव वाला होता है। और दूसरे निर्वचनमें वृष-अशील वृष अर्थात् धर्मसे रहित स्वभाववाला यह अर्थ किया है। मनुस्मृतिमें 'वृषल' पदका निर्वचन 'वृषं धर्मम् अलं कुरुते नाशयति इति वृषलः' धर्मका नाश करनेवालेको 'वृषल' कहते हैं इस अभिप्रायका किया है। मनुका श्लोक निम्नप्रकार है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

आगे निरुक्तकार 'प्रियमेधवत्' आदि एक ऐसा मन्त्र उद्धृत करते हैं जिसमें उपमा-वाचकके रूपमें चार वार 'वत्'का प्रयोग किया गया है। इस मन्त्रसे १ 'प्रियमेधवत्', २ अत्रिवत्', ३ विरूपवत्' तथा अङ्गिरस्वत्' इन चार पदोंमें 'वत्' प्रत्यय उपमा-वाचक रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्रकी व्याख्या दो प्रकारसे हो सकती है। एक पक्षमें 'प्रियमेध', 'अत्रि' आदि शब्द रूढ़ पद हैं और वे विशेष ऋषियोंके नाम हैं। दूसरे पक्षमें ये पद किसी व्यक्तिविशेषके वाचक रूढ़ शब्द नहीं हैं अपि तु वे एक विशेष प्रकारके गुण-विशिष्ट अर्थके वाचक यौगिक शब्द हैं। यह व्याख्याभेद सैद्धान्तिक दृष्टिभेदके आधारपर होता है। जो लोग वेदोंमें अनित्य इतिहास मानते हैं वे 'प्रियमेध' आदि शब्दोंको ऋषियोंके व्यक्तिवाचक नाम मानकर मन्त्रका सीधा-सा यह अर्थ कर देते हैं कि हे महाव्रतवाले अग्ने! आपने जैसे प्रियमेध, अत्रि, विरूप तथा अंगिराः आदि ऋषियोंकी प्रार्थनाको सुना [उसपर ध्यान दिया और उसको स्वीकार किया] इसी प्रकार [प्रस्कण्व अर्थात्] कण्वके पुत्रकी [अर्थात् मेरी] प्रार्थनाको भी सुनिये।

किन्तु जो लोग वेदमें अनित्य इतिहास नहीं मानते हैं उनके मतमें प्रियमेध आदि शब्द रूढ़ नहीं अपितु यौगिक शब्द हैं। उनके मतमें मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार होगा—

पियमेधवदंत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ।।
[ऋ० १-४५-३]

हे सर्वव्यापक एवं [जगद्रक्षणके] महाव्रतको धारण करनेवाले प्रभो ! आप जिस प्रकार [प्रियमेधवत् अर्थात्] ज्ञानसाधनामें लगे हुए,[अत्रिवत् अर्थात् रागादि दोषोंके नाशकी] वैराग्यसाधनामें निरत [विरूपवत् अर्थात्] नाना प्रकारके तपोनुष्ठानोंमें तत्पर तथा [अङ्गिरस्वत् अर्थात् अग्नि-प्रधान] यज्ञादि क्रियाका अवलम्बन करनेवाले साधकोंकी प्रार्थनाको सुनते हैं इसी प्रकार [ज्ञान, वैराग्य, तपस्या तथा यागादिके मार्गका अवलम्बन न करनेपर भी लोकसेवा रूप] कर्ममें निरन्तर रहनेवाले [प्रकण्वस्य] अत्यन्त कर्मठ [जनसेवक] की प्रार्थनाको भी सुननेकी कृपा करें ।

वेदोंमें अनित्य इतिहास न माननेवाले पक्षमें मन्त्रमें आये हुए सभी शब्दोंके यौगिक अर्थ निम्नप्रकार होंगे—१ 'जातवेदः'पदका निर्वचन आगे निरुक्तकारने ही 'जाते-जाते विद्यते इति जातवेदः'यह किया है। इस निर्वचनके अनुसार प्रत्येक जात अर्थात् उत्पन्न पदार्थ तथा प्राणीमें रहनेवाले अर्थात् सर्वव्यापक परमात्माके लिए 'जातवेदाः' शब्दका प्रयोग है । २ 'महिव्रत'का अर्थ जगत्के रक्षण आदिके महान् भारको धारण करनेवाले यह होगा। ये दोनों सम्बोधन पद हैं। और उनके द्वारा सर्वव्यापक एवं जगद्रक्षक परमात्माको सम्बोधन किया गया है। 'कण्व' पदका अर्थ पहिले 'कर्मठ' कर आये हैं। अतएव 'प्रस्कण्वस्य' का अर्थ यहाँ 'अत्यन्त कर्तव्य-परायण' अत्यन्त क्रियाशील यह होगा। ३ 'प्रियमेध' शब्दका अर्थ स्पष्ट है। जिसको मेधा प्रिय है अर्थात् ज्ञानकी साधनामें लगे हुए साधक होगा। रागादि दोषोंका नाश करनेकी साधनामें लगे हुए साधकको 'अत्रि' कहा गया है। 'अदनाद् भक्षणाद्रागादीनां दोषाणामत्रिः'— इति स्कन्दस्वामी। इस प्रकारकी स्कन्दस्वामी द्वारा प्रदर्शित व्युत्पत्तिके अनुसार 'अत्रि' कहलाते हैं। विविधरूप तपोऽनुष्ठानमें निरत साधक 'वैरूप्यात् तपसो

प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधाः। यथैतेषामृषीणां एवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्।

जिसको मेधा बुद्धि प्रिय है वह 'प्रियमेध' कहलाता है। जैसे इन [प्रियमेध आदि गुणोंवाले] ऋषियोंकी [प्रार्थनाको सुनते हैं] इसी प्रकार प्रस्कण्व [अर्थात् कर्म-परायण साधक] की [प्रार्थनाको भी सुनें]। प्रस्कण्व अर्थात् कण्वके पुत्र अथवा कण्वसे उत्पन्न। जैसे 'अग्रभवं प्राग्रम्' [में अग्रसे उत्पन्नके लिए 'प्राग्रम्'का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'कण्वप्रभवः प्रस्कण्वः' कहा जाता है। इसका अर्थ कर्मठ कर्म-निरत व्यक्तिका हृदय भी हो सकता है। उस अवस्थामें 'प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्'का अर्थ 'कर्म-शील व्यक्तिके हृदयकी प्रार्थनाको सुनो' यह हो सकता है।

विरूपः'। इस स्कन्दस्वामीकी व्युत्पत्तिके अनुसार 'विरूप' कहलाते हैं। और 'अङ्गारेषु वसन्ति इति अङ्गिराः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यज्ञादिप्रधान साधक 'अङ्गिरसः' कहलाते हैं। ये मन्त्रमें आये हुए 'अत्रि' आदि शब्दोंके यौगिक अर्थ हुए। इन अर्थोंको लेकर इस मन्त्रका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार से होगा।

आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकारसे करते हैं—'प्रियमेधः' इत्यादि।

यह 'प्रियमेध' आदि पदोंको यौगिक पद मानकर अर्थ दिया। अब आगे इन पदोंको रूढ़ ऋषि-विशेष-परक मानकर अर्थ देते हैं—'प्रस्कण्वः' इत्यादि।

यह यास्कने अपना अर्थ दिया। आगे निरुक्तकारने अत्रि, भृगु, अंगिरा आदि ऋषियोंके नामोंके कुछ निर्वचन दिखलाये हैं। ये निर्वचन कुछ विचित्रसे प्रतीत होते हैं। किन्तु वे यास्कके अपने अभिमत निर्वचन नहीं हैं। किसी अन्यके किये हुए निर्वचनोंको उन्होंने यहाँ दे दिया है। उसके साथ ही दूसरे प्रकारके निर्वचन भी दिखलाये हैं। वे अधिक संमत हैं, इसलिए भाष्यके अपने अभिमत निर्वचन प्रतीत होते हैं। यास्कके उत्तरवर्ती शौनकाचार्यने भी 'बृहद्देवता'

अर्चिषि भृगुः सम्बभूव । भृगुर्भृज्यमानो न देहे । अङ्गारेष्वङ्गिरा (अङ्गारा अङ्कनाः अञ्चना) अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः ।

अर्चियोंमेंसे भृगु उत्पन्न हुए। [यह पूर्ववर्ती मत है। आगे अपना अभिमत निर्वचन देते हैं। उसके अनुसार 'भृगु' शब्द 'भ्रजी भर्जने' धातुसे बना है। आसुरी वृत्तियोंको अपने तप और संयमके द्वारा] भून देनेवाला होनेसे भृगु [कहलाता] है। [किन्तु वह भूनना] शरीरमें नहीं [मनमें समझना चाहिये]।

अङ्गारोमेंसे अंगिरा [उत्पन्न हुआ। यह पूर्ववर्ती मतके अनुसार अंगिरा नामका कारण अथवा निर्वचन है। अपना निर्वचन देनेकी दृष्टिसे] अंगार अंकन करनेवाले सुलक्षित करनेवाले होते हैं] यह 'अकि लक्षणे' धातुसे अङ्गिरा शब्दका निर्वचन दिखलाया है।

इसी [उपर्युक्त श्लोकोंमें कहे हुए यज्ञाग्नि] में [भृगु तथा अंगिराके बाद] तीसरेको भी खोजो ऐसा कहा गया] उसके बाद

ग्रन्थमें भी इसी प्रकारके निर्वचन दिये हैं। किसी अन्य आधारपर ही यास्क तथा शौनकाचार्यने इन पदोंके इस प्रकारके निर्वचन यहाँ दिखलाये हैं। बृहद्देवताके श्लोक* निम्नप्रकार हैं—

यज्ञे देवस्य वितते महतो वरुणस्य हि ।
ब्रह्मणोऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित् ॥

तत्परीक्ष्य सवर्णो न स जुहाव विभावसौ ।
ततोऽर्चिषोऽभूद् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः ॥

अत्रैवान्वेषणादत्रिः खननाद्विखनो मुनिः ।
इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा ऋषिसत्तमाः ॥

बृहद्देवता ५, ९९–१०१ ॥ ५–१४९ ॥

यह सब वर्णन पौराणिक शैलीका असंगत प्रलापमात्र है। यास्कने उनका मत दिखलानेके लिए यहाँ उनके अभिमत निर्वचन दे दिये हैं। ऊपर उद्धृत

---

* ये श्लोक स्कन्दस्वामीकी टीकामें उद्धृत हैं। बृहद्देवताके उक्त स्थलके श्लोकोंका भाव इनसे कुछ मिलता है। ये बृहद्देवताके श्लोक नहीं हैं।

तस्मादत्रिर्न त्रय इति विखननाद्वैखानसो भरणाद्भारद्वाजो विरूपो नानारूपो महिव्रतो महाव्रत इति ॥१७॥

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

जिनकी प्राप्ति हुई वे 'अत्रि' कहलाये यह पुराने मतके अनुसार 'अत्रि' पदका निर्वचन है। [आगे यास्क अपना अभिमत निर्वचन देते हैं कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक] तीन [तापों] से रहित [होनेसे] अत्रि कहलाते हैं।

[आत्मतत्त्वको] विशेषरूपसे [खनन अर्थात्] खोजनेवाले होनेसे [मुनियोंको] वैखानस [कहा जाता है]।

[वाज अर्थात् ज्ञान एवं बल आदिका] भरण [धारण] करनेवाले होनेसे भारद्वाज [कहलाते हैं]।

विरूप अर्थात् नाना रूपवाला। महिव्रत अर्थात् महाव्रतवाला।

तृतीय अध्यायका तृतीय पाद समाप्त।

किये गये 'प्रियमेधवत् , अत्रिवत्' आदि मन्त्रमेंसे केवल अत्रि तथा अंगिरा इन दो पदोंका उल्लेख इसमें आया है। उन्हींके कारण यास्कको इन श्लोकोंका स्मरण हो आया और उन्होंने निर्वचन यहाँ दे दिये हैं। किन्तु उसके साथ अपने अभिमत निर्वचन भी दे दिये हैं—वे निर्वचन इनकी अपेक्षा कहीं अधिक संगत हैं। बृहद्देवताके पूर्वोद्धृत श्लोकोंके अनुसार यह भृगु, अङ्गिरा, अत्रि आदि ऋषियोंके नाम हैं और इस शैलीसे उन ऋषियोंकी उत्पत्ति दिखलायी गयी है। वह नितान्त असंगत है। इसीलिए यास्कने उनके दूसरे निर्वचन भी दिखलाये हैं—'तस्माद्' इत्यादि।

अत्रि और अङ्गिरा दो शब्द तो पूर्व उद्धृत किये हुए 'प्रियमेधवत्' इत्यादि मन्त्रमें आये थे, इसलिए उनके निर्वचन यहाँ दिये गये। इसी मुनियोंके प्रसंगमें निरुक्तकार 'वैखानस' तथा 'भारद्वाज दो पदोंका और भी निर्वचन आगे दिखलाते हैं।

'शब्दकल्पद्रुम'में वैखानसका इसी प्रकारका निर्वचन दिया गया है। और

उसके समर्थनके लिए देवीभागवत [१-१९-१७] का निम्न श्लोक भी उद्धृत किया है।

'वैखानसा ये मुनयो मिताहारा जितव्रताः।'

आगे 'भारद्वाज' पदका निर्वचन देते हैं—'भरणाद्' इत्यादि।

अब पूर्वोक्त मन्त्रमें आये हुए विरूप तथा महाव्रत पदोंका निर्वचन देते हैं—'विरूपः' इत्यादि।

स्कन्दस्वामीने प्रियमेध आदि शब्दोंके ऐतिहासिक ऋषि परक अर्थोंके देनेके बाद वेदोंमें अनित्य इतिहास न माननेवाले पक्षमें उनके अर्थ करते हुए निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

'नित्यपक्षे तु—सततप्रवृत्तयज्ञः कश्चिद् यजमानः प्रियमेध उच्यते। तथा भृग्वादयोऽपि यजमानविशेषा एव। भृगुः पञ्चतपःप्रभृतिना तपसा भृज्यमानोऽपि न देहे। गार्हपत्योपायित्वादिना अङ्गारेषु वसतीत्यङ्गिराः। अदनाद् भक्षणात् क्षपणाद्रागादीनां दोषाणाम् अत्रिः। विविधं खननाद् वेदार्थवस्तूनां वैखानसः। वैरूप्यात् तपसो विरूपः। यथैतेषामृषीणाम्। दर्शनाद् ऋषयः। प्रस्कण्वः कण्वस्य मेधाविनः पुत्रः।

पूर्ववर्ती किन्हीं आचार्यके आधारपर ही यास्क तथा उनके उत्तरवर्ती और आचार्योंने भृगु, अङ्गिरा, अत्रि आदि पदोंके निर्वचन दिखलाये हैं। वे उन शब्दोंको किन्हीं विशेष ऋषियोंका नाम माननेपर असङ्गत प्रतीत होते हैं। स्कन्द स्वामीने उनको किसी विशेष मनुष्यका नाम न मानकर यौगिक पद माना है। इसलिए उनका मत अधिक संगत है। इसी प्रकार इन पदोंसे यज्ञाग्निके विविध रूपोंका ग्रहण माननेपर ये प्राचीन निर्वचन भी संगत हो सकते हैं। उस दशामें यज्ञाग्निका अर्चि अर्थात् ज्वालाकार प्रज्वलित रूप 'भृगु' कहा जाता है। उसके बाद ज्वालासे रहित अङ्गार रूप 'अङ्गिरा' कहलाता है और अङ्गारोंके बाद उसका और भी शान्त तृतीय रूप अत्रि कहलाता है। यह 'अर्चिषु भृगुः सम्बभूव', 'अङ्गारेषु अङ्गिराः' 'अत्रैव तृतीयमृच्छत इति अत्रि' यह अत्रिशब्दका अर्थ होगा। अग्निका वह प्रज्वलित रूप जिसमें घृतकी आहुति दी जा रही है घृतका भरण करनेवाला होनेसे 'भरद्वाज' कहा जायगा। और उस यज्ञाग्निके आधान करनेके लिए खोदा गया यज्ञ-कुण्ड विखननाद् वैखानसः कहा जायगा।

चतुर्थः पादः

[१८]

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते सिंहो व्याघ्र इति पूजायां श्वा काक इति कुत्सायाम् । काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम् ।

चतुर्थ पाद

[१८]

इसके वाद 'लुप्तोपमा' [वाले वाक्यों] को अन्य लोग अर्थोपमा-वाक्य कहते हैं। [मूलमें 'लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते' इस प्रकारका पाठ है। इसके साथ 'वाक्यानि' जोड़कर ही अर्थ करना होगा। अन्यथा स्त्रीलिंग 'लुप्तोपमा'के लिए 'लुप्तोपमानि' यह प्रयोग संगत नहीं होगा। अतः 'वाक्यानि' का अध्याहार करके ही यहाँ अर्थ किया गया है। लुप्तोपमा प्रशंसा-परक और निन्दा-परक दो रूपकी होती है इसका प्रतिपादन उदाहरण सहित आगे करते हैं। सिंह और व्याघ्र ये दोनों पूजा [अर्थात् प्रशंसा] में [प्रयुक्त होते] हैं। श्वा और काक ये दोनों निन्दामें प्रयुक्त होते हैं।]

'काक' यह [नाम] शब्दानुकरण [के आधारपर किया गया है]। [अर्थात् कौओंकी कांव-कांव ध्वनिके अनुसार उनको 'काक' कांव-कांव करनेवाला कहा जाता है। यह [अर्थात् शब्दानुकरणके आधारपर नामकरण] पक्षियों [के नामकरण] में बहुतायतसे पाया जाता है।

लुप्तोपमा

पिछले अर्थात् तृतीय पादके बीचमेंसे उपमाका निरूपण प्रारम्भ किया था। उसमें निघण्टुमें पठित उपमाओंकी व्याख्या उस पादकी समाप्ति तक की गयी थी। अब उसी प्रसंगमें कुछ 'लुप्तोपमा' दिखलाते हैं। इनका उल्लेख निघण्टु-कारने तो नहीं किया है, किन्तु निरुक्तकार स्वयं प्रसंगतः उनकी चर्चा कर रहे हैं। उपमामें १ उपमान, २ उपमेय, ३ साधारणधर्म और ४ उपमा-वाचक

२२

न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः । काकोऽपकालयितव्यो भवति । तित्तिरिस्तरणात्तिलमात्रचित्र इति वा । कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः कपिरिव जवत ईषत्पिङ्गलो वा कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति

शब्दानुकरण [के आधारपर पक्षियोका नामकरण] नहीं होता है ऐसा 'औपमन्यव' मानते हैं। [उनके मतानुसार] कौआ निकालने योग्य होता है [इसलिए 'काक' पदसे कहा जाता है। इसी प्रकार] तित्तिरि तैरता हुआ [कूदकर चलनेवाला] होनेसे [तित्तिरिः कहा जाता है] अथवा तिलके बराबर चिह्नोंवाला होनेसे [तित्तिरि कहलाता है]। कपिंजल [पक्षी] बन्दरके समान धूसरवर्ण होता है, अथवा कपि-के समान भागता है, अथवा तनिक पीला होता है, अथवा कमनीय शब्दको बोलता है [इसलिए 'कपिरिव जीर्णवाले पक्षमें कपिपूर्वक 'जॄ' धातुसे अप्-प्रत्यय करके, दूसरे कपिरिव जवतेवाले पक्षमें कपि-पूर्वक 'जॄ' धातुसे डल-प्रत्यय करके कपिञ्जल शब्द सिद्ध होता है]।

शब्द इन चारका होना आवश्यक होता है। जहाँ इन चारोंकी उपस्थिति रहती है उसको 'पूर्णोपमा' कहते हैं। किन्तु कहीं कहीं उपमामें इन चारोंमेंसे किसी एक, दो या तीनका लोप भी हो जाता है। उस अवस्थामें वह 'लुप्तोपमा' कह-लाती है। सामान्यरूपसे वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता आदि लुप्तोपमाके भेद होते हैं। काव्यप्रकाशमें लुप्तोपमाके १९ भेद दिखलाये गये हैं। निरुक्त-कारने यहाँ जो 'लुप्तोपमा' का वर्णन किया है वह उस प्रकारका विस्तृत वर्णन नहीं है। केवल संकेतमात्र है। वे इस विषयका प्रतिपादन निम्नप्रकार करते हैं—'अथ' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्तिके शौर्यादि गुणोंके कारण उसको 'नरेषु सिंह इव इति नरसिंहः' अथवा 'पुरुषेषु व्याघ्र इव इति पुरुषव्याघ्रः'। इस अर्थको लेकर 'नरसिंह' अथवा 'पुरुषव्याघ्र' आदि विशेषणोंसे विभूषित किया जाता है। ये विशेषण पूजा या प्रशंसाके व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार किसीके चापलूसी और लालच आदिके आधिक्यके कारण उसको 'श्वा' अर्थात्

वा। श्वाशुयायी शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा। सिंहः सहनाद्धिंसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य सम्पूर्वस्य वा हन्तेः संहाय हन्तीति वा। व्याघ्रो व्याघ्राणाद् व्यादाय हन्तीति वा ॥१८॥

श्वा आशुयायी [शीघ्र चलनेवाला] होता है। [इसलिए 'आशु' के पर्यायवाचक 'शु' पूर्वक 'अय' धातुसे अथवा उणादि सू० १५७ के अनुसार 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' धातुसे 'कनि' प्रत्यय करके श्वन् शब्द सिद्ध होता है।] अथवा गत्यर्थक 'शव' धातुसे ['कनिन्' प्रत्यय द्वारा 'श्वन्' शब्द] बनता है। अथवा 'श्वस' धातु से ['कनिन्' प्रत्यय द्वारा श्वन् शब्द बन सकता है।

सिंह [शब्द] 'सह' धातुसे [अन्य प्राणियोंको सहन करनेवाला] अथवा 'हिंस' धातुका विपर्यय करनेसे, अथवा 'सम्' पूर्वक 'हन' धातुसे पकड़ कर मारता हैं [इसलिए 'सिंह' कहलाता है। इस प्रकार निरुक्तकारने तीन प्रकारसे 'सिंह' शब्दके निर्वचन दिखलाये हैं।]

व्याघ्र विशेषरूपसे गन्धग्रहण करनेवाला होता है [इसलिए] अथवा [मुख, पंजे आदिको] फैला कर मारता है [इसलिए व्याघ्र कहलाता है।] ॥१८॥

'कुत्ता' या 'काक' अर्थात् कौआ आदि कहा जाता है। ये निन्दा-व्यंजक विशेषण होते हैं। इसमें उपमा-वाचक इव आदि तथा साधारणधर्म दोनोंका लोप है। इसलिए इन्हें 'लुप्तोपमा' माना है। लुप्तोपमाके प्रसंगमें आये हुए सिंह, व्याघ्र, श्वा तथा काक शब्दोंका निर्वचन भी दिखलाते हैं। ये निर्वचन उल्टी ओरसे अर्थात् सबसे बादमें पढ़े हुए 'काक' शब्दसे प्रारम्भ करते हैं— 'काकः' इत्यादि।

यह यास्कका अपना मत है, किन्तु उपमन्युके अनुयायी 'औपमन्यव' लोग शब्दानुकरणके आधारपर पक्षियोंके नामकरणके सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए वे काक शब्दके शब्दानुकरण-परक निर्वचनको भी नहीं मानते हैं और अन्य अगली पंक्तियोंमें ग्रन्थकार उन औपमन्यवके मतसे काक पदका निर्वचन करते हुए 'तित्तिरि' तथा 'कपिञ्जल' पक्षियोंके नामोंका निर्वचन भी शब्दानुकरणसे भिन्न अन्य प्रकारसे दिखलाते हैं—'न शब्दा०' इत्यादि।

[१९]

अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत् ।

[१९]

[निघण्टुमें पढ़े हुए] अगले ४४ धातु पूजार्थक हैं। [वे निम्न-प्रकार हैं]।

इस प्रकार निरुक्तकारने यहाँ 'सिंह' शब्दके तीन प्रकारके निर्वचन दिखलाये हैं। किन्तु उणादिमें 'सिञ्चेः संज्ञायां हनुमौ कश्च' [सू० ७४०] में 'षिच् क्षरणे' धातुसे सिंह पदको सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार 'व्याङि घ्रातेश्च जातौ' उणादि ७४१ सूत्रमें व्याघ्र शब्दकी सिद्धि की गयी है।

इस प्रकार निरुक्तकारने 'लुप्तोपमा' का निरूपण करते हुए उसके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत 'काक', 'श्वा', 'सिंह' और 'व्याघ्र' आदि शब्दोंके निर्वचन दिये है। यहाँ आकर उपमाका विषय समाप्त हो जाता है। उपमाका विषय इतना है कि उसके लिए यहाँ एक पूरा पाद दिया जा सकता था। किन्तु तीसरे पाद-के बीचसे इस विषयको प्रारम्भ किया गया है और चौथे पादमें केवल ४-५ पंक्तियाँ उपमाके सम्बन्धमें देकर आगे फिर अन्य विषय प्रारम्भ कर दिया गया है। यह पादकी रचनाका क्रम अच्छा नहीं बना। इस लुप्तोपमावाले भागको भी यदि तीसरे पादमें ही जोड़ दिया जाता तो विषय-विभाग अधिक अच्छा रहता। इसी प्रकार तीसरे पादका आरम्भ उपमा निरूपण से ही किया गया होता तो अच्छा होता ॥१८॥

पूजार्थक ४४ धातु

निघण्टुः—१ अर्चति, २ गायति, ३ रेभति, ४ स्तोभति, ५ गूर्धयति, ६ गृणाति, ७ जरते, ८ ह्वयते, ९ नदति, १० पृच्छति, ११ रिहति, १२ धमति, १३ कृपायति, १४ कृपण्यति, २५ पनस्यति, १६ पनायते, २७ वल्गूयति, १८ मन्दते, १९ भन्दते, २० छन्दति, २१ छन्दयते २२ शशमानः, २३ रञ्जयति, २४ रजयति, २५ शंसति, २६ स्तौति, २७ यौति, २८ रौति, २९ नौति, ३० भनति, ३१ पणायति, ३२ पणते, ३३ सपति, ३४ पपृक्षाः, ३५ महयति, ३६ वाजयति, ३७ पूजयति, ३८ मन्यते, ३९ मदति, ४० रसति, ४१ स्वरति, ४२ वेनति, ४३ मन्द्रयते, ४४ जल्पति इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥१४॥

मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः। मेधावी कस्मात्? मेधया तद्वान्भवति मेधा मतौ धीयते।

स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश। स्तोता स्तवनात्।

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश। यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं

[निघण्टुमें] अगले २४ मेधावीके वाचक नाम हैं। [वे निम्न-प्रकार हैं]।

मेधावी कैसे? [मेधावी नामसे कहा जाता है? इसका उत्तर निर्वचन द्वारा देते हैं] [अर्थात् धारणावती बुद्धि]से युक्त होनेसे [मेधावी कहलाता है] बुद्धिमें धारण कराती है इससे 'मेधा' कहलाती है।

[निघण्टुमें पठित] अगले १३ स्तोताके नाम हैं। [वे निम्न-प्रकार हैं]।

[निघण्टुमें] अगले १५ यज्ञके नाम हैं। [वे निम्नप्रकार हैं]।

मेधावी वाचक २४ नाम

निघण्टुः—१ विप्रः २ विग्रः, ३ गृत्सः, ४ धीरः, ५ वेनः, ६ वेधाः, ७ कण्वः, ८ ऋभुः, ९ नवेदाः, १० कविः, ११ मनीषी, १२ मन्धाता, १३ विधाता, १४ विपः, १५ मनश्चित्, १६ विपश्चित्, १७ विपन्यवः, १८ आकेनिपः, १९ उशिजः, २० कीस्तासः, २१ अद्धातयः, २२ मतयः, २३ मतुथाः, २४ वाघतः इति चतुर्विंशतिः मेधाविनामानि ॥१५॥

स्तोतृवाचक १३ नाम

निघण्टुः—१ रेभः, २ जरिता, ३ कारुः, ४ नदः, ५ स्तामुः, ६ कीरिः, ७ गौः, ८ सूरिः, ९ नादः, १० छन्दः, ११ स्तुप्, १२ रुद्रः, १३ कृपण्युः इति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥१६॥

यज्ञवाचक १५ शब्द

निघण्टुः—१ यज्ञः, २ वेनः ३ अध्वरः, ४ मेधः, ५ विदथः, ६ नार्यः, ७ सवनम्, ८ होत्रा, ९ इष्टिः, १० देवताता, ११ मखः, १२ विष्णुः, १३ इन्दुः, १४ प्रजापतिः, १५ घर्मः इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥१७॥

यजतिकर्मेति नैरुक्ताः । याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा ॥

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । ऋत्विक् कस्माद् ? ईरणः ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः ऋतुयाजी भवतीति वा ।

यज्ञ कैसे [बनता है] ? [इस प्रश्नका उत्तर देते हैं] नैरुक्त लोग कहते हैं कि [यज्ञ शब्द] यजनार्थमें प्रसिद्ध है [अर्थात् 'यज देवपूजा-संगतिकरणदानेषु' धातुसे 'यज-याच-यत-विच्छ-पृच्छो नङ्' [अष्टा० ३-३-९०] सूत्रसे 'नङ्' प्रत्यय होकर यज्ञशब्द बनता है]। अथवा इससे [किसी पदार्थकी] याचना की जाती है, अथवा यजुःसे [अर्थात् यजुर्वेदके मन्त्रोंसे] क्लिन्न [रसोंकी आहुतियोंके कारण होता है इसलिए 'यज्ञ' कहा जाता है] बहुतसे कृष्णमृगके चर्मके [आसनोंसे] युक्त होता है [इसलिए 'यज्ञ' कहा जाता है] यह औपमन्यव-मत है। अथवा यजुर्वेदके मन्त्र जिसका संचालन करते हैं [इसलिए यज्ञ कहलाता है]।

[निघण्टुमें] अगले ८ ऋत्विक्के नाम हैं।

'ऋत्विक्' कैसे ? [यजमानका] प्रेरणा करनेवाला होनेसे [प्रेरणार्थक 'ईर' धातुसे 'ऋत्विक्' शब्द बनाया गया है]। ऋचाओंके द्वारा यज्ञ करनेवाला होता है [इसलिए 'ऋत्विक्' कहा जाता है] ऐसा शाकपूणि कहते हैं। अथवा ऋतुओंमें यज्ञ करनेवाला होता है [इस रूपमें 'ऋत्विग्-दधृक०' इत्यादि ३-२-५९ पाणिनिसूत्रमें 'ऋत्विक्' शब्द निपातित किया गया है]।

ऋत्विक्-वाचक ८ नाम

निघण्टुः—१ भरताः, २ कुरवः, ३ वाघतः, ४ वृक्तबर्हिषः, ५ यतस्रुचः, ६ मरुतः, ७ सबाधः, ८ देवयवः इत्यष्टौ ऋत्विङ्नामानि ॥१८॥

याच्ञाकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश ।
दानकर्माण उत्तरे धातवो दश ।
अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ।
स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ।

[निघण्टुमें] अगले १७ धातु याचनार्थक हैं। [वे निम्नप्रकार हैं]।

[निघण्टुमें] अगले दस धातु दानार्थक हैं। [वे निम्नप्रकार हैं]।

[निघण्टुमें] अगले चार धातु अध्येषणाके [अर्थात् बड़ोंसे आदर-पूर्वक याचनाके] अर्थमें हैं। [वे निम्नप्रकार हैं]।

[निघण्टुमें] इसके बाद स्वपिति, सस्ति ये दो शयनार्थक धातु हैं।

याचनार्थक १७ धातु

निघण्टुः—१ ईमहे, २ यामि, ३ मन्महे, ४ दद्धि, ५ शग्धि, ६ पूर्धि, ७ मिमिड्ढि, ८ मिमीहि, ९ रिरिड्ढि, १० रिरीहि, ११ पीपरत्, १२ यन्तारः, १३ यन्धि, १४ इषुध्यति, १५ मदेमहि, १६ मनामहे, १७ मायते इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥१९॥

दानार्थक १० धातु

निघण्टुः—१ दाति, २ दाशति, ३ दासति, ४ राति, ५ रासति, ६ पृणक्षि, ७ पृणाति, ८ शिक्षति, ९ तुञ्जति, १० मंहते इति दश दानकर्माणः ॥२०॥

अध्येषणार्थक ४ धातु

निघण्टुः—१ परिस्रव, २ पवस्व, ३ अभ्यर्ष, ४ आशिषः इति चत्वारो-ऽध्येषणाकर्माणः ॥२१॥

शयनार्थक २ धातु

निघण्टुः—स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥२२॥

कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश । कूपः कस्मात्? कुपानं भवति । कुप्यतेर्वा ।

स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दशैव । स्तेनः कस्मात्? संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः ।

[निघण्टुमें] अगले १४ कूपके नाम हैं। [वे निम्नप्रकार हैं]।

कूप कैसे [कूप कहलाता है? इसका उत्तर देते हैं] कु-पान [इसका जल] कठिनाईसे पान करने योग्य होता है [नदी आदिके जलके समान आसानीसे नहीं पीया जा सकता है। कुँएसे खींचकर पीना होता है। इसलिए 'कुपान' होनेसे 'कूप' कहलाता है। अर्थात् कुपूर्वक 'पा' धातुसे 'ड' प्रत्यय अष्टा० ३-२-१०१ सूत्रसे तथा 'अन्येषामपि दृश्यते' अष्टा० ६-३-१३७ सूत्रसे दीर्घ होकर 'कूप' शब्द बनता है] अथवा क्रोधार्थक ['कुप' धातुसे 'क' प्रत्यय अष्टा० ३-१-१३५ सूत्रसे और पूर्वोक्त सूत्रसे दीर्घ करके कूप शब्द बनता है। कुएपर जल खींचनेका साधन आदि न होनेपर पिपासित व्यक्ति क्रोध करता है, इसलिए क्रोधार्थक 'कुप' धातुसे 'कूप' शब्दकी सिद्धि की गयी है]।

[निघण्टुमें] अगले १४ चोर-वाचक नाम हैं।

स्तेन क्यों [स्तेन कहलाता है? इसका उत्तर निर्वचन द्वारा देते हैं] इसके भीतर पाप इकट्ठा रहता है [इसलिए 'स्तेन' कहलाता है] ऐसा नैरुक्त मानते हैं। [अर्थात् संघातार्थक 'स्त्यै' धातुसे उणादि २-४७ या २०४ सूत्रसे 'इनच्'-प्रत्यय होकर 'स्तेन' शब्द बनता है।

कूपवाचक १४ नाम

निघण्टुः—१ कूपः, २ कातुः, ३ कर्तः, ४ वव्रः, ५ काटः, ६ खातः, ७ अवतः, ८ क्रिविः, ९ सूदः, १० उत्सः, ११ ऋश्यदात्, १२ कारोतरात्, १३ कुशयः, १४ केवटः इति चतुर्दश कूपनामानि ॥२३॥

चोरके वाचक १४ नाम

निघण्टुः—१ तृपु, २ तक्वा, ३ रिम्वा, ४ रिपुः, ५ रिक्वा, ६ रिहायाः ७ तायुः, ८ तस्करः, ९ वनर्गुः, १० हुरश्चित्, ११ मुषीवान्, १२ मलिम्लुचः, १३ अघशंसः, १४ वृकः इति चतुर्दशैव स्तेननामानि ॥२४॥

निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट् । निर्णीतं कस्मात् ? निर्णिक्तं भवति ।

दूरनामान्युत्तराणि पञ्च । दूरं कस्मात् ? द्रुतं भवति दुरयं वा ।

[निघण्टुमें] अगले ६ नाम निर्णीत तथा अन्तर्हित दोनोंके वाचक हैं ।

निर्णीत क्यों [कहा जाता है ? इसका उत्तर देते हैं] शोधा हुआ होता है । [अर्थात् 'णिजिर शौच-पोषणयोः' धातुसे 'क्त' प्रत्यय करके 'निर्णीत' पद बनता है] ।

[निघण्टुमें] अगले ५ नाम दूर-वाचक हैं । [वे निम्नप्रकार हैं] ।

दूर क्यों [दूर कहलाता है ? इसका उत्तर देते हैं] दूर भागा हुआ होता है । अथवा उसतक पहुँचना कठिन होता है । [इसलिए दूर शब्दसे कहा जाता है । अर्थात् 'दूर' उपपद रहते 'इण् गतौ' धातुसे 'दुरीणो लोपश्च' उणादि २-२० या १७७ सूत्रसे 'रक्'-प्रत्यय और धातुका लोप होकर 'दूर' शब्द बनता है ।

निर्णीतार्थक ६ नाम

निघण्टुः—१ निण्यम्, २ सस्वः, ४ सनुतः, ४ हिरुक्, ५ प्रतीच्यम्, ६ अपीच्यम् इति षट् निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥२५॥

दूरवाचक ५ नाम

निघण्टुः—१ आके, २ पराके, ३ पराचैः, ४ आरे, ५ परावतः इति पञ्च दूरनामानि ॥२६॥

पुराणनामान्युत्तराणि षट्। पुराणं कस्मात्? पुरा नवं भवति। नवनामान्युत्तराणि षडेव। नवं कस्मादानीतं भवति ॥१९॥

[२०]

द्विश उत्तराणि नामानि षड्विंशतिः। प्रपित्वे अभीके इत्यासन्नस्य प्रपित्वे प्राप्ते अभीकेऽभ्यक्ते।

[निघण्टुमें] अगले ६ पुरानेके वाचक नाम हैं।

पुराण [नाम किसलिए रखा गया है? इसका उत्तर देते हैं] पहिले कभी नया रहा था। [अब नया नहीं रहा, इसलिए 'पुराण' पुराना कहलाता है]।

[निघण्टुमें] अगले ६ नाम नवीन अर्थके वाचक हैं। [वे निम्न-प्रकार हैं]।

नव [नाम] किसलिए है? अभी लाया हुआ होता है ॥१९॥

[२०]

[निघण्टुमें] अगले [२६ नाम दो-दो मिलाकर एक अर्थके वाचक हैं। [वे निम्नप्रकार हैं]।

१ [इन २६ नामोंमेंसे] १ प्रपित्वे और २ अभीके ये दोनों समीप-स्थके वाचक नाम है। 'प्रपित्वे' अर्थात् 'प्राप्ते'। 'अभीके' अर्थात् 'अभ्यक्ते' ['अभि' पूर्वक गत्यर्थक 'अञ्चु' धातुसे 'अभ्यक्ते' पद बनता है। इसलिए अभिमुख आया हुआ या समीपस्थ उसका अर्थ होता है।

पुराणवाचक ६ नाम

निघण्टुः—१ प्रत्नम्, २ प्रदिवः, ३ प्रवयाः, ४ सनेमि, ४ पूर्व्यम्, ६ अह्नाय इति षट् पुराणनामानि ॥२७॥

नवीनवाचक ६ नाम

निघण्टुः—१ नवम्, २ नूत्नम्, ३ नूतनम्, ४ नव्यम्, ५ इदा, ६ इदानीम् इति षडेव नवनामानि ॥२८॥

आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि ॥ [ऋ० ८-४-३]
अभीके चिदु लोककृत्। [ऋ० १०-१३३-१] इत्यपि निगमौ भवतः।

[हे जीवात्मन्! भगवान्के साथ 'नः आपित्वे प्रपित्वे'] हमारे [अर्थात् अपने] बन्धुभावको [प्रपित्वे प्राप्त करके अर्थात्] समझकर [तूयमागहि] शीघ्र ही उनको ग्रहण करो [अर्थात् भगवान्की शरणमें जाओ]।

समीपमें आनेपर भी कल्याणकारी है।

दो-दो नाम

निघण्टुः—१ प्रपित्वे, २ अभीके, ३ दभ्रम्, ४ अर्भकम्, ५ तिरः, ६ सतः, ७ त्वः, ८ नेमः, ९ ऋक्षाः, १० स्तृभिः, ११ वम्रीभिः, १२ उपजिह्विका, १३ ऊर्दरम्, १४ कृदरम्, १५ रम्भः, १६ पिनाकम्, १७ मेना, १८ ग्नाः, १९ शेपः, २० वैतसः, २१ अया, २२ एना, २३ सिषक्तु, २४ सचते, २५ भ्यसते, २६ रेजते इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणि नामानि ॥२९॥

'प्रपित्वे' पद ऋग्वेदमें निम्न मन्त्रोंमें आया है—

१-१०४-१, १-१३०-९, १-१८९-७। ४-१६-१२। ६-३१-३। ७-४१-४। ८-१-२९ तथा ८-४-३।

'आपित्वे' तथा 'प्रपित्वे' इन दोनों शब्दोंका प्रयोग निम्नमन्त्रमें हुआ है—

यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥ [ऋ० ८-४-३]

इसमें 'आपि'का अर्थ बन्धु होता है। 'आप्यते इति आपिः' यह उसका निर्वचन है। 'आपित्व'का अर्थ 'बन्धुत्व' हुआ। 'आपित्वे प्रपित्वे' अर्थात् 'बन्धुत्व बन्धुभावके प्राप्त हो जानेपर जैसे 'तृष्यन् गौरः' अर्थात् 'प्यासा मृग' 'अवेरिणम्' अर्थात् 'मरुप्रदेश'—जलशून्य—प्रदेशको छोड़कर 'अपाकृतम्' अर्थात् जलसे—रससे भरे हुए प्रदेशको प्राप्त होता है, चला जाता है इसी प्रकार हे जीवात्मन्! तुम भगवान्के साथ बन्धुत्वको प्राप्त करके 'तूयम् आगहि' शीघ्र ही उनका ग्रहण करो। यह मन्त्रका भाव है। प्रकृतमें उदाहरणभूत मन्त्रभागका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है।

दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य। दभ्रं दभ्नोतेः सुदम्भं भवति। अर्भकमवहृतं भवति।

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ॥

[ऋ० १-१२६-७]

'दभ्रम्' तथा 'अर्भकम्' ये दोनों अल्प अर्थके वाचक नाम हैं। दभ्रम् [यह पद 'दम्भु दम्भने' धातुसे [उणादि २-२२ या १७० सूत्रसे 'रक्' प्रत्यय करके] बनता है। उसका अर्थ सरलतासे दबाने योग्य होता है। 'अर्भकम्' अवहरण करने योग्य [अर्थात् सरलतासे उठा ले जाने योग्य] होता है।

[आप] अधिकाधिक समीपवर्ती होकर [अर्थात् अत्यन्त दृढ़तासे] मेरा आलिंगन करें। मेरे सम्भोग्य अंगोंको [दभ्राणि मा मन्यथाः] छोटा [अविकसित] न समझें।

'अभीके' पद ऋग्वेदके निम्नमन्त्रोंमें आया है—

१-७१-८, ११६-१४, ११८-५, ११९-८, १२१-१४, १७४-५, १८५-१०। ३-३९-७, ५६-४। ४-१२-५, १६-१२; २४-४, २८-३, ४३-४। ६-२४-१०, ५०-१०। ७-१८-२४, ८५-१। १०-२८-४, ५५-१, ६१-६ तथा १३३-१।

दूसरे 'अभीके' शब्दका प्रयोग निम्नमन्त्रमें पाया जाता है—

प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधिधन्वसु ॥

[ऋ० १०-१३३-१] 'अस्मै इन्द्राय' इस राजाके लिए 'पुरोरथं शूषम्' आगे-आगे रथ लेकर चलनेवाले बल अर्थात् सैन्यको 'प्र उ सु अर्चत' भली प्रकारसे सत्कृत करो। वह राजा 'समत्सु' अर्थात् युद्धोंमें 'अभीके चिदु संगे' समीपसे मुकाबला होनेपर भी 'लोककृत्' कल्याण करनेवाला है। 'अस्माकं चोदिता वृत्रहा बोधि' हमारा [प्रेरक अर्थात्] नायक [राजा वृत्रहा अर्थात्] शत्रुओंका नाश करनेवाला है यह समझो, इसलिए 'अधिधन्वसु' धनुषोंके ऊपरसे 'अन्यकेषां ज्याकाः नभन्ताम्' दूसरोंकी प्रत्यंचाएँ हमारे सामने झुक जानी चाहिये। यह मन्त्रका भाव है। प्रकृत उदाहरणभूत मन्त्रभागका अर्थ निम्नप्रकार है।

नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यः॑ ॥ [ऋ० १-२७-१३]

इत्यपि निगमौ भवतः ॥ तिरः सत इति प्राप्तस्य । तिरस्तीर्णं भवति सतः संसृतं भवति ।

बड़ोंको और छोटोंको सबको हमारा नमस्कार है [हम सबका आदर करते हैं]।

३—तिरः और सतः ये दोनों प्राप्त अर्थके वाचक हैं। तैर कर पार करके आया हुआ समीपस्थ होनेसे तिरः [प्राप्तार्थक होता है] और [पासमें] संसृत होनेसे सतः [प्राप्त अर्थका वाचक] है।

---

२ दभ्रम् तथा अर्भकम्

'प्रपित्वे' तथा 'अभीके' पदोंके समीपार्थमें प्रयोगके उदाहरण दिखला दिये। अब स्वल्पार्थ-वाचक 'दभ्रम्' तथा 'अर्भकम्'के उदाहरण देते हैं।

'अर्भक' पदके विभिन्न रूप ऋग्वेदके निम्न मन्त्रोंमें आये हैं—

अर्भकः ८-३०-१।८-६९-१५। अर्भकम् १-११४-७। अर्भकासः ९-६३-६। अर्भके ४-३२-२३। अर्भकेभ्यः १-२७-१३।

'दभ्र' पदका विभिन्न रूपोंमें प्रयोग ऋग्वेदके निम्न मन्त्रोंमें पाया जाता है—दभ्रम् १-११३-५। ४-३२-२०। ७-१०४-१०। ८-४५-३२। दभ्रस्य १-८१-२। दभ्रा ४-२५-५। दभ्राणि १-१२६-७। दभ्रेभिः १-३१-६। ४-३३-३। ७-८२-६। १०-३८-४।

निरुक्तकारने 'अर्भकम्' शब्दका यह निर्वचन 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातुसे दिखलाया है। उणादिमें 'अर्भक-पृथुक-पाका वयसि' ५-५३ या ७३१ सूत्रमें 'ऋधु वृद्धौ' धातुसे 'वुन्' प्रत्यय और धकारको भकार करके बनाया गया है। इन दोनों शब्दोंके प्रयोग आगे दिखलाते हैं। इनमेंसे 'दभ्रम्' का प्रयोग निम्न मन्त्रमें आया है—

उपो॑प मे॒ परा॑मृश॒ मा मे॑ द॒भ्राणि॑ मन्यथाः ।
सर्वा॒हम॑स्मि रोम॒शा ग॒न्धारी॑णामिवावि॒का ॥ [ऋ० १-१२६-७]

यह पतिके प्रति पत्नीकी उक्ति है। पति-संगमके लिए उत्सुक पत्नी पतिको दृढ आलिंगन और यथेष्ट सम्भोगके लिए प्रेरित करती हुई कह रही है—

['सर्वाहमस्मि रोमशा'] मेरे सारे स्थानोंपर [जहाँ-जहाँ बाल आने चाहिये थे] बाल आ गये हैं। इन बालोंके लिए उपमा देते हैं 'गन्धारीणामिवाविका' गन्धारी अर्थात् गर्भधारण करनेवाली स्त्रियोंके 'अविका इव' उपस्थके समान। जैसे अन्य गर्भधारण करने योग्य स्त्रियोंके उपस्थ-स्थानपर बाल आ जाते हैं इसी प्रकार मेरे भी सब स्थानोंपर बाल आ गये हैं 'सर्वाहमस्मि रोमशा'। 'गन्धारीणामिवाविका' का अर्थ करते हुए स्कन्दस्वामीने लिखा है—

'पुंसः सकाशात् स्त्रियाऽभिगम्यमानत्वात् गम् इति गर्भ उच्यते। गं धारयतीति गन्धारी गर्भिणी स्त्री। अविका इत्यवतेः प्रीत्यर्थस्य। प्रीतिकरत्वादुपस्थ उच्यते। यथा गर्भिणीनामुपस्थो रोमशस्तद्वदित्यर्थः।'

'अर्भकम्' पदका अल्पार्थमें प्रयोग निम्न मन्त्रमें पाया जाता है—

नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यो॒ नमो॒ युव॑भ्यो॒ नम॑ आशि॒नेभ्यः॑ ।
यजा॑म दे॒वान् यदि॑ श॒क्नवा॑म॒ मा ज्याय॑सः शंस॒ मा वृ॑क्षि देवाः ॥
[ऋ० १-२७-१३]

मन्त्रका अर्थ सीधा है। बड़ोंको, छोटोंको, युवकोंको और [आशिनेभ्यः अर्थात्] वृद्धोंको सबको नमस्कार हो। यदि सामर्थ्य हो तो हम सारे विद्वज्जनोंकी सेवा करें। [ज्यायसः देवाः] हे पूज्य विद्वज्जनो! [हमको आशीर्वाद दीजिये कि हम इस दूसरोंके आदर करने रूप 'शंसं मा आवृक्षि' उत्तम कर्मको कभी न भूलें। उदाहरणभूत प्रकृत मन्त्रभागका अर्थ ऊपर दिया गया है।

३ तिरः सतः

'तिरः' पदका प्रयोग निम्नमन्त्रमें पाया जाता है—

अश्वि॑ना॒वेह गच्छ॑तं॒ नास॑त्या॒ मा विवे॑नतम् ।
ति॒रश्चि॑दर्य॒या परि॑ व॒र्तिर्या॑तमदाभ्या॒ माध्वी॒ मम॑ श्रुतं॒ हव॑म् ॥ [ऋ० ५-७५-७]

ति॒रश्चि॑दर्य॒या परि॑ व॒र्तिर्या॑तमदाभ्या ॥ [ऋ० ५-७५-७]
पात्रे॑व भि॒न्दन्त्स॒त ए॑ति र॒क्षसः॑ ॥ [ऋ० ७-१०४-२१]
इत्यपि निगमौ भवतः ।

'तिरश्चित्' प्राप्त होनेवाली 'अर्यया' उत्तम क्रियाके द्वारा ही 'वर्तिः यातम्' जीवनवृत्तिका यापन करो। 'अदाभ्या' हे अदमनीय स्त्री-पुरुषो !

[मार्गमें आनेवाले मिट्टीके] पात्रोंके समान [अनायास] मिलनेवाले राक्षसोंका नाश करते हुए 'अभ्येति' सामने जाते हैं।

'हे नासत्यौ अश्विनौ' हे सत्य-व्यवहार करनेवाले स्त्री-पुरुषो! 'इह आगच्छतम्' इस गृहस्थ जीवनमें या संसारमें प्रवेश करो। 'मा विवेनतम्' घबड़ाओ नहीं। किन्तु इस बातका ध्यान रखो कि 'तिरः चित्' प्राप्त होनेवाली 'अर्यया' उत्तम क्रिया—उत्तम जीवन-पद्धतिसे ही 'वर्तिः यातम्' जीवन वृत्तिका यापन करो। ऐसा करनेपर तुम 'अदाभ्या' कभी दुःख नहीं पाओगे, किसीके द्वारा दबाये नहीं जाओगे 'माध्वी मम हवम् ऋतम्' हे मधुर स्वभाववाले ! आप दोनों मेरी बातको सुन लो। यह मन्त्रका अभिप्राय है। उदाहरणभूत प्रकृत मन्त्र भाग का अर्थ निम्नप्रकार है—'तिरश्चित्' इत्यादि।

तिरःपद ऋग्वेदमें निम्न स्थानोंपर आया है—

१–१९–७, १–१९–८, १–४१–३, १–४६–६, १–५६–५, १–६१–७, १–१३५–६। ३–२७–१३, ३–४०–३, ३–५८–५। ४–३८–४। ५–२९–१, ५–५३–१४, ५–७४–८, ५–७५–२, ५–७५–७। ६–१०–४, ६–४८–६, ६–५१–१०, ६–६५–१। ७–९–२, ७–३३–२, ७–५०–१, ७–५९–८, ७–६०–६, ७–६०–१२, ७–६८–२, ७–६८–३। ८–१–१५, ८–३३–१४, ८–५१–९, ८–६६–१२, ८–७४–५, ८–८२–९, ८–९४–७। ९–३–७, ९–३–८, ९–६२–१, ९–६२–८, ९–६७–४, ९–६७–७, ९–६८–२, ९–७२–३, ९–७७–२, ९–७९–२, ९–९७–११, ९–९७–४७, ९–१०७–१०, ९–१०७–११, ९–१०९–१६, ९–१०९–१९। १०–१०–१, १०–८९–१६, १०–९२–५, १०–१२६–६, १०–१७१–४, १०–१८२–१, १०–१८७–२।

त्वो नेम इत्यर्धस्य । त्वोऽपततो नेमोऽपनीतः । अर्धो हरतेर्विपरीताद्धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवति । ऋध्नोतेर्वा स्याद् । ऋद्धतमो विभागः ।

---

४ 'त्व' और 'नेम' ये दोनों आधेके वाचक हैं । 'त्व' [पूरेमेंसे] अलग किया हुआ [अपततः] होता है [इसलिए अर्धका वाचक है] और 'नेम' [पूरेमेंसे] अपनीत निकाला हुआ होता है [इसलिए अर्धका वाचक होता है । प्रसंगतः 'अर्ध शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं] अर्ध 'हृ' धातुसे बनता है, क्योंकि [पूरेमेंसे] उद्धृत निकाला हुआ होता है । अथवा वृद्ध्यर्थक 'ऋध' धातुसे बनता है, क्योंकि [अर्धभाग चौथाई आदि भागोंकी अपेक्षा] सबसे बड़ा भाग होता है ।

आगे प्राप्त अर्थमें प्रयुक्त 'सतः' पदके प्रयोगका उदाहरण देते हैं । यह मन्त्र भी यहाँ आधा ही उद्धत किया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

इन्द्रो॑ यातू॒नाम॑भवत् पराश॒रो ह॑वि॒र्मथी॑नाम॒भ्या॒३॑विवा॑सताम् ।

अ॒भीदु॑ श॒क्रः प॑र॒शुर्यथा॑ वनं॒ पात्रे॑व भि॒न्दन्त्स॒त ए॑ति र॒क्षसः॑ ॥

[ऋ० ७-१०४-२१]

मन्त्रका देवता इन्द्र है । 'हविर्मथीनाम्' हविको नष्ट करनेवाले और 'अभ्याविवासताम्' यज्ञका विध्वंस करनेवाले 'यातूनाम्' दुष्टजनोंके लिए 'इन्द्रः पराशरः अभवत्' इन्द्र नाश करनेवाले हैं । 'शक्रः' और वह इन्द्र 'परशुर्यथा वनम्' जैसे परशुधारी वनको काटता है इस प्रकार अथवा मार्गमें आनेवाले मिट्टीके पात्रोंके समान अनायास मिलनेवाले राक्षसोंका नाश करते हुए आते हैं ।

'सतः' पदका प्रयोग ऋग्वेदके निम्नमन्त्रोंमें पाया जाता है—

१–३६–२, १–९६–७ । ४–६–६ । ७–३२–२४, ७–८७–६, ७–१०४–२१ । ८–२३–२६, ८–१०१–११ । ९–१९–७, ९–२१–७, ९–३१–६, ९–८६–५, ९–८६–६ । १०–२७–४, १०–५३–१० तथा १०–१२९–४ ।

४ त्व और नेम

इनमेंसे 'त्व' पदके अर्थमें प्रयोगका उदाहरण देनेके लिए जिस मन्त्रका टुकड़ा यहाँ उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

पीयंति त्वो अनुं त्वो गृणाति ॥ [ऋ० १-१४७-२]

नेमे देवा नेमेऽसुराः । [मैत्रा० सं० १-११-९]

[इस संसारमें, 'पीयति त्वः' अर्थात्] आधे लोग आपकी [पीयति अर्थात् हिंसा] निन्दा करते हैं और [त्वः अनुगृणाति] आधे लोग आपकी स्तुति करते हैं।

[संसारमें अथवा प्रजापतिकी सन्तानोंमें] आधे देवता हैं [जो आस्तिक हैं। और जो नास्तिक हैं वे] आधे असुर हैं। ये भी निगम [में त्वः तथा नेम पदोंके प्रयोगके उदाहरण पाये जाते] हैं।

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयंति त्वो अनुं त्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने ॥
[ऋ० १-१४७-२]

हे चिरनूतन [यविष्ठ 'युवतम अर्थात् सदैव युवा रहनेवाले और 'स्वधावः' अर्थात्] अन्नप्रद अग्ने! [मंहिष्ठस्य] अपने सर्वोत्तम तथा [प्रभृतस्य भक्त्यादि गुणोंसे] परिपूर्ण मेरी [अर्थात् अपने भक्तकी, अस्य वचसः बोधा] इस बातको भली प्रकार समझ लें कि [इस संसारमें, 'पीयति त्वः' अर्थात्] आधे लोग आपकी [पीयति अर्थात् हिंसा] निन्दा करते हैं और [त्वः अनुगृणाति] आधे लोग आपकी स्तुति करते हैं। किन्तु मैं आपका [वन्दारु अर्थात् सदाका] भक्त हूँ, इसलिए मैं सदैव आपके [तन्वं वन्दे] स्वरूपकी वन्दना ही करता हूँ। यह सारे मन्त्रका अभिप्राय है। यहाँ उदाहरणरूपमें प्रस्तुत मन्त्र-भाग का अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है।

आगे अर्धके अर्थमें प्रयुक्त 'नेमे' पदके प्रयोगका उदाहरण देते हैं। निरुक्तकारने यह उदाहरण ऋग्वेदसे न देकर मैत्रायणीसंहितासे दिया है। ऋग्वेदमें तीन स्थानों पर 'नेमे' पदका प्रयोग हुआ है: वे स्थान निम्न प्रकार हैं। १-५४-८। ४-२४-४। तथा ४-२४-५। प्रस्तुत उदाहरणका अर्थ सीधा-सा ऊपर दिया गया है—'संसारमें' इत्यादि।

इत्यपि निगमौ भवतः। ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम्। नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणो नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम्। ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते। स्तृभिः स्तीर्णानीव ख्यायन्ते।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा ॥ [ऋ० १-२४-१०]

५—'ऋक्षाः' और 'स्तृभिः' ये दोनों नक्षत्रोंके वाचक हैं: नक्षत्र शब्द गत्यर्थक 'नक्ष' धातुसे बनता है। ये [चमकनेवाले नक्षत्र] 'क्षत्र' अर्थात् स्वर्ण [या धनरूप] नहीं हैं [इसलिए नक्षत्र कहलाते हैं 'यह ब्राह्मणने [नक्षत्र पदका निर्वचन किया] है। 'ऋक्षाः' अर्थात् नक्षत्र [किसीके द्वारा आकाशमें] ऊपर ले जाये गये हुएसे प्रतीत होते हैं [ख्यायन्ते इसलिए नक्षत्र कहलाते हैं]। [आकाशमें] फैले हुएसे मालूम होते हैं इसलिए 'स्तृभिः' कहलाते हैं।

रात्रिमें ये जो नक्षत्र आकाशमें ऊपर [निहितासः अर्थात्] चमकते हुए दिखलाई देते हैं वे दिनमें न जाने कहाँ चले जाते हैं। किन्तु भगवान्का नियम बड़ा अटल है कि जिसके कारण रातको चमकता हुआ चन्द्रमा फिर आकाशमें आ जाता है।

---

५ ऋक्षाः और स्तृभिः

'ऋक्षाः' पदका वेदमें प्रयोग दिखलानेके लिए जो आधा मन्त्र यहाँ उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुहचिद् दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥

[ऋ० १-२४-१०]

आगे 'स्तृभिः' पदके प्रयोगको दिखलानेके लिए जो आधा मन्त्र दिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ॥ [ऋ० ४-७-३]

पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः ॥ [ऋ० ४-७-३] इत्यपि निगमौ भवतः। वम्रीभिरुपजिह्विका इति सीमिकानां वम्रयो वमनात्सीमिका स्यमनादुपजिह्विका उपजिघ्यः।

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् ॥ [ऋ० ४-१९-९]

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति ॥ [ऋ० ८-१०२-२१]

जिस प्रकार आकाश नक्षत्रोंसे व्याप्त रहता है इस प्रकार घर-घरमें सारे यज्ञोंको स्वरूप प्रदान करनेवाले विशेपरूपसे प्रकाशमान [ऋतावानं अर्थात्] यज्ञाग्निको देखकर [हम अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और उसकी स्तुति करते हैं]।

६–'वम्रीभिः' और 'उपजिह्विका' ये दोनों दीमक [या चींटियों] के नाम हैं। वमन करने [और उससे मिट्टी गीली करके घर बनाने] से [दीमकोंको 'वम्री' कहा जाता है]। तीव्र गतिवाली होनेसे 'सीमिका' [कहलाती] हैं। और तीव्र घ्राणशक्तिके कारण 'सबको चाट जाने वाली होनेसे 'उपजिह्विका' कहलाती] हैं।

जिस [काष्ठ] को दीमक खा सकती है और जिस [घृत, मिष्टान्न आदि] को चींटी खा सकती है वह सब हे अग्ने! आपका [घृत अर्थात्] पोषक है।

---

६ वम्री और उपजिह्विका

'वम्री' तथा 'उपजिह्विका' दोनों शब्दोंका प्रयोग एक ही मन्त्रमें मिल जाता है। उसीको ग्रन्थकारने यहाँ उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। पूरा मन्त्र निम्न-प्रकार है—

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥ [ऋ० ८-१०२-२१]

इत्यपि निगमौ भवतः। ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्योर्दरमुदीर्णं भवत्यूर्जे दीर्णं वा।

तमूर्द॑रं॒ न पृ॑णता यवे॒न ॥ [ऋ० २-१४-११] इत्यपि निगमो भवति। तमूर्दरमिव पूरयति यवेन। कृदरं कृतदरं

यह भी निगम [अर्थात् वेदमें 'त्रमी' तथा 'उपजिह्विका' पदोंका प्रयोग पाया जाता] है।

७ 'ऊर्दरम्' तथा 'कृदरम्' ये दोनों [आवपन अर्थात्] अन्न रखनेकी कोठी अथवा खत्तीके नाम हैं। ऊपरको खुली हुई या उठी हुई होनेसे अथवा अन्नके लिए खुली हुई होनेसे 'ऊर्दर' कही जाती है और [अन्न भरनेके लिए] छेद किया हुआ होनेसे [आवपन अर्थात् खत्ती या कोठीको] 'कृदरम्' कहा जाता है।

उसको सोम-रसोंसे इस प्रकार परिपूर्ण [परितृप्त] करो जैसे कुठिलाको यवसे भरते हो। ['तद् अपः वः अस्तु' अन्य सब कुछ छोड़ कर] यही तुम्हारा [अपः अर्थात्] प्रधान कर्म होना चाहिये।

हे जातवेद् अग्ने! आप प्रदीप्त होकर [मतीनां कृदरं] बुद्धिके निधान और [मधुमत्] मधुर [घृतं पिन्वमानः] घृतका पान करके [वाजी] शक्तिशाली और भी अधिक प्रज्वलित होकर [वाजिनं वहन्]

---

७ ऊर्दरं तथा कृदरम्

'ऊर्दरम्' पदका प्रयोग दिखलानेवाला जो उदाहरण दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अध्व॑र्यवो॒ यो दि॒व्यस्य॒ वस्वो॒ यः पार्थि॑वस्य॒ क्षम्य॑स्य॒ राजा॑।

तमूर्द॑रं॒ न पृ॑णता॒ यवे॒नेन्द्रं॒ सोमे॑भि॒स्तदपो॑ वो अस्तु॥ [ऋ०२।१४।११]

हे अध्वर्युगण! जो [अग्नि] द्युलोकमें रहनेवाले [पृथिवीति अन्तरिक्षनामसु पठितम्] जो अन्तरिक्ष लोकमें रहनेवाले और जो [क्षम्यस्य क्षमा अर्थात्] पृथिवी लोकमें होनेवाले धनका स्वामी है। [शेष भागका अर्थ ऊपर किया हुआ है]।

भवति । समि॑द्धो अ॒ञ्जन् कृद॑रं मती॒नाम् ॥ [मै० सं० ३-१६-२, तै० सं० ५-१-११ तथा शु० य० २९-१] इत्यपि निगमो भवति ॥२०॥

[२१]

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य । रम्भ आरभन्त एनम् ।
आ त्वा॑ र॒म्भं न जिव्र॑यो ररम्भा ॥ [ऋ० ८-४५-२०]

संसारको शक्ति प्रदान करनेवाले हविष्यको धारण करते हुए [देवानां प्रिय] देवताओंके प्रिय [उस हविष्यको, सधस्थम् आ वक्षि] देवताओंके स्थान अन्तरिक्षको ले जाते हो ।

यह भी [कृदर शब्दके प्रयोगको दिखलानेवाला] निगम पाया जाता है ॥२०॥

[२१]

(८) 'रम्भः' और 'पिनाकम्' ये दोनों दण्डके वाचक हैं । इसको [सहारेके लिए ग्रहण करते हैं [आलम्भनार्थक 'रभ' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय करके और नुम् करके 'रम्भः' शब्द सिद्ध होता है] ।

हे शवसस्पते ! अर्थात् बलके स्वामिन् । [जिव्रयो रम्भं न] जिस प्रकार जीर्ण वृद्ध पुरुष दण्डका सहारा लेते हैं इसी प्रकार हम आपका आश्रय लेते हैं । और [सधस्थे] प्रत्येक स्थानपर जहाँ हम रहें [त्वा आ ररमसि] आप सदा हमारे साथ रहें [अर्थात् हमको हर समय आपका ध्यान बना रहे] ऐसा हम चाहते हैं ।

---

८. रम्भः और पिनाकम्

'कृदरम्'के प्रयोगवाला पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

समि॑द्धो अ॒ञ्जन् कृद॑रं मती॒नां घृ॒तम॑ग्ने॒ मधु॑म॒त् पिन्व॑मानः ।
वा॒जी वह॑न् वा॒जिनं॑ जातवेदो दे॒वानां॑ वक्षि प्रि॒यमा स॒धस्थ॑म् ॥
[शु० यजुः सं० २९-१]

इत्यपि निगमो भवत्यारभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् । पिनाकं प्रतिपिनष्ट्यनेन ।

कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा ॥ [काठकसं० ९-८]

इत्यपि निगमो भवति ।

जिसके द्वारा [शत्रुओं अथवा दुष्टोंको प्रतिपिनष्टि] मारते हैं इसलिए 'पिनाक' कहलाता है [अर्थात् हिंसार्थक 'पिष्ल' धातुसे पिनाक शब्द बनता है । इसका प्रयोग जिसमें किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है] ।

[अवततधन्वा अर्थात्] धनुषकी प्रत्यञ्चाको उतार कर [कृत्तिवासा] पार्वत्य प्रदेशके शैत्याधिक्यसे बचनेके लिए] चर्मवस्त्रोंको धारण करके, दण्ड हाथमें ग्रहण किये हुए [मुञ्जवतः परो अतीहि] इस पर्वतीय-प्रदेशमें आगे बढ़ जाइये ।

'रम्भः' का प्रयोग जिसमें किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

आ त्वा र॒म्भं जिव्रयो र॒रम्भा शवसस्पते ।
उ॒श्मसि त्वा स॒धस्थ॒ आ ॥ [ऋ० ८-४५-२०]

यास्कने यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेदसे उद्धृत किया है । शुक्लयजुर्वेदमें भी यह मन्त्र पाया जाता है, किन्तु उसमें 'पिनाकहस्तः'के स्थानपर 'पिनाकावसः' पाठ है । और भी कुछ पाठान्तरके साथ शुक्लयजुर्वेदमें यह मन्त्र निम्नरूपमें पाया जाता है—

ए॒तत्ते॑ रुद्राऽव॒सं तेन॒ प॒रो मूज॑व॒तोऽती॑हि ।
अव॑ततधन्वा॒ पिना॑कावसः॒ कृत्ति॑वासा॒ अहि॑सन्नः शि॒वोऽती॑हि ॥
[शु० यजुः ३–६१]

हे [रुद्र] अर्थात् दुष्टोंको दण्ड देकर रुदन करानेवाले राजन् ! [एष ते भागः] यह आपका [ग्राह्य कर आदि रूप] भाग है [तं जुषस्व) इसको प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कीजिये और [तेन अवसेन] अपने इस भोग्य भागको लेकर [मन्त्रका शेष अर्थ ऊपर मूलार्थमें दिया गया है] ।

ऋग्वेदमें 'पिनाक' शब्दका प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है ।

मेना ग्ना इति स्त्रीणां स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणो मेना मानयन्त्येना ग्ना गच्छन्त्येनाः ।

अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ ॥ [ऋ० ५-३१-२]

---

१. 'मेना' और 'ग्ना' ये दोनों स्त्रियोंके वाचक नाम हैं। स्त्री शब्द लज्जा अर्थवाले 'स्त्यै' धातुसे ['स्त्यायतेर्ड्रट्' उणादि ४-:६६ या ६०६ सूत्रसे 'ड्रट्' प्रत्यय करके] बनता है। इनका आदर किया जाता है, इसलिए 'मेना' [यह शब्द पूजार्थक 'मान' धातुसे 'इनच्' प्रत्यय द्वारा बनता है] इनके पास [सम्भोगार्थ] जाते हैं, इसलिए 'ग्ना' [यह स्त्रियोंका वाचक] है।

[अमेनान्] स्त्रीरहित [अर्थात् जिनका धनाभाव आदिके कारण विवाह न हो सके उन निर्धन] जनोंका [जनिवतश्चकर्थ] पत्नियोंसे युक्त कराओ [अर्थात् उनके विवाहादिकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे करानेका यत्न करो]।

---

१ मेना तथा ग्ना पद

स्त्रियोंका मान और पूजा करनी चाहिये इस विषयमें मनुका आदेश निम्नप्रकार पाया जाता है—

'पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमभीप्सुभिः ॥' [मनुस्मृतिः ३—५५]

'मेना' शब्दका प्रयोग जिसमें किया गया है वह मन्त्र निम्नप्रकार है—

आप्रद्रव हरिवो मा विवेनः पिशङ्गराते अभि नः सचस्व ।
नहि त्वदिन्द्र वस्यो अन्यदस्त्यमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ ॥ [ऋ० ५।३१-२]

मन्त्रका देवता इन्द्र है। [हरिवः] हे उत्तम अश्वादिसे युक्त! तथा स्वर्ण आदिका दान करनेवाले [पिशङ्गराते] राजन्! [आप्रद्रव] सदा उत्तम व्यवहार करो [नः अभि सचस्व] हम प्रजाजनोंको सदा सुख पहुँचाओ। [यही राजाका प्रधान कर्तव्य है उससे मा विवेनः] कभी विचलित मत हो [नहि त्वदिन्द्र वस्यः] हे राजन्! आपसे अधिक ऐश्वर्य-सम्पन्न और कोई नहीं है, इसलिए आप [शेष अर्थ ऊपर मूलार्थमें दिया गया है]।

ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत (मै० सं० १-९-४) इत्यपि निगमौ भवतः ।। शेपो वैतस्य इति पुंस्प्रजननस्य । शेपः शेपतेः स्पृशतिकर्मणो वैतसो वितस्तं भवति ।

यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ।। [ऋ० १०-८५-३७]

हे वस्त्र ! [ग्नास्त्वा अकृन्तन्] स्त्रियोंने तुमको काता है, [अपसः अतन्वन्] बालकोंने [बनते समय तन्तुओंको] ताना और [वयित्र्यः अवयन्] बुननेवालियोंने तुमको बुना है ।

१० 'शेपः' तथा 'वैतस' ये दोनों पुरुषके जननेन्द्रियके वाचक हैं । 'शेप' शब्द स्पर्शार्थक 'शप' धातुसे [बनता है, क्योंकि उसका स्पर्श विशेष महत्त्व रखता है] और 'वैतस' वितस्त अर्थात् लम्बायमान हो जानेसे [अथवा 'तसु उपक्षये' धातुसे बननेसे सम्भोगकालमें उपक्षय क्षीणतासे रहित होनेसे 'वैतस' कहलाता है]। उसका उदाहरण निम्न मन्त्रमें पाया जाता है] ।

ऋग्वेदमें 'ग्ना' शब्द १-२२-१०, ६१-८ । ४-९-४ । ५-४३-१३, ५-४६-२, ५-४६-८ । ६-५०-१५, ६-६८-४ । १०-९५-७ । ग्नाभिः २-२१-४ । ६-४९-७ । ७-३५-६ । १०-६६-३, १०-९२-१४ । ग्नापतिः २-३८-१० । ग्नापत्नीभिः ४-३४-७ । इतने स्थलोंपर प्रयुक्त हुआ है, किन्तु निरुक्तकारने यहाँ ग्ना पदके प्रयोगका जो उदाहरण दिया है वह ऋग्वेदमें नहीं मिलता है । अपितु यजुर्वेदकी मैत्रायणीसंहिता तथा ताण्ड्यब्राह्मण आदिमें मिलता है । वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत वयित्र्यो वयन् वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे ।
बृहस्पतये वासस्तेनामृतत्वमशीय मयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ।।

इस मन्त्रका विनियोग दक्षिणारूपमें वस्त्रके स्वीकार करनेके कार्यमें किया है । मन्त्रका अर्थ स्पष्ट है ।

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतुसेन ।। [ऋ० १०-९५-५]

दिनमें तीन वार शिश्न [जननेन्द्रिय] से मुझको मारते थे।

११ अया तथा एना

हे देवि दक्षिणे ! तेरे द्वारा वरुणका अर्थात् उत्तम कर्म करनेवाला यजमान त्वा तुमको अर्थात्] इस वस्त्रको बृहस्पति [अर्थात् विद्वान् पुरोहित] के पास ले जाय । [तेनामृतत्वमशीय] उस वस्त्रदानसे मैं आनन्दको प्राप्त करूँ । देनेवालेको आनन्द मिले और उसका ग्रहण करनेवाले मुझको भी आनन्द प्राप्त हो ।

१० शेपः तथा वैतस

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।

या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ।।

[ऋ० १०-८५-३७]

हे पूषन् [परमात्मन्]! [तां शिवतमां ऐरयस्व मनुष्योंकी] उस [पत्नी] को सदा स्वस्थ एवं सुन्दर [शिवतमा] रखो जिसके भीतर मनुष्य [सन्तानकी प्राप्तिके लिए] बीज बोते हैं [अर्थात् गर्भाधान करते हैं] और जो [उशती] सन्तानकी इच्छासे या सम्भोग कामनासे [नः ऊरू विश्रयाते] हमारे लिए अपनी दोनों जाँघें फैला देती है । और फिर जिस [की योनि]में [उशन्तः] सन्तान-कामनासे अथवा कामोन्मत्त होकर [शेपः प्रहरामः] अपनी उपस्थेन्द्रियका प्रहार करते हैं ।

अगला 'वैतस' शब्द भी पुरुषकी जननेन्द्रियका वाचक है । इस शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें केवल दो जगह हुआ है । और वे दो स्थल ऋग्वेदके दशम-मण्डल ९५ वें सूक्तके ४ थे और ५ वें दो मन्त्रोंमें इकट्ठा ही आये हैं । इस मन्त्र-के विषयमें बहुत कुछ वक्तव्य है । इस विषयका प्रसंग निरुक्तके दशम अध्यायमें फिर आयेगा । उस समय इसका विस्तारसे विवेचन किया जायगा । इस समय मन्त्रका जितना भाग यहाँ उद्धृत किया गया है केवल उसका साधारण अर्थ दे रहे हैं । उसमें 'वैतस' शब्दका पुरुषकी जननेन्द्रियके अर्थमें प्रयोग दिखलाया गया है । अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है ।

इत्यपि निगमौ भवतः। अयैनेत्युपदेशस्य। अया ते अग्ने समिधा विधेम [ऋ० ४-४-१५] इति स्त्रियाः।

एना वो अग्निम् [ऋ० ७-१६-१] इति नपुंसकस्य। एना पत्या तन्वं संसृजस्व [ऋ० १०-८५-२७] इति पुंसः। सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य।

---

११ 'अया' तथा 'एना' ये दोनों [उपदेशस्य अर्थात्] प्रत्यक्ष-निर्देशके वाचक हैं। ['अया'का प्रयोग निम्नमन्त्रमें पाया जाता है]।

हे अग्ने! [अया समिधा] इस प्रत्यक्ष निर्दिश्यमान समिधाके द्वारा [ते विधेम [आपकी सेवा करते हैं। [प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय] गान किये जानेवाले प्रत्येक [स्तोम स्तुति अर्थात्] मन्त्रके साथ उसको ग्रहण कीजिये।

यह [अया रूप] स्त्रीलिंगका है। 'एना वो अग्निम्' इसमें [एना यह रूप] नपुंसक लिंगका [निर्देशक] तथा 'एना पत्या तन्वं संसृजस्व' इसमें [एना यह रूप] पुंल्लिगका निर्देशक है।

अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय।
दहाशसो रक्षसः पाह्यस्मान् द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्॥
[ऋ० ४-४-१५]

नपुंसक लिंगका 'एना वो अग्निम्' आदि जो उदाहरण दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ [ऋ० ७-१६-१]

इसमें 'एना' पद नपुंसकलिंग 'नमसा' का विशेषण है। इसलिए इसको यहाँ नपुंसकलिंगका निर्देशक माना है। पुंलिंगमें 'एना'का प्रयोग दिखलानेके लिए जो मन्त्र दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं संसृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः॥
[ऋ० १०-८५-२७]

स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ [ऋ० १-१८-२]
स नः सेवतां यस्तुरः ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ [ऋ० १-१-९]
सेवस्व न स्वस्तये । स्वस्तीत्यविनाशिनामास्तिरभिपूजितः

---

१२ सिषक्तु 'और' सचते ये दोनों सेवा करनेवाले [कृपा करनेवाले] के वाचक हैं। जैसे [स नः सिषक्तु यस्तुरः] जो [आप बृहस्पति आचार्य विद्वान्] आशुकारी [शीघ्र फल देनेवाले] हैं सो [आप] हमारे ऊपर कृपा कीजिये। [२ सचस्व नः स्वस्तये] हमारे कल्याणके लिए हमारे ऊपर कृपा कीजिये।

'स्वस्ति' यह अविनाशी [नित्य] का वाचक है। [सु अस्ति अर्थात्] श्रेष्ठ अस्तित्व 'स्वस्ति' कहलाता है।

इस मन्त्रमें अब विवाहके बाद नववधूको गृहस्थधर्मके पालन करनेका उपदेश दिया गया है। इसमें 'एना पत्या तन्वं संसृजस्व' इस पतिके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करो इसमें 'एना' यह पद पुल्लिंग 'पत्या' का विशेषण है, इसलिए इसको पुल्लिंगका निर्देशक कहा गया है।

१२ सिषक्तु और सचते पद

इन दोनों उदाहरणोंमेंसे पहिले उदाहरणमें 'सिषक्तु' पद तथा दूसरे उदाहरणमें 'सचस्व' पद 'सेवमान' अर्थात् कृपा करनेवालेके बोधक हैं। दूसरे उदाहरणमें 'स्वस्तये' पद आया है। इसलिए उसका अर्थ देते हैं—'स्वस्तीत्य०' इत्यादि।

इन दोनों उदाहरणोंके आधे-आधे मन्त्र ही यहाँ दिये गये हैं। उनके पूरे मन्त्र निम्नप्रकार हैं—

१—यो रे॒वान् यो अ॑मीव॒हा व॑सु॒वित् पु॑ष्टि॒वर्ध॑नः।
स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥ [ऋ० १-१८-२]
२—स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व।
सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥ [ऋ० १-१-९]

स्वस्तीति । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः ।
यस्य॒ शुष्मा॒द्रोद॑सी॒ अभ्य॑सेताम् ॥ [ऋ० २-१२-१]
रेज॑ते अग्ने पृथि॒वी म॒खेभ्यः॑ [ऋ० ६-६६-९]
इत्यपि निगमौ भवतः ॥२१॥

[२२]

द्यावापृथिवीनामधेयान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः । तयोरेषा भवति ।

---

१३ 'भ्यसते' और 'रेजते' ये दोनों भय तथा कम्पन दोनोंके वाचक हैं। जैसे—[१] जिसके बलसे द्यावा-पृथिवी भयभीत और कम्पित होते हैं। [इसमें 'भ्यसेताम्' यह पद भय और कम्पनका वाचक है]। और [२] हे अग्ने! यज्ञोंसे पृथिवी कम्पित और भयभीत होती है। ये दोनों निगम भी [इन शब्दोंके प्रयोगके उदाहरण] होते हैं ॥२१॥

[२२]

[निघण्टुमें] अगले २४ नाम द्यावा-पृथिवीके वाचक पढ़े गये हैं]।

---

१३ भ्यसते और रेजते पद

ये दोनों उदाहरण भी अधूरे मन्त्रोंके रूपमें यहाँ उद्धृत किये गये हैं। पूरे मन्त्र निम्नप्रकार हैं—

[१] यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान् दे॒वो दे॒वान् क्रतु॑ना प॒र्यभू॑षत् ।
यस्य॒ शुष्मा॒द्रोद॑सी॒ अभ्य॑सेतां नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥
[ऋ० २-१२-१]

क॒त॒रा पूर्वा॒ क॑त॒राप॑रा॒योः क॒था जा॒ते क॑वयः॒ को वि वे॑द ।
विश्वं॒ त्मना॑ बिभृतो॒ यद्ध॒ नाम॒ वि व॑र्तेते॒ अह॑नी च॒क्रिये॑व ॥
[ऋ० १-१८५-१]

कतरा पूर्वा कतरा परैनयोः । कथं जाते । कवयः क एने विजानाति सर्वमात्मना बिभृतो यद्ध एनयोः कर्म । विवर्तेते

उन दोनों [द्यावा-पृथिवी] के विषयमें यह [अगली] ऋचा है—

[द्युलोक तथा पृथिवीलोक] इन दोनांमेंसे कौन पहिले उत्पन्न हुआ और कौन बादको उत्पन्न हुआ और [कथा जाते] वे दोनों कैसे उत्पन्न हुए इस बातको हे [कवयः हे विद्वानो ! कौन जानता है । [ये दोनों विश्वं त्मना विभृतः) सारे जगत्को स्वयं धारण किये हुए [अहनी] रात-दिन लगातार [चक्रियेव विवर्तेते] चक्रके समान घूमते रहते हैं । [यद्ध नाम] जो कि इन दोनोंका [नाम अर्थात्] कार्य है ।

इन दोनों [द्यावा-पृथिवी] मेंसे कौन पहिले और कौन बादकी है, [ये दोनों] कैसे उत्पन्न हुई हे विद्वानो ! इन दोनोंको कौन जानता है । सबको स्वयं धारण किये हुए—जो कि इनका कार्य है—घूमते

---

[२] प्र चि॒त्रम॒र्कं गृ॑ण॒ते तु॒राय॒ मारु॑ताय॒ स्वत॑वसे भरध्वम् ।
ये सहां॑सि॒ सह॑सा॒ सह॑न्त॒ रेज॑ते अग्ने पृथि॒वी म॒खेभ्यः॑ ॥
[ऋ० ६-६६-९]

द्यावापृथिवीके वाचक २४ नाम

निघण्टुः—१ स्वधे, २ पुरन्धी, ३ धिषणे, ४ रोदसी, ५ क्षोणी, ६ अम्भसी, ७ नभसी, ८ रजसी, ९ सदसी, १० सद्मनी, ११ घृतवती, १२ बहुले, १३ गभीरे, १४ गम्भीरे, १५ ओण्यौ, १६ चम्वौ, १७ पार्श्वौ, १८ मही, १९ उर्वी, २० पृथ्वी, २१ अदिती, २२ अही, २३ दूरेअन्ते, २४ अपारेअपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि, नामधेयानि ॥

यह मन्त्रका अर्थ हुआ । इसीकी व्याख्या आगे निरुक्तकार अपने शब्दोंमें निम्नप्रकार करते हैं—'कतरा' इत्यादि ।

चैनयोरहनी अहोरात्रे । चक्रियेव चक्रयुक्ते इवेति । द्यावापृथिव्यो-
र्महिमानमाचष्ट आचष्टे ॥२२॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः
तृतीयाध्यायश्च समाप्तः ॥

रहते हैं। 'अहनी' अर्थात् रात-दिन [चक्रियेव अर्थात्] चक्रयन्त्र-से। [इस मन्त्रमें] द्यावा-पृथिवीकी महिमाका वर्णन किया गया है।

ऊपर निघण्टुकी समाप्तिमें 'नामधेयानि नामधेयानि' यह दो बार जो पाठ दिया गया है वह निघण्टुके पहिले तीन अध्यायोंको मिलाकर बने हुए प्रथम 'नैघण्टुक काण्ड'की समाप्तिका सूचक है। इसी प्रकार निरुक्तके इस तृतीय अध्यायके अन्तमें जो 'आचष्टे आचष्टे' यह पाठ दो बार दिया गया है वह भी 'नैघण्टुक-काण्ड'की व्याख्याकी समाप्तिका सूचक है।

अध्यायत्रयात्मक निघण्टु तथा निरुक्तका
प्रथमभाग नैघण्टुक-काण्ड
समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[१]

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् । तदैकपदिकमित्याचक्षते ।

---

[१]

एकार्थ-वाचक अनेक शब्दोंवाला प्रकरण [अर्थात् नैघण्टुक-काण्ड] कहा जा चुका [अर्थात् गत तीन अध्यायोंमें 'नैघण्टुक-काण्ड'में संगृहीत एकार्थ-वाचक अनेक शब्दोंकी व्याख्या समाप्त हो गयी]। अब जो अनेकार्थक एक शब्दोंके प्रकरण हैं उनकी क्रमसे व्याख्या करेंगे। और जिनमें [संस्कार अर्थात्] प्रकृति, प्रत्यय आदिके विभागका ज्ञान नहीं होता है इस प्रकारके शब्दोंकी क्रमशः व्याख्या करेंगे। इसे [नैगमकाण्ड अथवा] 'ऐकपदिक' नामसे कहते हैं।

नैघण्टुककाण्ड तथा नैगमकाण्डका भेद

पहिले कहा जा चुका है कि 'निघण्टु' १ नैघण्टुककाण्ड, २ नैगमकाण्ड तथा ३ दैवतकाण्ड तीन काण्डोंमें विभक्त किया गया है। 'निघण्टु'में कुल पाँच अध्याय हैं। इनमेंसे पहिले तीन अध्यायोंको 'नैघण्टुककाण्ड' कहते हैं। इनमें एक अर्थके वाचक अनेक शब्दोंका संग्रह किया है। जैसे 'इत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि'ये २१ शब्द पृथिवीके वाचक हैं, 'इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि' ये २४ द्यावापृथिवीके नाम हैं इत्यादिमें एक ही पृथिवी अर्थके वाचक २१ नामोंका अथवा एक ही द्यावा-पृथिवीके वाचक २४ नामोंका इकट्ठा संग्रह कर दिया गया है। यह 'एकार्थानि अनेकशब्दानि' एक अर्थके वाचक अनेक शब्दोंका संग्रह 'नैघण्टुक' नामसे कहा जाता है। निघण्टुके पहिले तीन अध्यायोंमें इसी प्रकारके 'एकार्थक अनेक शब्दों'का संग्रह किया गया है।

जहा जघानेत्यर्थः ॥१॥

१. 'जहा'का अर्थ 'जघान' मारा यह है। [उसका उदाहरण 'को नु मर्या' आदि दिया है।] ॥१॥

इसलिए ये तीनों अध्याय 'नैघण्टुककाण्ड' कहे जाते हैं। और सारे ग्रन्थमें इस 'नैघण्टुक' पदोंवाले विभागकी ही प्रधानता और आधिक्य होनेसे ही कदाचित् इस ग्रन्थका नाम 'निघण्टु' रखा गया है। इस 'नैघण्टुककाण्ड'में आये हुए पदोंकी व्याख्या यहाँतक समाप्त हो गयी।

निघण्टुका दूसरा भाग 'नैगमकाण्ड' कहलाता है। इसमें निघण्टुका केवल एक चौथा अध्याय आता है। निघण्टुका यह चतुर्थ अध्याय तीन भागोंमें विभक्त है। इसलिए उसकी व्याख्याके लिए निरुक्तमें ४—६ तक तीन अध्याय लगाये गये हैं। इस निरुक्तके ४, ५ और ६ ये तीन अध्याय 'नैगमकाण्ड' कहलाते हैं। 'अनेकार्थानि एकशब्दानि' अनेक अर्थोंके वाचक जो एक-एक शब्द हैं उनका संग्रह किया गया है। अर्थात् नैघण्टुककाण्डमें एकार्थवाचक अनेक-अनेक शब्दोंका संग्रह है और नैगमकाण्डमें अनेक अर्थोंके वाचक एक-एक शब्दका संग्रह है। यह इन दोनों विभागोंका भेद है। नैघण्टुककाण्डमें निरुक्तकारने प्रत्येक पदकी व्याख्या नहीं की थी। किसी वर्गमेंसे किसी एक या दो शब्दोंकी ही व्याख्या की थी। किन्तु इस 'नैगमकाण्ड'में प्रत्येक पदकी व्याख्या करेंगे। इस 'नैगमकाण्ड'में अनेकार्थ-वाचक एक-एक शब्दका संग्रह किया गया है, इसलिए इस भागको कुछ प्राचीन आचार्य 'ऐकपदिक' नामसे भी कहते हैं। 'नैघण्टुककाण्ड' तथा 'नैगमकाण्ड'के इसी भेदको निरुक्तकारने इस चतुर्थ अध्यायका आरम्भ करते हुए निम्न प्रकार दिखलाया है—'एकार्थम्' इत्यादि।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस 'नैगमकाण्ड'में दो प्रकारके शब्दोंकी व्याख्या की जायगी। १ वे शब्द जिनमें प्रकृति-प्रत्ययादिरूप संस्कारका स्पष्ट बोध नहीं होता है और २ जो एक शब्द अनेक अर्थोंके वाचक हैं। पहिले प्रकार के 'अनवगत-संस्कार' वाले शब्दोंमें 'जहा', 'निधा', 'पाद्या' आदि शब्द हैं। इन शब्दोंकी सिद्धि व्याकरणके किसी सामान्य नियमसे नहीं होती है। अपितु

'उणादयो बहुलम्' [अष्टा० ३-३-१] 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' [अष्टा० ६-३-१०९] आदि विशेष नियमोंके द्वारा इनको सिद्ध किया जाता है। इसलिए इनमें कारकः, हारकः आदिके समान प्रकृति-प्रत्ययका विभाग विज्ञात नहीं होता है। जैसे 'जहा' शब्द हिंसार्थक 'हन' धातुसे भी बन सकता है और त्यागार्थक 'हा' धातुसे भी बन सकता है। कहाँ किस धातुसे इसको सिद्ध किया जाय इस बातका निर्णय प्रकरणके अनुसार करना पड़ता है। इनमें जैसे धातु या प्रकृति अनवगत है इसी प्रकार प्रत्यय भी अनवगत है। प्रकृति-प्रत्ययके अतिरिक्त इसकी जाति अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातमेंसे यह क्या है यह बात भी अनवगत है। इसलिए प्रकृति-प्रत्यय, जाति तथा कारक आदिके अनवगत—अज्ञात—होनेपर सभी शब्दोंको 'अनवगतसंस्कार' शब्द कहा जाता है। इस प्रकारके वेदके शब्दोंकी व्याख्या इस नैगमकाण्डमें की गयी है। इस काण्डके व्याख्या पदोंमें दूसरे प्रकारके वे पद हैं जो एक-एक पदके अर्थोंके वाचक हैं। इस प्रकारके पदोंमें 'दयतिरनेककर्मा', 'नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः' [नि० ४-३-१७] इत्यादि पद आते हैं। इन दोनों प्रकारके पदोंकी व्याख्या इस 'नैगम-काण्ड'में की गयी है।

इस 'नैगम-काण्ड'के पदोंकी व्याख्या करते समय जिस पद्धतिका अवलम्बन किया गया है उसका निर्देश निम्न श्लोकमें पाया जाता है—

तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे॥

अर्थात् १ पर्यायवाचक शब्द द्वारा तत्त्व या अर्थका प्रदर्शन करना। जैसे 'निधा' शब्दकी व्याख्या करते समय 'निधा पाश्या भवति' इस प्रकार 'पाश्या' इस पर्याय शब्द द्वारा 'निधा' पदकी व्याख्या की गयी है। फिर उसके बाद २ 'व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि' निधा तथा पाश्या दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्ति दिखलाना। जैसे 'निधा यन्निधीयते, पाश्या पाशसमूहः' इस प्रकार निरुक्तकारने निधा तथा पाश्या दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्ति दिखलायी है। इन दोनों कामोंके बाद ३ 'निगम' अर्थात् उस शब्दके प्रयोगवाला मन्त्र उद्धृत करना। जैसे निधा पदकी व्याख्यामें 'वयः सुपर्णा' आदि मन्त्र दिया गया है। और अन्तमें 'तस्मात् निधा पाश्या भवति' इस प्रकारका ४ 'निर्णय' करना। 'नैगम-काण्ड'के पदोंकी

२४

[२]

को नु म॑र्या अमि॑थितः सखा सखा॑यमब्रवीत् ।
जुहा को अ॒स्मदी॑षते ॥ [ऋ० ८-४५-३७]

---

[२]

[मर्याः] हे मनुष्यो ! जबतक मित्र अपराधी न हो [अमिथितः] तबतक [कः सखा सखायमब्रवीत्] कौन मित्र अपने किसी मित्रसे बोलता है। [अर्थात् अपराधी न होनेपर कौन अपने किसी मित्रको सताता या दण्ड देता है ? कोई ऐसा नहीं करता है। और यदि अपराधी होगा तो फिर [जहाकोऽस्मदीषते] हमसे [जहा] भागकर कौन बच सकता है ? [कोई नहीं बच सकता है] ।

व्याख्याके प्रसंगमें इस चतुःसूत्रात्मक निर्वचन-पद्धतिका अवलम्बन किया जाता है। यह इस कारिकाका भाव है। इसी पद्धतिका अवलम्बन करके निरुक्तकार इस नैगमकाण्डमें सबसे पहिले आये हुए 'जहा' पदकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—'जहा' इत्यादि ।

इस मन्त्रका देवता इन्द्र है। इन्द्रका अर्थ परमात्मा है। राजा अर्थ भी हो सकता है। मन्त्रमें 'जैसी करनी वैसी भरनी' वाले प्रसिद्ध कर्म-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। यह मन्त्र जिस प्रसंगमें आया है उसमें 'मा वधीः' [ऋ० ८–४५–३४] दण्ड न देनेकी प्रार्थना की गयी है। उसी प्रसंगमें यह मन्त्र है। यह परमात्माकी जीवात्माके प्रति या राजाकी किसी प्रजाजनके प्रति उक्ति है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों 'सखा' मित्र हैं। राजा और प्रजाजन भी 'सखा' हैं। जीवात्मा परमात्मासे या प्रजाजन राजासे जो यह प्रार्थना करता है कि 'मा वधीः' मुझे दण्ड न दीजिये। उसका न्याय-संगत उत्तर इस मन्त्रमें दिया गया है। मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है।

मन्त्रका यह अर्थ हमारा है। हमने इसमें आये हुए 'जहा' पदको 'ओहाक् त्यागे' धातुसे निष्पन्न माना है। निरुक्तकारने 'जहा'का अर्थ 'जघान' किया है। अर्थात् उन्होंने 'हन' धातुसे इस शब्दकी सिद्धि की है। हमें निरुक्तकारका यह 'जघान' वाला अर्थ ठीक नहीं लगा। क्योंकि 'कमहमपापकं जघान' इस अर्थमें उन्हें 'कम् अपापकम्'का अध्याहार ऊपरसे करना पड़ता है। इससे मन्त्रकी

मर्या इति मनुष्यनाम मर्यादाभिधानं वा स्यात्। मर्यादा मर्यैरादीयते। मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः। मेथतिराक्रोशकर्मा। अपापकं जघान कमहं जातु कोऽस्मद्भीतः पलायते।

'मर्या' यह मनुष्यका वाचक है। अथवा मर्यादाका कथन करनेवाला है। जिस [जीवन-पद्धति]को मनुष्य [प्रशस्तरूपमें] ग्रहण करते हैं वह 'मर्यादा' कहलाती है। अथवा दो मर्यादावालों [अर्थात् सीमावाले दो प्रदेशों]का विभाग [करनेवाली सीमा-रेखा] मर्यादा कहलाता है। [मन्त्रका 'अमिथितः' पद जिससे बना है वह] 'मिथ' धातु आक्रोश [कोसने नाराज होने]के अर्थमें है। [उससे यहाँ सब प्रकारके अपराध-सामान्यका ग्रहण होता है] मैंने कब किस निरपराधी [अपापकम्]को मारा है। और कौन हमसे डरकर भागता है?

वाक्य-रचनाका प्रवाह शिथिल पड़ जाता है। इसके विपरीत 'जहा' पदको 'ओहाक् त्यागे' धातुका रूप माननेपर 'जहा कोऽस्मदीषते' हमसे भागकर कौन बच सकता है? इस वाक्यमें एक चमत्कार और प्रवाह आ जाता है। इसलिए हमें यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत हुआ। निरुक्तकारने इसकी जो व्याख्या की है वह निम्नप्रकार है—'मर्या' इत्यादि।

यह यास्ककी व्याख्याके अनुसार मन्त्रका अर्थ है। इसमें यास्कको एक ओर 'कमपापकम्' का अध्याहार करना पड़ा है और दूसरी ओर 'भीतः' पदका भी अध्याहार करना पड़ा है। और 'ईषते' का अर्थ 'पलायते' करना पड़ा जो कि स्वारसिक अर्थ नहीं है। यह सब केवल इसलिए करना पड़ा है कि उन्होंने 'जहा' पदको 'हन' धातुसे सिद्ध किया है। यह सब करके भी उनके अर्थमें भाषाका प्रवाह एकदम शिथिल पड़ गया है। इसके स्थानपर 'जहा' पदको यदि 'ओहाक् त्यागे' धातुका रूप मान लिया जाय तो, न तो 'कमपापकम्' के अध्याहारकी आवश्यकता होती है और न 'भीतः' के अध्याहारकी। 'ईषते' का भी 'समर्थो भवति' यह स्वारसिक अर्थ संगत होता है। उसके स्थानपर 'पलायते' अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। और भाषामें प्रवाह तथा उक्तिमें एक

निधा पाश्या भवति । यन्निधीयते । पाश्या पाशसमूहः । पाश पाशयतेर्विपाशनात् ॥२॥

[३]

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान् ॥
[ऋ० १०-७३-११]

---

२ 'निधा'का अर्थ 'पाश्या' अर्थात् [पक्षियोंके पकड़नेका जाल] होता है, क्योंकि वह [पक्षियोंके पकड़नेके लिए] नीचे फैलाया जाता है, 'पाश्या' पाश-समूहको कहते हैं। [पाश शब्दसे समूह अर्थमें 'पाशादिभ्यो यः' [अष्टा० ४-२-४९] सूत्रसे 'य' प्रत्यय होकर पाश्या शब्द बनता है] और बन्धनका साधन होनेसे पाश शब्द [चुरादि-गणकी] 'पश' धातुसे [घञ्-प्रत्यय करके] बनता है ॥२॥

[३]

[प्रियमेधाः अर्थात् प्रातःकालीन] यज्ञोंसे प्रेम करनेवाली [ऋषयः अर्थात्] गतिशील और [सुपर्णाः अर्थात्] तीव्र गतिसे उड़ने [या चलने] वाली [वयः अर्थात् पक्षियोंके समान] सूर्यकी रश्मियाँ [नाधमाना अर्थात् सूर्यसे आगे दी हुई] प्रार्थना करती हुई [इन्द्रम् उपसेदुः] सूर्यके पास पहुँचीं [अर्थात् सूर्यसे बोलीं कि हे स्वामिन्] निधया इव बद्धान् नः मुमुग्धि पाशसे [बँधे हुए पक्षियोंके समान] बँधे हुए हमको मुक्त कर दो और [हमारे द्वारा रात्रिके] अन्धकारका नाश करके [लोगोंके] चक्षुओंको सशक्त अर्थात् समर्थ बनाओ।

विशेष चमत्कार आ जाता है। इसलिए वही अर्थ हमें अधिक अच्छा प्रतीत होता है।

'निधा' शब्दका अर्थ दिखलानेके बाद निरुक्तकार उसका प्रयोग जिस मन्त्रमें हुआ है उसके उदाहरणके रूपमें 'वयः सुपर्णाः' आदि मन्त्रको उद्धृत करते हैं। मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'प्रियमेधाः' इत्यादि।

आगे निरुक्तकार अपने शब्दोंमें मन्त्रकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'वयो वे०' इत्यादि।

वयो वेर्बहुवचनं सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मय उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः । अपोर्णुह्याध्वस्तं चक्षुः । ख्यातेर्वा चष्टेर्वा । पूर्धि पूरय देहीति वा मुञ्चास्मान्पाशैरिव बद्धान् ।

पार्श्व॒तः श्रोणि॒तः शि॑ताम॒तः ॥ [यजुः २१-४३]

'वयः' पद 'वि'का बहुवचन है। 'सुपर्णाः' अर्थात् सुन्दर रूपसे पड़नेवाली आदित्यकी रश्मियाँ। याचना करती हुई [इन्द्र अर्थात] सूर्यके पास पहुँचीं। [ध्वान्तं अर्थात् अन्धकारके कारण] आध्वस्त [अपने कार्यमें असमर्थ] चक्षुको [अपोर्णुहि] खोलो और [पूर्द्धि अर्थात्] पूर्ण [समर्थ] करो।

'चक्षुः' शब्द 'ख्या' धातुसे अथवा 'चक्षिङ्' धातुसे [बनता है]। ['चक्षिङः ख्याञ्' अष्टा० २-४-५४ सूत्रसे 'चक्षिङ्' धातुको ख्याञ् आदेश होता है। इसी प्रकार यास्कने 'ख्याञ्' धातुको चक्षिङ् आदेश मानकर 'ख्या' धातुसे चक्षु शब्द सिद्ध किया है]। 'पूर्द्धि' अर्थात् पूर्ण करो अथवा दो। पाशोंसे बँधे हुएसे हमको मुक्तकर दो।

'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' [यह शिताम पदके प्रयोगका उदाहरण है। इसमें] 'पार्श्व' पसलियोंसे भरा हुआ अंग होता है

यह यास्कने इस मन्त्रकी व्याख्या की है। इस व्याख्यामें मन्त्रके 'ध्वान्त' पदको 'चक्षुः'का विशेषण मानकर उसका 'ध्वस्त' यह अर्थ किया है। किन्तु यदि ध्वान्तको चक्षुका विशेषण न लगाकर अन्धकारवाचक अलग ही पद माना जाय तो अर्थ अधिक अच्छा और भाषाका प्रवाह ठीक रहता है। 'ध्वान्तम् अपोर्णुहि' अन्धकारको नष्ट करो और 'चक्षुः पूर्द्धि' नेत्रोंको सशक्त अर्थात् समर्थ करो यह अर्थ यास्कके अर्थकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा प्रतीत होता है। अतः हमने मन्त्रका यही अर्थ किया है।

३—शिताम—नैगमकाण्डका तीसरा शब्द 'शिताम' है। यह 'अनवगत-संस्कार' तथा अनेकार्थक शब्द है। यास्कने इसका अर्थ 'दोः' अर्थात् भुजा

पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शु स्पृशतेः। संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः। संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्गनादञ्चनाद् वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शिताम भवति दोर्द्रवते।

[इसलिए वह पार्श्व नामसे कहा जाता है। पर्शु [अर्थात् पसली शब्द] 'स्पृश' धातुसे बना है। क्योंकि वह [पसली] पीठकी ओर [रीढकी हड्डीमें] मिली हुई होती है। पृष्ठ [पद भी] 'स्पृश' धातुसे बना है। क्योंकि वह सब अंगोंसे मिला हुआ है। अंग शब्द गत्यर्थक 'अकि' धातुसे अथवा 'अञ्चु' धातुसे बनता है। श्रोणि [शब्दका अर्थ नितम्बभाग है। यह 'गतिचलाकर्मणः' अर्थात्] एककी गतिसे दूसरेमें गति करनेके अर्थवाले 'श्रोण' धातुसे बनता है, क्योंकि गमन करनेवालेकी श्रोणि [अर्थात् नितम्बभाग] चलती हुई-सी प्रतीत होती है। दोस् [अर्थात्] 'बाहु' 'शिताम' कहलाती है। [बाहुवाचक] दोस् [शब्द गत्यर्थक] 'द्रु' धातुसे बनता है [क्योंकि

किया है। शाकपूणिने उसका अर्थ 'योनि' तथा तैटीकि आचार्यने 'यकृत्' अर्थ किया है। यास्कने इस व्याख्यामें सबसे पहिले 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' यह मन्त्रभाग ही उद्धृत किया है। 'शिताम' शब्द ऋग्वेदमें कहीं नहीं आया है। इसलिए उदाहरणरूपमें यजुर्वेदका 'पार्श्वतः' आदि मन्त्र दिया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य ह॒विष॒ आत्ता॑म॒द्य म॑ध्य॒तो मेद॒ उद्भृ॑तं पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो घस्तां॑ नू॒नं घा॒से अ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमानां सु॒मत्क्ष॑राणां शतरु॒द्रिया॑णाम॒ग्निष्वा॒त्ता॒नां पीवो॑पवसनानां पा॒र्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ता॒म॒तः उ॑त्सा॒द॒तोऽङ्गा॑दङ्गा॒दव॑त्तानां॒ कर॑त ए॒वाश्विना॑ जु॒षेतां॑ ह॒विर्हो॑त॒र्यज॑। [यजुः० २१-४३]

योनिः शितामेति शाकपूणिर्विपितो भवति । श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः । श्यामं श्यायतेः । यकृद्यथा कथा च कृत्यते ।

बाहुओंके द्वारा ही सारे कार्य होते हैं । शाकपूणिका मत यह है कि 'शिताम' योनिको कहते हैं] । [इस पक्षमें नर पशुके योनि न होनेसे उसकी गुदाके लिए 'शिताम' शब्दका प्रयोग माना गया है] । क्योंकि वह [मल आदिसे] व्याप्त होती है । [तैटीकि आचार्यका कथन है कि श्यामसे शिताम बनता है ।] श्यामतः अर्थात् यकृत्से । यह तैटीकिका मत है । श्याम [शब्द गत्यर्थक] 'श्यै' धातुसे [बनता] है । यकृत् [रबड़के गोलेके समान होता है । इसलिए बड़ी कठिनाईसे कटता है । इसी आधारपर यकृत् पदका निर्वचन करते हैं वह [यथा-कथा अर्थात्] जैसे-तैसे [बड़ी कठिनाईसे] कटनेके कारण यकृत् कहलाता

महीधर आदिने 'छागस्य हविषः' बकरेका आलम्भन और उसके हविके अर्थात् मांसके भक्षणका विधान इसमें माना है । 'अश्विनौ छागस्य हविष आत्ताम्' यह इस मन्त्रका मुख्य भाग है । वह मांस कहाँ-कहाँसे लिया जाय इसका निर्देश 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' आदि प्रकृतमें उद्धृत अंशमें किया गया है । यह उनका अभिप्राय है । इस व्याख्यानपक्षमें 'सिताम' शब्दके अनेक अर्थ किये गये हैं । किसीने 'शिताम'का अर्थ बाहु या अगले पैर किया है । शाकपूणिने उसका अर्थ 'योनि' किसीने 'गुदा' और तैटीकिने 'यकृत्' अर्थ किया है । ये सब मांस-परक व्याख्याएँ हैं । किन्तु जो लोग यज्ञको 'अध्वर' अर्थात् हिंसारहित कर्म मानते हैं उनके मतमें 'छागस्य हविषः'का अर्थ बकरीसे प्राप्त होनेवाले दुग्ध, घृतादि पदार्थ हैं । इस मन्त्रमें 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः अङ्गादङ्गादवत्तानाम्' यह छागका विशेषण है । हिंसावादी महीधरादि 'अवत्तानाम्' का अर्थ इन सब स्थानोंसे काटे हुए यह अर्थ करते हैं । 'यज्ञको' अध्वर कहनेवाले अहिंसावादी 'अवत्तानाम्' पदका अर्थ काटे हुए न करके 'नम्रीभूतानाम्' करते हैं । अर्थात् जिनके पार्श्व, श्रोणि आदि प्रदेश नम्रीभूत या अवनत हैं । इस प्रकारकी बकरियोंके दुग्ध, दधि, घृत आदि हविको 'अश्विनौ' अर्थात् उत्तम

शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। शिति श्यतेर्मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा मेदो मेद्यतेः ॥३॥

है। [गालवका मत यह है कि 'शिताम' पद शितिमांससे वनता है] शितिमांसतः अर्थात् मेद [चर्बी] से यह गालवका मत है। शिति [शब्द 'शो तनूकरणे' धातुसे वना है। ['शितिमांसतः'में मांस पद आया है, इसलिए प्रसंगतः उसका भी निर्वचन आगे देते हैं] मांस [शब्द] मा अननं [अननं अर्थात् जोवनको मा कम करनेवाला] होता है। अथवा मानसं अर्थात् मानसिक [पापोंको पैदा करनेवाला होनेसे अथवा जिसमें मन लगता है, इसलिए मांस कहलाता है। ['शितामतः' का अर्थ गालवने मेदस्तः किया है, इसलिए 'मेदस्' शब्दका अर्थ करते हैं] मेदस् शब्द 'ञिमिदा स्नेहने' धातुसे वना है ॥३॥

वैद्य 'जुपेताम्' स्वयं सेवन करें और रोगियोंको सेवन करावें। यह इस मन्त्रका भाव है। यास्कने मन्त्रकी कोई व्याख्या नहीं की है। केवल इन शब्दोंका निर्वचन आदि निम्नप्रकार किया है—'पार्श्वम्' इत्यादि।

मनुने 'मांस' शब्दका निर्वचन निम्न प्रकारसे किया है—

'मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥' [मनु० ५-५५]

४ नैगमकाण्डका चौथा पद 'मेहना' है। इस शब्दका प्रयोग दिखलानेके लिए यास्कने जो मन्त्र उद्धृत किया है यह ऋग्वेदका मन्त्र है। किन्तु सामवेदमें भी इसी रूपमें पाया जाता है। किन्तु इसके स्वरूप तथा अर्थके विषयमें दोनों जगह भेद पाया जाता है। ऋग्वेदके पदपाठमें 'मेहना' एक ही पद माना गया है और उसका अर्थ 'महनीयम्' अर्थात् श्रेष्ठ संग्रहणीय किया गया है। सामवेदके पदपाठमें इसके 'मा इह न' इन पदोंमें विभाजन किया गया है। इसलिए यास्कने भी आगे दी हुई अपनी व्याख्यामें इस पदके दोनों प्रकारके अर्थ किये हैं। मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'हे वज्रधारिन्' इत्यादि।

[४]

यदिंन्द्र चित्र मे॒हनास्ति त्वादा॑तमद्रिवः ।

राध॒स्तन्नो॑ विदद्वस उभयाह॒स्त्या भ॑र ॥ [ऋ० ५-३९-१]

यदिन्द्र चित्रं चायनीयं महनीयं धनमस्ति । तन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि । त्वया नस्तद् दातव्यमद्रिवन् ।

अद्रिरादृणात्येनेनापि वात्तेः स्यात्ते। सोमाद इति ह विज्ञायते । राध इति धननाम राध्नुवन्त्येनेन । तन्नस्त्वं वित्तधन-

---

[४]

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! [त्वादातं अर्थात्] आपके द्वारा दिया जानेवाला जो [मेहना अर्थात्] श्रेष्ठ [अथवा जिसका इस समय मेरे पास अभाव है, जो मेरे पास नहीं है [इस प्रकारका और चित्रं अर्थात्] नाना प्रकारका अथवा संग्रह करने योग्य [राधः अर्थात्] धन है उसको [विदद्वस अर्थात्] हे धनके स्वामिन् आप हमको दोनों हाथोंसे [अत्यन्त उदारतापूर्वक 'आभर' अर्थात्] प्रदान कीजिये ।

हे इन्द्र ! जो चयन करने योग्य [चित्रं तथा मेहना अर्थात्] महनीय श्रेष्ठ धन अथवा जो मेरे पास यहाँ नहीं है [मा इह न] ये तीन बीचके पद हैं वह आप हमको प्रदान कीजिये । अद्रिवन् [यह इन्द्रके लिए सम्बोधन पद है, उसका अर्थ] अद्रि अर्थात् जिससे काटता है । [इस व्युत्पत्तिसे अद्रि कहा जाता है । उसको धारण करनेवाला इन्द्र अद्रिवन् हुआ] अथवा [अद्रिवः शब्द भक्षणार्थक] 'अद' धातुसे [बना है] क्योंकि 'ते सोमादः' [ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें] कहा जाता है । [मन्त्रमें आया हुआ] 'राधः' यह धनका नाम है । जिसके द्वारा कार्योंकी [सिद्धि होती है] 'राध साध संसिद्धौ' धातुसे 'राधः' शब्द बनता है] । [हे विदद्वस अर्थात्] जिसको धन प्राप्त है [अर्थात् हे

यह मन्त्रका अर्थ हुआ । आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रकी व्याख्या निम्न प्रकारसे करते हैं—'यदिन्द्र' इत्यादि ।

उभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर । उभौ समुब्धौ भवतः । दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वापि वा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यान्मनो मनोतेः ॥४॥

[५]

जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान् ।
विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्या॑ शत्रूय॒तामा भ॑रा॒ भोज॑नानि ।

[ऋ० ५-४-५]

धनके स्वामिन्] उसको आप हमें दोनों हाथोंसे [उदारता-पूर्वक] दीजिये । उभौ [दोनों] पद [समुब्धौ अर्थात्] पूर्ण होनेसे [उभौ कहे जाते हैं । अर्थात् उभौ पद तुदादिगणकी परस्मैपदी 'उभ पूर्णे' धातुसे बनता है] ।

दमूना [दुष्टोंके] दमनमें मनवाला अथवा दानमें मनवाला होने अथवा मनका दमन करनेवाला होनेसे 'दमूना' [कहलाता] है । अथवा दम यह घरका नाम है उसमें जिसका मन है [वह दमूना है । यह चार प्रकारका 'दमूना' पदका निर्वचन हो सकता है ।] मन पद 'मन' धातुसे बनता है ॥४॥

[५]

[जुष्टः अर्थात् हमारा] प्रिय विद्वान् और दान्त मनवाला अतिथि हमारे [दुरोणे अर्थात्] घरपर [यज्ञमुपयाहि] यज्ञमें पधारो और हे अग्ने हमारे [विश्वा अभियजो विहत्य] हमारे सारे शत्रुओंका नाश करके [शत्रूयतां अर्थात्] हमारे शत्रुओंके [भोजनानि आभर] भोग्य धनादिको हमको दिला दो ।

---

५. दमूना—नैगमकाण्डका पाँचवाँ शब्द 'दमूना' है । 'दमूना' का अर्थ अग्नि है । पिछले शब्दोंकी भाँति यह भी अनवगत-संस्कारवाला तथा अनेकार्थक शब्द है । इसलिए पहिले निरुक्तकार इस शब्दके अनेक निर्वचन दिखलाते हैं—'दममना वा' इत्यादि ।

आगे ग्रन्थकारने 'दमूना' शब्दके प्रयोगवाला उदाहरण दिया है । उस मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'जुष्टः' इत्यादि ।

अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवत्यभ्येति तिथिषु पराकुलानीति वा परगृहाणीति वा। दुरोण इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः। इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामाभर भोजनानि विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा धनानीति वा। मूषो मूषिका इत्यर्थः। मूषिकाः पुनर्मुष्णातेर्मूषोऽप्येतस्मादेव ॥५॥

अतिथि गृहोंके प्रति निरन्तर गमन करनेवाला होता है ['अत सातत्यगमने' धातुसे 'अतिथि' शब्द बनता है।] अथवा तिथियोंपर दूसरोंके कुलों परिवारोंमें अथवा दूसरोंके घरोंपर जाता है, इसलिए अग्निको अतिथि कहा है अर्थात् यज्ञके निमित्त घरोंमें पहुँचा होनेसे और अमावास्या तथा पूर्णिमारूप तिथियोंमें दर्शपौर्णमास यागके निमित्त पहुँचा होनेसे अग्नि अतिथि कहा गया है। यह दूसरा [मेहमानरूप अतिथि] भी इसी कारणसे 'अतिथि' कहलाता है। 'दुरोण' यह घरका नाम है, क्योंकि घर कठिनाईसे परिपूर्ण होनेवाले होते हैं [अर्थात् घरोंमें सदा किसी-न-किसी वस्तुकी आवश्यकता बनी रहती है]। उनकी तृप्ति नहीं होती है। सबको जाननेवाले [हे अग्ने] तुम हमारे इस यज्ञमें पधारो। और सारे विरोधियोंका नाश करके शत्रुता करनेवालोंके भोग्य पदार्थोंको ले आओ। अन्योंके सैन्योंको पराजित करके शत्रुओंके घरसे भोजन [अर्थात् भोग्य पदार्थोंको] अथवा धनोंको ले आओ। मूष ['मूषः' यह प्रथमाका बहुवचनान्तरूप है] इसका अर्थ [मूषिकाः] चूहा है। मूषिका शब्द 'मुष स्तेये' क्र्यादि धातुसे ['मुष्णातेर्दीर्घश्च' उणादि २।४२ सूत्रसे 'किकन्' प्रत्यय और उको दीर्घ स्त्रीलिंगमें 'टाप्' प्रत्यय करके बनता है] 'मूषः' भी इसी धातुसे ['क्विप्' प्रत्यय और उको दीर्घ कर बना] हैं ॥५॥

आगे निरुक्तकार अपने शब्दोंमें इसी मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकार देते हैं—'अतिथिः' इत्यादि।

६—सूप नैगमकाण्डका छठा शब्द 'मूषः' है। यों इसका अर्थ प्रसिद्ध है। यह शब्द चूहेका वाचक है। चूँकि उसकी सिद्धि 'मुष स्तेये' धातुसे होती है, इसलिए वह अनवगत संस्कारवाला शब्द भी नहीं है। फिर भी उसको यहाँ अनवगत-संस्कारवाले शब्दोंमें स्थान दिया गया है, यह बात कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगले मन्त्रमें दिये हुए त्रितके उपाख्यानको विशेषरूपसे विचारार्थ प्रस्तुत करनेकी दृष्टिसे ही इस शब्दका यहाँ समावेश किया गया है।

त्रितका उपाख्यान

त्रितका उपाख्यान भी वैदिक साहित्यकी एक प्रमुख समस्या है। वेदोंमें अनित्य इतिहास माननेवाले सायण आदि भाष्यकारोंने त्रितनामक एक ऐतिहासिक व्यक्तिकी कल्पना की है। त्रित इस संख्यान्वित नामके आधारपर त्रितके एकत तथा द्वित दो भाइयोंकी भी कल्पना उन्होंने की है। ऋ० १-५२-५ के भाष्यमें सायणने त्रितके विषयमें लिखा है—"अग्निने जलमें एकत, द्वित तथा त्रित तीन पुत्र उत्पन्न किये थे। त्रित कभी पानी पीनेका प्रयत्न करते समय कुएमें गिर पड़ा। असुरोंने उस कुएको पत्थर आदिसे ढक दिया जिससे कि वह निकल न सके। किन्तु वह किसी प्रकार उसमेंसे निकल भागा। दूसरी जगह ऋ० १-१०५ सूक्तके भाष्यमें सायणने एकत, द्वित तथा त्रित नामके तीनों ऋषि किसी यात्रापर जाते समय जल-पानके लिए कहीं ठहरे। त्रितने सबका लाकर पानी पिलाया। उसके बाद एकत और द्वित दोनोंने मिलकर त्रितको कुएमें डाल दिया और उसकी धन-सम्पत्ति लेकर चले गये। उस समय कूपमें पड़े हुए त्रितने जो करुण विलाप किया है उसीमेंसे 'सं मा तपन्ति पर्शवः' ऋ० १-१०५-८ इत्यादि एक मन्त्र यास्कने यहाँ 'मूषः' शब्दकी व्याख्याके प्रसंगमें उद्धृत किया है। और इसीकी व्याख्याके प्रसंगमें 'त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ' अर्थात् कुएमें पड़े हुए त्रितको इस सूक्तका दर्शन हुआ यह लिखा है।

यास्कने यह विवरण ऐतिहासिक पक्ष माननेवालोंकी दृष्टिसे दिया है। किन्तु जो लोग वेदोंमें अनित्य इतिहास नहीं मानते हैं उनके मतमें त्रित नामका कोई ऐतिहासिक ऋषि नहीं हुआ है। 'त्रिभिस्तापैः तप्यते इति त्रितः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकारके

[६]

सं मा॑ तपन्त्य॒भितः॑ स॒पत्नी॑रिव॒ पर्श॑वः ।
मू॒षो॒ न शि॒श्ना व्य॑दन्ति मा॒ध्यः॑ स्तो॒तारं॑ ते शतक्रतो
वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रोद॑सी ॥ [ऋ० १-१०५-८]

---

[६]

हे शतक्रतो, परमात्मन्, [ते स्तोतारं] आपके [स्तोता] भक्त होनेपर भी [त्रिविध तापोंसे सन्तप्यमान] मुझको मर्मस्पर्शिनी मानसिक वेदनाएँ सपत्नियोंके समान सब ओरसे अत्यन्त दुःखी कर रही हैं। और मूषक जैसे अपने शिश्नको चाटते हैं इस प्रकार आधियाँ [अर्थात् मानसिक पीड़ाएँ] मुझको खाये जा रही हैं। [उत्तेजनाकी अवस्थामें त्वचासे बाहर निकले हुए शिश्नको चाटना पशुओंका स्वभाव है]। मेरी इस अवस्थाको [संसारमें और कोई नहीं जानता है]। केवल द्यावा-पृथिवी ही जानती हैं।

सन्तापोंसे तप्त प्रत्येक व्यक्ति त्रित है। वह जिस दुःखसागरमें निमग्न है, उसीको यहाँ 'कूप' कहा गया है। उस दुःखके कूपमें पड़े हुए व्यक्तिकी मनःस्थितिका चित्रण इस सूक्तमें तथा इस मन्त्रमें किया गया है। मन्त्रका अर्थ करते समय इतिहास माननेवाले और न माननेवाले दोनों पक्षोंमें केवल एक 'पर्शवः' शब्दके अर्थमें भेद आता है। शेष सारा अर्थ दोनों पक्षोंमें समान ही रहता है। इतिहासवादी पक्षमें जिसे कि यास्कने प्रस्तुत किया है 'पर्शवः' का अर्थ 'कूपपर्शवः' अर्थात् कुएकी ईंटें किया है। क्योंकि इन्होंने कुएको वास्तविक कुआ समझा है। किन्तु जो लोग इतिहास नहीं मानते हैं उनके मतमें 'पर्शवः' पद 'आधयः' का विशेषण है। और उसका अर्थ स्पर्श करनेवाली अर्थात् मर्मस्पर्शिनी मानसिक पीड़ाएँ यह 'पर्शवः आधयः' का अर्थ होता है। इस पक्षमें 'पर्शवः' एक सजीव प्रभावशाली विशेषण है। 'सपत्नीरिव' की उपमा और 'पर्शवः' विशेषण उस दुःखनिमग्न व्यक्तिकी मानसिक वेदनाका जो सजीव मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित करते हैं उससे काव्यमें एक चमत्कार प्रतीत होता है। 'पर्शवः' का अर्थ ऐति-

सन्तपन्ति माममितः सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवो मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति । स्वाङ्गाभिधानं वा स्याच्छिश्नानि व्यदन्तीति । सन्तपन्ति माध्यः कामाः स्तोतारं ते शतक्रतो । वित्तं मे अस्य रोदसी । जानीतं मे अस्य द्यावापृथिव्या-

ये पसलियाँ अर्थात् कुएँकी पसलियाँ अर्थात् ईंटें मुझे सपत्नियोंके समान चारों ओरसे सता रही हैं। मूषिका जैसे [तेल आदि स्निग्ध पदार्थोंमें] भिगोये हुए सूत्रोंको खाती हैं [इस प्रकार आँधियाँ मुझे खाये जा रही हैं। [इस व्याख्यामें 'शिश्ना' पदका अर्थ 'अस्नातानि सूत्राणि' किया है। आगे उसका दूसरा अर्थ देते हैं] अथवा [शिश्न पदसे] अपने अंगका ही कथन किया गया है [अर्थात् उत्तेजनाके कारण त्वचासे बाहर निकले हुए] शिश्नको जैसे चाटते हैं [इस प्रकार आधियाँ मुझे चाटे जा रही हैं]। आधियाँ अर्थात् कामनाएँ मुझको सन्तप्त कर रही हैं। हे शतक्रतो इन्द्र! आपके स्तोता [मुझ] को [सताती हैं]। द्यावा-पृथिवी मेरी इस अवस्थाको जानती हैं।

हासिक पक्षके अनुसार पसलियाँ किया जाता है और उससे लक्षणा द्वारा ईंटोंका ग्रहण किया जाता है, बहुत स्वारसिक अर्थ नहीं है। उसमें मन्त्र फिर पसलियों-का अस्थिपंजरमात्र-निर्जीव और निष्प्राण ढेर मात्र रह जाता है। 'पर्शवः' का 'मर्मस्पर्शी' अर्थ मन्त्रमें एक जीवन और चमत्कार उत्पन्न कर देता है। इसलिए हमने उसी प्रकारका मन्त्रका अर्थ उपस्थित किया, जो ऊपर निर्दिष्ट है—'हे शतक्रतो' इत्यादि।

नैषध महाकाव्यमें भी राजा नलकी इसी प्रकारकी मानसिक वेदनाका चित्रण करते हुए कविने 'अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला' यह लिखा है। अर्थात् नलकी उस समयकी मानसिक व्यथाको, जिसके कारण उन्हें सारी रात नींद नहीं आती थी, उनके जागरणके दुःखकी साक्षिणी निशा और शशांकके समान कोमल शय्या ही जानती थीं और कोई नहीं जानता था। ठीक इसी प्रकारका भाव यहाँ 'वित्तं मे अस्य रोदसी' इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

त्रिति । त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ । तत्र ब्रह्मेतिहास-मिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति । त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूवापि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः॥६॥

[७]

इषिरेणं ते मनंसा सुतस्यं भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः ।
सोमं राजन्प्र ण आयूंषि तारीरहांनीव सूर्यो वासराणिं ॥
[ऋ० ८-४८-७]

कुएमें पड़े हुए त्रितको यह सूक्त आभासित हुआ - इसमें [ब्रह्म अर्थात्] वेद इतिहास, स्तुति [ऋचा] और गाथासे युक्त—मिश्रित हो गया है । मेधामें सबसे बढ़ा हुआ [तीर्णतम] होनेसे त्रित [कहा गया हैं । अथवा यह संख्या-वाचक ही अभिप्रेत है । क्योंकि एकत, द्वित तथा त्रित तीन [भाई या ऋषि] हुए थे ॥६॥

[७]

[तुमको] अर्थात् तुम्हारे महत्त्वको प्राप्त हुए मनसे [अर्थात्] सदा तुम्हारे महत्त्वका चिन्तन करनेवाले मनसे] अथवा तुमको चाहने-वाले या तुमको देखनेवाले मनसे] हम निचोड़े हुए तुम्हारा अपनी पैतृक सम्पत्तिकी तरह पान करते हैं । इसलिए हे देदीप्यमान सोम ! सूर्य जैसे [ग्रीष्म ऋतुमें] दिनोंको बढ़ा देता [लम्बा कर देता] है इस प्रकार आप हमारी आयुको बढ़ाओ ।

आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'सं तपन्ति' इत्यादि ।

'तत्र ब्रह्म इतिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति' इसमें 'ऋङ्मिश्रं तथा गाथामिश्रम्, शब्दोंके विशेष भेदपर ध्यान देना चाहिये । ऋक् शब्द सामान्य-रूपसे ऋग्वेदके सारे मन्त्रोंका बोधक है, परन्तु यहाँ विशेषरूपसे परिदेवना-परक मन्त्रोंका ग्राहक है । गाथा शब्द 'गायन्ति स्तुवन्ति आभिः इति गाथाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार गान अर्थात् स्तुति करनेवाले मन्त्रोंके लिए प्रयुक्त किया गया है । इस मन्त्रमें अथवा इस सूक्तमें जो इतिहास दिया गया है उसमें परि-

ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य प्रवर्द्धय च न आयूंषि सोम राजन्! अहानीव

['इषिरेण' शब्द प्राप्त्यर्थक] 'इषति' धातुसे, अथवा [इच्छार्थक] 'इष' धातुसे अथवा [दर्शनार्थक] 'ऋषि' धातुसे बना है, इसलिए आपको] प्राप्त हुए, अथवा चाहनेवाले अथवा देखनेवाले मनके द्वारा निचोड़े गये आपका हम भक्षण [पान] करते हैं। पैतृक सम्पत्तिकी भाँति [आपका भोग करते हैं] हे सोम राजन्! हमारी आयुओंको

देवना और स्तुति दोनों पायी जाती हैं। इसलिए सूक्तके इस मन्त्रमें इतिहास, परिदेवना और स्तुति तीनों पायी जाती हैं। इसलिए यहाँ 'तत्र ब्रह्म इतिहास-मिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति' यह लिखा गया है।

स्कन्दस्वामीने ऐतिहासिक पक्षवाली व्याख्या देनेके बाद इसका नित्यपक्षवाला अर्थ भी निम्न प्रकारसे दिया है—

'नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्ग-नरक-मर्त्येषु बद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्म-ज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमनाप्नुवन् घटीयन्त्रवद् घटिते संसारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयांचक्रे। सन्तापयन्ति मां मातुरुदरे मग्नमशुचिप्रस्तरके पुरीषतन्तुजालके यकृल्लोमावष्टब्धीभत्समानं असृक्पङ्कमध्यशायिनं तमसि निरालोके संवर्तमानम् अभितः मातुः पर्शव इव। तत्रस्थस्य च मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः सम्यग्दर्शनविषयाः कामा असम्पद्यमानाः। परं समानयोजनम्।

७ 'इषिरेण'—यह शब्द नैगमकाण्डका सातवाँ शब्द है। पूर्व शब्दोंके समान यह भी अनवगत-संस्कार और अनेकार्थक शब्द है। इसलिए निरुक्तकारने उसके 'ईषणेन वा एषणेन वा ऋषणेन वा' ये तीन प्रकारके निर्वचन किये हैं। 'इषति फणति' ये दोनों गत्यर्थक धातु हैं। उससे यदि इषिर शब्दको सिद्ध किया जाता है तो उसका अर्थ 'आपको प्राप्त हुए मनसे' इस प्रकार होगा। 'इष' धातु इच्छार्थमें भी है। उससे सिद्धि माननेपर 'इषिरेण मनसा' का अर्थ 'आपको चाहनेवाले मनसे' होगा। और दर्शनार्थ 'ऋषि' धातुसे इषिर शब्दकी सिद्धि माननेपर उसका अर्थ 'आपको देखनेवाले मनसे' होगा। मन्त्रमें सोमरस-की स्तुति है। मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकार है—'तुमको' इत्यादि।

सूर्यो वासराणि। वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा।

कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति कर्त्तन हन्तन यातनेति। जठरमुदरं भवति जग्धमस्मिन्ध्रियते धीयते वा ॥७॥

बढ़ाओ। जैसे सूर्य [वेसराणि अर्थात् तीव्रगतिसे] चलते हुए अथवा [विवासनानि अर्थात् शीतकालके कुहरे आदिसे रहित] खुले हुए और [गमनानि अर्थात्] बढ़नेवाले [गर्मीके] दिनोंको बढ़ाता है। [इस प्रकार आप हमारी आयुओंको बढ़ावें]।

८ कुरुतन—इसमें [अन्तके 'न'का] आगम अनर्थक [केवल पादपूर्त्यर्थक] है। [अर्थात् जो 'कुरुत'का अर्थ होता है वही 'कुरुतन'का भी अर्थ है। इसी प्रकार] 'हन्तन' और 'यातन' [इनमें भी अन्तिम नकारका आगम अनर्थक है]।

९. जठर उदर अर्थात् पेट है। 'जग्धम् अस्मिन् ध्रियते धीयते वा' [यह 'जठर'की व्युत्पत्ति है अर्थात् खाया हुआ जिसमें रखा जाता है वह जठर है। 'जग्ध' पूर्वक 'धृ' या 'धा' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय कर 'जठर' बनता है] ॥७॥

आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रका अर्थ करते हैं—'ईषणेन' इत्यादि।

कुरुतन, हन्तन और यातनके प्रयोगका कोई उदाहरण यहाँ यास्कने नहीं दिया है। किन्तु उनका प्रयोग निम्न मन्त्रोंमें देखा जा सकता है—

[१]—शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे ॥

[यजुः० १२-६९]

[२]—यो नो मरुतो अभि दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान् प्रति संमुचीष्ट तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम् ॥

[ऋ० ७-५९-८]

[८]

मरुत्वाँ' इन्द्र वृषभो रणा'य पिबा सोमंमनुष्वधं मदाय ।
आसिञ्चस्व जठरे मध्वं ऊर्मिं त्वं राजांसि प्रदिवः सुतानांम् ॥
[ऋ० ३-४७-१]

---

[८]

हे मरुत्वान् इन्द्र ! आप [वृषभ अर्थात्] जलकी वृष्टि करनेवाले हैं और [प्रदिवः अर्थात् पहिले दिनोंसे अर्थात्] सदासे निचोड़े हुए सोमरसके [राजा अर्थात् अधिकारी वा] स्वामी रहे हैं । [इसलिए अब भी अनुष्वधं स्वधा अर्थात् अन्नके बाद] भोजनके बाद [रणाय अर्थात्] रमणीय मदके लिए अथवा रमणीय संग्रामके लिए ['मध्व ऊर्मिम्'] इस मधुकी तरंगरूप सोमको [जठरे आसिञ्च] अपने पेटमें डालो ।

---

[३] को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखीँरच्छा' सखायः ।
मन्मानि चित्रा अपि वातयन्त एषां भूत नवेदा म ऋतानाम् ॥
[ऋ० १-१६५-१३]

इन तीनों मन्त्रोंमें क्रमशः 'कर्तन', 'हन्तन' और 'यातन' पदोंके प्रयोग हुए हैं । इन सबमें अन्तिम नकारका आगम अनर्थक है । केवल पादपूर्तिके लिए उसका प्रयोग किया गया है । उससे शब्दोंके मूल अर्थमें कोई भेद नहीं होता है ।

९ जठर—नैगमकाण्डका नवम शब्द 'जठर' है । इसका अर्थ उदर अर्थात् पेट होता है । यह भी अनवगत-संस्कारवाला शब्द है । यास्कने इसका निर्वचन किया है और उसके प्रयोगका उदाहरण भी दिया है । उस मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है—'हे मरुत्वान्' इत्यादि ।

मरुत्वानिन्द्र! मरुद्भिस्तद्वान्वृषभो वर्षितापां रणाय रमणीयाय संग्रामाय पिब सोममनुष्वधमन्वन्नं मदाय मदनीयाय जैत्राय आसिञ्चस्व जठरे मधुन ऊर्मिम्। मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः।

इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव। त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहस्सु सुतानाम् ॥८॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः।

हे मरुत्वान् इन्द्र! मरुत् [अर्थात् वायुवेग] उससे युक्त। 'वृषभः' अर्थात् जलकी वृष्टि करनेवाला। 'रणाय' अर्थात् सुन्दर संग्रामके लिए। सोमका पान करो। अनुष्वधं अर्थात् अन्नके [भोजनके] वाद। मदाय अर्थात् विजय-प्रदान करनेवाले उत्साहकी प्राप्तिके लिए। पेटमें मधुकी तरंगको आसिंचित करो। सोम मधु [के समान मद कारक] है यह वात उपमासे निकलती है। यह दूसरा मधु [शहद वाचक मधु शब्द] भी इसीसे [मदजनक] होनेसे मधु कहलाता] है। [अर्थात् 'मदी हर्षे' धातुसे मधु शब्द वनता है] तुम ही [प्रदिवः अर्थात्] पूर्व दिनोंमें निचोड़े गये [सोमरसके] राजा स्वामी रहे हो ॥८॥

चतुर्थाध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'मरुत्वान्' इत्यादि।

इस प्रकार इस पादमें नैगमकाण्डके १ जहा, २ निधा, ३ शिताम, ४ मेहना, ५ दमूना, ६ मूषः ७ इषिरेण, ८ कुरुतन और ९ जठरम् इन नौ शब्दोंकी उदाहरणसहित व्याख्या प्रस्तुत की गयी है ॥८॥

चतुर्थाध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ।

द्वितीयः पादः

[९]

तितउ परिपवनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा तिलमात्रतुन्नमिति वा ॥९॥

[१०]

सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त ।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि ॥
[ऋ० १०-७१-२]

---

[९]

'तितउ' चलनीको कहते हैं, क्योंकि [उसमें डाली गयी वस्तुके लिए वह ततवत् अर्थात्] विस्तारयुक्त होती है, अथवा २ छिद्रोंसे युक्त होती है, अथवा ३ तिलके बराबर छिद्रोंवाली होती है ॥९॥

[१०]

['यत्र' जहाँ अर्थात्] जिस समाजमें ['धीराः' अर्थात्] विद्वान् [समझदार] लोग [तितउना सक्तुमिव] जैसे चलनीसे सत्तूको छानते हैं इस प्रकार [मनसा पुनन्तः] मनसे पवित्र करके [अर्थात् प्रत्येक शब्दको सोच-विचार करके 'वाचमक्रत'] वाणीका प्रयोग करते हैं [शब्दोंका उच्चारण करते हैं, अत्र] वहीं अर्थात् उसी समाजमें [सखायः सख्यानि जानते] मित्रगण मैत्रीके सुखका अनुभव करते हैं [अर्थात् सोच-विचारकर बोलनेवाले लोगोंमें सदा मैत्री बनी रहती है। कभी कलहका अवसर उपस्थित नहीं होता है। क्योंकि] इनकी वाणीमें कल्याण-कारिणी लक्ष्मी [अर्थात् सुन्दर भाषणशैली] विद्यमान रहती है।

'तितउ' शब्दके प्रयोगका उदाहरण दिखलाते हैं। मन्त्रका अर्थ निम्न-प्रकार है—'यत्र' इत्यादि ।

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेः। दु र्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमक्रुषत धीः प्रज्ञानं धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः। तत्र

चलनीसे सत्तुओंके समान शुद्ध करते हुए। सक्तु [पद] 'षच समवाये' भ्वा० उ० धातुसे बनता है। [समवेत हो जाने, जम जाने या चिपक जानेवाला होनेसे] उसका धोना कठिन होता है [दुर्धावो भवति इसलिए सक्तु कहलाता है।] अथवा [विकसन अर्थवाले] 'कस' धातुसे विपर्यय करके [सक्तु पद बनता है, इसलिए] विकसित हो जाता है [इससे सक्तु कहलाता है ये दो प्रकारके सक्तु पदके निर्वचन हुए]। जहाँ विद्वान् लोग मनसे [पवित्र करके अर्थात् विचार करके] वाणी बोलते हैं। 'धीः'का अर्थ ज्ञान है। धीरा अर्थात् [बुद्धिसे युक्त] ज्ञानवान् अथवा ध्यान रखनेवाले।

---

१० तितउ––नैगमकाण्डका दसवाँ शब्द 'ततउ' है। यह भी पूर्व शब्दोंकी भाँति अनवगत-संस्कारवाला शब्द है। इसका अर्थ आटा आदि छाननेकी चलनी' होता है। इसके यास्कने तीन प्रकारके निर्वचन दिये हैं। १ ततवद् वा तितउ अर्थात् इसमें छाननेके लिए डाली जानेवाली वस्तु फूल जाती है इसलिए इस चलनीको 'तितउ' कहा जाता है। २ तुन्नवद्वा अर्थात् यह 'तुन्न' छिद्रोंसे युक्त होती है। अथवा ३ इसमें तिलके बराबरके छिद्र होते हैं, इसलिए तिलमात्रतुन्नमिति वा तितउ। इस प्रकारके तीन निर्वचन देकर यास्क उसके प्रयोगका उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ––'सक्तुमिव' इत्यादि।

'प्रज्ञानम्'के पहिले 'धीः' पाठ आवश्यक जान पड़ता है। पर निरुक्तके अन्य संस्करणोंमें यह पाठ नहीं है। किन्तु उसके बिना प्रज्ञानं पदकी भी कोई संगति यहाँ नहीं लगती है। अतः हमने यहाँ 'धीः प्रज्ञानम्'। इस प्रकारका पाठ दिया है।

सखायः सख्यानि सञ्जानते । भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचीति । भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम् । भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा । लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्यनाद्वा[1] लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः ।

वहाँ ही मित्र लोग मैत्रीके सुखका अनुभव करते हैं, क्योंकि इनकी वाणीमें कल्याणकारिणी लक्ष्मी [भाषणशैली] निहित होती है । 'भद्र'की व्याख्या भग [की पूर्व की हुई व्याख्या]से समझ लेनी चाहिये । अर्थात् सेवन करने योग्य होनेसे [ही भगको भग कहा जाता है । इसी प्रकार सेवन करने योग्य होनेसे भद्र अर्थात् कल्याणको 'भद्र' कहा जाता है] अथवा प्राणियोंके [अभिद्रवणीय अर्थात्] प्राप्त करने योग्य होता है । अथवा [भवत् अर्थात्] उपस्थित होनेपर [रमणीयम्] आनन्द प्रदान करनेवाला होता है [अर्थात् भद्र नामसे कहा जाता है अथवा सुपात्रवाला होता है [अर्थात् भद्र या कल्याण उसको ही प्राप्त होता है जो सुपात्र होता है] । 'लक्ष्मी' [शब्द] लाभसे [लाभदायक या लाभ करने योग्य [प्राप्तव्य] होनेसे अर्थात् 'लभ' धातुसे] अथवा २ 'लक्ष' धातुसे [लक्ष्मीवालेको सब विशेषरूपसे देखते हैं, इसलिए दर्शनार्थक 'लक्ष' धातुसे लक्ष्मी शब्द बनता है] अथवा लांछनसे [अर्थात् पुरुषके व्यक्तित्वको विशेषरूपसे चिह्नित करनेवाला होनेसे] अथवा ४ इच्छार्थक 'लष' धातुसे [सबके द्वारा उसकी इच्छा की जाती है] अथवा ५ आश्लेष अर्थवाली 'लग' धातुसे [लक्ष्मी शब्द बनता है, क्योंकि सभी लक्ष्मीका आलिङ्गन करना चाहते हैं] अथवा ६ अश्लाघार्थक 'लज' धातुसे [लक्ष्मी शब्द बनता है । लक्ष्मीवाले अपनी श्लाघा आप नहीं करते हैं] ।

---

१. लप्स्यनाद्वा इति पाठः क्वचित्पुस्तके नास्ति । सं० ।

शिप्रे इत्युपरिष्टाद् (६।१७) ॥१०॥

[११]

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥
[ऋ० १-११५-४]

'शिप्रे' इसकी व्याख्या आगे [६-१७ में] करेंगे ॥१०॥

[११]

सूर्यका यही देवत्व और यही महत्त्व है कि जो [संसारके छोटे बड़े किसी व्यक्तिकी चिन्ता न करके उनके द्वारा किये जानेवाले] कर्मोंके फैले हुए होनेपर भी बीचसे ही [अपनी किरणोंको] समेट लेता है। ज्योंही सूर्य [हरितः अर्थात्] किरणोंको [सधस्थाद् अर्थात् सहस्थान] पृथिवीपरसे [अयुक्त] अलग कर लेता है तभी रात्रि सारे जगत्पर [अन्धकारकी]चादर डाल देती है। [वासस्तनुते सिमस्मै]।

---

११ शिप्रे—नैगमकाण्डका ११ वाँ शब्द 'शिप्रे' है। इसका अर्थ 'हनुः' अर्थात् ठोड़ी अथवा नासिका है। इसका वर्णन आगे छठे अध्यायके १७ वें खण्डमें आवेगा। इसलिए यहाँ उसकी व्याख्या आदि न करके आगे उसकी व्याख्या करेंगे इस बातका निर्देश करके निरुक्तकार अगले १२वें 'मध्या' शब्दकी ओर बढ़ जाते हैं ॥१०॥

१२ मध्या—नैगमकाण्डका १२ वाँ शब्द 'मध्या' है। उसका अर्थ मध्ये अर्थात् बीचमेंसे है। यह शब्द भी अनवगत-संस्कार होनेसे ही कदाचित् यहाँ संगृहीत किया गया है। अर्थ प्रसिद्ध और स्पष्ट होनेसे निरुक्तकारने उसका कोई निर्वचन नहीं किया है। केवल उसके प्रयोगका उदाहरण दिया है। उस मन्त्रका अर्थ ऊपर वर्णित है—'सूर्यका' इत्यादि।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संहियते । यदासावयुक्त हरणानादित्यरश्मीन् हरितोऽश्वानिति वा । अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै वासरमहरवयुवती सर्वस्मात् । अपि वोपमार्थे स्याद् । रात्रीव इति वासस्तनुत[1] इति ।

वही सूर्यका देवत्व और महत्त्व है जो कि किये जानेवाले सकल कर्मोंके बीचमेंसे ही फैले हुए [किरणजाल] को समेट लेता है। जब वह [रसका] हरण करनेवाले [हरितः अर्थात्] सूर्यकिरणोंको अथवा [हरितः शब्दका दूसरा अर्थ करते हैं, अपने] घोड़ोंको अलग कर लेता है। उसके बाद रात्रि सबके ऊपर [अन्धकारका] परदा डाल देती है।

अथवा [आ रात्रि इसमें आ उपमार्थमें है। रात्रिके समान [सूर्य ही संसारपर 'वासस्तनुते' पर्दा डाल देता है]।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे निरुक्तकार अपनी शैलीसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'तत्सूर्यस्य' इत्यादि ।

यह 'वासस्तनुते सिमस्मै'का एक अर्थ हुआ। इसकी दूसरे प्रकारकी व्याख्या आगे देते हैं। इसमें 'वासः' शब्दको 'वासर'का रूप माना है। इस दूसरी व्याख्या में 'वासरम् अवयुवती' अर्थात् दिनको सब जगहसे हटाती हुई रात्रि 'तमस्तनुते' अन्धकारको फैला देती है, यह अर्थ होता है। इस अर्थके करनेके लिए अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी होती हैं। पहिले तो 'वासः' पद वासर शब्दसे जोड़ा जाता है। फिर 'वासरम् अवयुवती सर्वस्मात् तमः तनुते' इन सब शब्दोंका ऊपरसे अध्याहार करना पड़ता है। यह सब क्लिष्ट कल्पना है और उसका कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए व्यर्थमें की जानेवाली यह अनावश्यक क्लिष्ट कल्पना सर्वथा परित्याज्य है। किन्तु निरुक्तकारने उसको यहाँ दे दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्राचीन भाष्यकारने इस प्रकारकी इस मन्त्रकी व्याख्या की थी। उसको यास्कने यहाँ उद्धृत कर दिया है। निरुक्तके पुराने सारे संस्करणोंमें

---

१. रात्री वास इव तनुते इत्यर्थः । सं० ।

तथापि निगमो भवति ।

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती ॥ [ऋ० २-३८-४]

समनात्सीत् ॥ ११॥

इस प्रकारका [निगम अर्थात्] मन्त्र भी मिलता है जिसमें [सूर्य वस्त्रको फैलाता है और समेटता है इस प्रकारका वर्णन किया गया है]। जैसे—फिर [प्रातःकाल सूर्योदयके समय रात्रिमें सन्ध्याकालको अस्त होते समय विततं अर्थात्] फैलाये हुए [अन्धकाररूपी] वस्त्रको [वयन्ती अर्थात्] बुननेवालीके समान [समव्यत् 'व्येञ् संवरणे'] समेट लेता है ['समव्यत्'का पर्यायवाचक शब्द 'समनात्सीत्' दिया है। उसका अर्थ भी 'णह वन्धने' धातुके अनुसार [बाँध लेता है [यह है] ॥११॥

'वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात्' इस प्रकारका पाठ पाया जाता है। इसमें 'वेसरम्' के स्थानपर 'वासरम्' पाठ होना चाहिये। स्कन्दस्वामीने इस स्थलपर लिखा है—'भाष्ये—अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै वासरमहरवयुवती सर्वस्मात्—इति पाठः, न वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात् इति।'

स्कन्दस्वामीकी इस पंक्तिसे दो बातें निकलती हैं। एक तो यह कि यहाँ मूलमें 'वेसरम्' के स्थानपर 'वासरम्' पाठ ही होना चाहिये। 'वेसरम्' पाठ अशुद्ध है। अतः हमने उसके स्थानपर 'वासरम्' पाठ ही मूलमें दिया है। दूसरी यह बात भी निकल सकती है कि यह दूसरी व्याख्या किसी अन्य भाष्यकारकी है, जिसको यहाँ यास्कने उद्धृत किया है। किसीकी भी हो पर यह निश्चित बात है कि यह व्याख्या कुछ उपयुक्त व्याख्या नहीं है।

आगे तीसरे प्रकारकी व्याख्या देते हैं—'अपि वा उपमार्थे' इत्यादि।

हमने यह अर्थ 'रात्रीव वासस्तनुते' इस प्रकृत पाठके अनुसार किया है। स्कन्दस्वामीने यहाँ 'इव' शब्दका प्रयोग अनुचित स्थानपर बताते हुए अपनी विशेष टिप्पणी निम्नप्रकार दी है—

'भाष्ये, 'अपि वोपमार्थे स्याद् रात्रीव वासस्तनुते' इति। इव शब्दोऽस्थाने प्रयुक्तः। नहि रात्रीत्येतदुपमार्थे। किन्तर्हि? 'तनुते', 'वासः' इत्यनयोरन्यतरः।'

इसका अर्थ यह है कि यहाँ रात्री उपमान-वाचक पद नहीं है, अपितु 'वासः अथवा तनुते' पद उपमान-वाचक पद है। रात्री उस 'तनुते' क्रियाके प्रति कर्त्ता है। इसलिए या तो 'रात्री वास इव तनुते' यह पाठ होना चाहिये था अथवा 'रात्री वासस्तनुते इव' इस प्रकारका पाठ होना चाहिये था। 'रात्रीव वासस्तनुते' यह पाठ ठीक नहीं है।

इसमें अन्धकारको फैलानेवाला कौन है? यह प्रश्न है। रात्रि अन्धकारको फैलानेवाली होती ही है। किन्तु सूर्य जब अपनी किरणोंको समेट लेता है तो अन्धकारको फैलानेवाला उसका निमित्त कारण सूर्य ही है। रात्रि तो उस अन्धकारमय कालका नाम है। अन्धकारको फैलानेवाला उसका निमित्त कारण सूर्य ही है। उस दशामें 'रात्री'को उपमान पद मानकर 'रात्रीव वासस्तनुते' पाठका भी समन्वय किया जा सकता है। उस दशामें सूर्य उपमेय और रात्री उपमान पद होगा। 'वासस्तनुते' यह उनका साधारण धर्म तथा इव उपमा-वाचक पद है। इस प्रकार यह पूर्णोपमा बन जाती है। इसमें केवल इतनी बात होती है कि उपमेय सूर्य पुल्लिंग तथा उपमान रात्री स्त्रीलिंग होती है। अर्थात् उपमान और उपमेयका लिंगभेद होता है। किन्तु वैदिक उपमाओंमें इस प्रकारका प्रयोग होता है। इसलिए 'रात्रीव वासस्तनुते' पाठ भी ठीक है।

जिस प्रकार सन्ध्याकालमें सूर्यके अस्त होते समय अन्धकाररूप वस्त्र फैलाया जाता है उसी प्रकार सूर्योदयके समय प्रातःकालमें उस वस्त्रको समेटा जाता है। इस अन्धकारके समेटनेकी क्रियाका वर्णन भी 'पुनः समव्यद्विततम्' आदि अगले मन्त्रमें दिया गया है। इस मन्त्रका प्रतीक भाग ही निरुक्तकारने ऊपर उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

पुनः सम॑व्य॒द्वित॑तं॒ वय॑न्ती म॒ध्या कर्तो॒र्न्य॑धा॒च्छक्म॒ धीरः॑।
उत्सं॑हाया॑स्था॒द् व्यृ॒१॒तूँर॑दर्धर॒रम॑तिः सवि॒ता दे॒व आगा॑त्॥

[ऋ० २-३८-४]।

[१२]

इन्द्रे॑ण सं हि दृक्ष॑से सञ्जग्मा॒नो अबि॑भ्युषा ।
म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ [ऋ० १-६-७]

---

[१२]

हे मरुत् , आप [समानवर्चसा] अपने समान शक्तिशाली, [अबिभ्युषा] निर्भय और [मन्दू] आनन्दप्रदान करनेवाले इन्द्रके साथ-साथ [संजग्मानः] मिलकर [संदृक्षसे] बहुत अच्छे लगते हो। [अर्थात् वर्षाके साथ वायुका बहना बड़ा आनन्दप्रद होता है]।

इस मन्त्रमें प्रातःकालके सूर्योदयका वर्णन है। 'सविता देव आगात्' सूर्यदेव आ रहे हैं। उदित हो रहे हैं। क्या करते हुए कि 'पुनः समव्यद्विततम्' उस फैले हुए अन्धकाररूपी वस्त्रको 'पुनः समव्यत्' फिर समेटते हुए। 'समव्यत्' पद 'व्येञ् संवरणे' धातुसे बना है। फिर प्रातःकालके समय फैले हुए अन्धकार-रूपी वस्त्रको समेटते हुए सूर्यदेव आ रहे हैं, उदित हो रहे हैं। यह इस मन्त्रका भाव है। जैसे पहिले मन्त्रमें 'रात्रीव वासस्तनुते' यह उपमा दी गयी है इसी प्रकार इस मन्त्रमें 'वयन्ती'को उपमान-वाचक पदके रूपमें प्रयुक्त किया गया है। 'वयन्ती'का अर्थ बुननेवाली स्त्री है। बुननेवाली स्त्री जैसे फैले हुए वस्त्रको समेट लेती है इसी प्रकार सूर्य फैले हुए अन्धकारको समेट देता है, नाश कर देता है। इसमें अन्धकाररूपी वस्त्रको समेटनेवाली 'वयन्ती' नहीं अपितु सूर्य ही है। इसी प्रकार पहिले मन्त्रमें उस अन्धकाररूपी वस्त्रको फैलानेवाला सूर्य ही है, रात्री नहीं। जैसे यहाँ 'वयन्ती' उपमान-वाचक पद है इसी प्रकार पिछले मन्त्रमें 'रात्री' उपमान-वाचक पद है। इसलिए 'रात्रीव वासस्तनुते' यही पाठ ठीक है। स्कन्दस्वामीने जो 'वास इव तनुते' अथवा 'वासस्तनुते इव' इस प्रकारका संशोधन प्रस्तुत किया है, वह उचित नहीं है।

इन्द्रेण हि सन्दृश्यते संगच्छमानोऽविभ्युषा गणेन । मन्दू मदिष्णू युवां स्थः । अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात् । समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् ॥१२॥

[हे मरुत्, आप] भय-रहित इन्द्रके साथ [गणेन संगच्छमानः] अपने समुदायके साथ [मरुद्गण] मिलते हुए अच्छे लगते हो। [अर्थात् मरुद्गण तथा इन्द्र] आप दोनों [मन्दू अर्थात्] आनन्दप्रदान करनेवाले हैं [इस पक्षमें 'मन्दू' पदको प्रथमाका द्विवचन मानकर अर्थ किया गया है] अथवा [मन्दुना तेन इन्द्रेण] आनन्दप्रदान करनेवाले उस इन्द्रके साथ [मिलकर अच्छे लगते हो] यह अर्थ भी हो सकता है [इस पक्षमें 'मन्दू' पदको तृतीयाका एकवचन मानकर अर्थ किया गया है]। 'समानवर्चसा' इसकी व्याख्या भी इस ['मन्दू' पद] की व्याख्यासे हो गयी। [अर्थात् जैसे 'मन्दू' पदको प्रथमाका द्विवचन तथा तृतीयाका एकवचन मानकर दो प्रकारकी व्याख्या की गयी है इसी प्रकार 'समानवर्चसा' पदकी भी दोनों प्रकारकी व्याख्या समझ लेनी चाहिये। 'समानवर्चसा'को जब प्रथमाका द्विवचन मानेंगे तब उसका अर्थ यह होगा कि आप दोनों समान शक्तिवाले हो। और जब उसे तृतीयाका एकवचन मानेंगे तब वह इन्द्रका विशेषण होगा और उसका अर्थ समान शक्तिशाली इन्द्रके साथ मिलकर, यह होगा।] ॥१२॥

---

१३ मन्दू—नैगमकाण्डका १३वाँ शब्द 'मन्दू' है। यह पद 'मदी हर्षे' धातुसे औणादिक उ प्रत्यय करके बनता है। और उसका अर्थ आनन्द देनेवाला है। इस दृष्टिसे यह न तो अनवगत-संस्कार है और न अनेकार्थक। फिर भी इस अनवगत-संस्कारवाले शब्दोंके प्रकरणमें इसका संग्रह किया गया है, इसका कारण यह है कि इसके विषयमें विभक्ति तथा वचनका सन्देह रहता है। 'मन्दू' पदको प्रथमाका द्विवचन मानकर इन्द्र तथा वायु दोनोंका विशेषण माना जा सकता है। अथवा तृतीयाका एकवचन मानकर उसे 'समानवर्चसा'का विशेषण

[१३]

ई॒र्मान्ता॑सः॒ सिलि॑कमध्यमासः॒ सं शूर॑णासो दि॒व्यासो॒ अत्या॑ः ।
हं॒सा इ॑व श्रेणि॒शो य॑तन्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वा॑ः ॥

[ऋ० १-१६३-१०]

---

[१३]

लम्बे और मोटे पुट्ठावाले, लम्बी और पतली कमर और मध्यमें प्रधान अश्वको अथवा सूर्यदेवको धारण किये हुए, [संशूरणासः अर्थात्] आदित्यको लिये हुए [अत्याः अर्थात्] निरन्तर गतिशील दिव्य सूर्याश्व जव [दिव्यम् अज्म अर्थात्] अन्तरिक्षमार्गमें [आक्षिषुः] दौड़ते हैं तव पंक्तिवद्ध हंसोंके समान प्रतीत होते हैं या चलते हैं।

माना जा सकता है। इसी दृष्टिसे इसका यहाँ संग्रह किया गया है। निरुक्तकार इस 'मन्दू' शव्दके प्रयोगसे युक्त मन्त्रको उदाहरणरूपमें उद्धृत कर उसकी व्याख्या करेंगे। मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है।

इस मन्त्रके ऋषि मधुच्छन्दा और देवता इन्द्र तथा मरुत् दोनों हैं। इसलिए मन्त्रमें मरुत्को सम्बोधन करके कहा जा रहा है—'हे मरुत्' इत्यादि।

आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे मन्त्रका अर्थ करते हैं—'इन्द्रेण हि' इत्यादि ॥१२॥

१४ ईर्मान्तासः—नैगमकाण्डका १४ वाँ शव्द 'ईर्मान्तासः' है। पिछले शव्दोंकी भाँति यह भी 'अनवगत-संस्कार'वाला शव्द है। यास्कने इसके १ 'समीरितान्ताः' और २ 'पृथ्वन्ता वा' ये दो अर्थ किये हैं। मन्त्रका देवता सूर्य है और इसमें सूर्यके सप्ताश्वोंका वर्णन है। मन्त्रमें पूर्वार्द्धके सारे पद अश्वोंके विशेषण हैं। उनमेंसे 'ईर्मान्तासः' में अन्त पदसे घोड़ेका अन्तिम भाग अर्थात् पुट्ठेका ग्रहण किया गया है। वे पुट्ठे जिनके समीरित अर्थात् लम्वे अथवा पृथु अर्थात् मोटे या चौड़े हैं वे लम्वे या मोटे पुट्ठेवाले अश्व 'ईर्मान्तासः' पदसे अभिप्रेत

ईर्मान्ताः समीरितान्ताः सुसमीरितान्ताः पृथ्वन्ता वा। सिलिकमध्यमा संसृतमध्यमा शीर्षमध्यमा वा। अपि वा शिर आदित्यो भवति यदनुशेते सर्वाणि भूतानि मध्ये चैषां तिष्ठति। इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति। सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः। शूरः शवतेर्गतिकर्मणः।

[ईर्मान्ताः] लम्बे अन्त अर्थात् पुट्ठेवाले अथवा मोटे चौड़े पुट्ठेवाले। [सिलिकमध्यमाः] लम्बी कमरवाले अथवा [शीर्षमध्यमाः अर्थात्] बीचमें मुख्य अश्वसे युक्त। अथवा शिर आदित्यका नाम है, क्योंकि वह सारे प्राणियोंके साथ सम्बद्ध [व्याप्त] होता है। और इनके [अर्थात् प्राणियोंके अथवा सप्ताश्वोंके] बीचमें रहता है। यह दूसरा [प्राणियोंका] सिर भी इसीलिए [शिर कहलाता] है, क्योंकि इसमें सारी ज्ञानेन्द्रियाँ आश्रित होती हैं। [संशूरणासो दिव्यासो अत्याः] [इन तीनों पदोंका अर्थ आगे देते हैं] 'शूर' शब्द गत्यर्थक 'श्व' धातुसे बना है [इसलिए 'संशूरणासः'का अर्थ निरन्तर गमनशील है] दिव्या अर्थात् द्युलोकमें उत्पन्न होनेवाले। 'अत्याः' अर्थात्

हैं। मन्त्रमें दूसरा विशेषण 'सिलिकमध्यमासः' पद भी इसी प्रकारका अनवगत-संस्कारवाला पद है। यास्कने इसके भी दो अर्थ किये हैं। १ 'संसृतमध्यमाः' अर्थात् जिनकी कमर लम्बी फैली हुई है और दूसरा 'शीर्षमध्यमाः'। 'सिलिक-मध्यमासः'का 'शीर्षमध्यमाः' निर्वचन बहुत दूरका हो जाता है। और उसका अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता है। स्कन्दस्वामीने 'शीर्षप्रधानो मध्यमो येषां ते शीर्ष-मध्यमाः' यह 'शीर्षमध्यमाः' पदकी व्याख्या की है। इसका यह अभिप्राय है कि सूर्यके सात अश्व माने जाते हैं उनमें मध्यवाला अश्व प्रधान है। मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है—'लम्बे' इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'ईर्मान्ताः' इत्यादि।

दिव्या दिविजा अत्या अतनाः। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते। हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्‌ श्रेणिश इति श्रेणिः श्रयतेः। समाश्रिता भवन्ति। यदाक्षिपुर्यदापन्दिव्यमज्ममजनिमाजिमश्वाः।

अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्यादित्यादश्वो निस्तष्ट इति। सूराद‌श्वं वसवो निरतष्ट॥ [ऋ० १-१६३-२] इत्यपि निगमो भवति॥१३॥

निरन्तरगमनशील। 'हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते' [इसका अर्थ करते हैं] हंस पद [गत्यर्थक] 'हन' धातुसे बना है; इसलिए जो मार्गमें गमन करते हैं। 'श्रेणिः शब्द 'श्रिञ्‌ सेवायाम्‌' [भ्वा० उ०] धातुसे बनता है, क्योंकि उसमें आश्रय लिये हुए होते हैं। 'यदाक्षिपुः' जब प्राप्त होते हैं ['दिव्यम्‌ अज्मम्‌'] अज्म अर्थात्‌ अजनि अर्थात्‌ आजि अर्थात्‌ मार्गको। अर्थात्‌ जब अश्व अन्तरिक्ष-मार्गको व्याप्त करते हैं।

अश्वकी स्तुति आदित्यकी ही स्तुति है। क्योंकि आदित्यसे अश्व उत्पन्न हुआ है। जैसा कि 'वसुओंने सूर्यसे अश्वको बनाया' यह [ऋ० १-१६३-८] मन्त्रमें कहा गया है॥१३॥

यह मन्त्रकी व्याख्या हो गयी। इस व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि मन्त्रमें सूर्यके अश्वोंकी प्रशंसा की गयी है। इसपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस मन्त्रका देवता तो सूर्य है। उसमें सूर्यकी स्तुति होनी चाहिये थी। अश्वोंकी स्तुति क्यों की गयी है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए यास्कने अगली पंक्ति लिखी है। इसका आशय यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अनुसार सूर्यसे अश्वकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए जैसे पुत्रकी प्रशंसा तथा यशसे पिताका नाम उज्ज्वल होता है। पिताकी कीर्ति और प्रशंसा होती है। इसी प्रकार सूर्यके अश्वोंकी प्रशंसासे सूर्यकी ही स्तुति होती है। इसी बातको ब्राह्मण-वाक्यको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत करते हुए यास्क अगली पंक्तिमें निम्नप्रकार कहते हैं—'अस्त्यादित्य०' इत्यादि॥१३॥

[१४]

कायंमानो व॒ना त्वं यन्मा॒तॄरज॑गन्न॒पः । न तत्ते॑ अग्ने प्र॒मृषे॑ नि॒वर्त॑न॒ं यद्दू॒रे सन्नि॒हाभ॑वः ॥ [ऋ० ३-९-२]

कायमानश्चायमानः क्रामयमानः इति वा । वनानि त्वं यन्मातॄरपोऽगम उपशाम्यन् । न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्तनं दूरे यत्सन्निह भवसि जायमानः ।

---

[१४]

हे अग्ने [अर्थात् विद्युत्] ! [वना कायमानः] काष्ठोंको चाहते हुए [वन शब्द वन अर्थात् वृक्ष और जल दोनोंका वाचक है । वृक्षके सम्बन्धसे उसका अर्थ काष्ठ भी किया जाता है] तुम जो अपने मातृभूत जलमें चले जाते हो तुम्हारा यह [काष्ठ या जलमें] निवर्तन [वापिस चला जाना 'न प्रमृषे'] अच्छा नहीं लगता है । क्योंकि [दूरेऽपि सन् अर्थात्] अदृश्य होकर भी तुम यहीं हमारे पास उपस्थित रहते हो ।

कायमान अर्थात् चायमानः अर्थात् देखते हुए । अथवा चाहते हुए । वना अर्थात् वनानि कोष्टोंको । जो तुम शान्त होकर मातृभूत जलमें चले जाते हो । हे अग्ने, तुम्हारा वह निवर्तन [पुनः जलमें या काष्ठमें चला जाना हमें सह्न नहीं होता है, अच्छा नहीं लगता है । क्योंकि दूर अर्थात् अदृश्य होनेपर भी जायमानः अर्थात् दुबारा उत्पन्न होनेके लिए तुम यहाँ हमारे समीप ही रहते हो ।

---

१५ कायमानः—नैगमकाण्डका १५ वाँ शब्द 'कायमानः' है । यह भी अनवगत-संस्कार' और अनेकार्थक शब्द है । मन्त्रमें विद्युत् काष्ठमें लीन हो जाती है और जलसे उत्पन्न होती है इस वैज्ञानिक सिद्धान्तका उल्लेख किया गया है । मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है—'हे अग्ने' इत्यादि' ।

यह मन्त्रका अर्थ है । आगे यास्क अपनी पद्धतिसे इसकी व्याख्या करते हैं—'कायमानः' इत्यादि ।

लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ॥ [ऋ० ३।५३।२३]
लुब्धमृषिं नयन्ति पशु मन्यमानाः ॥

[तपोवलका मूल्य न समझनेवाले मूर्ख व्यक्ति] तपोनिष्ठ ऋषिको पशु मानकर [पशुवद् नयन्ति] हाँकते हैं [अर्थात् उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं]।

लुब्ध [अर्थात् तपोलुब्ध] ऋषिको पशु समझते हुए हाँकते हैं [अर्थात् उसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं]।

१६ लोधम्—नैगमकाण्डका सोलहवाँ शब्द 'लोधम्' है। यास्कने उसका अर्थ लुब्ध किया है। और उसके साथ ऋषिपद भी जोड़ा है। 'लुब्धं ऋषिम्' से तपोलुब्ध ऋषि अर्थ ही लिया जा सकता है। अन्यथा ऋषिके साथ लुब्धपद संगत नहीं होगा। 'लोधं' पदका प्रयोग जिस मन्त्रमें आया है उस मन्त्रका केवल एक टुकड़ा 'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' ही यहाँ उद्धृत किया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति ॥
[ऋ० ३-५३-२३]

पूरे मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—

जो [सायकस्य अर्थात्] शक्तिको अर्थात् तपोवलको [न चिकिते] न जाननेवाले [जनासः] मनुष्य हैं वे [लोधम् अर्थात्] तपोलुब्ध ऋषिको [अर्थात् तपोनिष्ठ महात्माओंको, 'पशु मन्यमानाः' अर्थात्] पशुके समान मूर्ख और असमर्थ मानकर जैसे चाहा वैसे 'नयन्ति' हाँकते हैं। [अर्थात् उनको तुच्छ समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। वे लोग वस्तुतः स्वयं मूर्ख हैं। इसके विपरीत जो बुद्धिमान् और तपःसामर्थ्यको समझनेवाले व्यक्ति हैं वे 'न अवाजिनं वाजिना हासयन्ति'] अवाजिनं अर्थात् तपोवल-विहीन सामान्य लौकिक पुरुषोंको तपोवलसे युक्त तपस्वीके साथ तुलना करके उपहासका पात्र नहीं बनाते हैं। अर्थात्

शीरं पावकशोचिषम् ॥ [ऋ० ८-१०२-११॥
पावकदीप्तिम् । अनुशायिनमिति वाशिनमिति वा ॥१४॥

[शीरं अर्थात्] सर्वत्र व्यापक और [पावकशोचिषम्] पवित्र कान्तिवाले [उस अग्नि या परमात्माका ध्यान करो]।

अनुशायी अर्थात् जो सब प्राणियोंमें भीतर प्रविष्ट होकर सोता है अथवा आशी अर्थात् सब प्राणियोंको व्याप्त करता है [व्यापक] पावकदीप्ति अर्थात् पवित्र करनेवाले अग्निका या परमात्माका [ध्यान करो] ॥१४॥

सामान्य लौकिक जनोंकी तपस्वी पुरुषोंके साथ तुलना नहीं करनी चाहिये। दोनोंको समान नहीं समझना चाहिये। तपोनिष्ठ महात्माओं और साधारण जनोंमें ऐसा ही भेद है जैसे घोड़े और गधेमें। तपस्वी महात्माओंके सामने सामान्य जनोंको प्रमुखता देना वैसा ही मूर्खतापूर्ण कार्य है जैसे घोड़ेके सामने गधेको महत्त्व देना। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति ['न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति] अश्वोंके सामने गर्दभोंको नहीं लाते हैं। यह सारे मन्त्रका भाव है। प्रकृतमें उद्धृत मन्त्रभागका अर्थ और उसकी यास्ककृत व्याख्या ऊपर निर्दिष्ट है—'तपोवल्का' इत्यादि।

१७ शीरम्—नैगमकाण्डका १७ वाँ शब्द 'शीरम्' है। उसका प्रयोग 'शीरं पावकशोचिषम्' इस मन्त्रभागमें किया गया है। पूरा मन्त्र निम्न-प्रकार है—

शीरं पावकशोचिषं ज्येष्ठो यो दमेष्वा।
दीदाय दीर्घश्रुत्तमः ॥ [ऋ० ८-१०२-११]

सर्वत्रव्यापक और पवित्रकान्ति उस परमात्माका ध्यान करो जो [ज्येष्ठः] सबसे महान् और [दीर्घश्रुत्तमः] सबसे अधिक विख्यात [अथवा सर्वज्ञ] है और [दमेषु आ दीदाय] हमारे हृदयमन्दिरोंमें [अथवा घरोंमें] सदा प्रकाशित रहता है।

[१५]

क॒नी॒न॒केव॑ वि॒द्र॒धे नवे॑ द्रु॒प॒दे अ॑र्भ॒के। ब॒भ्रू यामे॑षु शोभेते ॥
[ऋ० ४-३२-२३]

कनीनके कन्यके । कन्या कमनीया भवति । क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा। कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः ।

---

[१५]

[नवे] नवजात [अर्भके] छोटी-छोटी [ये दोनों पद प्रथमाके द्विवचनके रूप हैं। कनीनका पद भी प्रथमाका द्विवचन है। उसमें 'औ' के स्थानपर 'आ' आदेश होकर 'कनीनके' के स्थानपर 'कनीनका' द्विवचनका रूप बना है] दो कन्याएँ [विद्रधे] कटे हुए बेलबूटेदार [द्रुपदे] काठकी चौकीपर [ये दोनों पद सप्तमीके एकवचन हैं] जैसे शोभित होती हैं इसी प्रकार बभ्रूवर्ण धूसर रंगके दो अश्व [यामेषु अर्थात् अपने] बन्धनके स्थानपर शोभित होते हैं।

'कनीनके' अर्थात् दो कन्याएँ [मूलमें 'कनीनकेव' पद है उसमें 'कनीनका इव' इस प्रकारका पदच्छेद है। मूलके इस कनीनका पदकी ही व्याख्या निरुक्तकारने 'कनोनके' की है। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने 'कनीनका' पदको प्रथमाका द्विवचन माना है। आगे प्रसंगतः 'कन्या' शब्दका अर्थ करते हैं। कन्या कमनीय होती है [इसलिए कन्या कहलाती है] अथवा इसको [विवाह सम्बन्ध

१८-१९ विद्रधे तथा द्रुपदे—नैगमकाण्डके अगले १८-१९ वें शब्द 'विद्रधे तथा द्रुपदे' हैं। इनका प्रयोग 'कनीनकेव विद्रधे' आदि मन्त्रमें किया गया है। इस मन्त्रको यास्कने पूरा उद्धृत किया है। इस मन्त्रका देवता इन्द्र है। मन्त्रमें 'बभ्रू यामेषु शोभेते' यह मुख्य वाक्य है। यास्काचार्यके अनुसार इस मन्त्रमें 'बभ्रू' धूसर वर्णके अश्वोंकी स्तुति है। उस एक ही मन्त्रमें 'विद्रधे तथा द्रुपदे' दोनों पदोंका प्रयोग पाया जाता है।

मंत्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'नवे' इत्यादि।

कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः। विद्रुयोर्दारुपाद्वोर्दारू दृणातेर्वा द्रूणातेर्वा तस्मादेव द्रू। नवे नवजाते अर्भके अवृद्धे। ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू

द्वारा] कहाँ ले जाया जाय [यह सोचना पड़ता है, इसलिए कन्या कहलाती है] अथवा चाहनेवालेके द्वारा ले जायी जाती है, [इसलिए कन्या कहलाती है। ये कन्या शब्दके तीन प्रकारके निर्वचन किये गये हैं। इनमेंसे प्रथम पक्षमें 'कनु' धातुसे उणादि ४-११२ सूत्र से 'यक्' प्रत्यय करके, दूसरे पक्षमें 'क्व' पूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातुसे उणादि यक् प्रत्यय, 'कम' तथा 'नी' धातुओंसे यक् प्रत्यय करके कन्या पद बनता है] अथवा ४ कान्त्यर्थ 'कन' धातुसे [उणादि यक् प्रत्यय करके कन्या शब्द] बनता है। [विद्रधे तथा द्रुपदे, नवे आदि शब्द] कन्याओंके बैठनेके आश्रय [अर्थात् चौकी] के वाचक और सप्तमीके एकवचन हैं, यह शाकपूणिका मत है। [आगे 'विद्रधे' का अर्थ विद्रुयोः तथा 'द्रुपदे'का अर्थ दारुपाद्वोः अर्थात्] नक्काशीदार लकड़ीके दो पीढ़ोंके ऊपर। [काष्ठ-वाचक] दारु शब्द 'दॄ' ['दॄ विदारणे'] धातुसे अथवा 'द्रू' ['द्रूञ् हिंसायाम्' क्रादि० प०] धातुसे बनता है। [वृक्षका वाचक] 'द्रु' पद भी उसी ['द्रूञ् हिंसायाम्' धातुसे बनता] है। [क्योंकि वह काटा जाता है, इसलिए 'द्रु' कहलाता है]। नवे अर्थात् नवीन उत्पन्न हुई। अर्भके अर्थात् बड़ी न हुई [अर्थात् छोटी-छोटी] वे कन्याएँ जैसे अपने पीढ़ेपर शोभित

दूसरे प्रकारकी व्याख्यामें 'विद्रधे' का अर्थ नक्काशीदार और 'द्रुपदे' का अर्थ काठकी पैरमें पहननेवाली खड़ाऊ हो सकता है। 'बभ्रु' पदसे धूसर वर्णके केश तथा रँगे हुए वस्त्रवाले वानप्रस्थी उपदेशक या अध्यापिका आदिका ग्रहण हो सकता है। उस पक्षमें जैसे छोटी कन्या काठकी चौकीपर शोभित होती है इस प्रकार उपदेशिका या अध्यापिका या वानप्रस्थी खड़ाऊँ पहिनकर शोभित होते हैं यह मन्त्रका भाव होगा। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'कनीनके' इत्यादि।

ग्रामेषु शोभेते । बभ्रोरश्वयोः संस्तवः । इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसंङ्ख्यायाह ।

सुवास्त्वा अधि तुग्वनि ॥ [ऋ० ८-१९-३७]

सुवास्तुर्नदी । तुग्व तीर्थं भवति । तूर्णमेतदायन्ति ॥

होती है इसी प्रकार बभ्रु वर्णके [दोनों अश्व अथवा अध्यापिका तथा उपदेशिका अथवा वानप्रस्थी] [अपने स्थानोंपर शोभित होते हैं। यह धूसर वर्णके दो अश्वोंकी स्तुति है।

ऋषिने 'मुझे यह दिया', 'मुझे यह दिया' ऐसा गिनाकर कहा कि सुवास्तुके तट [या घाटपर यह सब दिया] 'सुवास्तु' नदीको कहते हैं। 'तुग्व' तीर्थ घाटको कहते हैं। क्योंकि [स्नान आदिके लिए लोग] तुरन्त इसपर आते है।

---

२० तुग्वनि—नैगमकाण्डका अगला २०वाँ शब्द 'तुग्वनि' है। यह भी अनवगत-संस्कारवाला शब्द है। इसका अर्थ नदीका तट या घाट है। इसका प्रयोग दिखलानेके लिए मन्त्रका एक टुकड़ा यहाँ उद्धृत कर उसकी व्याख्या निरुक्तकार निम्नप्रकार करते हैं—'इदं च' इत्यादि।

यास्कने यहाँ यह एक टुकड़ा ही उद्धृत किया है। इस विषयका सम्बन्ध दो मन्त्रोंसे है। वे दोनों मन्त्र निम्नप्रकार है—

१—अदा॑न्मे पौरुकु॒त्स्यः प॑ञ्चा॒शतं॑ त्र॒सद॑स्युर्व॒धूना॑म् ।
मंहि॑ष्ठो अ॒र्यः सत्प॑तिः ॥ [ऋ० ८-१९-३६]

२—उ॒त मे॑ प्र॒यियो॑र्व॒यियो॑ः सु॒वास्त्वा॒ अधि॒ तुग्व॑नि ।
ति॒सॄ॒णां स॑प्तती॒नां श्या॒वः प्र॑णे॒ता भु॑व॒द्वसु॒र्दिया॑नां॒ पतिः॑ ॥
[ऋ० ८-१९-३७]

स्कन्दस्वामीने इन मन्त्रोंसे सम्बद्ध इतिहासको निम्नरूपसे उपस्थित किया है—

'अत्र सौभराख्याने इतिहासः। सौभरिर्नाम ऋषिः। स नद्या उदके तिष्ठन् पुत्रसहस्रेण परिवृतं सामन्तं नाम मत्स्यं ददर्श। तेनेपजातापत्याभिलापश्च दारार्थी त्रसदस्युं राजानमुपगम्य इदमुवाच। तव पञ्चाशत् कन्यकास्तासामेकां भार्यार्थे

मह्यं देहीति । स तं विरूपं वृद्धं दृष्ट्वा सापदेशं प्रत्याख्यातुं प्रत्युवाच । कुलधर्मोऽयमस्माकं कन्या स्वयंवरा इति । एतज्ज्ञात्वा त्वं कन्यान्तःपुरं गत्वा या वरयिष्यति सा तुभ्यमिति । स कथनं तथा प्रत्याकलय्य योगैश्वर्यबलाद् दिव्यं रूपमास्थाय कन्यान्तःपुरं जगाम । स तत्र रूपयौवनलावण्यातिशयाक्षिप्तान्तःकरणाभिः सर्वाभिः कन्यकाभिर्युगपदेव वृतः । विदित्वैतद् वृत्तान्तं राजा त्रसदस्युस्तस्मै ताः सर्वाः सुवास्त्वास्तीर्थे प्रादात् । तं ता गृहीत्वा आगच्छन्तं पथि इन्द्रो ददर्श । स एनं प्रपच्छ कुतस्त्येयं विभूतिरिति । स तस्मा आचचक्षे—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् ।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः ॥
उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि ।
तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः ॥

सौभरि ऋषिकी जो कथा यहाँ स्कन्दस्वामीने दी है, वह थोड़े बहुत अन्तरके साथ महाभारत, बृहद्देवता, भागवत, विष्णुपुराण आदिमें भी आती है। विष्णुपुराणमें इस भोगविलासके बाद सौभरि ऋषिके पश्चात्तापका भी वर्णन बड़े सुन्दर रूपमें किया है । उसमेंके कुछ श्लोक निम्नप्रकार हैं—

"आ मृत्युतो नैव मनोरथानाम् अन्तोऽस्तिविज्ञातमिदं मयाद्य ।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगि ॥ ११९ ॥
पद्भ्यां गता यौवनिनश्च जाता दारैश्च सयोगमिताः प्रसूताः ।
दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा ॥ ११७ ॥
द्रक्ष्यामि तेषामपि चेत् प्रसूतिं मनोरथो मे भविता ततोऽन्यः ।
पूर्णेऽपि तत्राप्यपरस्य जन्म निवार्यते केन मनोरथस्य ॥ ११८ ॥
समस्तभूतादमलादनन्तात् सर्वेश्वरादन्यदनादिमध्यात् ।
यस्मान्न किंचित् तमहं गुरूणां परं गुरुं संश्रयमेमि विष्णुम् ॥ १२८ ॥"

[विष्णु पु० अंश ४, अ० २]

भागवत [स्कन्ध ९ अ० ६] में उक्त पश्चात्ताप यों वर्णित है—

"अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥५०॥
सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसंगः ॥
एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसंगात् पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रवर्गः ।
नान्तं व्रजाम्यभयकृत्यमनोरथानां मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः॥५२॥"

वेदोंमें अनित्य इतिहास माननेवाले लोगोंने इस कथाका सम्बन्ध इन मंत्रोंके साथ जोड़ा है। किन्तु वस्तुतः वेदमन्त्रोंमें किसी ऐतिहासिक कथानकका वर्णन नहीं है। किन्तु उनमें नित्य आध्यात्मिक तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। यह मत उन लोगोंका है जो वेदमें इतिहास नहीं मानते हैं। इस मतमें 'पौरुकुत्स्यः' और 'त्रसदस्यु' ये दोनों पद भी 'मंहिष्ठः', 'अर्यः' और 'सत्पतिः' के साथ मिलकर परमात्माके बोधक है। 'कुत्स' शब्द वज्रके नामोंमें निघण्टुमें पढ़ा गया है। वज्र दुष्टोंका दमन करनेवाला और दण्ड देनेका साधन है। वह कुत्स अर्थात् वज्र जिसके पास प्रचुर संख्यामें है वह 'पौरुकुत्स्य' परमात्मा हुआ। क्योंकि वह पापी पुरुषोंकी दण्डव्यवस्था अनेक प्रकारसे करता है। इसीलिए दुष्ट लोग उससे डरते हैं। इसी कारण उसको 'त्रसदस्यु' भी कहा गया है। वह 'मंहिष्ठ' अर्थात् सबसे बड़ा, सबसे अधिक शक्तिशाली, 'अर्य' अर्थात् प्राप्त करने योग्य स्वामी और 'सत्पतिः' अर्थात् सज्जनोंका पालक है। इसलिए प्रथम मन्त्रमें आये हुए पाँचों विशेषण परमात्माके हैं। कथानकमें आया हुआ सौभरि नाम जीवात्माका है। और 'सुवास्तु' अर्थात् जीवात्माके रहनेका सुन्दर स्थान यह शरीर 'सुवास्तु' पदका अर्थ है। उस त्रसदस्यु परमात्माने सौभरि जीवात्माको 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' शरीरके भीतर ५० वधुएँ प्रदान की है। इसमें 'वधू' शब्दके दो अर्थ हैं—एक वधुओं अर्थात् स्त्रीके समान आनन्ददायक और दूसरा बन्ध-कारक अर्थात् जीवात्माको बन्धनमें डालनेवाला। परमात्माने जीवात्माको जो वधुएँ प्रदान की हैं वे उसकी चित्तवृत्तियाँ हैं। योगशास्त्रमें पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन किया है। 'वृत्तयः पञ्चतय्यः'। ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ पंच ज्ञानेन्द्रियों और उनके पाँच प्रकारके विषयोंके योगसे उत्पन्न होती हैं। इसलिए दस प्रकारके कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली पाँच प्रकारकी चित्त-

के विषयक्लिष्ट अक्लिष्टभेदसे दो भेद होनेसे १० दस हैं।

वृत्तियोंके १० × ५ = ५० प्रकार बन जाते हैं। विषयोंके सम्पर्कसे उत्पन्न होनेवाली ये ५० प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ ही जीवको वधुओंके समान नाना प्रकारसे रमण करवाती हैं, इसलिए वे वधुएँ हुईं। साथ ही यही चित्तवृत्तियाँ आत्माके बन्धनका कारण होती हैं। इसीलिए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्तवृत्तियोंके निरोधको ही योगका लक्ष्य माना गया है। इस प्रकार ५० तरहकी चित्तवृत्तियोंमें वधूसाम्यात् वधूत्व तथा बन्धनहेतुत्वरूप वधूत्व दोनों प्रकारका वधूत्व बन जाता है। 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' में 'सुवास्तु' से जीवके सुन्दर वासस्थान शरीरका ग्रहण होता है। उसको 'तुग्व' कहा गया है। 'तुग्व तीर्थं भवति तूर्णमेतदायन्ति' इस शरीरमें जीवात्मा वार-वार जन्म धारण करनेके लिए आता है। इसलिए इसको तुग्व या तीर्थ कहा गया है। इसलिए इस मन्त्रमें आध्यात्मिक तत्त्वका प्रतिपादन बड़े सुन्दर रूपमें किया गया है।

दूसरे मन्त्रमें 'प्रयियोः' और 'वयियोः' ये दोनों 'सुवास्त्वा' के विशेषण हैं। उनका अर्थ यह है कि जीवात्माका यह शरीर 'प्रयियुः' अर्थात् अत्यन्त शीघ्र गमनशील अर्थात् नष्ट हो जानेवाला है और 'वयियुः' अर्थात् उसकी सन्तान या परम्परा निरन्तर चलती रहती है। 'वयियुः' पद 'व्येञ् तन्तुसन्ताने' धातुसे बना है। इसलिए उससे नाशवान् 'प्रयियु' शरीरकी परम्परा बोधित की है। इस प्रकार सुवास्तु तीर्थमें एक 'दियानां पतिः' की भी चर्चा इस मन्त्रमें की गयी है। यह 'दियानां' पद 'इन्द्रियाणां' का वाचक है। शरीरके भीतर एक इन इन्द्रियोंका स्वामी भी रहता है। और वह स्वामी मन है। उसे मन्त्रमें 'भुवद्वसु' भी कहा है और 'तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता' भी कहा है। 'भुवद्वसु' का अर्थ वसु अर्थात् ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह अर्थात् ज्ञानका सहायक अन्तःकरणरूप मन हुआ। वह मन ही 'दियानां पतिः' इन्द्रियोंका स्वामी है। और वही सारी इन्द्रियोंका प्रेरक है। इन्द्रियाँ तीन प्रकारकी हैं—१ ज्ञानेन्द्रियाँ, २ कर्मेन्द्रियाँ और ३ अन्तःकरण। अन्तःकरणमें मनके अतिरिक्त बुद्धि, चित्त और अहंकारका भी ग्रहण होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण इन तीनों प्रकारकी इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेवाला नायक मन है। इसलिए उसे मंत्रमें 'तिसृणां प्रणेता' कहा है। 'सप्ततीनाम्' का अर्थ 'सर्पन्तीनाम्' विषयोंमें सर्पणशील करना चाहिये। मन 'तिसृणां सप्ततीनां'

अर्थात् विषयोंमें सर्पण करनेवाली ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीनों प्रकारकी 'दियानाम्' इन्द्रियोंका प्रणेता अर्थात् नायक है। नाना प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त होनेके कारण वह 'श्यावः' मलिन कहा गया है।

जो लोग इन मन्त्रोंका इतिहासपरक अर्थ करते हैं वे 'तिसॄणां सप्ततीनाम्' का अर्थ २१० गौएँ करते हैं। पर गौओंका वाचक यहाँ मन्त्रमें कोई पद नहीं है। उसका ऊपरसे अध्याहार करना पड़ता है। 'प्रयियोः' और 'वयियोः' का अर्थ वे क्रमशः प्रयाणशील अश्वादि पशु और बुने हुए वस्त्र करते हैं। किन्तु इनके साथ प्रयुक्त षष्ठी विभक्तिकी संगति उस पक्षमें नहीं लगती है। उनको 'सुवास्त्वा' का विशेषण माननेपर उसकी संगति लग जाती है। 'दियानाम्' पदका अर्थ वे 'दानीयानां' करते हैं। किन्तु उसकी अपेक्षा 'इन्द्रियाणाम्' अर्थ अधिक उपयुक्त है। इसलिए ऐतिहासिक पक्ष द्वारा प्रस्तुत किया गया अर्थ उचित नहीं है। ऐतिहासिकोंने जो कथानक बना दिया है, उसमें सौभरि ऋषिकी चरित्र-हीनता और मूर्खता ही अभिव्यक्त होती है। उससे ऋषियोंको भी कलंकित किया है और वेदोंके गौरवको भी क्षति पहुँचायी है। अतः वह पद्धति उपयुक्त नहीं है।

२१ नंसन्ते—नैगमकाण्डका २१ वाँ शब्द 'नंसन्ते' है। 'नंसन्ते' का अर्थ 'नमन्ते' किया गया है। इसके उदाहरणरूपमें यास्कने अधूरा मन्त्र उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

> ताँ आ रुद्रस्य मीळ्हुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः।
> यत्सस्वर्ता जिहीळिरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम्॥

[ऋ० ७-५८-५]

रुद्र-अर्थात् परमात्माके 'तान्' उन प्रसिद्ध 'मीळ्हुषः' पुत्रोंकी 'आ विवासे' हम भली प्रकारसे सेवा करते हैं। और 'कुवित्' उस सेवाको समझनेवाले वे 'मरुतः पुनर्नः नंसन्ते' हमारे लिए झुकते हैं। 'तुराणाम्' उन वेगवान् मरुतोंकी कृपासे 'यत्सस्वर्ता' हमारा जो अन्तर्निहित पाप है और 'यदाविः' जो प्रकाशित पाप है उस सब 'एनः' पापको 'अव ईमहे' नष्ट करनेमें समर्थ होते हैं। यह सारे मंत्रका अर्थ है। प्रकृत उदाहरणका अर्थ निम्नप्रकार है—'हमारी' इत्यादि।

कु॒विन्नं॑सन्ते म॒रुत॒ः पुन॑र्नः ॥ [ऋ० ७-५८-५]

पुनर्नो नमन्ते मरुतः । नसन्त इत्युपरिष्टाद् (७।१७) व्याख्यास्यामः ॥

ये ते॒ मदा॑ आह॒नसो॒ विहा॑यस॒स्तेभि॒रिन्द्रं॑ चोदय॒ दात॑वे म॒घम् ॥ [ऋ० ९।७५।५]

[हमारी सेवाको] जाननेवाले मरुद्गण फिर हमारे लिए झुकते हैं। मरुतः अर्थात् मरुद्गण हमारे प्रति विशेषरूपसे वर्षादि उपकार द्वारा झुकते हैं।

'नसन्ते' इसकी व्याख्या आगे [सातवें अध्यायके १७वें खण्डमें] करेंगे।

[हे सोम] तुम्हारे शब्द करनेवाले जो आनन्ददायक रस हैं उनके द्वारा इन्द्रको धनदानके लिए प्रेरित करो।

यह मन्त्रखण्डका अर्थ हुआ आगे यास्क अपनी पद्धतिके अनुसार इसका अर्थ करते हैं—'पुनर्नो' इत्यादि।

२२ नसन्ते—नैगमकाण्डके इस संग्रहमें 'नंसन्ते' के साथ ही दूसरा 'नसन्ते' शब्द भी दिया गया है। उसकी व्याख्या निरुक्तकारने यहाँ नहीं की है। इसलिए उसके विषयमें यहाँ इतना ही लिखा है—'नसन्त इति' इत्यादि।

२३ आहनसः—नैगमकाण्डका २३ वाँ शब्द 'आहनसः' है। यास्कने इसका अर्थ 'आहननवन्तः वचनवन्तः' बोलते हुए किया है। अर्थात् 'हन' धातुसे इस शब्दकी सिद्धि मानी है। 'हन' धातु सामान्यतः हिंसार्थक है, किन्तु कहीं-कहीं 'ब्राह्मणे इदमाहतम्' आदिमें पाठके अर्थमें भी 'हन' धातुका प्रयोग पाया जाता है। इसलिए यास्कने 'आहनसः' का अर्थ 'आहननवन्तः—वचनवन्तः' किया है। दुर्गाचार्यने यहाँ 'वचनवन्तः' के स्थानपर 'वञ्चनवन्तः' पाठ माना है और उसका अर्थ 'धोखा देनेवाले' किया है। किन्तु दुर्गाचार्यके पूर्ववर्ती देवराजयज्वाने 'वचनवन्तः' पाठ ही माना है और इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

ये ते मदा आहननवन्तो वचनवन्तस्तैरिन्द्रं चोदय दानाय मघम् ॥१५॥

[१६]

उपो' अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो' नोधा इंवाविरंकृत प्रियाणि' ।
अद्मसन्न संसतो बोधयंन्ती शश्वत्तमागात्पुनं रेयुषी'णाम् ॥
[ऋ० १-१२४-४]

तुम्हारे जो मद [अर्थात् आनन्द-दायक रस] वचनवाले अर्थात् बोलते हुए हैं उनके द्वारा इन्द्रको धन देनेके लिए प्रेरित करो ॥१५॥

[१६]

[शुन्ध्युवः अर्थात्] आदित्यके [अथवा पक्षियोंके] वक्षःस्थलके समान [यह उषा] सामने दिखलायी दे रही है। [नोधा अर्थात्] स्तुति करनेवालेके समान यह प्रिय रूपोंको प्रकाशित कर रही है। और अन्नपूर्णा [अन्न प्रदान करनेवाली] माताके समान सोते हुए लोगोंको जगाती हुई बार-बार लौटकर आनेवाली [वस्तुओं] में सबसे पुरानी यह उषा आ गयी।

'सूत्रे इदमाहतम्', 'ब्राह्मणे इदमाहतम्' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् आहन्ति-र्वचनार्थः। आहननवन्तो वचनवन्त इत्यर्थः।'

इसी प्रकार इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए सायणाचार्यने भी 'आहनसः आहननवन्तो वचनवन्त इति यास्कः स्तुतिमन्तः शब्दवन्तो वा' यह लिखा है। इसके अनुसार सायणाचार्यने भी 'वचनवन्तः' पाठ ही माना है, 'वञ्चनवन्तः' नहीं। इसलिए दुर्गाचार्यने जो यहाँ 'वञ्चनवन्तः' पाठकी कल्पना कर ली है, वह असंगत है। 'आहनसः' के उदाहरणरूपमें जो मन्त्र दिया गया है, वह मन्त्र स्वयं यास्कने ही पूरा यहाँ उद्धृत कर दिया है। उसका अर्थ निम्न प्रकार है— '[हे सोम]' इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'ये ते' इत्यादि।

२४ अद्मसत्—नैगमकाण्डका २४ वाँ शब्द 'अद्मसत्' है। इसमें 'अद्म' शब्दका अर्थ अन्न है। वह 'अद् भक्षणे' धातुसे बनता है। उसको आसादन

उपादर्शि शुन्ध्युवः। शुन्ध्युरादित्यो भवति। शोधनात्। तस्यैव वक्षो भासोऽध्यूढम्। इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेवाध्यूढं काये। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते। शोधनादेवोदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते शोधनादेव। नोधा ऋषिर्भवति। नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुषा रूपाण्या-

---

'शुन्ध्यु' आदित्य[का नाम] है, क्योंकि वह शोधन करनेवाला है। उसीके वक्षःस्थल अर्थात् [भासः अध्यूढं] सामने दिखलायी देनेवाले प्रकाशके समान 'उषो अदर्शि' [उषा] प्रकट हो रही है। यह दूसरा [अर्थात् मनुष्य आदिका] वक्षःस्थल भी इसी कारणसे [अर्थात् सामने दिखलायी देनेसे] होता है, क्योंकि वह शरीरमें सामने उठा हुआ होता है।

[सारस] शोधन करनेवाला होनेके कारण ही पक्षीको भी 'शुन्ध्यु' यह कहा जाता है। क्योंकि वह जलमें रहता है [और जलका शोधन करता है]। शोधन किये जानेके कारण हो जलको भी 'शुन्ध्यु' कहा जाता है। 'नोधा' ऋषिका नाम है, क्योंकि वह [नवनं दधाति] स्तुतिका करनेवाला होता है [अर्थात् 'णु स्तुतौ' धातुसे 'नोधा' शब्द बनता है]। वह [स्तुति करनेवाला ऋषि] जैसे स्तुतिके द्वारा कामनाओंको प्रकट करता है इसी प्रकार उषा रूपोंको प्रकाशित

करानेवाली अर्थात् प्राप्त करानेवाली अथवा अन्नको विभक्त करनेवाली [अद्म-सानिनी 'वन षण सम्भक्तौ' धातुसे बना है] माता इस अद्मसत् शब्दका अर्थ होता है। वह मन्त्र, जिसमें कि 'अद्मसत्' शब्दका प्रयोग हुआ है, यहाँ निरुक्तकारने स्वयं ही पूर्णरूपमें उद्धृत कर दिया है। मन्त्रमें उषाकालके आगमनका वर्णन है। उसका अर्थ निम्न प्रकार है—'आदित्यके' इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'उपादर्शि' इत्यादि।

विष्कुरुते । अन्नसदन्नानं भवत्यन्नसादिनीति वान्नसानिनीति वा । ससतो बोधयन्ती शाश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम् । स्वपतो बोधयन्ती शाश्वतिकतमागात्पुनरागामिनीनाम् ।

करती है। 'अन्नसत्' [की आगे व्याख्या करते हैं] अन्न अन्नको कहते हैं [अर्थात् 'अद् भक्षणे' धातुसे 'अन्न' शब्द बना है]। अन्नके [बनाने, पकाने आदि] के लिए बैठनेवाली [अन्नसादिनी] अथवा अन्नको बाँटनेवाली [अन्नसानिनी 'वण षण संभक्तौ' धातुसे यह शब्द बना है] [ससतः अर्थात्] सोते हुओंको जगाती हुई बार-बार आनेवालोंमें [शश्वत्तमा] सबसे पुरानी आ गयी। [यह 'शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्'का अर्थ हुआ]।

---

२५ इष्मिणः—नैगमकाण्डका २५ वाँ शब्द 'इष्मिणः' है। यह भी पूर्व शब्दोंकी भाँति अनवगत-संस्कारवाला शब्द है। यास्कने इसके तीन प्रकारके निर्वचन किये हैं। पहिले 'ईषणिनः, में 'ईष गतौ' धातुसे, दूसरे 'एषणिनः' में 'इषु इच्छायाम्' धातुसे तथा तीसरे 'आर्षणिनः' इस निर्वचनमें 'ऋष दर्शने' धातुसे 'इष्मिणः' पदकी निष्पत्ति मानी है। तीनों ही निर्वचनोंमें पहिले उक्त धातुओंसे [उणादि १–१४५] मक् प्रत्यय और मतुबर्थमें 'अत इनिठनौ' [अष्टा० ५–२–११५] सूत्रसे 'इनि' प्रत्यय करके 'इष्मिणः' पद सिद्ध होता है। उसके उदाहरणरूपमें 'वाशीमन्त इष्मिणः' यह एक टुकड़ा ही यहाँ उद्धृत किया गया है। पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है—

श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्वभिः सुखादयः ।
ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः ॥
[ऋ० १-८७-६]

[प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः] प्रिय मारुतके स्थान [अर्थात् अन्तरिक्ष] से वे [मरुद्गण] [श्रियसे तादर्थ्ये चतुर्थी छान्दसः सुगागमः] जगत्की समृद्धिके लिए [भानुभिः] सूर्यकी रश्मियोंके साथ मिलकर [कम् अर्थात्] जलको 'संमिमिक्षिरे' बरसाते हैं ['मिह संचने' धातुसे मिमिक्षिरे पद बना है]। वे ही [रश्मिभिः

ते वाशी'मन्त इ॒ष्मिणः ॥ [ऋ० १-८७-६]

ईषणिन इति वैषणिन इति वार्षणिन इति वा। वाशीति वाङ्नाम। वाश्यत इति सत्याः ॥

शंसा॑वाध्वर्यो॒ प्रति॑ मे गृणी॒हीन्द्रा॑य॒ वाहः॑ कृणवाव॒ जुष्ट॑म्।
[ऋ० ३-५३-३]

ते [मरुद्गण] शब्दयुक्त और गतिशील हैं। [इष्मिणः का अर्थ] गतिशील [ईषणिनः से इष्मिणः बना है] अथवा इच्छावाले होनेसे [एषणिनः से इष्मिणः बनता है] अथवा देखनेवाले होनेसे [आर्षणिनः से इष्मिणः बनता है]। 'वाशी' यह वाणीका नाम है [अर्थात् 'वाशृ' धातु भ्वा० आ० से 'वाशी' पद बनता है]।

हे अध्वर्यो! तुम [इन्द्रकी स्तुतिवाले मन्त्रोंका उच्चारण करो और मुझे [स्तुतिके लिए प्रतिगृणीहि अर्थात्] प्रोत्साहित करो। आओ इस प्रकार हम दोनों मिलकर इन्द्रके लिए ['जुष्टम्' अर्थात्] प्रिय लगनेवाले 'वाह' [अर्थात् सोमरसके निकालते समय की जानेवाली विशेष प्रकारकी अभिषवणस्तुति अथवा अभिब्रहनकालीन

अर्थात्] चन्द्रमाकी किरणोंके साथ मिलकर [जलकी वर्षा करते हैं] और वे ही [ऋक्वभिः अर्थात्] अर्चना-परक ऋचाओंके द्वारा संस्तुत होनेपर वर्षा करते हैं। वे [मरुद्गण लोगोंके लिए सुखादयः अर्थात्] आनन्दके देनेवाले [वाशीमन्तः अर्थात्] शब्दयुक्त [इष्मिणः अर्थात्] गतिशील तथा [अभीरवः] भयरहित [विद्रे अर्थात्] विदित हैं [प्रसिद्ध हैं]।

यह पूरे मन्त्रका अर्थ है। इसमेंसे प्रकृतमें उद्धृत अंशकी व्याख्या यास्क अपनी शैलीसे निम्न प्रकार करते हैं—'ईषणिनः' इत्यादि।

२६ वाहः—नैगमकाण्डका २६ वाँ शब्द 'वाहः' है। यह भी अनवगतसंस्कार और अनेकार्थक शब्द है। यास्कने इसके उदाहरण-रूपमें आधा मन्त्र उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अभिवहनस्तुतिमभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्त ऐन्द्री त्वेव शस्यते । परितक्म्येत्येतदुपरिष्टाद् (११।२५) व्याख्यास्यामः ॥१६॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

स्तुति] को [सम्पादित] करें। आओ हम दोनों यजमानके इस [बर्हिः] कुशासन पर बैठें और [इन्द्राय शस्तं उक्थं भूत्] इन्द्रके लिए उत्तम-कोटिका स्तुतिपाठ किया जाय।

कोई इसको अभिवहनकालीन स्तुति मानते हैं और कोई सोम-रस निकालते समय की जानेवाली विशेष प्रकारकी अभिषवणस्तुति मानते हैं दोनों प्रकारोंमें यह इन्द्रकी ही प्रीत्यावह स्तुति की जाती है।

'परितक्म्या' इसकी व्याख्या आगे [११वें अध्यायके २५वें खण्डमें] करेंगे ॥१६॥

चतुर्थ अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त।

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्।
एदं बर्हिर्यजमानस्य सीदाथा च भूदुक्थमिन्द्राय, शस्तम् ॥

[ऋ० ३-५३-३]

होता अध्वर्युसे कह रहा है—'हे अध्वर्यो !' इत्यादि।

यह पूरे मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी शैलीके अनुसार उसकी व्याख्या करते हैं—'अभिवहन०' इत्यादि।

२७ परितक्म्या—नैगमकाण्डका २७ वाँ शब्द 'परितक्म्या' है। यह भी अनवगतसंस्कारवाला शब्द है। इसका अर्थ रात्रि होता है। किन्तु निरुक्तकारने यहाँ उसकी व्याख्या नहीं की है। इसलिए उसके विषयमें वे लिखते हैं—'परितक्म्ये०' इत्यादि।

चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादमें ९ शब्दोंका विवेचन किया गया था। उसके बाद द्वितीय पादमें नैगमकाण्डके अगले १८ शब्दोंका विवेचन किया गया है। इस प्रकार यहाँतक २७ शब्दोंका विवेचन हो चुका है ॥१६॥

यह चतुर्थाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त हुआ।

तृतीयः पादः

[१७]

सुविते सु इते सूते सुगते प्रजायामिति वा। "सुविते मा धाः" [यजु० काण्व सं० ५-५। मै० सं० १-२-७] इत्यादि निगमो भवति। दयतिरनेककर्मा।

---

[१७]

[हे प्रभो! आप] मुझे सुमार्गमें [सुगतिमें] रखो अथवा [सुविते अर्थात्] अपनी प्रजामें [अपने कृपापात्रमें] स्थान दो।

'दय' धातु ['दियति रक्षा-दान-दहन-हिंसा-उड्डयनेषु'] अनेकार्थक है [अर्थात् उसका प्रयोग १ रक्षा, २ दान, ३ दहन, ४ हिंसा और ५ उड़ना इन पाँच अर्थोंमें होता है] जैसे—

---

२८ सुविते—नैगमकाण्डका २८ वाँ शब्द 'सुविते' भी अनवगत-संस्कारवाला शब्द है। यास्कने इसके दो प्रकारके निर्वचन किये हैं। पहिले निर्वचनमें 'सु इते' अर्थात् सम्यक् प्राप्ते या गते अर्थ किया है। इस निर्वचनमें 'सु' उपसर्ग-पूर्वक 'इण् गतौ' धातुसे 'क्त' प्रत्यय और उवङ् आदेश करके 'सुविते' पद बनाया गया है। दूसरे निर्वचनमें 'षुञ् अभिषवे' धातुसे 'क्त' प्रत्यय करके उवङ् तथा छान्दस इडागम द्वारा 'सुविते' पद बनाया गया है। इसका अर्थ 'सन्ताने' या 'प्रजायाम्' होता है। इसके उदाहरणरूपमें 'सुविते मा धाः' यह मन्त्रका छोटा सा टुकड़ा यहाँ उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र, जो यजुर्वेद काण्वसंहिताके पंचमाध्यायसे लिया गया है, निम्नप्रकार है—

आपतये त्वा गृह्णामि परिपतये त्वा गृह्णामि
तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्मन्नोजिष्ठाय।
अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्तिपा
अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषं सुविते मा धाः॥ [यजुः का० सं० ५-५]

शु० यजुर्वेद ५-५ में भी यह मन्त्र कुछ पाठभेदोंके साथ आया है। किन्तु वहाँ 'सुविते मा धाः'के स्थानपर 'स्विते मा धाः' पाठ है। यद्यपि 'स्विते' भी नियमतः 'सुविते' पढ़ा जा सकता है।

नवे॑न॒ पूर्वं॒ दय॑मानाः स्याम [मै० सं० ४-१३-७] इत्युपदयाकर्मा ।

य एक॒ इद्विदय॑ते॒ वसु॒ [ऋ० १-८४-७] इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा ।

१—नये [कमाये हुए] से पिछले [कमाये हुए धन आदि] की रक्षा करते रहें । इसमें ['दय' धातु उपदयाकर्मा अर्थात्] रक्षार्थक है ।

२—जो [परमात्मा इन्द्र] अकेला ही [सारे संसारको वसु अर्थात्] धन [विदयते] प्रदान करता है । इसमें [दयति धातु] दान करनेके अर्थमें अथवा विभाग करने [बाँटने] के अर्थमें है ।

मन्त्रमें जीव या भक्त परमात्मासे अपनी उन्नति एवं सुगतिके लिए प्रार्थना कर रहा है ।

हे प्रभो ! मैं [आपतये अर्थात्] अपने ऊपर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करनेके लिए और [परिपतये अर्थात्] अपनी इन्द्रियोंको पूर्णतया वशमें करनेके लिए [त्वा गृह्णामि] आपकी शरणमें आता हूँ ।

यह मन्त्रके प्रारम्भिक भागका अर्थ है । इसी प्रार्थनाको समाप्त करते हुए मन्त्रके अन्तमें भक्त कह रहा है—'सुविते' इत्यादि ।

२९. दयते—नैगमकाण्डका २९ वाँ शब्द 'दयते' है । यह क्रियापद है, जो 'दय' धातुसे बना है । इस 'दय' धातुके अनेक अर्थ हैं । इसलिए यह शब्द अनवगत-संस्कारवाला शब्द न होकर अनेकार्थक शब्द है । इसलिए ग्रन्थकार उसके अनेक अर्थ दिखलाकर उस-उस अर्थके प्रयोगमें मन्त्रोंको उद्धृत करते हुए इस 'दयते' पदकी व्याख्या करते हैं—'दयतिः' इत्यादि ।

वह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे 'य एक इद्विदयते वसु' यह उदाहरण दिया गया है, निम्नप्रकार है—

य एक॒ इद्विदय॑ते॒ वसु॒ मर्ता॑य दा॒शुषे॑ ।
ईशा॑नो॒ अप्र॑तिष्कुत॒इन्द्रो॑ अ॒ङ्ग ॥ [ऋ० १–८४–७]

दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि ॥ [ऋ० ६-६-५] इति दहतिकर्मा । दुर्वर्तुर्दुर्वारः ।

विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् । [ऋ० ३-३४-१]इति हिंसाकर्मा ।
इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान् ।
अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत् ॥

३—जो [दुर्वर्तु अर्थात्] दुर्वार [जिसका रोकना सम्भव नहीं है इस प्रकारका] और भयंकर [अग्नि] वनोंको भस्म कर देता है।

इसमें [दयति धातु] दहनार्थक है। 'दुर्वर्तु'का अर्थ दुर्वार है।

४—धनको प्राप्त करनेवाला [विदद्वसुः] और शत्रुओंको [दयमानः] नष्ट करता हुआ [इन्द्र आपृणद् रोदसी उभे] द्यावा-पृथिवी दोनोंका पालन करता है।

इसमें [दयति धातु] हिंसार्थक है।

५—हे प्रातःकाल आनेवाले और सबसे समान प्रीति रखनेवाले अश्विनो! [अर्थात् सुवैद्यो अथवा ब्रह्मचारी तथा संन्यासीरूप भिक्षार्थी अतिथियो! ['इमे इन्दवः सुताः'] यह निचोड़े हुए सोमरस [अथवा अन्य उत्तम पदार्थ] तैयार हैं। [तान् पिबतम्] आप दोनों इनका पान कीजिये।[वाम् ऊतये वन्दनाय] आपकी स्तुति तथा वन्दनाके लिए [दोषा दयमानः रात्रिको अर्थात्] रात्रिके अन्तमें [दयमानः अर्थात्] उड़ते हुए [अयं वायसः] इस कौएने [माँ अबूबुधत्] मुझको जगाया था।

वह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे कि यह टुकड़ा उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है, निम्नप्रकार है—

अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना ।
शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्ने दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि ॥

·जिसमेंसे यह टुकड़ा उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

दयमान इति ।

नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः । नू चेति च ।

अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम् ।। [ऋ० ६-३०-३]

अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम् ।

नू च पुरा च सदनं रयीणाम् ।। [ऋ० १-९६-७]

इसमें ['दय' धातु] उड़नेके अर्थमें [दयमानः] है ।

'नूचित्' यह निपात 'पुराने और नवीन' इस अर्थमें है। और 'नू च' यह [निपात] भी [इसी पुराण और नवीन अर्थका वाचक हैं]। जैसे—

[हे इन्द्र, 'यत् आभ्यः' इन नदियोंके 'गातुम्' गमन करनेके लिए आपने 'यत् अरदः' जो मार्ग बनाया था, इनका जो कार्य निर्धारित किया था] आज भी और पहिले भी उनका वही कार्य रहा है। [इसमें नूचित् निपात प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ है] आज भी और पहिले भी नदियोंका वही [अपः अर्थात्] कर्म है।

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे ।।

[ऋ० ३-३४-१]

३०-३१–नूचित् तथा नू च–नैगमकाण्डके ३० वाँ शब्द 'नूचित्' और ३१ वाँ शब्द 'नू च' हैं। ये दोनों निपात एक ही अर्थके वाचक हैं, इसलिए उन दोनोंको इकट्ठा पढ़ दिया गया है। और निरुक्तकारने दोनोंकी व्याख्या भी साथ-साथ ही की है। इनका अर्थ 'पुराना' और 'नया' है। दोनोंके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रोंके टुकड़े दिये गये हैं उनके पूरे-पूरे मन्त्र निम्नप्रकार हैं—

[१]—अद्याचिन्नू चित्तदपो नदीनां यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र ।
नि पर्वता अद्मसदो न सेदुस्त्वया दृढानि सुक्रतो रजांसि ।।

[ऋ० ६–३०–३]

अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम्। रयिरिति धननाम। रातेर्दानकर्मणः ॥१७॥

[१८]

वि॒द्याम॒ तस्य॑ ते व॒यमकू॑पारस्य दा॒वने॑ ॥ [ऋ० ५-३९-२]

[वह द्रविणोदा अग्निस्वरूप परमात्मा ही 'नू च पुरा च' अर्थात्] आज भी और पहिले भी [रयीणां सदनं] धन-सम्पत्तिका निधान रहा है। रयि यह धनका वाचक है। वह दानार्थक 'रा' धातुसे बनता है ॥१७॥

[१८]

[हे इन्द्र परमात्मन्! आप जिस धनको उत्कृष्ट समझते हैं उसको हमें प्रदान कीजिये]। हम आपके उस [अकूपारस्य अर्थात्] सुपालक तथा परिपूर्ण [दावने अर्थात्] दानको समझते हैं।

---

[२]—नू च॑ पु॒रा च॒ सद॑नं र॒यी॒णां जा॒तस्य॑ च॒ जाय॑मानस्य च॒ क्षाम्।
स॒तश्च॑ गो॒पां भव॑तश्च॒ भूरे॑र्दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन् द्रवि॒णो॒दाम् ॥
[ऋ० १-९६-७]

इन मन्त्रोंके प्रकृत उदाहरण-भागोंकी व्याख्या निरुक्तकार आगे निम्न प्रकारसे करते हैं—'अद्य च' इत्यादि।

३२-३३—नैगमकाण्डके अगले दो शब्द ३२ 'दावने' तथा ३३ 'अकूपारस्य' हैं। ये अनेकार्थक शब्द हैं। यास्कने 'अकूपारस्य' शब्दके १ सुपूर्ण या सुपालक, २ आदित्य, ३ समुद्र, ४ कच्छप, ये चार अर्थ किये हैं। और 'दावने' का अर्थ 'दानस्य' किया है। इन दोनों शब्दोंका प्रयोग 'अकूपारस्य दावने' इस मन्त्रभागमें इकट्ठा ही पाया जाता है। निरुक्तकारने यहाँ मन्त्रका एक भाग ही उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यन्मन्य॑से॒ वरे॑ण्य॒मिन्द्र॑ द्यु॒क्षं तदा भ॑र।
वि॒द्याम॒ तस्य॑ ते व॒यमकू॑पारस्य दा॒वने॑ ॥ [ऋ० ५-३९-२]

ऊपर मन्त्रका हे इन्द्र इत्यादि अर्थ दिया गया है। यास्कने केवल उसके उद्धृत भागका अर्थ देकर फिर अकूपार शब्दके अनेक प्रकारके निर्वचन दिखलाये हैं। जो निम्नप्रकार है—'विद्याम' इत्यादि।

विद्याम तस्य ते वयमकुपरणस्य दानस्य। आदित्योऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो न कूपमृच्छतीति। कच्छपः कच्छं पाति। कच्छेन पातीति वा कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः खच्छः खच्छदः।

१—हम आपके उस [अकुपरणस्य अर्थात्] सुपालक तथा परिपूर्ण [दावने अर्थात्] दानको [अर्थात् आपकी उदार दानप्रकृतिको] समझते हैं।

२—आदित्यको भी 'अकूपार' कहते हैं, क्योंकि वह [दूरपारः] बहुत दूर हैं [अथवा उसका पार करना असम्भव है]।

३—समुद्रको भी 'अकूपार' कहते हैं, क्योंकि उसका पार [दूसरा किनारा] बहुत दूर होता है।

४—कच्छपको भी 'अकूपार' कहते हैं, क्योंकि वह 'कूपं न ऋच्छति' कुएमें नहीं जाता है। [आगे प्रसंगतः 'कच्छप' पदके निर्वचन करते हैं]—

कच्छ [अर्थात् मुख-सम्पुट] की रक्षा करता है, [इसलिए 'कच्छप' कहलाता है] अथवा कच्छ अर्थात् ऊपरका खोल, उससे अपनी रक्षा करता है, [इसलिए 'कच्छप' कहलाता है]। अथवा कच्छसे [अर्थात् मुखसम्पटसे] पीता है, [इसलिए 'कच्छप' कहलाता है]। [कछुएका कच्छ अर्थात् ऊपरका खोल] 'खच्छः' अर्थात् ऊपरके आकाशको ढकनेवाला होनेसे 'कच्छ' कहलाता है।

इस व्याख्यामें 'अकूपार' शब्दका अर्थ 'अकुपरणस्य' अर्थात् 'सुपालक' अथवा 'परिपूर्ण' यह किया है। आगे इसी शब्दके तीन निर्वचन और देते हैं—'आदित्यो' इत्यादि।

अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव । कमुदकं तेन छाद्यते ॥
शिशी॑ते शृङ्गे॒ रक्ष॑से वि॒निक्षे॑ ॥ [ऋ० ५-२-९]
निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षणाय । रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । रहसि क्षणोतीति वा । रात्रौ नक्षत इति वा ।

यह दूसरा नदीका कच्छ [नदीके पासका प्रदेश] भी इस [छादनार्थक 'छद' धातुसे बनता है। क्योंकि 'क' अर्थात् जलके द्वारा आच्छादित होता है।

राक्षसोंके विनाशके लिए [अग्नि अपने ज्वालारूप] शृंगोंको तीक्ष्ण करता है। इससे बचाना चाहिये, इसलिए 'रक्षस्' कहलाता है। अथवा जो [रहसि अर्थात्] अकेला पाकर मार देता है, अथवा रात्रिमें चलता है। [इसलिए 'रक्षस्' कहलाता है।

---

३४ शिशीते–नैगमकाण्डका ३४ वाँ शब्द 'शिशीते' है। इसका अर्थ यास्कने 'निश्यति' अर्थात् तेज करता है, पैनाता है, यह किया है। वैसे तेज करने या पैनानेके अर्थमें 'शो तनूकरणे' धातु प्रयुक्त होता है। किन्तु यहाँ 'निश्यति' रूपसे यह प्रतीत होता है कि यास्कने जुहोत्यादिगणके 'शी' धातुसे 'शिशीते' पद बनाया है। पर जुहोत्यादिगणमें कोई 'शी' धातु नहीं आया है। इसलिए यह कोई छान्दस धातु प्रतीत होता है। इस 'शिशीते' पदके प्रयोगका दिखलानेके लिए यहाँ जो मन्त्रभाग प्रस्तुत किया गया है उसका पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा ।
प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्ष॑से वि॒निक्षे॑ ॥
[ऋ० ५–२–९]

[अग्निः बृहता ज्योतिषा विभाति] अग्नि अपने महान् प्रकाशसे देदीप्यमान हो रहा है [विश्वानि महित्वा आविष्कृणुते] अपने सम्पूर्ण महत्त्वको प्रकट कर रहा है। [अदेवाः] अशोभनीय [दुरेवाः] दुष्टमार्गमें ले जानेवाले [मायाः]

अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः ॥ [ऋ० १०-३-७]
सुतुकनः सुतुकनैरिति वा । सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा ।

[रभस्वान् अर्थात्] वेगवान् और [सुतुकः अर्थात्] सुन्दर गतिवाले हे अग्ने ! आप [रभस्वद्भिः] तीव्र और [सुतुकेभिः] सुन्दर गतिवाले [अश्वैः] अश्वोंके द्वारा [इह आ गम्याः] यहाँ पधारिये।

सुन्दर गतिवाला अग्नि सुन्दर गतिवाले घोड़ोंके द्वारा [आता है] । [सुतुकनः अर्थात्] सुन्दर गतिवाला [अग्नि] [सुतुकेभिः अर्थात्] सुन्दर गतिवाले [अश्वों]के द्वारा अथवा ['सुतुकनः सुतुकेभिः' का दूसरा अर्थ देते हैं] उत्तम प्रजावाला [अग्नि] उत्तम प्रजावाले [अश्वों] के द्वारा [आवे] ।

छल-कपटोंको [प्रसहते] नष्ट करता है और [रक्षसे विनिक्षे] दुष्ट जनोंके नाशके लिए अपने ज्वालारूप शृंगोंको तीक्ष्ण करता है ।

यह मन्त्रका अर्थ है । यास्क अपनी पद्धतिसे आगे उसकी व्याख्या करते हैं—'निश्यति' इत्यादि ।

३५ सुतुकः—नैगमकाण्डका ३५ वाँ शब्द 'सुतुकः' है । यह भी अनेकार्थक और अनवगत-संस्कारवाला शब्द है । निघण्टुमें 'तक' धातु गत्यर्थक धातुओंमें पढ़ा है । उसीसे यास्कने 'तुक' धातुको भी गत्यर्थक धातु मानकर उस 'तुक' धातुसे भी 'सुतुकः' पदको सिद्ध किया है और अपत्यार्थक 'तोक' शब्दसे भी 'सुतुकः' पदकी सिद्धि की है । इस शब्दका प्रयोग दिखलानेके लिए जिस मन्त्रमेंसे एक अंश यहाँ उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

स आवक्षि महि न आ च सत्सि दिवस्पृथिव्योररतिर्युवत्योः ।
अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वै: रभस्वद्भी रभस्वाँ एह गम्याः ॥
[ऋ० १०-३-७]

ऊपर निर्दिष्ट ['रभस्वान् अर्थात्'] इत्यादि अर्थ मन्त्रके उत्तरार्द्धभागका है । निरुक्तकार आगे अपनी पद्धतिसे उदाहरण-भागका अर्थ निम्नप्रकार करते हैं—'सुतुकनः' इत्यादि ।

सुप्रायणाऽअस्मिन्यज्ञे विश्रयन्ताम् ॥ [यजुः० २८-५]
सुप्रगमनाः ॥१८॥

[सुप्रायणाः अर्थात्] सुन्दर गतिवाली [इन्द्रियाँ] इस [यज्ञे अर्थात्] शरीरमें स्थित हों। 'सुप्रायणाः'—'सुप्रगमनाः' अर्थात् सुन्दर गतिवाली ॥१८॥

---

३६. सुप्रायणाः—नैगमकाण्डका ३६वाँ शब्द 'सुप्रायणाः' है। इसका अर्थ 'सुप्रगमनाः' किया गया है। इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रका टुकड़ा यहाँ उद्धृत है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

होता यक्षदोजो न वीर्यं सहो द्वार इन्द्रमवर्धयन्।
सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्ताम् ऋतावृधो द्वार
इन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ [शु० यजुः० २८-५]

'सुप्रायणाः' पद ऋग्वेदमें कहीं नहीं आया है, इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ यजुर्वेदसे उसका उदाहरण दिया है। मन्त्रमें 'ओजः', 'वीर्यम्' तथा 'सहः' तीन शब्द बलवाचक आये हैं। इनमें ओजसे आत्मिक बल, वीर्यसे शारीरिक बल तथा सहसे मानसिक बलका ग्रहण करना चाहिये। 'ओजो न वीर्यम्' में आया हुआ 'न' समुच्चयार्थक है। होता आत्मिक, शारीरिक और मानसिक तीनों प्रकारके बलोंको [यक्षत् अर्थात्] प्राप्त करे। 'द्वारः'का अर्थ इन्द्रियाँ है। 'द्वार इन्द्रमवर्धयन्' इन्द्रियाँ आत्माको ज्ञान द्वारा उन्नत [ज्ञानवान्] बनाती हैं। इसलिए सुन्दर गतिवाली [ऋतावृधः द्वारः] ज्ञानको बढ़ानेवाली वे इन्द्रियाँ [अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्ताम्] इस यज्ञरूप अथवा यज्ञसाधनभूत शरीरमें स्थिर रहें।

यह मन्त्रके मुख्य भागका अभिप्राय है। निरुक्तकारने मन्त्रकी विशेष व्याख्या नहीं की है। केवल 'सुप्रायणाः'का अर्थ 'सुप्रगमनाः' कर दिया है।

[१९]

देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥
[ऋ० १-८९-१]

देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युरप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तो रक्षितारश्चाऽहन्यहनि।

---

[१९]

जिससे कि देवतागण [अर्थात् विद्वद्गण] सदा हमारी वृद्धि करनेवाले और प्रमाद-रहित होकर हमारी रक्षा करनेवाले हों।

जिससे कि देवतागण सदा हमारी वृद्धि करनेवाले हों और प्रतिदिन 'अप्रायवः' प्रमाद-रहित होकर हमारे रक्षक बने रहें।

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे यास्क उदाहरण-भागकी व्याख्या अपनी पद्धतिसे करते हैं—'देवा नो' इत्यादि।

३७. 'अप्रायुवः'— नैगमकाण्डका ३७वाँ शब्द 'अप्रायुवः' है। यास्कने इसका अर्थ 'अप्रमाद्यन्तः' किया है। यास्कका यह निर्वचन बतलाता है कि यह 'अप्रायु' शब्दके प्रथमाके बहुवचनका रूप है। तभी यास्कने इसका अर्थ 'अप्रमाद्यन्तः' किया है। देवराजयज्वाने अकारान्त 'अप्रायुव' शब्द मानकर 'अप्रायुवः' इसको प्रथमाके एकवचनका रूप बतलाया है। किन्तु यह बात यास्कके निर्वचनके विपरीत होनेसे अग्राह्य प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद ८-२४-१८ मन्त्रमें 'अप्रायुभिः' प्रयोग आता है। उससे भी प्रतीत होता है कि यह उकारान्त 'अप्रायु' शब्द ही है। उसीके प्रथमाके बहुवचनका यह 'अप्रायुवः' प्रयोग यहाँ हुआ है। इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र यहाँ दिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥
[ऋ० १-८९-१]

च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानाम् । च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति ।

युवं च्यवा॑नं स॒नयं॒ यथा॒ रथं॒ पुन॑र्युवा॑नं च॒रथा॑य तक्षथुः ॥
[ऋ० १०-३९-४]

च्यवन ऋषिका वाचक है, क्योंकि वह स्तोमोंका च्यावयिता अर्थात् स्तुतियोंको करनेवाला होता है। [च्यवनके स्थानपर] 'च्यवानम्'के प्रयोग भी वेदमें पाये जाते हैं। जैसे—'युवम्' इत्यादि।

[सनयं रथं यथा] पुराने रथके समान [च्यवानम् अर्थात्] क्षीण देहवाले ऋषिको [चरथाय] लोककल्याणके लिए [पुनर्युवानं तक्षथुः] फिर नवयुवक बना दो।

हमारे [क्रतवः] संकल्प सदा कल्याणकारक [भद्राः] हों और [विश्वतो अदब्धासः] संसारमें किसीसे न दबनेवाले [अपरीतासः] धर्ममार्गके अप्रतिकूल एवं [उद्भिदः] चरित्रको उद्बोधन प्रदान करनेवाले हों।

३८ च्यवनः—नैगमकाण्डका अगला ३८ वां शब्द 'च्यवनः' है। इसको कुछ ऐतिहासिक व्याख्याकार च्यवन नामक ऋषि-विशेषका वाचक मानते हैं। किन्तु यास्कने उसे ऐतिहासिक व्यक्तिका वाचक रूढ़ शब्द न मानकर 'च्यवनः च्यावयिता स्तोमानाम्' अर्थात् स्तुति करनेवाला यह सामान्य अर्थ किया है। निघण्टुमें [४-१-३८] च्यवनः पद पढ़ा गया है, किन्तु वेदमें इसके स्थानपर 'च्यवानम्' पदके प्रयोगके उदाहरण मिलते हैं। इस बातका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार इसकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'च्यवनः' इत्यादि।

यह मन्त्रके उद्धृत अंशका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिमें उसका अर्थ करते हैं—'युवान्' इत्यादि।

युवां च्यवानं सनयं पुराणं यथा रथं पुनर्युवानं चरणाय ततक्षथुः । युवा प्रयौति कर्माणि । तक्षतिः करोतिकर्मा ।

आप दोनों [सुवैद्य] च्यवन [अर्थात् जीर्णदेहवाले ऋषि] को सनयं अर्थात् पुराने रथके समान विचरण करनेके लिए फिर युवा बना दो । [युवन् शब्द 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातुसे उणादि 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' १-१५६ सूत्रसे 'कनिन्' प्रत्यय करके बनता है । इसलिए कर्मोंको मिलानेवाला [अर्थात् एकके बाद दूसरे कर्मको करनेवाला] युवा कहलाता है । ['तक्षथुः'में प्रयुक्त] 'तक्ष' धातु करनेके अर्थमें है ।

---

३९ रजः—नैगमकाण्डका अगला ३९ वाँ शब्द 'रजः' है । यह अनेकार्थक शब्द है । यास्कने इसके १ ज्योति, २ उदक, ३ लोक, ४ रुधिर तथा ५ अहः (दिन) ये पांच अर्थ किये हैं । उसके उदाहरणरूपमें जो टुकड़ा दिया है उसका पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है —

रथं॑ युञ्जते म॒रुतः॑ शु॒भे सु॒खं शूरो॒ न मि॑त्रावरुणा॒ गवि॑ष्टिषु ।
रजां॑सि चि॒त्रा वि च॑रन्ति त॒न्यवो॑ दि॒वः स॑म्राजा॒ पय॑सा न उक्षतम् ॥

[ऋ० ५-६३-५]

हे मित्रा-वरुणो ! [शूरः सुखं रथं न] सूर्य जैसे अपने सुखदायक रथको प्रयुक्त करता है । [उसी समय आप दोनों] गविष्टिषु अर्थात् सूर्यकी किरणोंके साथ [शुभे शुभ शब्दका कल्याण अर्थ तो प्रसिद्ध ही है । किन्तु निघण्टुमें जल-वाचक नामोंमें भी 'शुभ' शब्दका पाठ है । इसलिए] कल्याणकारक जलके उत्पादनके लिए [तादर्थ्ये चतुर्थी विभक्ति है मरुतः युञ्जते] विविध प्रकारके वायुओंको नियुक्त करते हो । जिसके कारण [मध्य भागका अर्थ मूलार्थमें द्रष्टव्य ।]

रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते।

रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यवः। [ऋ० ५-६३-५]

हरो हरतेः। ज्योतिर्हर उच्यते। उदकं हर उच्यते। लोका हरांस्युच्यन्ते। असृगहनी हरसी उच्येते।

[चित्रा रजांसि अर्थात् नाना आकारवाले मेघोंका रूप धारण करनेवाले] विचित्र प्रकारके [रजांसि अर्थात्] जल [तन्यवः अर्थात् अपने द्रवरूपको छोड़कर वाष्पीयरूपमें आ जानेसे] अत्यन्त फैले हुए विस्तृतरूपमें [विचरन्ति] आकाशमें विचरण करने लगते हैं।

'रजः' पद [गत्यर्थक निघण्टु २-१४-४५में पठित 'रज' धातुसे बनता है। ज्योतिको रज कहा जाता है। उदकको भी रज कहा जाता है। लोक भी रज कहलाते हैं और रक्त तथा दिनको भी रज कहा जाता है।

[मेघरूपधारी] नाना प्रकारका जल [अपने वाष्पीय रूपमें] विस्तारको प्राप्त होकर [आकाशमें] घूमने लगते हैं। यह भी वेदमें [रजस् शब्दका प्रयोग] पाया जाता है।

और फिर [दिवः सम्राजा] अन्तरिक्षके सम्राट् इन्द्र [या विद्युत्]के द्वारा [न अर्थात्] जैसे [भूमि] जलसे सींच दी जाती है।

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे इसकी व्याख्या करते हैं। इसमें उन्होंने मन्त्रकी तो कोई व्याख्या नहीं की है केवल 'रजांसि' पदके चार अर्थ निम्नप्रकार दे दिये हैं—'रजः' इत्यादि।

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि। [ऋ० १०-८७-२५]
इत्यादि निगमो भवति ॥

'हरस्' पद 'हृ' धातुसे ['सर्वधातुभ्योऽसुन्' ४-१८८ उणादि सूत्रसे 'असुन्' प्रत्यय द्वारा] बनता है। प्रकाशका नाम 'हरस्' है। जलको भी 'हरस्' कहते हैं। लोक भी 'हरस्' कहलाते हैं। रक्त तथा दिनको भी 'हरस्' कहा जाता है।

हे अग्ने [अर्थात् नेता राजन्, अपने] तेजसे [दुष्ट आततायियोंके] तेजको नष्ट कर दो। इस प्रकारका मन्त्र भी वेदमें मिलता है।

---

४०. हरः—नैगमकाण्डका अगला ४०वाँ शब्द 'रजस्' शब्दके समान सकारान्त 'हरस्' शब्द है। यह भी अनेकार्थक शब्द है। यास्कने ऊपर 'रजस्' शब्दके जितने अर्थ दिये हैं वे सब 'हरस्' शब्दके भी अर्थ बताये हैं। और उसके उदाहरणरूपमें निम्न मन्त्रका एक अंश दिया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति।
यातुधानस्य रक्षसो बलं विरुज वीर्यम् ॥ [ऋ० १०-८७-२५]

हे अग्ने [विश्वतः प्रति] सब दिशाओंमें [यातुधानस्य] दुष्ट आततायियों अत्याचारियोंके [हरः अर्थात् ज्योति अर्थात्] प्रतापको [हरसा प्रति शृणीहि] अपने प्रतापके द्वारा नष्ट कर दो। और [रक्षसो बलं वीर्यं विरुज] दुष्टोंके बल तथा वीर्यको नष्ट कर डालो।

यह मन्त्रका अर्थ है। यास्कने इस प्रकरणकी व्याख्या निम्नप्रकार की है—'हरः' इत्यादि।

४१. जुहुरे—नैगमकाण्डका ४१वाँ शब्द 'जुहुरे' है। इसकी यास्कने कोई विशेष व्याख्या नहीं की है। उदाहरणरूपसे जिस मन्त्रका टुकड़ा दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

जुहुरे विचितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति।
आ दृढां पुरं विविशुः ॥ [ऋ० ५-१९-२]

जुहुरे विचितयन्तः [ऋ० ५-१९-२]

जुह्विरे विचेतयमानाः ।

व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा ।

"पदं देवस्य नमसा व्यन्तः ॥ [ऋ० ६-१-४]

जो लोग [नृम्णं पान्ति अर्थात्] योगबलकी रक्षा करते हैं और [अनिमिषं विचितयन्तः] निरन्तर परमात्माका चिन्तन करते हुए [जुहुरे अपने] जीवनका दान करते हैं वे [आ दृढां पुरं विविशुः] मोक्षरूप चिरस्थायिनी पुरीमें प्रवेश प्राप्त करते हैं ।

[आत्माका ज्ञान प्राप्त करते हुए अथवा परमात्माको] पहिचानते हुए । [जीवनका] परित्याग करते हैं ।

'व्यन्तः' यह [अर्थात् इसका मूलभूत 'वी' धातु] अनेकार्थ है । जैसे—

[१] परमात्माके अमृत पदको भक्तिभावसे देखते हुए । इसमें [व्यन्तः यह पद] देखनेके अर्थमें है ।

---

४२ व्यन्तः—नैगमकाण्डका अगला ४२ वाँ शब्द 'व्यन्तः' है । यह अनेकार्थक शब्द है । यास्कने उसके १ देखना, २ खाना ये दो अर्थ किये हैं । दोनों अर्थोंको दिखलानेके लिए दो मन्त्रोंके टुकड़े उद्धृत किये हैं । वे दोनों पूरे मन्त्र निम्नप्रकार हैं—

[१] पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम् ।
नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ ॥
[ऋ० ६-१-४]

[२] इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आबर्हिः सीद ।
वीहि शूर पुरोडाशम् ॥ [ऋ० ३-४१-३]

[३] उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो गाव आपश्च पीपयन्त देवीः ।
उतो नो अस्य पूर्व्यः पतिर्दन् वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥
[ऋ० १-१५३-४]

इति पश्यतिकर्मा ।
वीहि शूर पुरोडाशम् ॥ [ऋ० ३-४१-३]
इति खादतिकर्मा ।
वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ [ऋ० १-१५३-४]
अश्नीतं पिबतं पयस उस्रियायाः । उस्रियेति गोनाम ।

---

[२] हे शूर ! आप पुरोडाश [यज्ञीय अन्न] को खावें । यहाँ ['वीहि' यह 'वी' धातुका प्रयोग] खानेके अर्थमें है ।

[३] गौके दूध तथा उससे बने पदार्थोंको खाओ पीयो । [यहाँ भी 'वी' धातुसे बना हुआ 'वीतम्' पद खानेके अर्थमें है] उस्रियाके दूधसे [बने पदार्थोंको] खाओ पीयो । 'उस्रिया' यह गौका नाम है, क्योंकि उसमें नाना प्रकारके भोग वहते हैं । 'उस्रा' यह भी गौका नाम है ।

इनमेंसे पहिले मन्त्रमें 'व्यन्तः' यह पद देखनेके अर्थमें है, दूसरे मन्त्रमें 'वीहि' पद उसी धातुसे बना हुआ किन्तु खानेके अर्थमें है और तीसरे मन्त्रमें भी उसी 'वी' धातुसे बना हुआ 'वीत' पद खानेके अर्थमें है । इन मन्त्रोंके अर्थ निम्न-प्रकार हैं—

[१]–[देवस्य अमृक्तं पदम्] परमात्माके अमर पदको [नमसा अर्थात्] भक्तिभावसे [व्यन्तः] देखते हुए [श्रवस्यवः] सुप्रसिद्ध परमात्माको चाहनेवाले भक्त [श्रव आपन्] उस प्रसिद्ध परमात्माको प्राप्त करते हैं । और [ते भद्रायां संदृष्टौ] वे परमात्माकी कल्याण-कारिणी दृष्टिमें [रणयन्तः] रमण करते हुए ['यज्ञियानि चित् नामानि दधिरे' मुक्त-पुरुष, केवली आदि] पवित्र नामोंसे कहे जाते हैं ।

[२]–हे इन्द्र ! [इमा ब्रह्मवाहः] ये ब्रह्मको प्राप्त करानेवाली क्रियाएँ की जा रही हैं । [ब्रह्म आबर्हिः सीद] हे ब्रह्मन्, इसमें आप सम्मिलित होनेकी कृपा करें । हे शूर ! उसमें प्रदत्त उत्तम [पुरोडाशम्] भोज्य पदार्थोंको भक्षण कीजिये ।

उस्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्रेति च।

त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः। गोभिः क्राणा अनूषत॥ गोभिः कुर्वाणा अस्तोषत।

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः
[ऋ० १०-१०१-१०]

आसिञ्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य। हरिः सोमो हरितवर्णः।

हे इन्द्र! [मतिभिः सुते] विद्वानोंके द्वारा [यज्ञकालमें] सोमरसके निकालनेपर [वसूयवः] धनको चाहनेवाले [सुनीथासः] उत्तम मार्ग-पर चलनेवाले स्तोतागण [गोभिः] वाणीके द्वारा [स्तुति] करते हुए आपकी प्रशंसा करते हैं।

[मन्त्रमें आये हुए 'हरि' शब्दका अर्थ करते हैं] 'हरि' सोमको कहते हैं। क्योंकि वह हरितवर्ण [हरे रंगका] होता है। यह दूसरा हरि अर्थात् तोता अथवा वानर। रामायणमें 'शिरीषकुसुमप्रख्याः केचित् पिंगलकप्रभाः।' इत्यादि वाक्यों द्वारा हरिद्वर्णके वानरोंका भी वर्णन पाया जाता है [इसी हरिद्वर्ण होनेके कारणसे वह [हरि कहलाता है]।

---

[३]—हे मित्रावरुणो! [वां मत्रासु विक्षु] आपकी आनन्दित सुखी प्रजाओंमें [अन्धः, गावः, देवीः आपः पीपयन्त] अन्न, गौएँ और दिव्य जल निरन्तर पुष्टिको प्राप्त होते हैं। [अस्य पूर्व्यः पतिः] इस जगत्का सर्वोत्तम स्वामी पर-मात्मा [उत नो दन्] इन सब पदार्थोंको हमें प्रदान करता है। उस परमात्माकी दी हुई [उस्रियायाः पयसः वीतं पातम्] गौके दूध और उससे बने पदार्थोंको खावें-पीवें या खाओ-पीयो।

ये इन तीनों मन्त्रोंके अर्थ हैं। यास्कने इनके सम्बद्ध अंशोंकी विवेचना करते हुए इस प्रकरणकी व्याख्या निम्नप्रकार की है—'व्यन्तः' इत्यादि।

अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव । वाशीभिश्तक्षताश्मन्मयीभिः ।
वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा । वाग्भिरिति वा ।
स शर्द्धदुर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः ॥
[ऋ० ७-२१-५]

पत्थरकी वाशियों [अर्थात् वासइया अर्थात् हंसिया अथवा मुसली]से काटो या कुचलो । अश्ममयी वाशियोंसे [तक्षत कूटो या काटो] अथवा ['वाशीभिः'का दूसरा अर्थ] वाणियोंके द्वारा [तक्षत अर्थात् स्तुति करो] ।

[शिश्नदेवाः अर्थात्] इन्द्रियलोलुप कामी [अपि न ऋतं मागुः] हमारे यज्ञमें न सम्मिलित हों ।

जो ['विषुणस्य जन्तोः' अर्थात्] दुष्ट पुरुषोंको [दण्ड द्वारा] वशमें करनेमें समर्थ हो [शर्धत्] केवल वही [हमारे यज्ञमें आनेका] साहस करे ।

---

४३ क्राणाः—नैगमकाण्डका अगला ४३ वाँ शब्द 'क्राणाः' है । इसका अर्थ 'कुर्वाणाः' किया है । इसके सम्बन्धमें यास्कने कोई विशेष विवेचना नहीं की है । केवल एक पूरा मन्त्र उदाहरणरूपमें प्रस्तुत कर 'क्राणाः'का अर्थ 'कुर्वाणाः' दे दिया है । मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है—'हे इन्द्र' इत्यादि ।

४४ वाशी—नैगमकाण्डका अगला ४४ वां शब्द 'वाशी' है । यह भी अनवगत-संस्कार तथा अनेकार्थक शब्द है । यास्कने इसके दो अर्थ किये हैं—एक 'अश्ममयी' अर्थात् सोमलताको काटनेवाले पत्थरके उपकरण और दूसरा वाणी । मन्त्रमें जहाँ 'वाशी' शब्दका प्रयोग किया गया है उसका आधा अंश यहाँ उद्धृत किया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ।
परिष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त ॥
[ऋ० १०-१०१-१०]

२८

स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य। मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या। शिश्नं श्नथतेः। अपिगुर्ऋतं नः। सत्यं वा यज्ञं वा ॥१९॥

वह [हमारे यज्ञमें आनेका] उत्साह रखे जो 'विषुणस्य जन्तोः' अर्थात् दुष्ट प्राणियोंको [दण्ड द्वारा वशमें करनेमें समर्थ हो] शिश्न-देव अर्थात् ब्रह्मचर्यरहित [इन्द्रियलोलुप कामी] मा [आनेका साहस] न करें, 'शिश्न' शब्द [निघण्टुमें पठित वधार्थक] 'श्नथ' धातुसे बनता है। 'अपि गुर्ऋतं नः' [इस अंशमें आये हुए 'ऋत' शब्दका अर्थ] सत्य अथवा यज्ञ है ॥१९॥

हे याज्ञिको! [इमं हरिं] इस हरिद्वर्ण सोमको [द्रोःउपस्थे] लकड़ीकी ओखलीमें डालो और [अश्मन्मयीभिः वाशीभिः] पत्थरकी बनी हुई मुसलीसे कूटो। [कुटे हुए सोमको दशकक्ष्याभिः परिष्वजध्वम्] दसों अंगुलियोंसे [अर्थात् दोनों हाथोंसे] दबाओ। [उभे धुरौ] जरा और मरण दोनोंको [प्रति वह्नि] शरीरसे बाहर निकालनेवाले सोमका [युनक्त] उपयोग करो।

४५ विषुणः—नैगमकाण्डका अगला ४५ वां शब्द 'विषुणः' है। यास्कने इसका अर्थ 'विषम' किया है। जो मन्त्र यहाँ उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है। वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

न या॒तव॑ इन्द्र जूजुवुर्नो॒ न वन्द॑ना शविष्ठ वे॒द्याभिः।
स शर्ध॑द॒र्यो विषु॑णस्य ज॒न्तोर्मा शि॒श्नदे॑वा॒ अपि॑ गुर्ऋ॒तं नः॑ ॥

[ऋ० ७-२१-५]

[हे शविष्ठ] हे शक्तिशाली राजन्! [नः ऋतं] हमारे यज्ञ या पुण्यकार्योंमें [यातवः न जूजुवुः] विघ्नकारी दुष्ट आनेका साहस न करें। [वेद्याभिः] चाप-लूसियोंसे [वन्दनाः] स्तुति करनेवाले भी [न जूजुवुः] आनेका साहस न करें इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'स' इत्यादि।

४६. जामि—नैगमकाण्डका अगला ४६वाँ शब्द 'जामि' है। यह भी अनवगत-संस्कारवाला और अनेकार्थक शब्द है। यास्कने इस शब्दके तीन अर्थ किये हैं। जामि १ अतिरेक-नाम। २ बालिशस्य वा। ३ असमानजातीयस्य वा उपजनः। अर्थात् जामि शब्दका अर्थ अतिरेक अर्थात् बाहुल्य होता है। अथवा बालिश अर्थात् मूर्ख होता है। अथवा असमानजातीय अर्थ अर्थात् बहिन होता है। बहिन स्त्री होनेसे पुरुषका असजातीय अर्थ है। जा अर्थात् प्रजा-वाचक 'जा' पदसे असाजात्यसूचक 'मि' का आगम होकर 'जामि' शब्द बना है। इस प्रकार यास्कने 'जामि' शब्दके तीन अर्थ दिखलाये हैं। इस शब्दका प्रयोग केवल ऋग्वेदके दशम मण्डलके दशम सूक्तमें दो-तीन बार आया है। उनमेंसे एक मन्त्र यास्कने यहाँ उद्धृत किया है। उसमें एक बार 'जामि' और एक बार 'अजामि' शब्दका प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेदका यह सूक्त, जिसमेंसे यह प्रकृत मन्त्र उद्धृत किया गया है, विशेष महत्त्वपूर्ण सूक्त है। इस सूक्तको 'यम-यमी-सूक्त'के नामसे कहा जाता है। सूक्तमें कुल १४ मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंमें यम तथा यमीका संवाद है। यम और यमी दोनों सूर्यके पुत्र तथा पुत्री माने जाते हैं; इस नाते ये दो भाई-बहिन होते हैं। वास्तवमें तो यम-यमी सूर्यके कोई देहधारी पुत्र तथा पुत्री नहीं हैं। सूर्यसे उत्पन्न होनेके कारण दिनको सूर्यका पुत्र तथा रात्रिको सूर्यकी पुत्री कहा जाता है। यही दिन तथा रात्रि यहाँ यम तथा यमीके रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं और आलंकारिक-पद्धतिसे उन दोनोंका मानवीकरण किया गया है। इन दोनों मानवीकृत दिवस और रात्रिका संवाद इस सूक्तमें प्रस्तुत किया गया है। इस संवाद-सूक्तकी एक और मुख्य विशेषता यह है कि वह 'उलटवाँसी' या 'कूट-काव्य'की पद्धतिपर लिखा हुआ है। कूट-काव्य संस्कृतमें एक विशेष प्रकारकी काव्यशैली है। इसमें काव्यको पढ़नेमें साधारणतः जो अर्थ प्रतीत होता है वह अर्थ न तो उसका अभिप्रेत अर्थ होता है और न वह संगत होता है। ऊपरसे देखनेमें काव्यका जो अर्थ प्रतीत होता है वह नितान्त असंगत और उन्मत्त-प्रलापसा प्रतीत होता है। किन्तु जब उसका सूक्ष्म विवेचन किया जाता है तो उसमें किसी गूढ़ रहस्यकी उपलब्धि होती है। यह कूटकाव्य विदग्ध जनोंके ही समझने योग्य होता है। साधारण जनोंकी गति उसमें नहीं

होती है। साधारण लोगोंको तो उसका ऊटपटांग उलटा अर्थ ही प्रतीत होता है। संस्कृतमें इस प्रकारके कूटकाव्यका संग्रह 'विदग्धमुखमण्डन' नामक ग्रन्थमें किया गया है। इसमें विदग्धजन-संवेद्य इसी प्रकारके कूटपद्योंका संग्रह किया गया है, इसीलिए इस ग्रन्थका नाम 'विदग्धमुख-मण्डन' रखा गया है। कूटकाव्यके भी अनेक भेद होते हैं। प्रहेलिका, अक्षरच्युतक, बिन्दुच्युतक आदि सब कूटकाव्यके ही भेद हैं। इसी प्रकारके कूटकाव्यका एक उदाहरण निम्न श्लोक है—

केशवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे हा केशव कथं गतः॥

इस श्लोकका अर्थ बहुत सीधा-सा है। केशव अर्थात् कृष्णको गिरा हुआ अर्थात् मरा हुआ देखकर द्रोण अत्यन्त प्रसन्न हुए। और सारे कौरव लोग 'हा कृष्ण आप हमें छोड़कर क्यों चले गये' कहते हुए रोने लगे। यह श्लोकका अर्थ है। किन्तु यह सर्वथा असंगत और उन्मत्तप्रलाप-सा प्रतीत होता है। युद्ध-भूमिमें कृष्णका पतन या मरण इतिहासविरुद्ध है। कौरवपक्षमें होते हुए भी कृष्णके मरणसे द्रोणका प्रसन्न होना भी असंगत है। और कृष्णके मरणसे कौरवोंका रोना तो एकदम उन्मत्त-प्रलाप है। अविदग्ध साधारण व्यक्ति श्लोकका यही अर्थ समझ सकता है, किन्तु कविने इस अभिप्रायसे यह श्लोक नहीं लिखा है। उसके मनमें इसका कुछ दूसरा ही अर्थ है। और वह अर्थ केवल विदग्ध-जन-संवेद्य है। इस पक्षमें 'केशवम्' पदके एक 'के' और दूसरा 'शवम्' ये दो टुकड़े होते हैं। 'क' शब्दका अर्थ 'जल' होता है। उसका सप्तमीके एकवचनका रूप 'के' है। उसका अर्थ 'जलमें' यह हुआ। 'शवम्' यह पद यहाँ एक जगह द्वितीयाका एकवचन और दूसरी जगह सम्बोधन-पद है। उसका अर्थ मृत-देह है। इसलिए 'के शवं पतितं दृष्ट्वा' का अर्थ 'मृत शरीरको जलमें पड़ा हुआ देखकर' यह हुआ। 'कृष्णको मरा हुआ देखकर' यह नहीं। 'द्रोणो हर्षमुपागतः' में 'द्रोण' पदका अर्थ द्रोणाचार्य नहीं अपितु श्रृगाल है। मृत-शरीरको जलमें पड़ा हुआ देखकर श्रृगाल इसलिए प्रसन्न हुआ कि उसको गिद्ध आदि नहीं खा सकेंगे। और रात्रिके समय मैं इसको जलमेंसे निकालकर अकेला ही निर्विघ्नरूपसे भक्षण करूँगा। 'रुदन्ति

कौरवाः सर्वे'में 'कौरव' पदका अर्थ भी प्रसिद्ध कौरवोंसे भिन्न गिद्ध पक्षी है। जलमें पड़े हुए मुर्देको देखकर सारे गिद्ध रोने लगे कि हे शव ! 'के' जलमें क्या चले गये।

इस कूटपद्यके दो अर्थ हैं। पहिला अर्थ केवल अविदग्ध नासमझ मूर्ख आदमी ही कर सकते हैं, क्योंकि वह एकदम अतंगत और बुद्धि-विपरीत अर्थ है। विदग्ध जन उससे भिन्न श्लोकका दूसरा ही अर्थ करते हैं जो एकदम सुसंगत और बुद्धिग्राह्य तथा चमत्कारपूर्ण प्रतीत होता है।

कूटकाव्यकी यह पद्धति संस्कृत-साहित्यमें पर्याप्त मात्रामें पायी जाती है। संस्कृतके अनुकरणसे वह पद्धति हिन्दी-साहित्यमें भी खूब चली है। एक उदाहरण हिन्दीका भी लीजिये—

हता राम कपिने जबहिं हरखी जनकसुताहु।
राक्षसगण रोवत फिरहिं हा हा राम हताहु॥

यह हिन्दीका एक कूट पद्य है। अर्थ सीधा है। जब कपिने अर्थात् हनुमान्ने रामको हता अर्थात् मारा तो जनकसुता सीताजी भी प्रसन्न हो उठीं। और राक्षस लोग 'हाय राम मारे गये हाय राम मारे गये' कह कर रोते हुए फिरने लगे। यह इस पद्यका सीधा अर्थ है। किन्तु वह सीधा अर्थ सीधे-साधे अविदग्ध मूर्ख लोगोंके लिए ही है। कोई समझदार विदग्ध व्यक्ति इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकता है कि हनुमान् रामचन्द्रको मार सकते हैं और सीता उनकी मृत्युसे प्रसन्न हो सकती हैं। यह अर्थ इतिहासविरुद्ध होनेके अतिरिक्त बुद्धि-विपरीत भी है। हनुमान्के द्वारा रामके मारे जानेकी कल्पना और उससे सीताके प्रसन्न होनेकी सम्भावना कोई बुद्धिहीन व्यक्ति ही कर सकता है। पर यह कवि, जिसने इस कूटकाव्यकी रचना की है, मूर्ख नहीं है। विदग्ध-जन उस कविको भी विदग्ध समझते हैं। तब उस कविके द्वारा लिखे गये पद्यके आपाततः प्रतीत होनेवाले अर्थसे वे सन्तुष्ट नहीं होते हैं। वे उसके भीतर कविके अभिप्रेत सुसम्बद्ध अर्थको खोजनेका यत्न करते हैं। और तब उन्हें इस पद्यका एक दूसरा ही अर्थ प्रतीत होता है। 'हता राम' इसका पदच्छेद बदल दीजिये। 'हता आराम' ऐसा पदच्छेद कर देनेपर अर्थ एकदम सुसंगत हो जाता है। आरामका अर्थ उद्यान होता है। कपिने आरामको हता अर्थात् लंकाके उद्यान-

का जब नाश किया तो जनकसुता जानकीको भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई और राक्षस लोग हाय 'हमारा उद्यान नष्ट कर डाला' ऐसा कहकर रोने लगे। यह इस पद्यका दूसरा अर्थ प्रतीत होनेपर विदग्ध-जनोंको सन्तोष और प्रसन्नताके साथ-साथ कविकी प्रतिभाका भी आभास होता है। यही कूटकाव्यका सौन्दर्य है। हिन्दीमें कबीरने इस कूटकाव्य-पद्धतिका प्रयोग प्रचुरमात्रामें किया है। कबीरकी 'उलटवाँसियाँ' हिन्दी-साहित्यमें प्रसिद्ध हैं। वे सब इसी कूटकाव्य-पद्धतिकी उदाहरणरूप हैं। उनका ऊपरसे दीखनेवाला अर्थ बिलकुल उलटा, असंगत और उन्मत्त-प्रलाप जैसा प्रतीत होता है, किन्तु उसकी सूक्ष्म विवेचना करनेपर उन्हीं असंगत और बुद्धिविपरीत पद्योंमें चामत्कारिक अर्थकी प्रतीति होने लगती है।

विश्वकी समस्त सत्य विद्याओंके समान इस कूटकाव्य-पद्धतिका उद्‌गम भी वैदिक साहित्यमें देखनेको मिलता है। वेदोंमें अनेक प्रसंग ऐसे आये हैं जिनको देखनेसे ये एकदम असंगत बुद्धिविपरीत और उन्मत्त-प्रलाप जैसे प्रतीत होते हैं। यास्कने इस प्रकारके कई प्रसंग निरुक्तमें उद्‌धृत किये हैं। यह यमयमी-सूक्त भी इसी प्रकारका एक प्रसंग है। उन अविदग्ध भाष्यकारोंने इस यमयमी-सूक्तमें भाई-बहिनके सम्भोगकी व्याख्या की है। उनके भाष्यके अनुसार इस सूक्तमें बहिन यमी अपने भाई यमको अपने साथ सम्भोग करनेके लिए प्रेरित करती है। यमके बार-बार मना करनेपर भी वह उसको छोड़ना नहीं चाहती है। इन भाष्यकारोंके भाष्यको जब हम पढ़ते हैं तो हमारा सिर लज्जासे झुक जाता है। भाई-बहिनके सम्भोगकी कल्पना अत्यन्त असंगत, बुद्धि-विपरीत और निम्न श्रेणीकी कल्पना है। यही नहीं यास्कने अगले ही पृष्ठपर ऐसा भी मन्त्र उद्‌धृत किया है जिसमें पिताके द्वारा पुत्रीमें गर्भाधान करनेकी चर्चा की गयी है। 'पिता यत्र दुहितुर्गर्भमाधात्' इसमें पिताके द्वारा पुत्रीमें गर्भाधान करनेकी बात कही गयी है। दूसरी जगह 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' स्वसा-भगिनी-जार अर्थात् भगिनीके साथ व्यभिचार करनेवालेकी भी चर्चा की गयी है। यह सब बुद्धि-विपरीत और असंगत अर्थ उन भाष्यकारोंने किये हैं जो वेद के यथार्थ स्वरूपको नहीं समझते हैं। केवल शब्दका जो वाच्यार्थ है उसको लेकर इस प्रकार अर्थ उन्होंने कर डाले हैं।

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि वाच्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः ।
अर्थेषु वाच्येष्वभिधैव दोषः सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥

इस श्लोकमें कवियोंकी वर्णनशैलीकी विशेषताका वर्णन करते हुए 'वाच्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः' वाच्यार्थके बाधित होनेको काव्यका परम प्रकर्ष कहा गया है। और वाच्य अर्थका अभिधा वृत्तिके द्वारा कथन करनेको एक बड़ा दोष बतलाया गया है। 'अर्थेषु वाच्येष्वभिधैव दोषः'। अर्थात् उत्तम काव्य सदा व्यङ्ग्यार्थप्रधान होते हैं। अभिधाशक्तिको वहाँ गौरव प्राप्त नहीं है। इसीलिए साहित्यशास्त्रमें ध्वनिकाव्यको सर्वोत्तम काव्य माना गया है। जब सामान्य काव्यमें वाच्यार्थबाधको परम प्रकर्षजनक माना गया है तब कूटकाव्यकी तो बात ही क्या है। वहाँ तो वाच्यार्थ जितना ही अधिक असंगत, बुद्धि-विपरीत और बाधित हो उतना ही अधिक कूटकाव्यका सौन्दर्याधायक होगा। इसलिए 'पिता यत्र दुहितुः गर्भमाधात्' में जो पिता द्वारा पुत्रीमें गर्भाधानकी बात कही गयी है अथवा यम-यमी-सूक्तमें जो बहिन द्वारा भाईको अपने साथ सम्भोगकी प्रेरणा की गयी है वह सब इसी प्रकारके कूटकाव्यके उदाहरण हैं जिनमें कि 'वाच्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः' वाच्यार्थबाधको परम प्रकर्ष-जनक माना जाता है। इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि इनका जो कुछ वाच्यार्थ प्रतीत हो रहा है वह उनका विवक्षित अर्थ नहीं है। उनका विवक्षित अर्थ कुछ और ही है। इसीलिए यास्कने 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' की व्याख्या करते हुए सूर्यको भाई और उषाको उसकी बहिन बतलाते हुए 'उषसमस्य स्वसारमाह, साहचर्याद् रसहरणाद्वा' यह लिखा है। इसी प्रकार 'पिता यत्र दुहितुः गर्भमाधात्' की व्याख्या करते हुए यास्कने पिताका अर्थ पर्जन्य अर्थात् मेघ और दुहिताका अर्थ पृथिवी किया है। अगले ही पृष्ठपर इसकी विवेचना करते हुए यास्कने लिखा है 'यत्र पिता दुहितुः गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसे असंगत और बुद्धि-विपरीत दीखनेवाले स्थलोंपर वाच्यार्थको छोड़कर हमें उनके भीतरके विवक्षित अर्थको निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये। पर यम-यमी-सूक्तके विषयमें भाष्यकारोंने इस प्रकारका कोई प्रयत्न नहीं किया। यह खेदकी बात है। यह ठीक है कि प्रत्यक्ष अर्थको छोड़कर नये अर्थका निकालना जरा कठिन काम है। पर ऐसे स्थलोंपर जहाँ

कि प्रत्यक्ष दृश्यमान वाच्यार्थ असंगत और बुद्धिविपरीत प्रतीत होता है इस प्रकारका प्रयत्न करना ही होगा। 'केशवं पतितं दृष्ट्वा' और 'हताराम कपिने जबहिं हरखी जनकसुताहु' जैसे स्थलोंपर हम प्रत्यक्ष दीखनेवाले और सरल अर्थपर सन्तोष तो नहीं कर सकते हैं। उनका यथार्थ अर्थ हमें खोजना ही पड़ेगा। तब फिर यम-यमी-सूक्तमें जो सरल और प्रत्यक्ष अर्थ देकर भाष्यकारोंने सन्तोष कर लिया है इसको कैसे उचित कहा जा सकता है। 'केशवं पतितम्' और 'हता राम' जैसे उदाहरणोंमें हम एक बार कविको उन्मत्त मानकर गूढ़ अर्थकी खोज-की उपेक्षा भी कर सकते हैं। किन्तु वेदको हम उन्मत्त-प्रलाप नहीं कह सकते हैं। और न इस प्रत्यक्ष दृश्यमान अर्थको अपनी बुद्धिका समर्थन दे सकते हैं। वह तो संस्कृतिका कलंक है, मानवताका कलंक है। हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं। आश्चर्यकी बात है कि ये वेदोंके परम भक्त भाष्यकार इन गर्हित अर्थोंको देकर कैसे सन्तुष्ट हो गये। यास्कने 'उपसमस्य स्वसारमाह' या 'पर्जन्यः पृथिव्याः' लिखकर ऐसे स्थलोंकी संगतिका जो मार्ग दिखलाया था उसका भी प्रयोग इन भाष्यकारोंने नहीं किया। अन्यथा वे कुछ न कुछ सुसंगत अर्थ निकाल सकते थे।

यास्कीय पद्धतिका अवलम्बन करके यदि हम इस सूक्तको सुसंगत बनानेका प्रयत्न करें तो हमें दो बातें करनी होंगी। पहिली बात तो यह है कि यम और यमी दोनोंको किन्हीं भौतिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्वोंका प्रतीक मानकर उनका मानवीकरण करना होगा। जैसे दिन और रात्रि, द्यावा-पृथिवी या प्रकृति और पुरुष यहाँ यम और यमी पदसे लिये जा सकते हैं। ये सबके सब समस्त जगद्व्यवहारका नियमन करनेवाले होनेसे 'यम-यमी' पदवाच्य हो सकते हैं। इस सूक्तके देवता भी यम-यमी हैं और ऋषि भी यम-यमी ही हैं। इन दोनोंके साथ 'वैवस्वत' पद जुड़ा हुआ है। इसका अर्थ 'विवस्वान्के पुत्र' होता है। विवस्वान्का एक अर्थ सूर्य है। दिन और रात दोनों सूर्यके साथ सम्बद्ध हैं। सूर्यके द्वारा ही दिनका उदय होता है और सूर्यके अस्त होनेसे ही रात्रिका उदय होता है, इसलिए ये दोनों वैवस्वत [विवस्वान्के पुत्र] हैं। और दोनों ही समस्त जगद्व्यवहारके नियमन करनेवाले होनेसे यम और यमी कहे जाते हैं। शतपथ-ब्राह्मणमें 'अग्निर्वै यमः इयं पृथिवी यमी। आभ्यां हीदं सर्वं यतम्' [शत० २-

१-१०] लिखकर जगद्-व्यवहारका नियामक होनेसे ही अग्निको यम और पृथिवीको यमी कहा है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ 'यम' और 'यमी' पद दिन और रात या द्यावा-पृथिवी या अग्नि और पृथिवी, या प्रकृति और पुरुष जैसे किसी अर्थके वाचक हैं। अर्थात् किन्हीं भौतिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्वों-को ही मानवीकरण करके यम और यमीके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। यह पहिली बात है जिसे हमें सूक्तकी सुसंगति लगानेके लिए करना आवश्यक है।

सूक्तकी सुसंगतिके लिए दूसरी बात यम तथा यमीके सम्बन्धका निर्धारण करना है। सायण आदि प्राचीन भाष्यकारोंने यम और यमीको भाई-बहिन माना है। इस भाई-बहिनके सम्बन्धके कारण ही सारा अनर्थ उत्पन्न होता है। इसके स्थानपर यदि यम और यमीका पति-पत्नी सम्बन्ध मान लिया जाय तो इस सूक्तमें दीखनेवाली सारी असंगति दूर हो जाती है। वास्तवमें विचार करें तो यम और यमीका पति-पत्नी सम्बन्ध ही बनता है। भाई-बहिनका सम्बन्ध नहीं बनता है। क्योंकि 'यमी' पदमें 'पुंयोगादाख्यायाम्' अष्टा० ४-१-४८ सूत्रसे स्त्री-वाचक 'ङीप्'-प्रत्यय होकर 'यमी' पद बनता है। इस सूत्रके अनुसार 'ङीप्'-प्रत्यय पुंयोग अर्थात् पति-पत्नीभावके द्योतनमें ही होता है। सिद्धान्तकौमुदीकी बाल-मनोरमाटीकामें 'पुंयोग' शब्दकी व्याख्या करते हुए 'अकुर्वती पापं भर्तृकृतान् वध-बन्धादीन् यथा लभते एवं तच्छब्दमपि। इति भाष्यस्वारस्येन जाया-पत्यात्म-कस्यैव पुंयोगस्य विवक्षितत्वात्' यह पंक्ति लिखी है। इसका अभिप्राय यह है कि बालमनोरमाकारने महाभाष्यके आधारपर जाया-पत्यात्मक अर्थात् पति-पत्नीरूप सम्बन्धको ही यहां 'ङीप्'-प्रत्ययका नियामक माना है। इसलिए 'यमी' पदमें हुआ 'ङीप्'-प्रत्यय ही इस बातका प्रमाण हो जाता है कि यम और यमी परस्पर पति-पत्नी ही हैं भाई और बहिन नहीं हैं। जहाँ पति-पत्नीभाव विवक्षित नहीं होगा वहाँ 'अजाद्यतष्टाप्' अष्टा० ४-१-४ सूत्रसे टाप्-प्रत्यय होकर 'यमा' पद बनेगा। 'यमी' रूप नहीं बनेगा। इस 'यमा' पदका प्रयोग भी ऋग्वेदमें 'यमे इव यतमाने' [ऋ० १०-१३-२] इस रूपमें मिलता है। इसमें 'यमे' 'यमा' पदके प्रथमाके द्विवचनका रूप है। ऐतरेयब्राह्मण ५-३ ने भी 'यमे इव ह्येते यतमाने' लिखकर 'यमे' को 'यमा' शब्दके ही प्रथमाके द्विवचनका रूप माना है। और स्वयं भाष्यकार सायणने भी 'यथा लोके तादृश्यौ द्वे कन्यके सह वर्तेते

तथा इमे शकटे [हविर्धाने]' लिखकर 'यमे' पदको 'यमा' शब्दका ही रूप माना है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि 'यम' शब्दके स्त्रीलिंगमें 'यमी' तथा 'यमा' दो प्रकारके रूप बनते हैं। पुंयोग अर्थात् पति-पत्नीभाव सम्बन्ध विवक्षित होनेपर 'पुंयोगादाख्यायाम्' [अष्टा० ४-१-४८] सूत्रसे 'ङीष्'-प्रत्यय होकर 'यमी' रूप बनता है। और पति-पत्नीभावके विवक्षित न होनेपर 'अजाद्यतष्टाप्' [अष्टा० ४-१-४] सूत्रसे 'टाप्'-प्रत्यय होकर 'यमा' पद बनता है। इन दोनों ही रूपोंका प्रयोग ऋग्वेदमें पाया जाता है। इस स्थितिपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यम-यमी-सूक्तमें पति-पत्नीसम्बन्धकी विवक्षा होनेसे ही 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि 'यम' और 'यमी' पति-पत्नी ही हो सकते हैं। भाई-बहिन नहीं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है जब व्याकरणके अनुसार पति-पत्नी-भावकी विवक्षा होनेपर ही 'यमी' पद बन सकता है तो फिर सायण आदि प्राचीन भाष्यकारोंने यम-यमीको भाई-बहिन क्यों माना है? इसका उत्तर यह है कि इस सूक्तके ग्यारहवें मन्त्रमें 'किंभ्राता' सद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्' ॥ [ऋ० १०-१०-११] इस मन्त्रमें 'भ्राता' तथा 'स्वसा' शब्दका प्रयोग पाया जाता है। और ९-१० संख्यावाले मन्त्रोंमें 'जामि' पदका प्रयोग पाया जाता है। 'स्वसा' तथा 'जामि' शब्द बहिनके वाचक है। और भ्राता शब्द भाईका वाचक है। इसलिए भाई-बहिनके वाचक शब्दोंके प्रयोगके कारण ही सायण आदिने 'यम' और 'यमी'को भाई-बहिन माना है। साथ ही उन दोनोंके 'वैवस्वत' अर्थात् विवस्वान् [सूर्य]की सन्तान होनेसे दोनोंको भाई-बहिन माना है। यहींपर इन भाष्यकारोंको कूटकाव्यके सिद्धान्तको पकड़ना चाहिये था। उन्होंने भ्राता और स्वसा शब्दोंके वाच्यार्थको पकड़ा जो नहीं पकड़ना चाहिये था। यही भूल है। कूटकाव्यमें असंगत दीखनेवाले शब्दोंका अर्थ उनके प्रसिद्ध वाच्यार्थसे भिन्न होता है। 'केशवं पतितं दृष्ट्वा' वाले कूटकाव्यके पूर्वोक्त उदाहरणमें असंगतिप्रदर्शक 'केशव, द्रोण, तथा कौरव' तीनों पदोंके लोकप्रसिद्ध वाच्यार्थको छोड़कर भिन्न प्रकारका अर्थ किया जाता है। तभी उसकी संगति लगती है। अन्यथा वह श्लोक नितान्त असंगत दिखलायी देता है। ठीक यही बात यहाँ 'भ्राता, स्वसा और जामि' तीनों पदोंके विषयमें समझनी चाहिये।

यदि हम इनके लोकप्रसिद्ध वाच्यार्थको ही ग्रहण करेंगे तो उनकी संगति ठीक नहीं लग सकेगी। मन्त्रोंकी संगति तभी ठीक लगेगी जब उनके प्रसिद्ध वाच्यार्थ-को छोड़कर मन्त्रार्थको सुसंगत बनानेके लिए अपेक्षित किसी दूसरे अर्थका ग्रहण किया जाय। पुराने भाष्यकारोंने यहींपर चूककर दी है। उन्होंने भ्राता आदि शब्दोंके वाच्यार्थका ही ग्रहण किया, इसलिए उनकी व्याख्या इतनी असंगत और बुद्धि-विपरीत तथा संस्कृतिके विरुद्ध बन गयी है। यदि वे इन शब्दोंका अन्य सुसंगत अर्थ करना चाहते तो निरुक्त और व्याकरण उनको इस बातकी अनुमति दे सकते हैं कि 'भ्राता'को 'भर्ता'का वाचक समझ लें। और 'स्वं पुरुषं सरति इति स्वसा' पुरुषके पास 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' जाया-भाव [पत्नी-भाव]से आनेवाली स्त्रीको 'स्वसा' कहते हैं, इस प्रकारकी व्याख्या कर सकते थे। और 'जामि' शब्द तो स्पष्ट ही जायाका वाचक है। 'जनयति अस्यामपत्यं पतिः इति जामिः' इस प्रकारकी व्युत्पत्ति द्वारा जामि और जाया दोनोंको समानार्थक माना जा सकता है। इस प्रकार निरुक्त तथा व्याकरणकी पद्धतिसे 'भ्राता' पदको 'भर्ता' परक और 'स्वसा' तथा 'जामि' पदोंको भार्यापरक बना-कर यम और यमीके पति-पत्नीभावकी स्थापना बहुत सरलतासे की जा सकती है। उस दशामें इस सूक्तमें जो अनर्थ एवं असंगति दिखलायी देती है वह सब समाप्त हो जाती है।

इन मौलिक सूत्रोंको पकड़कर यदि हम सूक्तकी आध्यात्मिक व्याख्या करना चाहें तो प्रकृति-पुरुषके मानवीकृत रूपमें उनका यह संवाद उच्च कोटिके आध्यात्मिक रहस्यको प्रकट करनेवाला बन सकता है। प्रकृति तथा पुरुषका स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध शास्त्रोंमें सर्वत्र प्रसिद्ध है। पुरुष प्रकृतिका स्वामी या पति है, प्रकृति उसकी स्व या पत्नी है। पुरुष भोक्ता है प्रकृति भोग्य है। पुरुष द्रष्टा है प्रकृति दृश्य है। प्रकृति पुरुषको आकर्षित करती है। भोगके लिए आमंत्रित करती है। पुरुष उससे बचना चाहता है, मोक्ष-प्राप्तिका यत्न करता है। इसी आध्यात्मिक रहस्यको इस सूक्तमें यम-यमीके संवादके रूपमें बड़े सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया गया है।

इस भूमिकाके बाद अब मन्त्रोंके अर्थोंपर विचार करना उपयुक्त होगा। इस सूक्तमें कुल १४ मन्त्र हैं। इनमेंसे १-३-५-७-९-११ और १३ वें अर्थात्

विषम संख्यावाले मन्त्रोंकी ऋषिका तथा देवता यमी है। अर्थात् इन मन्त्रोंमें अचेतन प्रकृतिका मानवीकरण करके पुरुषका नियमन [बन्धन] करनेवाली उसकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति की गयी है। अर्थात् इन विषम संख्यावाली सात ऋचाओंमें प्रकृति-पुरुषके संयोग द्वारा उसको बन्धनमें लाने और संसार-प्रवाहको चालू रखनेका प्रतिपादन किया गया है। इसके विपरीत २-४-६-८-१०-१२ और १४ इन सम संख्यावाली ऋचाओं द्वारा प्रकृति-पुरुषके इस संयोगका प्रत्याख्यान करके मोक्ष-पक्षकी पुष्टि करनेका प्रयत्न किया गया है। इस आध्यात्मिक पक्षमें मन्त्रोंका अर्थ निम्नप्रकार है—

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ [ऋ० १०-१०-१]

यह इस यम-यमीसूक्तका पहिला मन्त्र है। इसकी देवता तथा ऋषिका यमी है। यह यमी पुरुषका यमन [नियमन या बन्धन] करनेवाली है। पुरुषका बन्धन ही संसार है। यह संसार प्रवाहसे अनादि है। इसका यह प्रवाह अनन्त-काल तक चलता भी रहेगा। इस प्रवाहके अनवरतरूपसे चलते रहनेकी आवश्यकताका ही प्रतिपादन इस मन्त्रमें किया गया है। मन्त्रमें आये हुए 'वेधाः' शब्दका अर्थ 'विदधाति नानाविधानि कर्माणि इति वेधाः' इस व्युत्पत्ति-के अनुसार पुरुष अर्थात् आत्मा है। वह वेधा अर्थात् पुरुष या आत्मा 'प्रतरम्' अर्थात् संसार-सागरके पार पहुँचानेवाले मोक्षका 'दीध्यानः' ध्यान करके अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छासे 'पितुः पातं न आदधीत' इसमें 'पाति संसार-प्रवाहम् इति पिता' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'पिता' शब्द कर्म-संस्कारोंका वाचक है। मोक्षकी कामना करनेवाला पुरुष कहीं 'पितुः पातं न आदधीत' इस कर्म-संस्कार-का उच्छेद न कर डाले 'क्षम्याम् इति अधिक्षमि' इस पृथिवीपर अर्थात् इस संसारमें मोक्षको चाहनेवाला पुरुष कहीं कर्म-जालको ही समाप्त न कर डाले इस बातको रोकनेके लिए 'सखायं' अपने सखारूप पुरुषको 'सख्या' सखा रूपसे मैं 'चिदु आववृत्याम्' सब ओरसे आवृत कर लूँ। अर्थात् प्रकृति द्वारा पुरुषको आवृत कर लेनेपर कर्मजाल तथा संसारका उच्छेद नहीं होगा। संसारके प्रवाहको चालू रखनेका एकमात्र उपाय यही प्रकृति-पुरुषका संयोग है। अन्यथा 'तिरः' अर्थात् नाना प्रकारकी वक्रताओं अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और

आधिदैविक त्रिविध तापोंसे भरे हुए और 'पुरू चित् अर्णवम्' इस विशाल संसार-सागरमें 'जगन्वान्' फँसा हुआ यह 'वेधाः' अर्थात् पुरुष अथवा आत्मा 'प्रतरं दीध्यानः' मोक्षकी कामना करता हुआ 'अधिक्षमि' इस संसारमें उसको प्रवाहित रखनेवाले 'पितुः' कर्म-जालका 'पातं न आदधीत' उच्छेद न कर डाले। इसके लिए इस पुरुषरूप सखाको मैं [प्रकृति] अपने सख्यभावसे 'आववृत्याम्' आच्छादित [आलिंगित अथवा संयुक्त] कर लूँ। अर्थात् इस संसारके प्रवाहको अनवरतरूपसे चालू रखनेका एकमात्र उपाय प्रकृति-पुरुषका संयोग ही हो सकता है। यही शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन इस मन्त्रमें किया गया है।

न ते॒ सखा॑ स॒ख्यं व॑ष्ट्ये॒तत् सल॑क्ष्मा॒ यद्विषु॑रूपा॒ भवा॑ति।
म॒हस्पु॒त्रासो॒ असु॑रस्य वी॒रा दि॒वो ध॒र्तार॑ उर्वि॒या परि॑ख्यन्॥
[ऋ० १०-१०-२]

यह इस सूक्तका दूसरा मन्त्र है। इसका देवता और ऋषि यम है। 'यम्यते इति यमः' प्रकृति जिसको बन्धनमें डालती है वह पुरुष अथवा आत्मा इसका ऋषि अर्थात् द्रष्टा और देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय है। अर्थात् इस मन्त्रमें प्रकृतिकी पूर्व मन्त्रमें प्रदर्शित संसार-प्रवाहको चालू रखनेकी भावनाके विपरीत मोक्षकी भावनाको व्यक्त किया गया है। मन्त्रके प्रथम चरणमें मुमुक्षु पुरुषके लिए प्रकृतिके सख्यका स्पष्टरूपसे निषेध करते हुए स्पष्टरूपसे उसे अवांछनीय ठहराते हुए कहा गया है कि 'ते सखा एतत् सख्यं न वष्टि' तुम्हारा सखा अर्थात् पुरुष इस सख्यको अर्थात् प्रकृति-पुरुषके संयोगको न 'वष्टि न कामयते' नहीं चाहता है। 'वश' धातु कान्त्यर्थक अर्थात् इच्छा-वाचक है। क्यों नहीं चाहता है? इसका हेतु अगले चरणमें दिया गया है। 'सलक्ष्मा यद् विरूपा भवाति' क्योंकि 'सलक्ष्म' अर्थात् सदा एकजैसा कूटस्थ निर्विकार होनेपर भी प्रकृतिका योग होनेपर बद्ध होकर पुरुष 'विरूपा भवाति' सुख-दुःख आदिसे संपृक्तजैसा प्रतीत होने लगता है। इसी बातको योगदर्शनमें 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' और 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' योग १-३ सूत्रोंमें व्यक्त किया गया है। सांख्य, योग आदि शास्त्रोंके अनुसार पुरुष या आत्मा शुद्ध, कूटस्थ और सदा एकरस रहनेवाला है, किन्तु प्रकृतिके साथ संयुक्त हो जानेसे 'वृत्ति-सारूप्य' अर्थात्

सुख-दुःखात्मक वृत्तियोंके अनुरूप सुख-दुःखमय-सा प्रतीत होने लगता है। इसी बातको मन्त्रमें 'सलक्ष्मा यद्विरूपा भवाति' इस द्वितीय चरण द्वारा कहा गया है। मन्त्रके उत्तरार्द्धमें उन मुक्त पुरुषोंकी चर्चा की गयी है जो इस भुक्त-भोगा प्रकृतिका परित्याग कर चुके हैं। जिनके लिए सांख्य और उपनिषदोंमें 'जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्' कहा गया है। 'महस्पुत्रासो उर्विया परिख्यन्' 'परिख्यन्'का अर्थ प्रत्याख्यान कर देना परित्याग कर देना है। 'महस्पुत्रासो' आध्यात्मिक शक्तिसे युक्त, 'असुरस्य वीराः' आसुरी प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेवाले और 'दिवो धर्तारः' दिव्य ज्ञान आत्म-साक्षात्कारको धारण करनेवाले 'उर्विया' महान् मुमुक्षु-पुरुषोंने इस प्रकृति-पुरुषके संयोगका परित्यागकर दिया है। इसलिए प्रकृति-पुरुषका संयोग पुरुष या आत्माका कल्याण चाहनेवालेके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यह इस द्वितीय मन्त्रका भाव है।

पहिले मन्त्रमें प्रकृतिके आकर्षणका प्रतिपादन किया गया था। इस दूसरे मन्त्रमें उससे उस ओरसे निवृत्तिका वर्णन किया है। पहिला प्रेयोमार्ग था, यह श्रेयोमार्गका प्रतिपादक है। प्रकृति-पुरुषके संवादके रूपमें यह मानवके भीतर चलनेवाले अन्तर्द्वन्द्वका चित्रण चल रहा है। एक वार प्रेयोमार्गकी भावना बलवती हो उठती है और फिर श्रेयोमार्गकी भावना उसपर अधिकार जमा लेती है।

अगला मन्त्र निम्नप्रकार है—

उशन्ति' घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः॥

[ऋ० १०-१०-३]

यह विषम संख्यावाला तीसरा मन्त्र है। इसकी ऋषिका तथा देवता यमी अर्थात् प्रकृति है। पिछले मन्त्रमें 'जहत्येनां भुक्तभोगां' 'दिवो धर्तारः' दिव्य आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञानको धारण करनेवाले मुक्त पुरुषों द्वारा प्रकृति-संयोग के 'परिख्यन्' परित्यागकी बात ऊपर की गयी थी। किन्तु संसारमें इस प्रकारसे प्रकृतिका परित्याग कर मोक्षको प्राप्त करनेवाले 'महस्पुत्रासः' हैं कितने? एक दो अर्थात् बहुत थोड़े। अधिकांश पुरुष तो संसारका भोग चाहनेवाले ही हैं। इसी बातकी चर्चा इस मन्त्रके पूर्वार्द्ध भागमें की गयी है। यह प्रकृतिका

संयोग 'एकस्य चित् मर्त्यस्य त्यजसम्' एक अर्थात् कुछ गिने-चुने मुक्त पुरुषोंके लिए 'त्यजसम्' अर्थात् छोड़ा जा सकता है। किन्तु 'घा उशन्ति' 'घा' अर्थात् बहुसंख्यक अधिकांश पुरुष इस प्रकृतिसंयोगरूप प्रेयोमार्गको 'उशन्ति' चाहते हैं और इस प्रेयोमार्गपर चलकर वे नष्ट हो जाते हों सो बात नहीं है। 'ते अमृतासः' वे संसारका भोग करनेवाले पुरुष भी 'अमृतासः' अमर हैं। अमृतका भोग करनेवाले हैं। 'अस्मे' इस तथ्यको 'ते मनः' तुम्हारे मनको अर्थात् तुमको अर्थात् पुरुषको 'मनसि नि ध्यायि' मनमें भली प्रकार समझ लेना चाहिये। 'मनो मनसि ध्यायि' इस प्रयोगको 'ओदनपाकं पचति'के समान समझना चाहिये। प्रकृतिका परित्याग करनेवाले मुक्त पुरुष बहुत थोड़े हैं और अधिकांश पुरुष उस प्रेयोमार्गका अवलम्बन करनेवाले हैं और वे भी मुक्त पुरुषोंके समान ही 'अमृतासः' अमर हैं इस तथ्यको 'मनसि निध्याय' मनमें विचार करके 'जन्युः' अर्थात् 'बह्वीः प्रजाः सृजमानां' नाना प्रकारकी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिके 'पति' स्वामी होकर 'तन्वम् आविविश्याः' उसका भोग करो। प्रकृतिके स्वामी होकर उसका भोग करो दास होकर नहीं 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह इस तीसरे मन्त्रका अर्थ है।

इस मन्त्रमें पुरुषके इस अन्तर्द्वन्द्वमें यमीने एक ऐसे तथ्यको उपस्थित किया है जिससे इनकार करना सम्भव नहीं है। इसलिए अगले मन्त्रमें यम इस तथ्यको स्वीकार करते हुए कहता है—

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ॥

ऋ० १०-१०-४।

इस मन्त्रमें यम अर्थात् पुरुष गत मन्त्रमें निर्दिष्ट तथ्यको स्वीकार करते हुए कहता है कि 'ऋता वदन्तः' सत्य भाषण करते हुए हम 'अनृतं कद्ध रपेम' यह अनृत भाषण कैसे करें 'यत्' कि 'पुरा न चकृमा' हमने पहिले प्रकृतिका भोग नहीं किया। हम अबतक सांसारिक पुरुषकी भाँति प्रकृतिके साथ संयुक्त होकर भोग करते रहे हैं। 'अप्सु गन्धर्वः' में 'अप्सु' अर्थात् कर्म-जालमें 'गन्धर्वः' गो अर्थात् इन्द्रियाँ लगाये रखनेवाला हूँ अर्थात् इन्द्रियों द्वारा निरन्तर कर्मजालका संचय करता रहा हूँ और 'अप्या च योषा' यह योषा

'युनक्ति च सादयति च इति योषा' जो पुरुषके साथ संयुक्त होकर उसको दुःखजालमें फँसाती है इस प्रकारकी और 'अप्या' अर्थात् कर्मजन्य है। अर्थात् पुरुषकी बुद्धि तथा शरीर आदि सब कर्मजन्य हैं। इस प्रकार 'सा नो नाभिः' वह प्रकृति हम पुरुषोंके लिए 'नाभिः' अर्थात् बन्धनका कारण है। 'नाभिः' शब्द 'णह बन्धने' धातुसे बना है। इसीलिए प्रकृतिको नाभि कहा है। 'तत्' इस प्रकार 'नौ' हम दोनों 'परमं जामि' अत्यन्त सम्बद्ध हैं।

दूसरे मन्त्रमें 'न ते सखा सख्यं वष्टि एतत्' कहकर यमने प्रकृतिके संगका दृढ़ताके साथ प्रत्याख्यान किया था, पर इस मन्त्रमें वह दृढ़ता नहीं रही है। दूसरे मन्त्रमें यमीने जो यह कहा था कि यह प्रकृतिका भोग केवल कुछ पुरुषोंके द्वारा ही त्याज्य कहा जा सकता है। किन्तु अधिकांश पुरुष उसकी कामना करते हैं और वे भी 'अमृतासः' अमर हैं इस तथ्य सत्य भाषणके नामपर यमको इस तथ्यको स्वीकार करना ही पड़ा है। और यहीं अन्तर्द्वन्द्वमें यमकी पकड़ ढीली पड़ गयी है।

यास्कने 'जामि' शब्दका अर्थ करते हुए 'समानजातीयस्य वा उपजनः' यह लिखा है। इसलिए मन्त्रके 'परमं जामि तन्नौ' का अर्थ प्रकृति तथा पुरुषमें अत्यन्त साजात्य है यह किया है। और मन्त्रमें उस साजात्य या साधर्म्यका उपपादन 'अप्सु गन्धर्वः' और 'अप्या च योषा' इन पदोंके द्वारा किया गया है। पुरुष 'अप्सु' अर्थात् कर्मोंमें 'गन्धर्व' अर्थात् इन्द्रियोंको लगाये हुए सर्वात्मना व्यापृत है और प्रकृति अर्थात् उसका देहादि 'अप्या' अर्थात् कर्मजन्य है यही इन दोनोंका अत्यन्त साजात्य या साधर्म्य रूपसे यहाँ विवक्षित है।

पिछले मन्त्रमें यमकी पकड़ तनिक शिथिल होते ही यमीने उसका लाभ उठाकर यमको अपने तर्कपाशमें और अधिक जकड़ते हुए कहा कि हम दोनोंका यह साजात्य ही नहीं है, बल्कि विधाता परमात्माने हम दोनोंको दम्पतीके समान अभिन्न बनाया है। हम दोनों कभी अलग नहीं हो सकते हैं। हम दोनोंको मिलकर ही इस संसार-चक्रका संचालन करना है। इसलिए प्रकृतिसे अलग होकर मोक्षप्राप्तिकी कल्पना पुरुषके लिए उचित नहीं है। उससे तो संसारका उच्छेद हो जायगा। इसी भावको यमीकी उक्तिरूप अगले मन्त्रमें निम्नप्रकार कहा गया है—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥

[ऋ० १०-१०-५]

'कः' पदका अर्थ प्रजापति परमात्मा है। जो इस सारे चेतन जगत्का 'सविता' अर्थात् उत्पन्न करनेवाला और अचेतन जगत्का 'त्वष्टा' अर्थात् निर्माण करनेवाला तथा 'विश्वरूपः' सर्वव्यापक है। उस सविता, त्वष्टा तथा विश्वरूप 'कर्देवः' अर्थात् प्रजापति परमात्माने 'नौ' हम दोनों अर्थात् प्रकृति एवं पुरुषको 'गर्भे' सृष्टिके गर्भकालमें अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके पहिले ही 'दम्पती जनिता' दम्पती सदा साथ रहनेवाला बना दिया है। हम दोनोंको साथ रहकर ही इस सृष्टि-क्रमकी रक्षा करनी है। क्योंकि 'अस्य व्रतानि' इस परमात्माका 'व्रत' अर्थात् संकल्प 'नकिः प्रमिनन्ति' कभी भी व्यर्थ—व्याहत—नहीं होता है। इसलिए हम दोनोंको इस सृष्टिक्रमका निर्वाह करना होगा। यही हमारा कर्तव्य है। 'नौ अस्य' हम दोनोंके इस कर्तव्यको 'पृथिवी उत द्यौः वेद' द्यावा-पृथिवी सब जानते हैं। इसलिए हम अपने इस कर्तव्यसे विमुख नहीं हो सकते हैं।

इस मन्त्रमें प्रकृति-पुरुषके दम्पतिभावकी चर्चा की गयी है। उसका अभिप्राय यह है कि जाया-पतिके समान उनका अविच्छेद्य सम्बन्ध है। सांख्य, योगादि दर्शनोंमें पुरुषको प्रकृतिका पति—स्वामी—कहा गया है। और प्रकृतिपर नटी या स्त्रीका आरोप किया गया है।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥

[सांख्यकारिका ६१]

इस कारिकामें प्रकृतिको कुलवधूसे भी अधिक सुकुमार वधू बतलाया गया है। इस प्रकार—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः॥

[सा० का० ५९]।

इस सांख्यकारिकामें प्रकृतिको नर्तकी या नटीके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् सांख्य, योगादि दर्शनोंमें प्रकृतिको स्त्रीके रूपमें तथा पुरुषको उसके

पतिके रूपमें जो चित्रित किया गया है वह जैसे वास्तविक नहीं अपितु सादृश्य-मूलक औपचारिक प्रयोग है। इसी प्रकार इस मन्त्रमें प्रकृति तथा पुरुषको औपचारिक अर्थात् सादृश्यके कारण लाक्षणिक रूपसे 'दम्पती' कहा गया है।

पुरुषके इस अन्तर्द्वन्द्वमें प्रेयोमार्गकी प्रतीकरूप प्रकृतिने 'द्यावा-पृथिवी'को साक्षीके रूपमें प्रस्तुत कर यह समझानेका यत्न किया है कि पुरुषको प्रकृतिसे अलग होकर मोक्ष-प्राप्तिकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। प्रकृति और पुरुष दोनोंको भगवान्ने सृष्टिक्रमके निर्वाहका कार्य सौंपा है। और उस प्रजापति या परमात्माके 'व्रतानि नकिः प्रमिनन्ति' संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होते। 'वेद नौ अस्य पृथिवी उत द्यौः' हमारे कर्तव्यको पृथिवी और द्यौः जानते हैं। वे इस विषयमें साक्षी हो सकते हैं। इस साक्षीवाली उक्तिको सुनकर यम चुप नहीं रह सका। पुरुषकी श्रेयोमार्गगामिनी प्रकृतिने झपटकर उत्तर दिया कि—

को अ॒स्य वे॑द प्रथ॒मस्याह्नः॒ क ईं॑ ददर्श॒ क इ॒ह प्रवो॑चत्।
बृ॒हन्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ धाम॒ कदु॑ ब्रव आहनो॒ वीच्या॒ नॄन्॥

[ऋ० १०-१०-६]

'अह्नः' अर्थात् दिवसरूप सृष्टिके 'प्रथमस्य' पहिलेके अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व होनेवाले 'अस्य' इस परमात्माके संकल्पको 'कः वेद' कौन जान सकता है? 'क ईं ददर्श' किसने उसको देखा था और 'क इह प्रवोचत्' कौन उसे यहाँ बतलाने आया? अर्थात् यमीने जो द्यावा-पृथिवीको साक्षीके रूपमें प्रस्तुत कर अपनी बातका समर्थन करनेका यत्न किया है वह सब व्यर्थ है। यह द्यावा-पृथिवी भी तो सृष्टिके अंग हैं। सृष्टिकी उत्पत्तिके पहिले उनकी स्थिति थी ही नहीं तब 'गर्भे नु जनिता दम्पती' गर्भकालमें अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके पहिलेकी बातको कौन जान सकता है? 'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन' द्यावा-पृथिवी आदि सारे देव 'अस्य विसर्जनेन' इस सृष्टिकी रचनाके 'अर्वाग्' बादमें उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वे इस विषयमें साक्षी नहीं हो सकते हैं। और यह सृष्टि द्यावा-पृथिवीतक ही तो सीमित नहीं है। 'बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम' उस परमात्मा-की सृष्टिका क्षेत्र अलग-अलग लोकोंसे कहीं अधिक बड़ा है। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः' जिसको तुम द्यावा-पृथिवी कह रही हो वह सारी सृष्टि तो 'अस्य पादः' उस परमात्माका केवल एक चरणमात्र है। 'त्रिपादूर्ध्व

उदैत् पुरुषः' उसके तीन चरण तो इस सृष्टिसे भी परे हैं। तब ये बेचारे द्यावा-पृथिवी उसके संकल्पके साक्षी कैसे हो सकते हैं ? 'आहनः' अर्थात् प्रतिहतशक्ति-वाला यानी सीमित सामर्थ्यवाला और 'वीच्या' अर्थात् विनाशशील सदा न रहने-वाला 'कदु नृन् ब्रव' कौन मनुष्योंके प्रति अपनी उत्पत्तिसे पहिले किये गये संकल्पका साक्षी हो सकता है। इसलिए उस साक्षीके आधारपर जो यमी अर्थात् प्रेयोमार्गोन्मुख प्रवृत्तिने श्रेयोमार्गाभिलाषी पुरुषरूप यमको उसके श्रेयोमार्गसे विचलित करनेका यत्न किया है वह संगत नहीं है। चौथे मन्त्रमें यम अर्थात् श्रेयोमार्गी पुरुषका विवेक कुछ शिथिल पड़ गया था और श्रेयोमार्ग तथा प्रेयोमार्ग सम्बन्धी इस अन्तर्द्वन्द्वमें वह कुछ परास्त-सा दिखलायी देने लगा था। पर यहाँ इस छठे मन्त्रमें [आकर वह संभल गया है। उसकी शिथिलता दूर हो गयी है और उसके अन्तर्मानसमें फिर अपने मूल दृष्टिकोणके प्रति श्रद्धा जागृत हो उठी है।

पिछले मन्त्रमें यमीने परमात्माके प्रदत्त कर्तव्यके नामपर यमको प्रेयोमार्ग-का अनुयायी बनानेका यत्न किया था, किन्तु यमके तर्कने उसको विफल कर दिया। तो अबकी बार वह परमात्म-प्रदत्त कर्तव्यको छोड़कर आत्म-निर्धारित कर्तव्यके नामपर यमको फिर सृष्टिक्रमके निर्वाहार्थ प्रेरित करती हुई कहती है कि यह सृष्टि-क्रमका निर्वाह करना हम दोनोंका अपना स्वनिर्धारित कर्तव्य है। हम दोनों मिलकर ही रथके चक्रके समान इसका संचालन कर सकते हैं। अतएव हमें उसके लिए प्रयत्न करना चाहिये। मन्त्रमें यमीने इस अभिप्रायको निम्न शब्दोंमें व्यक्त किया है—

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥
[ऋ० १०-१०-७]।

'यम्यं मा' मुझ यमी प्रकृतिके भीतर 'काम आगन्' यह इच्छा उत्पन्न हो रही है कि 'यमस्य समाने योनौ' यमके साथ एक ही शरीरमें स्थित होकर अर्थात् पुरुषके साथ एक ही शरीरमें स्थित होकर 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्' जैसे पत्नी अपने पतिके सामने अपने सम्पूर्ण शरीरको पूर्णतया पतिको समर्पित कर देती है इसी प्रकार मैं अर्थात् प्रकृति अपने आपको यम अर्थात् पुरुषके अर्पण

कर दूँ। और इस प्रकार 'रथ्येव चक्रा' रथके चक्रोंकी भाँति हम दोनों मिलकर इस संसार-चक्रको 'वि चिद् वृहेव' वहन करें।

यह इस मन्त्रका अर्थ है। इसमें 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्', 'समाने योनौ सह शेय्याय' तथा 'कामः' शब्दोंके प्रयोगसे पूर्व भाष्यकारोंने इसे यम-यमीका दैहिक कामोपभोग माना है। और यमी यमसे काम-वासनाकी शान्तिके लिए सम्भोगकी प्रार्थना कर रही है इस प्रकारका इस मन्त्रका अर्थ किया है। किन्तु इन शब्दोंका ऐसा कोई भी अभिप्राय यहाँ नहीं है। 'जायेव पत्ये' की उपमा ऋग्वेदकी बहुसमादृत उपमा है। 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' इस उपमाका प्रयोग ऋग्वेदमें बहुत जगह हुआ है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

[ऋ० १०-७१-४]

इस मन्त्रमें भी इस उपमाका प्रयोग हुआ है। किन्तु यहाँ कामोपभोगका अर्थ अभिप्रेत नहीं है। मन्त्रका अर्थ निरुक्तमें ही पहिले ११९ पृष्ठपर दिया जा चुका है। जाया जैसे अपने पतिके सामने अपने स्वरूपको पूर्णतया प्रकट कर देती है इसी प्रकार वाणी विद्वानोंके सामने अपने स्वरूपको अपने अर्थको पूर्णतया प्रकाशित कर देती है। यह इस उपमाका अभिप्राय यहाँपर लिखा गया है। इसी प्रकार यमीकी इस उक्तिमें भी कामोपभोगकी चर्चा नहीं किन्तु पूर्ण समर्पणकी बात कही गयी है। इन दोनों मन्त्रोंमें 'तन्वं विसस्रे' और तन्वं रिरिच्याम्' केवल क्रियापदका भेद है। शेष सारी उपमा एक-सी है। जब इस उपमासे कामोपभोगकी भावना व्यक्त नहीं होती है तो मन्त्रमें आया हुआ 'कामः' पद भी काम-वासनाका बोधक न होकर इच्छार्थक है, यह समझना चाहिये। 'समाने योनौ सह शेय्याय' की तुलना दूसरे मन्त्रमें आये हुए 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'के साथ करनी चाहिये।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

[ऋ० १-१६४-२०]

इस मन्त्रमें दो 'सखाओं'के द्वारा 'सामान वृक्ष'के परिष्वजनका वर्णन किया गया है। ये दोनों सखा जीवात्मा तथा परमात्मारूप भी हो सकते हैं और प्रकृति तथा पुरुषरूप भी। जीवात्मा और परमात्माको यदि सखारूपमें ग्रहण किया जाय तो 'समान वृक्ष' प्रकृति होगी जिसका कि आश्रय वे दोनों लेते हैं। यदि प्रकृति तथा पुरुषको सखारूपमें लिया जाय तो 'समान वृक्ष' परमात्मा होगा जिसका कि आश्रय वे दोनों लेते हैं। जिसके आश्रय प्रकृति और पुरुष दोनों रहते हैं। अथवा 'सखायौ'से चाहे प्रकृति और पुरुषका ग्रहण किया जाय, चाहे जीवात्मा तथा परमात्माका ग्रहण किया जाय दोनों ही पक्षोंमें 'समानं वृक्षम्'का अभिप्राय इस शरीरसे होगा। जीवात्मा और परमात्मा दोनों इस शरीरमें स्थित होते हैं। 'तयोरन्यः' उन दोनोंमेंसे एक जीवात्मा 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कर्मफलका भोग करता है और 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति' दूसरा उसका भोग नहीं करता है। इस 'द्वा सुपर्णा'वाले मन्त्रमें प्रकृति पुरुषको 'सखायौ' कहा है। और यमयमी-सूक्तके प्रारम्भमें भी यमीने यमके लिए 'सखायम्' पदका प्रयोग किया है। 'द्वा सुपर्णा' वाले मन्त्रमें ये दोनों सखा 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' एक समान वृक्षका आलिंगन कर रहे हैं और यमीकी इस प्रकृत उक्तिमें 'समाने योनौ सहशेय्याय'की कामना की जा रही है। दोनों मन्त्रोंमें आध्यात्मिक तत्त्वकी चर्चा की गयी है। इसलिए यमीकी प्रकृत उक्तिमें काम-वासनापरक अर्थ लगाना संगत नहीं है।

इस सूक्तमें मुमुक्षु पुरुषके मनमें चलनेवाले श्रेयोमार्ग और प्रेयोमार्ग विषयक अन्तर्द्वन्द्वका चित्रण चल रहा है। इस मन्त्रमें यमीके रूपमें उसकी प्रेयोमार्गोन्मुखी प्रवृत्तिने संसारचक्रका संचालन करनेवाले प्रेयोमार्गकी ओर अपना झुकाव प्रकाशित किया है। किन्तु उसी समय मुमुक्षु पुरुषकी श्रेयोमार्ग-परायण प्रवृत्ति जागरूक हो उठती है और संसारजालमें फँसानेवाली प्रेयोमार्गोन्मुखी प्रवृत्तिको फटकारते हुए यम अर्थात् मुमुक्षु पुरुष कहता है—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥
[ऋ० १०-१०-८]।

इस मन्त्रमें सांसारिक प्रलोभन देनेवाली प्रेयोमार्गोन्मुखी प्रवृत्तियोंको 'स्पश' कहा गया है। 'स्पश'का अर्थ गुप्तचर या जासूस होता है। जिस प्रकार गुप्तचर दूसरों का भेद लेते और उन्हें गुप्तरूपसे अपने अनुकूल चलानेका यत्न करते हैं इसी प्रकार सांसारिक प्रलोभन मुमुक्षु साधकोंके मनमें घुसकर उसकी थाह लेते हैं और अज्ञातरूपसे उसको अपने पथसे विचलित करनेका यत्न करते हैं। इसीलिए सांसारिक प्रलोभनोंको इस मंत्रमें 'स्पश' कहा गया है। योगदर्शनमें इन्हीं योग-विरोधिनी प्रवृत्तियोंको 'वितर्क' कहा गया है। मुमुक्षु योगिजन इन धोखा देनेवाली प्रवृत्तियोंको भांप लेते हैं तो फिर ये प्रवृत्तियाँ तुरन्त विलीन हो जाती हैं। इस बातका प्रतिपादन इस मन्त्रमें किया गया है। यम कहता है कि यहाँ मेरे मनके भीतर घुसकर स्पश अर्थात् गुप्तचरके समान जो सांसारिक प्रवृत्तियाँ काम करना चाहती हैं वे प्रवृत्तियाँ 'देवानाम्' अर्थात् दिव्य प्रवृत्तियोंके सामने 'न तिष्ठन्ति' ठहर नहीं सकती हैं। 'न निमिषन्ति' पलभर भी टिक नहीं सकती हैं। इसलिए हे यमी प्रकृति-परायण सांसारिक प्रलोभनोंसे 'आहनः' क्षणभंगुर तुम 'तूयम्' शीघ्र ही 'मद् अन्येन याहि' मुझे छोड़कर दूसरी जगह चली जा। अर्थात् जो पुरुष सांसारिक भोगोंको पसन्द करते हैं उनके पास चली जा। मुमुक्षुजनोंके पास तेरा कोई काम नहीं है।

इस प्रकारकी भर्त्सना पानेके बाद यमी अर्थात् मानवीकृता प्रकृति अथवा प्रेयोमार्गानुगामिनी प्रवृत्तिके भीतर क्षोभ और संतापका होना स्वाभाविक है। यमीकी अगली उक्तिमें इसी अन्तस्तापकी अभिव्यक्ति होती है। अगला मन्त्र निम्नप्रकार है—

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ॥

[ऋ० १०-१०-९]

'रात्रीभिः अहभिः' कुछ दिनों तथा रात्रियोंमें अर्थात् थोड़े समयमें शीघ्र ही परमात्मा इस मुमुक्षुकी इस प्रकारकी वृत्तिको 'दशस्येत्' 'दसु उपक्षये' नष्ट कर दे और 'अस्य' अर्थात् इसके भीतरकी 'सूरि' अर्थात् विवेकशील 'चक्षुः' अर्थात् अन्तर्दृष्टि 'मुहुरुन्मिमीयात्' फिर प्रकाशित हो। अर्थात् इस समय जो यह मुमुक्षु पुरुषकी प्रेयोमार्गविमुखी प्रवृत्ति है, वह विवेकपूर्ण नहीं है। केवल

भावनामूलक ही है। थोड़े समयमें ही इस वृत्तिके समाप्त होनेपर इसे सुबुद्धि प्राप्त होगी। अर्थात् फिर सांसारिक मार्गका अवलम्बन कर संसारचक्रको संचालित करनेमें लग जायगा। यहाँ 'सूर्यस्य चक्षुः'का 'सूरि अस्य चक्षुः' यह पदच्छेद किया गया है। जब यह विवेक-दृष्टि खुलेगी तो यह समझेगा कि द्यावा-पृथिवी 'अजामि' असमानजातीय अर्थात् विपरीत होनेपर भी 'मिथुनौ सबन्धू' दोनों एक साथ मिलकर काम करनेवाले हैं। इसी प्रकार 'अजामि' पुरुषसे विपरीत वृत्तिवाली यमी अर्थात् प्रकृति भी यमस्य अर्थात् मुमुक्षु जनको 'बिभृयात्' धारण करती है। अर्थात् पुरुषके भोग तथा अपवर्गकी सिद्धिमें सहायिका होती है। बिना प्रकृतिकी सहायताके पुरुषको अपवर्गकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसी बातको सांख्यकारिकामें निम्नप्रकार कहा है—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान-पुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥ [सा० का० ३७]

अर्थात् पुरुषके भोग तथा अपवर्गरूप दोनों प्रकारके पुरुषार्थोंकी साधिका बुद्धि अर्थात् प्रकृति ही है। इसलिए मुमुक्षु जनके लिए भी प्रकृतिका परिज्ञान अपेक्षित है, परित्याग अपेक्षित नहीं है।

इस मन्त्रमें यमीने 'अस्मै', 'अस्य' आदि अन्यपुरुषसूचक सर्वनामोंका प्रयोग किया है। मध्यमपुरुषसूचक 'त्वम्', तव आदि पदोंका प्रयोग नहीं किया है। यह उसके अन्तःखेदका ही अभिव्यंजक है। उसके साथ ही यहाँ 'अजामि' पदका प्रयोग भी उसी अन्तःक्षोभका समर्थक प्रतीत होता है। पिछले चौथे मन्त्रमें 'परमं जामि तन्नौ' पदोंके द्वारा प्रकृति-पुरुषका अत्यन्त साजात्य दिखलाया गया था। वह साजात्य 'अप्सु गन्धर्व अप्या च योषा' अर्थात् कर्ममूलक दिखलाया था। यहाँ इस मन्त्रमें उस 'जामित्व'के स्थानपर उसके विरोधी 'अजामित्व'का उल्लेख यमीके अन्तःक्षोभका ही अभिव्यंजक है। परन्तु यमके ऊपर इस अन्तःक्षोभका कोई प्रभाव नहीं होता है। वह अपने मार्गपर अविचल रहता है और अगले मन्त्रमें कहता है कि प्रकृति या यमीके 'जामि' अर्थात् सजातीय अथवा 'अजामि' अर्थात् विजातीय होनेका अब कोई प्रश्न नहीं है। जिसको पहिले हमने 'परमं जामि' कहा है वही प्रकृति 'सा नो नाभिः' हमारे बन्धनका कारण होती है। इसलिए यदि पुरुष प्रकृतिके आगे आत्मसमर्पण कर देता है

[२०]

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥
[ऋ० १०-१०-१०]

[२०]

[प्रकृति अर्थात् प्रेयोमार्गोन्मुखी प्रवृत्तिके सामने आत्मसमर्पण कर देनेके बाद] 'घा' बहुत शीघ्र ही 'ता उत्तरा युगानि आगच्छान्' वह समय आ जायगा जब कि [मुमुक्षु पुरुषको यह अनुभव होगा कि 'जामयः कृणवन् अजामि' जिस प्रकृतिको 'परमं जामि तन्नौ' में सजातीय कहा था उस] सजातीय प्रकृतिने भी [पुरुषके बन्धनोंको दीर्घकालीन बनाकर और मोक्षमार्गका अवरोध करके 'अजामि कृणवन्'] विपरीत कार्य [अहितसाधन] किया है। [इसलिए 'यम' श्रेयोमार्ग-परायण मुमुक्षु जनोंके लिए संसारचक्रको चालू रखनेवाले मार्गको हेय बतलाते हुए कहता है कि] हे सुभगे 'मत्' मुझ मुमुक्षु-को छोड़कर 'अन्यं पतिं इच्छस्व' दूसरे प्रेयोमार्गी पुरुषको ही अपना पति चाहो। और उसी 'वृषभाय' अर्थात् कामनाओंकी वृष्टि करने-वाले [अर्थात् नाना प्रकारकी कामनाओंसे प्रेरित होकर प्रेयोमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले] पुरुषके लिए 'बाहुम् उप बर्बृहि' अपनी सहायताका हाथ बढ़ाओ। अर्थात् उसीकी सहायता करो।

तो वह निश्चय ही बन्धनमें पड़ेगा, मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकेगा। प्रकृतिके आगे आत्मसमर्पण कर देनेवाले पुरुषको अर्थात् श्रेयोमार्गको छोड़कर प्रेयो-मार्गपर चल पड़नेवाले पुरुषको 'उत्तरा युगानि' आगे चलकर शीघ्र ही यह अनुभव होगा कि 'जामयः कृणवन् अजामि' इस सजातीय प्रकृतिने हमारे साथ 'अजामि' विपरीत आर्य किया है। हमारे मोक्षमार्गका अवरोध कर बन्धनको और दीर्घकालीन बना दिया है। इसलिए इससे सम्पर्क ठीक नहीं है। इसी बातको यमने अगले मन्त्रमें निम्नप्रकार व्यक्त किया है—'आ घा ता गच्छान्' इत्यादि।

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि। जाम्यतिरेकनाम। बालिशस्य वाऽसमानजातीस्य वोपजनः। उपधेहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् ॥२०॥

[यदि मुमुक्षु साधक प्रेयोमार्गकी ओर प्रवृत्त हो जाय तो बहुत शीघ्र ही उत्तरा युगानि] वह समय आ जायगा [यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि] जब कि सजातीय [अर्थात् पुरुषकी स्वभूत] बुद्धिवृत्तियाँ भी उसके विपरीत [अर्थात् अहित-साधक बन्धन-जनक] कर्मोंको करने लगेंगी। 'जामि' यह [अतिरेक अर्थात् मर्यादाके] अतिक्रमणका नाम है अथवा [बालिशस्य अर्थात्] मूर्खका वाचक है। [पुरुषकी स्वभूत बुद्धिवृत्ति या प्रकृति जब अपने स्वामीके विपरीत उसके बन्धन-जनक कार्योंको करती है तो उसका यह मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाला और मूर्खतापूर्ण कार्य ही कहा जायगा। इसलिए यास्कने 'जामि' पदको 'अतिरेकनाम बालिशस्य वा' यह लिखा है। अथवा 'जा' पदसे]ऽसमानजातीय अर्थमें मि आगम है। [यह मन्त्रके पूर्वार्द्धकी व्याख्या हुई। मन्त्रका उत्तरार्द्ध कठिन नहीं है। उसका अर्थ देते हैं] कामनाओंकी वृष्टि करनेवाले [अर्थात् नाना प्रकारकी कामनाओंसे परिपूर्ण प्रेयोमार्गी सांसारिक व्यक्ति]के लिए ही अपने [प्रेमपूर्ण सहायताके] हाथको पसारो। और हे सौभाग्यशालिनि! मुझे छोड़कर दूसरे [अर्थात् प्रेयोमार्गी सांसारिक] पुरुषको ही अपना पति चाहो। यह [मन्त्रका उत्तरार्द्ध भाग स्पष्ट होनेसे स्वयं ही] व्याख्यात हो जाता है ॥२०॥

यास्कने 'जामि' पदके उदाहरणके रूपमें इसी मन्त्रको यहाँ उद्धृत किया है। अब वे अपनी पद्धतिसे इस मन्त्रका अर्थ निम्न प्रकार देते हैं—

यह यम-यमी सूक्तका मन्त्र है। हमने इस सूक्तकी अध्यात्म-परक व्याख्या करनेका यत्न किया है। अबतकके सारे मन्त्रोंकी आध्यात्मिक व्याख्या यहाँ

दे दी गयी है। इस सूक्तमें अभी चार मन्त्र और शेष रह जाते हैं। पूर्व भाष्यकारोंने इस सूक्तकी जो भाई-बहिनके सम्भोग-परक व्याख्या की है उसमें यह चारों मन्त्र प्रधानरूपसे कारण हैं। इसलिए आगे हम उन चारोंकी भी आध्यात्मिक व्याख्या देनेका यत्न करेंगे। उनकी भी प्रकृत प्रकरणके अनुसार आध्यात्मिक व्याख्या हो जानेपर यह सारा सूक्त एक आध्यात्मिक सूक्तके रूपमें दिखलायी देने लगेगा। इस कारण आगे हम शेष चारों मन्त्रोंकी व्याख्या निम्नप्रकार प्रस्तुत करते हैं—

यहाँ 'उप बर्बृहि वृषभाय बाहुम्' और 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ये दोनों बातें काव्यकी आलंकारिक शैलीमें कही गयी हैं। शान्तरसकी बातमें भी उसके विरोधी शृङ्गाररसकी पुट लगाकर कहनेसे उसका चमत्कार बढ़ जाता है इस प्रकारका विधान साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। भर्तृहरिके वैराग्यशतकमें भी वैराग्यविषयक अनेक ऐसे श्लोक पाये जाते हैं जिनके साथ शृङ्गाररसका पुट लगा हुआ है, किन्तु उनका पर्यवसानशृङ्गारमें नहीं अपितु शान्त रसमें होता है। जैसे—

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमागमागतसुखं काव्येषु रम्याः कथाः।
कोपोपाहितवाष्पविन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित् पुनः॥

[वैराग्यशतक ७९]

इसी प्रक्रियासे यहाँ यम-यमीके संवादमें आये हुए शृङ्गारभावनाके पुटका समन्वय करना चाहिये; निवृत्तिमार्गपर चलनेवाले साधकको प्रवृत्तिमार्गपर आकर्षित करनेके लिए शृङ्गारका पुट सबसे अधिक आकर्षक हो सकता है। इसीलिए यहाँ प्रवृत्तिमार्गकी प्रतीकभूता प्रकृति या यमीने निवृत्तिमार्गके अनुयायी मुमुक्षु पुरुषको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए उन्मुक्त शृङ्गारका प्रयोग किया है। अगले चार मन्त्रोंमें यमी द्वारा प्रस्तुत किये गये इस शृङ्गारका उन्मुक्त रूप सामने आता है—

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ संपिपृग्धि ॥

[ऋ० १०-१०-११]

इस मन्त्रमें भ्राता और स्वसा शब्दोंका प्रयोग है। और उसमें 'काममूता' तथा 'तन्वा तन्वं संपिपृग्धि'की बात कही गयी है। इससे ही भाई-बहिनके सम्भोगकी लज्जाजनक भावना प्रकट होती है। यदि इन शब्दोंका लोकप्रसिद्ध अर्थ लिया जाय तो वह निश्चय ही संस्कृति एवं मानवताको कलंकित करनेवाला अर्थ होगा। इसलिए वेदके गौरव तथा अपनी सांस्कृतिक भावनाकी रक्षाके लिए हमें उनके स्पष्ट दीखनेवाले अर्थसे भिन्न अर्थकी कल्पना करनी ही चाहिये। इसलिए इस मन्त्रमें हमें निरुक्तप्रक्रियाका अवलम्बन कर भ्राता 'पदका अर्थ' 'भर्ता' और 'स्वसा' पदका अर्थ 'स्वं सरति इति स्वसा' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पत्नी करके अर्थकी संगति लगानी चाहिये। सांख्य, योग आदि शास्त्रोंमें पुरुषको प्रकृतिका स्वामी या पति कहा है। मन्त्रमें भ्राता अर्थात् भर्ता पद पुरुष अर्थात् यमके उस स्वामित्वको ही बोधित करता है। उसीके सम्बन्धसे प्रकृतिके लिए सांख्य आदिमें 'स्व' शब्दका और इस मन्त्रमें 'स्वसा' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व चौथे मन्त्रमें प्रकृतिको 'सा नो नाभिः' पुरुषकी 'नाभि' अर्थात् बन्धनका हेतु कहा जा चुका है। यह नाभि शब्द 'णह बन्धने' धातुसे बना है। प्रकृत मन्त्रमें आये हुए 'अनाथ' पदका सम्बन्ध उसीके साथ है। पुरुष प्रकृतिका स्वामी है। यदि वह स्वामी उस प्रकृतिको छोड़ बैठे तो वह प्रकृति अनाथ हो जायगी। और सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिके सम्बन्ध-से छूटकर पुरुष अ-नाथ' अर्थात् बन्धन-रहित मुक्त हो जायगा। इसी श्लेषका अवलम्बन करके मन्त्रके पूर्वार्द्धमें प्रकृति कहती है—'स किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति' मन्त्रका 'किम्' शब्द 'किमः क्षेपे' निन्दार्थक है। वह कुत्सित भर्ता है जो [अपने कर्तव्यको छोड़कर अपने आपको] असत् अनुचितरूपसे 'अनाथं भवाति' अनद्ध, बन्धनरहित या मुक्त समझने लगता है। पुरुष प्रकृति-का स्वामी है और प्रकृति उसकी स्व है। स्वामी पुरुषको सदा अपनी स्वभूत प्रकृतिके साथ ही रहना चाहिये। यदि वह प्रकृतिको छोड़कर अपनेको बन्धनसे रहित करना चाहता है तो वह उसका अनुचित प्रयास है। और 'असत्' अर्थात्

मिथ्या-प्रवंचना भी है। 'ज असद् यदनाथं भवाति' और झूठ-मूठ अपनेको अनाथ अर्थात् बन्धनसे रहित समझता है। वह किंभ्राता 'किंभर्ता' कुत्सित स्वामी है। इसी प्रकार 'सा किंस्वसा' वह कुत्सित 'स्व' कुत्सित पत्नी है 'यत् निर्ऋति-र्निगच्छात्' जिसके रहते स्वामीको 'निर्ऋतिः निगच्छात्' दुःखकी अनुभूति हो और वैराग्य उत्पन्न हो। इस 'काममूता' इस भावनासे अभिभूत होकर मैं 'बहु एतद् रपामि' यह सब बार-बार कह रही हूँ। यह कैवल्य या मुक्ति तो दोनों-के लिए समान है। यदि पुरुष प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होता है तो प्रकृति भी तो पुरुषके बन्धनसे मुक्त होती है। यदि इस मुक्तिको वांछनीय माना जाय तो यह दोनों पक्षोंके लिए ही वांछनीय होगी। किन्तु इससे संसारका उच्छेद हो जायगा। इसलिए यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। 'काममूता' इस भावनाके अधीन होकर 'बहु' बार-बार मैं 'एतद् रपामि' यह कह रही हूँ कि तुम मुझ प्रकृतिको छोड़कर भागनेका यत्न मत करो बल्कि संसारचक्रको चलानेके लिए निरन्तर 'मे तन्वा' मेरे शरीरके साथ मेरे स्वरूपके साथ 'तन्वं संपिपृग्धि' अपने सम्बन्धको बनाये रहो। यही मार्ग संसारके कल्याणका मार्ग है। अन्यथा यदि सारे पुरुष तुम्हारी तरह मुक्त होकर बँट जायँ तो परमात्माका यह संसार उच्छिन्न हो जायगा। इसलिए यह मार्ग उचित नहीं है। यमीकी इस उक्तिका उत्तर अगले मन्त्रमें निम्नप्रकार दिया गया है—

> न वा उ॑ ते त॒न्वा॑ त॒न्वं॑ सं प॑पृच्यां पा॒पमा॑हु॒र्यः स्वसा॑रं नि॒गच्छा॑त् ।
> अ॒न्येन॒ मत् प्र॒मुदः॑ कल्पयस्व॒ न ते॑ भ्राता॑ सुभगे वष्ट्ये॒तत् ॥
>
> [ऋ० १०-१०-१२]

यह मन्त्र भी पिछले मन्त्रके समान क्लिष्ट-संगतिवाला मन्त्र है। इसमें भी भ्राता तथा स्वसा दोनों पदोंका प्रयोग है। मन्त्रका सीधा-साधा वाच्यार्थ भाई-बहिनके अनुचित सम्बन्धकी प्रार्थनाके प्रत्याख्यानमें ही पर्यवसित होता है। किन्तु वह अर्थ अत्यन्त लज्जाजनक और हमारी सांस्कृतिक भावनाओंके विपरीत है। इस प्रकारके निकृष्ट लज्जाजनक अर्थका प्रतिपादन वेदमें सम्भव नहीं है, इसलिए हमें इस प्रकृत अर्थको छोड़कर इसके पीछे छिपे हुए और विवक्षित अर्थकी खोज करनी ही होगी। 'यः स्वसारं निगच्छात्'में जो स्वसृ-गमनकी

चर्चा है वह सामान्य अर्थके अनुसार बहिन-भाईके यौन-सम्बन्धको ही बोधित करती है। किन्तु निवृत्तिमार्गके अनुयायीके लिए तो पत्नी-गमन भी 'पापमाहुः' अकल्याणकर है। इसलिए निवृत्तिमार्गी मुक्षुक्षु-पुरुषरूप या यमकी इस उक्तिमें 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्'का अर्थ यही करना चाहिये कि निवृत्ति-मार्गमें स्वसृ-गमन अर्थात् स्वस्त्री-गमनको भी अकल्याणकर कहा गया है, इसलिए 'न ते तन्वा तन्वं संपपृच्याम्' में तेरे शरीरके साथ अपने शरीरको संपृक्त नहीं करूँगा। अर्थात् यद्यपि पुरुष प्रकृतिका स्वामी कहा गया है, किन्तु निवृत्तिमार्गमें चलनेवाले मुमुक्षुके लिए तो उसके साथ सम्बन्ध रखना अकल्याण-कर ही माना जाता है, इसलिए संसार-संचालनके लिए भी मुमुक्षु-पुरुषको प्रवृत्तिमार्गमें नहीं जाना चाहिये, इसलिए 'न ते भ्राता वष्टि एतत्' तुम्हारा भर्ता होकर भी मुमुक्षु नहीं चाहता है। अतएव संसार-प्रवाहकी रक्षाके लिए यदि आवश्यक हो तो 'अन्येन मत्' मुझको छोड़कर अन्य जो प्रवृत्तिमार्गी पुरुष है-उसके साथ 'प्रमुदः कल्पयस्व' आनन्द मनाओ। केलिक्रीड़ा करो।

इस प्रकार यमके द्वारा प्रवृत्तिमार्गमें आनेका सर्वथा निषेध कर दिये जानेपर यमी उसको उलाहना देती हुई कहती है—

> ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम।
> अ॒न्या किल॒ त्वां क॒क्ष्ये॑व यु॒क्तं परि॑ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम् ॥
> [ऋ० १०-१०-१३]

हे यम ! 'बत' बड़े खेदकी बात है। और 'बतासि' तुम बड़े विचित्र पुरुष हो। 'ते मनो हृदयं नैव विदाम' तुम्हारे मन और हृदयके भीतरकी बात समझमें नहीं आती हैं। क्योंकि यों कहनेको तो तुम प्रवृत्तिमार्गसे ऐसे भागनेकी बात करते हो। पर जरा सोचो तो क्या तुम प्रवृत्तिके बिना एक क्षण भी रह सकते हो। 'न जातु क्षणमात्रं तु कश्चित् तिष्ठत्यकर्मकृत्' बिना कर्म किये कोई भी पुरुष क्षणमात्र भी नहीं रह सकता है। तुम निवृत्तिमार्गके अनुयायी होनेका कितना ही ढोंग करो पर कर्म-प्रवृत्तिसे तुम बच नहीं सकते। यह जो योग-साधना है वह क्या प्रवृत्तिरूप नहीं है? फिर जब आप उस योग-साधनारूप प्रवृत्तिको गलेमें चिपटाये घूम रहे हैं तब लोककल्याणकारिणी दूसरी प्रवृत्तिके

परित्यागका ही यह आग्रह क्यों किया जा रहा है। इसी भावको मन्त्रके उत्तरार्द्धमें कहा गया है। 'अन्या किल त्वा कक्ष्येव युक्तम्' तुम्हारी बगलमें चिपटी हुई यह दूसरी अर्थात् योगसाधनारूप प्रवृत्ति तो तुम्हारा आलिंगन इस प्रकार कर रही है जैसे 'लिबुजेव वृक्षम्' लता वृक्षका आलिंगन करती है। जब आप उस योग-साधनारूप प्रवृत्तिका, जिससे एक व्यक्तिके व्यक्तिगत प्रभावके अतिरिक्त समाजका कोई लाभ नहीं होता है, इतना आदर करते हो कि उसको हर समय अपने गलेमें चिपटाये घूमते हो तो फिर बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय किये जानेवाली लोक-कल्याणकारिणी प्रवृत्तिका परित्याग करनेके लिए क्यों इतने आग्रहशील हो रहे हो यह बात समझमें नहीं आती है। यह इस मन्त्ररूप यमीकी उक्तिका अभिप्राय है।

यमसे इस तर्कका तो कोई उत्तर नहीं बना, किन्तु फिर भी वह अपने व्रत-पर दृढ़ है। और इसका कारण सिवाय रुचिभेदके और वह क्या दे सकता है। इसलिए 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'के अनुसार रुचिभेदको ही उसका आधार मानकर यम इसका उत्तर निम्नप्रकार देता है—

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाऽधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥

[ऋ० १०-१०-१४]

जिस प्रकार निवृत्तिमार्गकी योगसाधना मेरे गलेमें लिपटी है, इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गकी संसार-साधना तुम्हारे गलेमें लिपटी है। हे यमी, 'अन्यमृषु त्वं' तुम दूसरे प्रवृत्तिमार्गको अथवा 'अन्य उ त्वा' दूसरा प्रवृत्तिमार्ग जैसे लता वृक्ष-को या वृक्ष लताको आलिंगन करते हैं इस प्रकार तुम दोनों एक दूसरेको आलिं-गन करो। तुम प्रवृत्ति-साधनारूप यमी चाहे उस संसारमार्गके मनके अनुकूल चलो अथवा वह अर्थात् संसारक्रम तुम्हारे मनके अनुकूल चले 'तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तव' 'सुभद्रां संविदं आकृणुष्व' कल्याणकारिणी सुबुद्धि प्रदान करे। वह तुम प्रवृत्ति-साधकोंका मार्ग है। हमारा मार्ग उससे भिन्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस यम यमी-सूक्तकी विशुद्ध आध्यात्मिक व्याख्या भी की जा सकती है ॥२०॥

[२१]

द्यौर्मे॑ पि॒ता ज॑नि॒ता नाभि॒रत्र॒ बन्धु॑र्मे मा॒ता पृ॑थि॒वी म॒हीयम् ।
उ॒त्ता॒नयो॑श्च॒म्वो॒३॒॑र्योनि॑र॒न्तरत्रा॑ पि॒ता दु॑हि॒तुर्गर्भ॒माधा॑त् ॥
[ऋ० १-१६४-३३]

[२१]

द्यौ लोक मेरा [अर्थात् पर्जन्यका] उत्पन्न करनेवाला और पालन करनेवाला है । और यह महती विस्तीर्ण पृथिवी मेरी माता है । इसमें ही मुझको बाँधनेवाली नाभि [केन्द्र] विद्यमान है । [उत्तानयोः] दूरतक फैले हुए और [चम्वोः] भोगसाधनभूत इन दोनों [द्यौ तथा पृथिवी] के बीचमें [अन्तः अर्थात्] अन्तरिक्षरूप योनि है जहाँ [जिस योनिरूप अन्तरिक्षमें स्थित होकर, पिता अर्थात् जगत्के] पालन करनेवाले पर्जन्यने [दुहितुः अर्थात्] अपनेसे अत्यन्त दूरीपर स्थित पृथिवीके भीतर [वृष्टि द्वारा वनस्पतियोंके उत्पादनके लिए] गर्भका आधान किया ।

४७. पिता—नैगमकाण्डका ४७वाँ शब्द 'पिता' है । यास्कने इसके दो अर्थ किये हैं—एक 'पाता' और दूसरा 'पालयिता' । 'पाता' शब्द भी 'पा पाने' तथा 'पा रक्षणे' दो धातुओंसे बनता है । यहाँ जो पालयिता अर्थ किया गया है । वह 'पा रक्षणे' धातुके आधारपर ही किया गया है । इसलिए दूसरा जो 'पाता' अर्थ दिया है वह 'पा पाने' धातुके आधारपर समझना चाहिये । उस दशामें पिता शब्दका अर्थ पान करनेवाला तथा पालन करनेवाला ये दोनों प्रकारके हो सकते हैं । यह यास्कका अभिप्राय है । इसके उदाहरणरूपमें यहाँ जो मन्त्र उद्धृत किया गया है उसका ऋषि 'दीर्घतमा' तथा देवता 'विश्वे-देवाः' हैं । पिछला यम यमी-सूक्त जिस प्रकार कूटकाव्यका उदाहरण है इसी प्रकार यह मन्त्र भी कूटकाव्य है । इसके अन्तिम भागमें 'यत्र पिता दुहितुः गर्भमाधात्' यह ऊपरसे असंगत दिखलायी देनेवाली बात कही गयी है । यास्कने इसकी संगति लगानेके लिए दुहिताका अर्थ पृथिवी और पिताका अर्थ पर्जन्य अर्थात् मेघ किया है । दुहिताकी व्युत्पत्ति दिखलाते हुए 'दूरे हिता दुहिता' इस प्रकारकी एक व्युत्पत्ति पीछे की जा चुकी है । उसीके अनुसार मेघसे दूर निहित

द्यौर्मे पिता । पाता वा पालयिता वा जनयिता । नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम् । बन्धुः सम्बन्धनात् । नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरेतस्मादेव ज्ञातीन्त्सनाभय इत्याचक्षते । सम्बन्धव इति च । ज्ञातिः सञ्ज्ञानात् । उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः । उत्तान उत्तान ऊर्ध्वतानो वा । तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ।

द्यौलोक मेरा 'पिता' पालन करनेवाला या भक्षण करनेवाला है। [जनयिता] और उत्पन्न करनेवाला है। इसीमें मेरी नाभि[केन्द्र] है। यह महती विस्तीर्ण पृथिवी मेरी माता और 'बन्धु' बाँधनेवाली है। सम्बन्ध करानेवाली होनेसे [पृथिवी] 'बन्धु' कहलाती है। बन्धनकारक होनेसे 'नाभिः' कहलाती है।[अर्थात् नाभिः शब्द 'णह बन्धने' धातुसे बनता है]। इसलिए [माताकी नाभिसे जुड़े हुए गर्भस्थ बालक उत्पन्न होते हैं [उत्पन्न होनेके बाद इस नाभिको काटा जाता है] यह कहते हैं। इस कारण [परस्पर प्रेमसम्बन्धके कारण रक्त सम्बन्धके कारण जुड़े हुए होनेसे] जातिवालोंको सनाभि कहते हैं अर्थात् समान बन्धनवाले। ज्ञाति शब्द सम्यक्तया ज्ञात होनेसे ['ज्ञा' धातुसे बनता है]। 'उत्तानयोः चम्वोः योनिरन्तः'में उत्तानका अर्थ उत्तमरूपसे फैला हुआ है। उस [अन्तरिक्षरूप योनि] में पिता अर्थात् पर्जन्यने [दुहितुः अर्थात्] दूरपर स्थित पृथिवीके भीतर [औषध वनस्पतियोंके उत्पादनके लिए गर्भका आधान किया। 'पिता दुहितुः' में इन दोनों शब्दोंका अर्थ क्रमशः] पर्जन्यने पृथिवीके [गर्भका आधान किया यह है]।

होनेके कारण पृथिवीको दुहिता कहा गया है। और वृष्टि द्वारा पृथिवीका पालन करनेवाला होनेसे मेघको पिता कहा गया है। मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'द्यौ लोक' इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रका अर्थ करते हैं—'द्यौर्मे' इत्यादि।

शंयुः सुखंयुः।

अथा नः शंयोररपो दधात। [ऋ० १०-१५-४]

रयो रिप्रमिति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्। अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते। तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये। [तै० सं० २-६-१०-२]

[शंयो] हे सुखस्वरूप अथवा हे रोगोंका शमन करनेवाले तथा भयोंको दूर करनेवाले परमात्मन्! 'नः' हम सबको 'अरपः दधात' पापसे रहित करो।

'रप' और 'रिप्र' ये दोनों पापके नाम हैं। ['शंयोः' शब्दका दूसरा निर्वचन देते हैं] रोगोंका शमन करने और पापोंके हटानेवाले [को भी 'शंयोः' कहते हैं। यह 'शंयोः' पदका दूसरा निर्वचन है। अब तीसरा निर्वचन देते हैं] और बार्हस्पत्य अर्थात् बृहस्पति परमात्माके पुत्र अथवा भक्तको भी 'शंयुः' कहा जाता है। जैसे—

---

४८. शंयोः—नैगमकाण्डका अगला ४८वाँ शब्द 'शंयोः' है। यह 'शंयुः' शब्दका षष्ठी विभक्तिका रूप है। यास्कने 'शंयुः' शब्दके अर्थ दो प्रकारसे किये हैं—एक तो 'शंयुः—सुखंयुः' अर्थात् सुखको प्राप्त करनेवाला और दूसरा 'शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्'। 'शंयु' शब्दका तीसरा अर्थ 'अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते' इस प्रकार किया है। पहिले दोनों अर्थोंके लिए उदाहरण स्वरूप जो मन्त्रभाग दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात॥
[ऋ० १०-१५-४]।

इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये ॥२१॥

इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

[२२]

अदितिरदीना देवमाता ॥२२॥

[यज्ञाय गातुं अर्थात् गन्तुं] यज्ञमें जानेके लिए और [यज्ञपतये गातुं] यज्ञपतिके पास जानेके लिए उस [शंयु अर्थात् बृहस्पति परमात्माके] भक्तसे प्रार्थना करते हैं [आवृणीमहे] । यह भी वेदमन्त्र 'शंयुः' पदके प्रयोगके उदाहरणरूपमें है । यज्ञके लिए गमन यज्ञपतिके लिए गमन ॥२१॥

चतुर्थाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ।

चतुर्थ पाद

[२२]

४९. अदिति—दैन्य-रहित अथवा अखण्डित यह 'अदिति' शब्दका अर्थ है । यह देवमाताका नाम है । [अग्रिम खण्डमें इसका उदाहरण देते हैं]—॥२२॥

'तच्छंयोरावृणीमहे यज्ञाय गातुम्' आदि मन्त्र ऋग्वेदमें नहीं आया है । यह वाक्य मैत्रायणीसंहिता ४–१३–१० से अथवा तै० सं० से लिया गया है । तैत्तरीयसं० का प्रकरण ऊपर मूलमें दिया गया है ।

चतुर्थाध्यायके पिछले तृतीय पादमें नैगमकाण्डके २८—४८ तक कुल इक्कीस पदोंका विवेचन किया गया था । ४९—६२ तक कुल चौदह पदोंका विवेचन इस चतुर्थ पादमें करेंगे । इनमें सबसे पहिले 'अदिति' शब्दका विवेचन प्रारम्भ करते हैं ।

[२३]

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥

[ऋ० १-८९-१०]

इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे एनान्यदीनानीति वा ।
यमे॑रि॒रे भृग॑वः । [ऋ० १-१४३-४]
एरिरे इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः ॥२३॥

[२३]

स्वर्गलोक भी [दैन्य-रहित तथा अखण्डित होनेसे] अदिति है। अन्तरिक्ष भी अदिति है। अदिति माता भी है, वही पिता है और वही पुत्र है। सारे देवता अदितिरूप हैं। सारे मनुष्य अदितिरूप हैं। सारा उत्पन्न हुआ जगत् अदिति है और आगे उत्पन्न होनेवाला जगत् भी अदिति है।

यह अदितिके महत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। अथवा ये सब [द्यौ, अन्तरिक्ष आदि] दैन्य-रहित हैं। [यह 'अदितिर्द्यौः' आदि मन्त्रका अर्थ है]।

जिस [प्रकाशमान अग्नि] को [भृगवः अर्थात्] तपस्वी लोग [भुवनस्य मज्मना] भुवन-मण्डलके भीतर [पृथिव्या नाभौ] पृथिवीके मध्य [यज्ञवेदी] में [एरिरे] स्थापित करते हैं। [अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि] उस अग्निकी वाणीके द्वारा स्तुति करो। [स्व आ दमे] अपनी यज्ञशालामें [वरुणो न] वरुणके समान [य एको वस्वः] अद्वितीय जगत्का बसाने द्वारा जो रक्षक [राजति] शोभायमान होता है।

'एरिरे' 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'ईर गतौ कम्पने च' धातुसे द्वित्व करके बनता है ॥२३॥

५०. एरिरे—नैगमकाण्डका ५०वाँ पद 'एरिरे' है। यह पद आङ्उपसर्गपूर्वक 'ईर गतौ कम्पने च' धातुको द्वित्व करके बनता है। इसका प्रयोग दिखलानेके लिए जिस मन्त्रका एक भाग यहाँ उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

[२४]

उत स्मै॑नं वस्त्र॒मथिं॒ न ता॒युमनु॑ क्रोशन्ति क्षि॒तयो॒ भरे॑षु ।
नी॒चाय॑मानं॒ जसु॑रिं॒ न श्ये॒नं श्रव॒श्चाच्छा॑ पशु॒मच्चं॑ यू॒थम् ॥
[ऋ० ४-३८-५]

[२४]

[उत स्म] अथवा [वस्त्रमथिं तायुं न] वस्त्रोंको चुरानेवाले चौरके समान अर्थात् जैसे चोरको देखकर उसके पकड़नेमें सहायता देनेके लिए लोग दूसरोंको पुकारते हैं इस प्रकारसे [भरेषु अर्थात्] संग्रामोंमें [क्षितयः अर्थात्] मनुष्य लोग अपनी सहायता करनेके लिए [एनम् अनुक्रोशन्ति] इस [दधिक्रा अर्थात् अश्वारोही राजा] को [अनुक्रोशन्ति] पुकारते हैं। और [अच्छ श्रवः] उत्तम यज्ञ तथा [पशुमत्] उत्तम पशुओंवाले [पशुमत्में प्राशस्त्यार्थमें 'मतुप्' प्रत्यय है। 'यूथम्'] पशुसमुदायको [आ] लक्ष्य करके [संग्राममें प्रवृत्त होनेवाले योद्धा लोग 'जसूरिं' खुले हुए ['जसु मोक्षणे'] और [नीचायमानं] नीचेकी ओर [उड़ते हुए पक्षियोंके ऊपर] झपटनेवाले [श्येनम्] बाजके समान [अर्थात् जैसे बाज अपने शिकारके ऊपर झपटकर उसे मार डालता है इस प्रकार यह राजा भी पटककर अपने शत्रुओंको नष्ट कर डालता है, इसलिए संग्राममें योद्धागण इस दधिक्रा अर्थात् अश्वारोही राजाको अपनी सहायताके लिए पुकारते हैं]।

यमे॑रि॒रे भृग॑वो वि॒श्ववे॑दसं॒ नाभा॑ पृथि॒व्या भुव॑नस्य म॒ज्मना॑ ।
अ॒ग्निं तं गी॒र्भिर्हि॑नुहि॒ स्व आ दमे॒ य एको॒ वस्वो॒ वरु॑णो॒ न राज॑ति ॥
[ऋ० १-१४३-४]

५१. जसुरिः—नैगमकाण्डका अगला ५१वाँ पद 'जसुरिः' है। यास्कने 'जसुरि' शब्दका अर्थ 'जस्तम्' किया है। किन्तु यह अर्थ स्वयं भी अस्पष्ट है। 'जस्त' शब्द दिवादिगणकी 'जसु मोक्षणे' धातुसे बनता है। तब 'जस्तम्'का अर्थ 'मुक्तम्' छोड़ा हुआ होता है। किन्तु दुर्गाचार्यने इसका अर्थ 'बद्धम्' किया है। इस शब्दके प्रयोगके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र उद्धृत किया गया है, उसका अर्थ निम्नप्रकार है—'[उत स्म]' इत्यादि।

अपि स्मैनं वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम्। वस्त्रं वस्तेः। तायुरिति स्तेननाम। संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता-स्तस्यतेर्वा स्यात्। अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु। भरं इति संग्रामनाम। भरतेर्वा हरतेर्वा। नीचायमानं नीचैरयमानम्। नीचैर्निचितं भवत्युच्चैरुच्चितं भवति। जस्तमिव श्येनम्। श्येनः शंसनीयं गच्छति। श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्। श्रवश्चापि

और इसको [योद्धा लोग पुकारते हैं]। वस्त्रोंका अपहरण करनेवालेके समान [अर्थात् जैसे वस्त्रापहारी चोरको देखकर लोग उसको पकड़नेमें सहायता देनेके लिए दूसरेको पुकारते हैं इस प्रकार युद्धमें सहायता देनेके लिए इस 'दधिक्रा' अश्वारोही राजाको पुकारते हैं]। वस्त्र पद 'वस' धातुसे बनता है ['वस आच्छादने' धातु है उससे वस्त्र पद बना है]। 'तायुम्' यह चोरका नाम है क्योंकि उसके भीतर पाप इकट्ठा होता है। यह नैरुक्त लोग कहते हैं। अथवा [उपक्षयार्थक] 'तसु' धातुसे 'तायु' पद बनता है। '[अनुक्रोशन्ति क्षितयः भरेषु' इस अंशमें प्रयुक्त] 'भर' यह पद संग्रामका वाचक है। क्योंकि वह भरणार्थक 'भृ' धातुसे बनता है। अथवा 'हृ' धातुसे [भी भर शब्द बन सकता है। उस दशामें 'हरति जीवितानि वसूनि वा इति भरः' यह व्युत्पत्ति होगी]। 'नीचाय-मानम्'में 'नीच' [पदका विग्रह या निर्वचन यह है कि वह निचितं] नीचेकी ओर चुना हुआ होता है [नीच पदके साथ वैपरीत्य सम्बन्ध-के कारण उसके प्रसंगमें ही उच्च पदका निर्वचन दिखलाते हैं] उच्चैः ऊपरको बढ़ा हुआ होता है। ['जसुरिं न श्येनं'का अर्थ करते हैं] जस्तमिव श्येनम्' खुले हुए बाजके समान। श्येन प्रशंसायोग्य गतिसे उड़ता है [इसलिए 'श्येन' कहलाता है। यह 'श्येन' पदका निर्वचन है। 'श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्' [का अर्थ करते हैं। इसमें श्रव शब्दके दो अर्थ हैं—एक प्रशंसा या यश और दूसरा

पशुमच्च यूथम् । प्रशंसां च यूथं च । धनं च यूथं चेति वा । यूथं यौतेः । समायुतं भवति ।

इन्धान एनं जरते स्वाधीः । [ऋ० १०-४५-१] गृणाति । मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।

धन । तदनुसार इस वाक्यांशके भी यास्क दो अर्थ देते हैं] प्रशंसा और यूथ [अर्थात् पशु-समुदाय] । अथवा धन और यूथ [अर्थात् पशु-समुदाय] । यूथ शब्द 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातुसे बनता है । वह [छोटे बड़े नर मादा रूप बहुतसे पशुओंसे] मिलकर बना होता है [इसलिए पशुओंके झुण्डको यूथ कहते हैं] ।

इस [अग्नि]को प्रज्वलित करता हुआ [याज्ञिक] इसकी स्तुति करता है । ['जरते'का अर्थ 'गृणाति' है अर्थात्] स्तुति करता है ।

यह इस मन्त्रका अर्थ है । मन्त्र कुछ कठिन है । मन्त्रके पूर्वार्द्धमें 'वस्त्रमथि न तायुम्' यह एक उपमा दी गयी है । उसके आगे 'दृष्ट्वा' पदका अध्याहार करना होता है । अध्याहारके बिना अर्थकी संगति ठीक तरहसे नहीं लगती है । इसी प्रकार मन्त्रके उत्तरार्द्ध 'श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्' के साथ 'अभिसन्धाय अभिलक्ष्य' इस पदका अध्याहार करना होता है । इसके बिना अर्थ संगत नहीं होता है । इसीलिए यह मन्त्र तनिक कठिन मन्त्र है । उक्त पदोंका अध्याहार कर लेनेपर अर्थ स्पष्ट हो जाता है । आगे यास्क अपनी पद्धतिसे मन्त्रकी व्याख्या करते हैं—'अपि स्मैनम्' इत्यादि ।

५२. जरते—नैगमकाण्डका अगला ५२वां पद 'जरते' है । उसका अर्थ यास्कने 'गृणाति' अर्थात् स्तुति करता है यह किया है । उसके उदाहरणरूपमें 'इन्धान एनं जरते स्वाधीः' यह मन्त्रका टुकड़ा दिया है । पूरा मन्त्र निम्न-प्रकार है—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥

[ऋ० १०-४५-१]

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः ॥ [ऋ० १-१०१-१]
प्रार्चत मन्दिने पितुमद्वचः । गौर्व्याख्यातः ।
[२-५-८] ॥ २४॥

['मन्दिने'का मूलभूत] 'मन्दी' शब्द स्तुत्यर्थक 'मन्द' [भ्वा० उ० प०] धातुसे [बनता है]। [इस शब्दका प्रयोग जिस मन्त्रभागमें किया गया है उसका अर्थ यह है—] स्तुति करने योग्य [इन्द्र] की [पितुमत् अर्थात्] अन्नयुक्त [वचः अर्थात्] वाणीसे [अर्चत] अर्चना करो । [अर्थात् इन्द्रकी मन्त्रों द्वारा स्तुति करते हुए आहु-तियों द्वारा उसे हवि-प्रदान करो ।

यह मन्त्र भागका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'प्रार्चत' इत्यादि । अन्नयुक्त [हवियुक्त] वाणीसे स्तुति करने योग्य [इन्द्र] की भली प्रकारसे अर्चना करो ।

'गौ' पदकी व्याख्या पहिले [२-५-८ में] की जा चुकी है ॥२४॥

---

५३. मन्दिने—नैगमकाण्डका अगला ५३वाँ शब्द 'मन्दिने' है । यह शब्द स्तुत्यर्थक 'मदी' धातुसे बनता है । उसका प्रयोग दिखलानेके लिए भी मन्त्रका एक टुकड़ा उद्धृत किया गया है । वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना ।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥
[ऋ० १-१०१-१]

इस प्रकरणकी व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं—'मन्दी' इत्यादि ।

५४. गौः—नैगमकाण्डका अगला ५४वाँ शब्द 'गौः' है । इसकी व्याख्या पहिले द्वितीय अध्यायमें खण्ड ५-८ में की जा चुकी है । इसलिए यहाँ उसका निर्वचन आदि नहीं दिया गया है । केवल उसके प्रयोगका एक उदाहरण दिखलाया है । इसी बातको ग्रन्थकार ऊपर पंक्तिमें लिखते हैं—'गौः' इत्यादि ।

[२५]

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥
[ऋ० १-८४-१५]

अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नामापीच्यमपगतमपचितमपिहितमन्तर्हितं वामुत्र चन्द्रमसो गृहे ।

---

[२५]

[इत्था] इस [दूरवर्ती त्वष्टुः] सूर्यसे [अपीच्यं] पृथक् हुए [गोः सुषुम्णानामक] सूर्य-रश्मिका [अत्र] इस [समीपवर्ती] [चन्द्रमसो गृहे] चन्द्रमाके भीतर [नाम अर्थात् नमन अर्थात्] प्रवेश [अमन्वत] अनुमत है ।

[अत्र ह] इस [चन्द्रमा] में निश्चयसे [आदित्यरश्मयः] सूर्य-किरणोंने [गोः] सुषुम्णानामक सूर्यरश्मिके रूपमें [एवं नाम] अपना नमन अपने प्रवेशकी [अमन्वत] 'अनुमति दी है । [आगे 'अपीच्यम्' पदके अनेक प्रकारके निर्वचन दिखलाते हैं] अलग होकर स्थित होनेसे अपीच्य है [अर्थात् 'अप' उपसर्गपूर्वक 'चिञ्' धातुसे 'यक्' प्रत्यय, ईकार तथा टिलोप होकर 'अपीच्यं' पद बनता है । उसका अर्थ] अपगत अलग किया हुआ, अपहित अलग रखा हुआ अथवा अन्तर्हित होता है । ['इत्था चन्द्रमसो गृहे'का अर्थ करते हैं] उस दूरवर्ती चन्द्रमाके भीतर ।

'गौ' पदकी व्याख्या करते समय पहिले पृष्ठ १६१ पर यह लिखा था कि 'अत्राह गौरमन्वत' आदिकी व्याख्या आगे करेंगे । सो उस व्याख्याका अवसर अब उपस्थित हुआ है । इसलिए यहाँ इस मन्त्रको लिया गया है । मन्त्रका अर्थ कुछ कठिन है । उसमें सूर्यकी रश्मियोंसे ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है, इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है । मन्त्रमें त्वष्टुः पदका अर्थ सूर्यसे और 'अपीच्यम्'का अर्थ पृथक् होकर और 'नाम'का अर्थ नमन करना अर्थात् प्रविष्ट होना है । 'अत्र' तथा 'इत्था' पद स्थान-वाचक सर्वनाम हैं । 'अत्र' पद समीपवर्ती चन्द्रमाके लिए और 'इत्था' पद दूरवर्ती सूर्यके लिए प्रयुक्त है । मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'[इत्था]' इत्यादि ।

गातुर्व्याख्यातः [४-२१] ।

गातुं कृण्वन्नुषसो जनाय । [ऋ० ४-५१-१]

इत्यपि निगमो भवति । दंसयः कर्माणि । दंसयन्त्येनानि ।

गातु पदकी व्याख्या [निर्वचन] हो चुकी है। [पीछे पाद ३, पद ४८ में]।

'उषाएँ लोगोंके जाने-आनेके लिए [आवश्यक प्रकाश] करती हैं। यह भी निगम [वेदमन्त्र 'गातु' पदके प्रयोगके उदाहरणरूपमें] होता है ॥

'दंसयः' कर्मोंको कहते हैं। क्योंकि इनको प्रदर्शित किया जाता है। [जैसे निम्न मन्त्रमें कर्मके अर्थमें 'दंसयः' पदका प्रयोग पाया जाता है]।

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे यास्क अपनी शैलीसे उसकी व्याख्या निम्न-प्रकार करते हैं—'अत्र ह' इत्यादि।

५५. गातुः—नैगमकाण्डका अगला ५५वाँ शब्द 'गातुः' है। इसका अर्थ इसी अध्यायके तृतीय पादमें ४८ वें शब्द 'शंयोः'की व्याख्याके प्रसंगमें पृ० ४६५ पर किया जा चुका है। इसलिए यहाँ उसका निर्वचन न करके केवल एक उदा-हरण देकर यास्क आगे बढ़ जाते हैं। 'गातुं'का अर्थ पहिले भी 'गमन' किया था और इस उदाहरणमें भी उसका अर्थ 'गमन'ही है। इसका विवेचन करते हुए यास्क लिखते हैं—'गातुः' इत्यादि।

५६. दंसयः—नैगमकाण्डका अगला ५६वां पद 'दंसयः' है। इसका अर्थ यास्कने 'कर्माणि' किया है। उन्होंने चुरादिगणकी दर्शनार्थक 'दसि' धातुसे इस शब्दकी सिद्धि मानी है। इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रका टुकड़ा उद्धृत किया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नय ऋतं मन्वाना व्यदर्दिरुर्वलम् ।
यत्रा दशस्यन्नुषसो रिणन्नपः कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः ॥
[ऋ० १०-१३८-१]

इसका विवेचन करते हुए यास्क लिखते हैं—'दंसयः' इत्यादि।

कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः । [ऋ० १०-१३८-१]
इत्यपि निगमो भवति ।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः । [ऋ० १-९४-२]

[कुत्साय अर्थात्] कृषकके लिए ['कुत्सः कर्षकोऽभिप्रेतः' —स्कन्दस्वामी । अपः रिणन्] जलधाराको प्रवाहित करते हुए [वलं व्यदर्दिरुः] मेघको विदीर्ण करते हैं ।

यह भी ['दंसयः' पदका प्रयोग दिखलानेवाला] मन्त्र पाया जाता है ।

हे इन्द्र, [तव त्य सख्येषु] आपके ही सख्यमें वर्तमान होकर [ऋतं मन्वानाः] जलवृष्टिकी कामना करनेवाले [वह्नयः] मरुद्गण [यत्र] जिस समय [जनाय उषसो दशस्यन्] संसारको प्रकाश दिखलानेकी इच्छासे और [अह्नश्च दंसयः] वृत्रके कर्मोंको [उसका प्रतिबन्धक] जानकर । [शेष अर्थ मूलार्थमें द्र०]

५७. तूताव—नैगमकाण्डका अगला ५७वां शब्द 'तूताव' है । 'तु गतौ वृद्धौ च' इस धातुसे लिट् लकारमें द्वित्व तथा 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' अष्टा० ६-१-७ सूत्रसे दीर्घ होकर 'सूताव' पद बनता है । उसका अर्थ बढ़ना या वृद्धि करना होता है । उसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र दिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम् ।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।। [ऋ० १-९४-२]

हे परमात्मन् ! [यस्मै त्वमायजसे] जिसको आप सहायता प्रदान करते हैं [स साधति] [वह सब कामनाओंको सिद्ध करता है । [अनर्वा क्षेति] पापरहित होता है । [सुवीर्यम् दधते] शक्तिशाली बनता है । वह सदैव वृद्धिको प्राप्त होता है । कोई पाप उसका स्पर्श नहीं कर सकता है । इसलिए हे अग्ने ! हम सभी आपकी कृपासीमासे [मा रिषामा] कभी वंचित न रहें ।

यह पूरे मन्त्रका अर्थ है । आगे यास्क अपनी शैलीसे इसकी व्याख्या करते हैं—'स तुताव' इत्यादि ।

स तुताव। नैनमंहतिरश्नोति। अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद्विपरीतात्।

वह वृद्धिको प्राप्त होता है। पाप उसका स्पर्श नहीं करता है। अंहतिः, अंहः और अंहुः ये तीनों [शब्द पापवाचक हैं और [हन्तेः अर्थात्] 'हन्' धातुसे [निरूढोपधात् अर्थात्] उसकी उपधाको निकालकर [अर्थात् ह अन् ऐसा विभाग करके] तथा [विपरीतात् अर्थात् उनको] उलट कर [अन् ह कर] बनते हैं। [अर्थात् 'अन् ह' से उणादि ४-६२ सूत्रसे 'अति' प्रत्यय करके 'अंहतिः', उणादि ४-२१३ सूत्रसे 'असुङ्' प्रत्यय करके 'अंहस्' तथा उणादि १-७ सूत्रसे 'उ' प्रत्यय करके 'अंहुः' पद बनते हैं]।

५९—चयसे—नैगमकाण्डका अगला ५८वाँ पद 'चयसे' है। 'चयसे' का अर्थ यास्कने 'चातयसि' अर्थात् 'नाशयसि' नष्ट करता है यह किया है। इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रभाग उद्धृत किया है वह निम्न मन्त्रका भाग है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

ये त्वा देवोस्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः।
न दूढ्ये३ अनुददासि वामं बृहस्पते चयसे इत्पियारुम्॥

[ऋ० १–१९०–५]

हे परमात्मन्! [ये पज्राः पापाः पापेन जीर्णाः प्रजाः इति सायणः] पापसे ग्रस्त जो दुष्ट लोग [उस्रिकं सूर्यके समान] तेजस्वी आपकी ['मन्यमानाः' निघण्टुमें 'मन' धातु हिंसार्थक पढ़ा गया है, यहाँ यही हिंसा अर्थ विवक्षित है] हिंसा करते हुए [अर्थात् परमात्माको न माननेवाले नास्तिक हैं] और [भद्रमुपजीवन्ति] कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं उन [दूढ्ये] दुर्बुद्धि मूर्खोंको आप [वामं न अनुददासि] सुन्दर कल्याण प्रदान नहीं करते हैं। अपितु हे बृहस्पते, [पियारुम् देवपीयुम् देवहिंसक अर्थात् परमात्माको न माननेवाले] उन नास्तिकोंको [चयसे इत्] आप नष्ट ही कर डालते हैं। यह पूरे मन्त्रका अर्थ है।

बृहस्पते चयस इत्पियारुम् । [ऋ० १-१९०-५] ।
बृहस्पते यच्चातयसि देवपीयुम् । पीयतिर्हिंसाकर्मा ।
वियुते द्यावापृथिव्यौ, वियवनात् ।
समान्या वियुते दूरे अन्ते [ऋ० ३-५४-७]

अपितु [पियारुं अर्थात् देवपीयुं अर्थात् देवहिंसक अर्थात् परमात्माको न माननेवाले] उन नास्तिकोंका आप नाश ही कर डालते हैं।

हे बृहस्पते, आप उस देवहिंसक [नास्तिक] को नष्ट कर देते हैं।

'वियुते' [अर्थात् अलग अलग स्थित] द्योलोक तथा पृथिवी [कहलाते हैं।]

[समान्या] समानरूपसे वृष्टिकर्मको करनेवाले द्यावा-पृथिवी [वियुते] अलग-अलग [दूरे अन्ते] दूर तथा समीपमें [ध्रुवे पदे] निश्चित स्थानपर [जागरूके] सदैव सावधान स्वकार्य-तत्पर [तस्थतुः] रहते हैं। [आत् उ] इसी कारणसे,[युवती भवन्ती] परस्पर मिलकर काम करनेवाले होनेसे [मिथुनानि] जोड़ा [उत स्वसारा] अथवा बहिनें [ब्रुवाते] कहे जाते हैं।

५९–वियुते–नैगमकाण्डका अगला ५८ वाँ शब्द 'वियुते' है। इसका अर्थ 'पृथग्भूते' है। इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रांश दिया है, उसका पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

समान्या वियुते दूरे अन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके ।
उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम ।।

[ऋ० ३–५४–७]

समानं सम्मानमात्रं भवति । मात्रा मानात् । दूरं व्याख्यातम् [३-१९] । अन्तोऽततेः ।

ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवत्यथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते ।

ऋधंगया ऋधंगुताशंमिष्ठाः । [यजुः० ८-२०]

'वियुते' से द्यावा-पृथिवी लिये जाते हैं । [वियवनात्] अलग-अलग होनेसे [समानरूपसे वृष्टिकर्म करनेवाले] द्यावा-पृथिवी दूर तथा समीपमें [स्थित हैं]। बराबर परिमाणवाले 'समान' कहलाते हैं । परिमाणवाचक होनेसे ही 'मात्रा' कहलाती है। 'दूर' पदकी व्याख्या पहिले [तृतीय पादके १९वें खण्डमें] की जा चुकी है। 'अन्त' पद [भ्वा० प०] 'अत' धातुसे बना है ।

और [ऋधक् अर्थात्]समृद्ध होकर इस यज्ञको सम्पादित कीजिये तथा [ऋधक् अशमिष्ठाः] [शक्तिशाली बनकर [विघ्नोंका] शमन कीजिये [यहाँ 'अयाः' अर्थात् अयाक्षीः तथा 'अशमिष्ठाः' दोनों जगह प्रार्थना अर्थमें लुङ् लकारका प्रयोग किया गया है] ।

यह मन्त्रका अर्थ है । आगे निरुक्तकार उसके 'समान्या' आदि दो तीन पदोंका निर्वचन दिखलाते हैं--'समानम्' इत्यादि ।

६०—ऋधक्—नैगमकाण्डका अगला ६० वाँ पद 'ऋधक्' है। यास्कने इसके दो अर्थ किये हैं—एक पृथग्भाव और दूसरा वृद्धि । इसके प्रयोगको दिखलानेके लिए जो मन्त्रभाग उद्धृत किया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह ।
ऋधंगया ऋधंगुताशंमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान् स्वाहा ॥

[यजुः ८—२०]

हे अग्ने ! [अस्मिन् प्रयति यज्ञे] इस प्रयत्न-साध्य या महान् यज्ञमें [वयं हि त्वा] हमने आपको [होतारमवृणीमहि] होताके रूपमें वरण किया है। [प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्] सो आप इस बातको भली प्रकार समझते हुए हमारे यज्ञमें पधारनेकी कृपा करें ।

ऋध्नुवन्नयाक्षीर्ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च।

अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशेऽनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तमल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्।

'ऋधक्' यह पृथग्भावका कथन करता है और समृद्धिके अर्थमें भी पाया जाता है जैसे—

समृद्ध होकर यज्ञ करो [अथवा किया] और समृद्ध अर्थात् शक्तिशाली होकर विघ्नोंका शमन करो [या किया]।

'अस्याः' और 'अस्य' ये दोनों प्रथमादेशमें [अर्थात् नामके पहिले सर्वनामके रूपमें प्रयुक्त होनेपर] उदात्त होते हैं तथा अन्वादेशमें [अर्थात् नामके बाद प्रयुक्त होनेपर अनुदात्त होते हैं। उदात्त होनेपर ये पद] तीव्र अर्थवाले होते हैं और अल्प अर्थ होनेपर अनुदात्त होते हैं।

इस ऋधक् पदकी व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं—'ऋधग्' इत्यादि।

६१—अस्याः—नैगमकाण्डका अगला ६१ वां पद 'अस्याः' अथवा 'अस्य' यह सर्वनाम पद है। इस शब्दका अर्थ तो स्पष्ट है, किन्तु उदात्त और अनुदात्त स्वरके भेदसे उसके प्रयोगमें भेद पाया जाता है। इसलिए निघण्टुमें उसका संग्रह किया गया है। प्रथम स्थानपर प्रयुक्त होनेपर 'अस्याः' पद उदात्त होता है और अन्वादेश अर्थात् नामके बाद प्रयुक्त होनेपर अनुदात्त होता है। इसी बातको ग्रन्थकार निम्नप्रकार लिखते हैं—'तीव्रार्थतरम्' इत्यादि।

इसका यह अभिप्राय है कि जब किसी बातपर विशेष बल देना होता है तब 'अस्याः' या 'अस्य' आदि सर्वनाम पदोंको नामके प्रयोगके पहिले ही प्रयुक्त किया जाता है। और जहाँ अधिक बल देना अभीष्ट नहीं होता है वहाँ इनका प्रयोग बादको होता है और उस दशामें वे अनुदात्त होते हैं। दोनों प्रकारके प्रयोगोंके उदाहरण ग्रन्थकार आगे दिखलाते हैं—'अस्याः' इत्यादि।

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेडमानो ररिवाँ अंजाश्व श्रवस्युतामंजाश्व । [ऋ० १-१३८-४]

[अस्याः सातये यहाँ चतुर्थीके अर्थमें षष्ठी विभक्ति है । 'अस्याः सातये'का अर्थ 'अस्यै सातये' है] इसी लाभके लिए । हे नित्य तथा सर्वव्यापक परमात्मन् । [ररिवान्] अर्थात् दान करते हुए तथा [अहेडमानः] क्रुद्ध न होते हुए [न उपभुवः] हमारे समीपमें ही [ऊ षु] स्थित हों । [श्रवस्यतां अर्थात्] धन अथवा यज्ञकी इच्छा रखनेवालोंके प्रिय हे अजाश्व नित्य एवं व्यापक प्रभो ! [अस्यै तव सातये] इसी लाभके लिए [नः उपभुवः] हमारे समीप [ऊ षु] स्थित हों ।

यह इस मन्त्रभागका अर्थ है । इसमें 'अस्याः' पद प्रथमादेशमें अन्तोदात्त है । उसीको यहाँ उदात्त कहा गया है । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' अष्टा० ६-१-१५८ इस सूत्रके अनुसार आदि या अन्तका एक ही अंश उदात्त हो सकता है । उस उदात्त एक अंशको छोड़कर शेष पद अनुदात्त होता है । प्रथमादेश और अन्वादेशकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की गयी है । कुछ लोग प्रथम पादमें अथवा मन्त्रके पूर्वार्द्धमें प्रयोगको 'प्रथमादेश, और उत्तरार्द्ध भागमें प्रयोगको 'अन्वादेश' कहते हैं । यहाँ निरुक्तकारने जो 'अस्या ऊ षु णः' प्रथमादेशका उदाहरण दिया है उसमें 'अस्याः' पद मन्त्रके प्रथम चरणमें और पूर्वार्द्ध भागमें प्रयुक्त होनेसे प्रथमादेश कहा जाता है । और अन्वादेशका जो 'दीर्घायुरस्याः पतिः' आदि उदाहरण दिया उसमें 'अस्याः' पद मन्त्रके उत्तरार्द्ध भागमें प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसे 'अन्वादेश' कहा जाता है । किन्तु स्कन्दस्वामी इस मतको नहीं मानते हैं । उनका कहना है कि इन उदाहरणोंमें तो प्रथमादेश और अन्वादेशके ये लक्षण घट जाते हैं, किन्तु अन्यत्र प्रथम चरण अथवा मन्त्रके पूर्वमें प्रयुक्त 'अस्याः' पद अनुदात्त रूपमें पाया जाता है । इसके उदाहरणरूपमें उन्होंने निम्नमन्त्र दिये हैं—

१—सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तः [ऋ० ६-७५-११]

२—हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः [ऋ० १-१६३-९]

इन दोनों मन्त्रांशोंमें 'अस्याः' तथा 'अस्य' पद अनुदात्तरूपमें प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों मन्त्रभाग प्रथम चरण तथा पूर्वार्द्धसे लिये गये हैं। जब उनमें अनुदात्तरूपमें 'अस्याः' और 'अस्य' पदोंका प्रयोग पाया जाता है तब प्रथम चरण अथवा पूर्वार्द्ध भागमें स्थितिको यहाँ 'प्रथमादेश' नहीं कहा जा सकता है, यह स्कन्दस्वामीका मत है।

दूसरे लोगोंने प्रथमका अर्थ प्रधान किया है। इसलिए प्रधानके लिए जब 'अस्याः' या 'अस्य' पदोंका प्रयोग हो उसको प्रथमादेश तथा अप्रधानके लिए इन शब्दोंके प्रयोगको 'अन्वादेश' कहते हैं। परन्तु स्कन्दस्वामीने इसका भी खण्डन कर दिया है। उनका कहना है कि यद्यपि निरुक्तकार द्वारा दिये गये प्रकृत दोनों उदाहरणोंमें तो प्रथमादेश तथा अन्वादेशका यह लक्षण घट जाता है, किन्तु अन्यत्र इसका व्यभिचार भी पाया जाता है। 'मृगो अस्या दन्तः' में प्राधान्य होनेपर भी अनुदात्तत्व है। 'त्वं नो अस्य वचसः' आदि स्थलोंमें अप्राधान्य होनेपर भी उदात्तत्व पाया जाता है, इसलिए स्कन्दस्वामीके मतमें प्रथमादेश तथा अन्वादेशके लक्षण भी ठीक नहीं हैं। इसलिए 'शब्दान्तरेण आदिष्टस्य प्रथममेव य आदेश उच्चारणं स प्रथमादेशः' अर्थात् दूसरे संज्ञाशब्दके द्वारा कहे गये अर्थका संज्ञाशब्दके प्रयोगके पहिले ही जो 'अस्याः' या 'अस्य' इन सर्वनाम पदोंसे कथन करना है उसको प्रथमादेश कहते हैं। यह प्रथमादेशका लक्षण स्कन्दस्वामीने किया है। जैसे 'अस्या ऊ षु ण उप सातये'में 'अस्याः' यह सर्वनाम पद 'सातये' इस संज्ञाशब्द द्वारा निर्दिष्ट किये जानेवाले अर्थके लिए संज्ञाशब्दके पहिले ही प्रयुक्त हुआ है। इसलिए इसको प्रथमादेश कहा जाता है। और 'दीर्घायुरस्याः यः पतिः' [ऋ० १०-८५-३९] वाले उदाहरणमें 'अस्याः' पद मन्त्रके पूर्वार्द्धमें आये हुए 'पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा' में प्रयुक्त पत्नीसे सम्बन्ध रखता है, इसलिए वह अन्वादेश कहलाता है। यह स्कन्दस्वामीका मत है।

अस्यै नः सातये उपभवाहेडमानोऽक्रुध्यन् ररिवान् । रातिरभ्यस्तः । अजाश्वेति । पूषणमाहाजाश्व । अजा अजनाः । अथानुदात्तम् ।

हमारे इस लाभके लिए समीपमें स्थित हों । अहेडमानः अर्थात् क्रोध न करते हुए । 'ररिवान्'में 'रा दाने' धातुको द्वित्व किया गया है । 'अजाश्व' यह पद पूषाका वाचक है । हे अजाश्व ! अर्थात् जिसके अश्व घोड़े 'अजनाः' विशेष गतिशील हैं ।

आगे ग्रन्थकार 'अस्या ऊ षु णः' वाले मन्त्रभागकी व्याख्या अपनी पद्धतिसे निम्नप्रकार देते हैं—'अस्यै' इत्यादि ।

जिसके अश्व 'अजनाः' विशेष गतिशील हैं वह पूषा देवता 'अजाश्व' कहलाता है यह यास्कका कथन है । अन्यत्र अज अर्थात् बकरेको पूषा देवताका अश्व अर्थात् वाहन माना गया है । इसलिए वे पूषाको 'अजाश्व' कहते हैं । वास्तवमें तो 'पूषा' आदि सारे नाम परमात्माके ही हैं । वह परमात्मा नित्य होनेसे 'अज' और सर्वत्र व्यापक होनेसे 'अश्व' कहा जा सकता है । इससे 'अजाश्व'का अर्थ 'हे नित्य तथा सर्वव्यापक परमात्मन्', किया जा सकता है ।

यह प्रथमादेशमें उदात्त या अन्तोदात्त 'अस्याः' पदके प्रयोगका उदाहरण दिखलाया है । यह मन्त्रका एक भाग ही यहाँ दिया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेडमानो ररिवां अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व ।
ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः ।
नहि त्वा पूषन्नतिमन्य आ घृणे न ते सख्यमपह्नुवे ॥ [ऋ० १-१३८-४]

अब आगे 'अन्वादेश'में अनुदात्तरूपमें 'अस्याः'पदके प्रयोगका उदाहरण दिखलाते हैं । यह मन्त्र भी अधूरा दिया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥
[ऋ० १०-८५-३९]

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥
[ऋ० १०-८५-३९]

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु स शरदः शतम्। शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति। शीर्णा आप इति वा। अस्येत्यस्या इत्येतेन व्याख्यातम् ॥२५॥

और इसका जो पति है वह दीर्घायु होकर सौ वर्ष तक [या सैकड़ों वर्षोंतक] जीता रहता है।

१—इसमें औषधियाँ पक जाती हैं इसलिए 'शरत्' कहलाती है। अथवा २—इसमें पानी सूख जाता है [इसलिए 'शरत्' कहलाती है]।

'अस्याः' की [दो प्रकारकी व्याख्यासे ही 'अस्य'की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिये। [अर्थात् 'अस्य' पद भी प्रथमादेशमें उदात्त तथा अन्वादेशमें अनुदात्त होता है। दोनोंके उदाहरण एक ही मन्त्रमें मिल जाते हैं ॥२५॥

[पुनः] फिर अग्नि आयु तथा बलके साथ-साथ पत्नीको प्रदान करता है।

इसमें 'अस्याः' पद पूर्व प्रयुक्त हुए 'पत्नी' इस नामके साथ सम्बद्ध होनेसे अन्वादेशरूप और अनुदात्त है। मन्त्रकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार 'शरत्' पदका दो प्रकारका निर्वचन करते हैं—'शरत्' इत्यादि।

'अस्याः' पदके प्रथमादेश तथा अन्वादेश दोनों प्रकारके उदाहरण दिखलाकर अब उसीके पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त होनेवाले 'अस्य' पदके उदाहरण एक ही मन्त्रमें दिखलाते हैं—'अस्येत्यस्या' इत्यादि।

इस मन्त्रमें अग्निके १ द्युस्थानीय सूर्य, २ अन्तरिक्षस्थानीय विद्युत् तथा ३ पृथिवीस्थानीय अग्निरूप तीन स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। इसमें अस्य शब्दका प्रयोग दो बार हुआ है। पहिली बार मन्त्रके आदिमें उदात्तरूपमें 'अस्य'का प्रयोग है।

[२६]

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥
[ऋ० १-१६४-१]

अस्य वामस्य वननीयस्य । पलितस्य पालयितुर्होतुर्ह्वातव्यस्य । तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः । भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः ।

---

[२६]

इस [वामस्य अर्थात्] प्रशस्त [पलितस्य] सबका पालन करनेवाले और [होतुः] आह्वान करने योग्य [द्युस्थानीय सूर्य] का [अन्तरिक्षस्थानीय अर्थात् मेघमण्डलमें रहनेवाला अश्नः अर्थात्] अशनिः विद्युत् मध्यम भ्राता है और इसका तीसरा भाई घृतका स्पर्श करनेवाला [अर्थात् जिसमें घृतकी आहुति दी जाती है वह पृथिवीस्थानीय] अग्नि है। इसी [सूर्य]के भीतर [सप्तपुत्रं अर्थात्] सात पुत्रोंवाले [अर्थात् सात रंगोंकी रश्मियोंवाले विश्पति अर्थात्] संसारके स्वामी [सूर्यदेव]के [अपश्यम्] दर्शन करता हूँ।

इस वामस्य अर्थात् पूजा योग्य । पलितस्य अर्थात् पालन करनेवालेका । होतुः अर्थात् आह्वान करने योग्यका । उसका मध्यम भ्राता अश्न [अर्थात् अशनिः विद्युत्] है। 'भ्राता' पद हरण अर्थवाले 'हृ' धातुसे [भ्वा० उ०] बनता है। क्योंकि वह [सूर्यसे निकलनेवाले तापके, अथवा सूर्यरश्मियोंके द्वारा लाये जानेवाले जलके]

अतः वह प्रथमादेशमें उदात्तका उदाहरण है। दूसरी बार मन्त्रके उत्तरार्द्धमें 'अस्य' पदका अनुदात्तरूपमें प्रयोग है, अतः वह अन्वादेशमें अनुदात्तका उदाहरण है। मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'इस' इत्यादि ।

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'अस्य' इत्यादि ।

हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिम्। सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा। सप्त सृप्ता संख्या। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति ॥२६॥

भागको ले लेता है। अथवा [भ्राता] पालन करनेयोग्य होता है, [इसलिए पालन अर्थवाले 'भृ' धातुसे 'भ्राता' शब्द बनता है]। [सूर्यका] तीसरा भाई घृतका स्पर्श करनेवाला यह [पृथिवीस्थानीय] अग्नि है। उस [सूर्य अथवा अग्नि]में [विश्पतिं] सबके रक्षक अथवा पालक विश्पतिको देखता हूँ। सप्तपुत्र [अर्थात् अदितिके] सप्तम पुत्रको [सूर्य अदितिका सप्तम पुत्र कहा जाता है। अथवा सर्पणशील पुत्रोंवाले [अर्थात् सर्पणशील रश्मिरूप] पुत्रोंवालेको [देखा। सप्त संख्या [छः संख्याकी अपेक्षा अधिक] फैली हुई होती है। आदित्यकी सात रश्मियाँ होती हैं [इसलिए भी आदित्यको सप्तपुत्र कहा जा सकता है] ऐसा कहते हैं ॥२६॥

इस प्रसंगमें आदित्यको 'सप्तमपुत्र' कहा गया है। सप्ताहके सात दिनोंके नाम चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि तथा रवि इन सात ग्रहोंके नामपर ही रखे गये हैं। ये सातों अदिति परमात्माके मुख्य पुत्र हैं। इन्हींमें सूर्य भी एक पुत्र है। इसलिए उसको सप्तमपुत्र कहा गया है। आकाशमें इन्द्रधनुषकी रचना सूर्यकी किरणोंके विश्लेषण द्वारा होती है। उसमें सात रंग होते हैं। कांचके बने हुए त्रिपार्श्व द्वारा भी सूर्यकी किरणोंका विश्लेषण करके सात रंग देखे जा सकते हैं। इन सातरंगोंवाली किरणोंके कारण भी सूर्यको 'सप्तपुत्र' कहा जा सकता है। इसी कारण सूर्यके सप्ताश्वोंकी कल्पना भी की गयी है। सूर्यकी सातरंगवाली रश्मियोंको ही सूर्यके सप्ताश्वके रूपमें कहा जाता है, इसके लिए आगे सूर्यके सप्ताश्वोंका वर्णन करनेवाले मन्त्रको ग्रन्थकार उद्धृत करते हैं। मन्त्रका अर्थ निम्नप्रकार है—'एक चक्रवाले' इत्यादि।

[२७]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥
[ऋ० १-१६४-२]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणम् । चक्रं चकतेर्वा चरतेर्वा क्रामतेर्वा । एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः । सप्तास्मै रश्मयो

---

[२७]

एक चक्रवाले [सूर्यके] रथको सात [रंगोंसे युक्त सूर्यरश्मियाँ] जोड़ते हैं और सात [प्रकारके रंगों रूप] नामवाला एक अश्व उसका वहन करता है। [सूर्यके रथका यह] चक्र तीन नाभियोंवाला [अजर] कभी नष्ट न होनेवाला [अनर्व] किसीके आश्रित न रहनेवाला है। [यत्र] इसीके आश्रित [इमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः] ये सारे लोक-लोकान्तर रहते हैं।

सात [प्रकारके रंगोंसे युक्त सूर्य-रश्मियाँ सूर्यके] रथको जोड़ते हैं। [एकचक्रं अर्थात्] अकेले चलनेवाले [सूर्यको]। 'चक्र' पद [भ्वा० उ०] 'चक' धातुसे अथवा [भ्वा० प०] 'चर' धातुसे अथवा [भ्वा० उ०] 'क्रम' धातुसे बनता है। एक [सातों रंगोंका मिश्रण सफेद रंग होता है। यही प्रकाशरूप] अश्व [सूर्यको] ले जाता है। [अर्थात् प्रकाशके द्वारा ही सूर्यकी सर्वत्र पहुँच होती हैं]। सप्तनामा अर्थात् सात नामवाला आदित्य। क्योंकि इसकी सात [रंगोंवाली] रश्मियाँ

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे ग्रन्थकार अपनी पद्धतिसे व्याख्या करते हैं—'सप्त' इत्यादि।

रसानभिसन्नामयन्ति। सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा। इदमपीतरन्नामैतस्मादेवाभिसन्नामात्। संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः। त्रिनाभिचक्रम्। त्र्यृतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा। अजरमजरणधर्माणमनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्। यत्रेमानि

रसोंको इसकी ओर झुकाती या ले जाती हैं [इसलिए सूर्यको सप्तनामा कहा गया है] अथवा सात ऋषि इसकी स्तुति करते हैं [इसलिए सूर्यको सप्तनामा कहा गया है]। यह जो [लोकमें प्रयुक्त होनेवाला] दूसरा 'नाम' पद है वह भी इस [स्तुत्यर्थक 'नम' धातु]से बनता है। नामके द्वारा ही रूपकी स्तुति होती है। अथवा नाम अर्थको प्रसिद्ध करनेवाला होता है। इसी कारण उसको 'नाम' पदसे कहा जाता है]। [यह मन्त्रके पूर्वार्द्धभागकी व्याख्या हुई]।

मन्त्रका उत्तरार्द्ध भाग संवत्सरका वर्णन करनेवाला है। उसमें 'त्रिनाभि चक्रम्'से तीन ऋतुओंवाले संवत्सरका ग्रहण करना चाहिये। ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त [ये तीन ऋतुएँ संवत्सरकी तीन नाभियाँ हैं]। जिसके भीतर प्राणी रहते हैं वह संवत्सर कहलाता है [यह 'संवत्सर' पदका निर्वचन है। आगे ग्रीष्म आदि पदोंका निर्वचन देते हैं—] जिसमें रस अर्थात् जल सूख जाते हैं वह ग्रीष्म कहलाता है। जिसमें मेघ बरसते हैं वह वर्षा कहलाती है। अधिक हिमसे युक्त होनेसे हेमन्त कहलाता है। और हिम पद 'हन' धातुसे अथवा [वृद्ध्यर्थक] 'हि' धातु [स्वा० उ०] से बनता है। 'अजरम्' जो कभी जीर्ण नहीं होता है। अनर्वम् अर्थात् दूसरेके आश्रित नहीं होता है। जिस [संवत्सर]में ये सारे प्राणी [तथा भौतिक जन्तु] रहते हैं उस

सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते। तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति। पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने [ऋ० १-१६४-१३]। इति पञ्चर्तुतया। पञ्चर्तवः संवत्सरस्य" इति च ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० १।१)। "हेमन्त-शिशिरयोः समासेन। षडर आहुरर्पितम् [ऋ० १-१६४-१२]। इति षडृतुतया। अराः प्रत्यृता नाभौ। षट् पुनः सहतेः।

द्वादशारं नहि तज्जराय। [ऋ० १-१६४-११]
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्। [ऋ० १-१६४-४८]
इति मासानाम्। मासा मानात्। प्रधिः प्रहितो भवति।

संवत्सरकी [वर्षके अवान्तर अंगभूत] सारे [नामों अर्थात्] अवयवों-के द्वारा [वेदमें] स्तुति की जाती है। [इसीको उदाहरणों द्वारा दिखलाते हैं]—

[संवत्सर] पाँच अरोंवाले चक्रपर घूमता हुआ है। इसमें पाँच ऋतुवाले रूपमें [संवत्सरका वर्णन किया गया है। संवत्सरमें पाँच ऋतुएँ होती है। यह बात [ऐतरेय १—१—१] ब्राह्मणमें भी कही गई है। इसमें हेमन्त तथा शिशिरको मिलाकर एक कर देनेसे [छह ऋतुओंके स्थानपर पाँच ऋतुएँ कही गयी हैं]।

२. छह अरोंपर स्थित कहते हैं। इसमें ६ ऋतुओंवाले रूपसे [संवत्सरका वर्णन किया गया है। नाभिमें घुसे हुए होनेसे 'अर' कहलाते हैं। अर्थात् 'आङ्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'ऋ' धातुसे 'अराः' पदकी सिद्धि होती है। 'षट्' पद 'सह' धातुसे बनता है, वह [पाँच तककी संख्याको दबा लेता है, इसलिए षट् कहलाता है]।

बारह मासों अथवा मेषादि राशिरूप अरों [रथके अवयवों] से युक्त वह [चक्र] जराजीर्ण नहीं होता है।

बारह डण्डे और एक पहिया। इसमें [संवत्सरके] बारह मासोंका [प्रधि—दण्डके रूपमें वर्णन है]। मास [संवत्सरके] मापनेवाले होनेसे [मास कहलाते हैं]। [पहियेकी नाभि या नेमिमें] भली प्रकार-से लगाया हुआ होनेसे अरको प्रधि कहते हैं]।

तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
[ऋ० १-१६४-४८]

षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः ॥
[गो० ब्रा० १-५-५]

इति च ब्राह्मणं समासेन ।

सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ [ऋ० १-१६४-११]

सप्त च वै शतानि विंशतिश्च सम्वत्सरस्याहोरात्राः ।
[ऐ० ब्रा० २-१७]

इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन ॥२७॥

इति चतुर्थाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

चतुर्थाध्यायश्च समाप्तः ॥

उस [संवत्सररूप चक्र] में [त्रिशता साकं षष्टिः] ३६० [दिनरूप] [चलाचलासः] सदा चलते रहनेवाले [शंकवः] कीलें [अर्पिताः] लगी हुई हैं। इसमें साठ और तीन सौ अर्थात् ३६० संवत्सरके दिन [अहोरात्र] होते हैं। इकट्ठे कहे जानेपर। यह [बात ऐतरेय ४-२-६] ब्राह्मणमें कही है।

[संवत्सरके भीतर] ७२० [३६० दिन+३६० रात्रि=७२०] रहते हैं। ऐतरेयब्राह्मण २-२-७ में ७२० [शङ्कु अर्थात् कीलें संवत्सर चक्रमें] लगी हैं यह बात [ऐतरेय २-२-७] ब्राह्मणमें कही है। यह [दिन तथा रात्रिका] विभाग करके [३६०+३६०=७२०] कहा है। ॥२७॥

चतुर्थ अध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त।

निघण्टुमें नैगमकाण्डके शब्दोंका संग्रह तीन खण्डोंमें किया गया है। यास्कने उनके तीनों खण्डोंकी व्याख्या क्रमशः ४-५-६ तीन अध्यायोंमें की है। उनमेंसे प्रथम खण्डके ६२ शब्दोंकी व्याख्या यहाँ 'अस्य' पदकी व्याख्याके साथ समाप्त हो जाती है। इसलिए 'अस्य' पदकी व्याख्याके साथ चतुर्थ अध्यायकी भी समाप्ति हो जाती है। 'अस्य' पदके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र दिया गया था उसके उत्तरार्द्धमें संवत्सरका वर्णन है, इसलिए निरुक्तकारने संवत्सरके विविध अंगोंका वर्णन करनेवाले मन्त्रोंको उद्धृत कर संवत्सरके विविध रूपोंको प्रदर्शित किया है। ये सब मन्त्र यहाँ अधूरे ही दिये गये हैं। उन मन्त्रोंका पूरा-पूरा पाठ निम्नप्रकार है—

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥
[ऋ० १-१६४-१३]

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥
[ऋ० १-१६४-१२]

३. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
[ऋ० १-१६४-११]

४. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
[ऋ० १-१६४-४८]

इन मन्त्रोंमें संवत्सरके नाना अंगोंका वर्णन उनका नाम न लेकर केवल संख्याके द्वारा किया है। हम इस संख्याके आधारपर अंगोंकी गणना निम्न प्रकार कर सकते हैं—

१. अ—त्रिनाभि चक्रम्, ब—त्रीणि नभ्यानि = तीन ऋतुवाला संवत्सर।

२. अ—पञ्चारे चक्रे, ब—पञ्चपादं = पाँच ऋतु [हेमन्त शिशिरको एक मानकर]।

३. षडरं = वसन्तादि छहों ऋतुओंसे युक्त संवत्सर।

४. अ—द्वादशाकृति, ब—द्वादशार, स—द्वादशप्रधि = बारह मासोंवाला संवत्सर।

५. त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिः = ३६० अहोरात्रवाला संवत्सर।

६. सप्तशतानि विंशतिश्चः तस्थुः = ३६० दिन और ३६० रात्रि = ७२० दिन-रात।

७. परे अर्द्धे पुरीषिणम् = उत्तरायण तथा दक्षिणायन रूप दो अयनोंवाला संवत्सर।

८. सप्तचक्र—(१) अयन, (२) ऋतु, (३) मास, (४) पक्ष, (५) अहोरात्र, (६) दिन और (७) रात्रि ये सात विभाग संवत्सरके सात चक्र कहे जा सकते हैं।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[१]

सस्निंमविन्दच्चरंणे नदीनांम् । [ऋ० १०-१३९-६]

प्रथम पाद

[१]

[नदीनाम् अर्थात्] जलोंके [चरणे] विचरण करनेके स्थान [अर्थात् अन्तरिक्ष] में [सस्निम्] मेघको [अविन्दत्] प्राप्त किया।

निघण्टुका चौथा अध्याय 'नैगमकाण्ड' कहलाता है। इसमें अनेकार्थक और अनवगत-संस्कारवाले एक एक शब्दका संग्रह किया गया है। इसके तीन खण्ड हैं। इन तीनों खण्डोंकी व्याख्या निरुक्तकारने तीन अलग-अलग अध्यायोंमें की है। प्रथम खण्डके 'जहा' से लेकर 'अस्य' तक ६२ पदोंकी व्याख्या निरुक्तके चतुर्थ अध्यायमें की गयी थी। अब इस पंचम अध्यायमें नैगमकाण्डके द्वितीय खण्डके 'सस्निम्' से लेकर 'सृणि' तक ८४ पदोंकी व्याख्या चार पादोंमें की जायगी। इनमें से पहिले पादमें ३२ पदोंकी, दूसरे पादमें अगले १३ पदोंकी अर्थात् ३४—४६ तकके पदोंकी उसके बाद तीसरे पाद में ४७—६४ तक और चौथे पादमें ६५—८४ तकके पदोंकी व्याख्या की जायगी। सबसे पहिले 'सस्निम्' पदकी व्याख्यासे इस पंचम अध्यायके प्रथम पादका आरम्भ होता है। 'सस्निम्' का अर्थ मेघ है। उसका प्रयोग दिखलानेके लिए यहाँ ग्रन्थकारने मन्त्रका एक टुकड़ा उद्धृत किया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

सस्निंमविन्दच्चरंणे नदीनाम् अपांवृणोद् दुरो अश्मंव्रजानाम् ।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परिं जानादहीनाम् ॥

[ऋ० १०—१३९—६]

सस्निं मेघम् ।

वाहिंष्ठो वां हवांनां स्तोमों दूतो हुंवन्नरा ।

[ऋ० ८-२६-१६]

वोढृतमो हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ । नरा मनुष्याः । नृत्यन्ति कर्मसु । दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा ।

दूतो देवानामसि मर्त्यानाम् ॥ [ऋ० १०-४-२]

इत्यपि निगमो भवति ।

'सस्निम्' अर्थात् सम्यक्तया स्नात मेघको ।

हे अश्विनो ! बुलानेवालोंमें सबसे बढ़ कर सर्वोत्तम स्तोमरूप दूत बुलानेवाला [अग्नि] तुम दोनोंको बुलावे ।

[हवानां] आवाहन करनेवालोंमें [वाहिष्ठः] सर्वोत्तम वहन करने वाला स्तोम [स्तुतिरूप] दूत [हे नरौ] हे अश्विनौ, आप दोनोंको बुलावे । नर मनुष्य होते हैं । क्योंकि कामोंमें नाचते रहते हैं । [अर्थात् 'नृती नर्तने' धातुसे नर शब्द बनता है] । दूत [भ्वा० आ०] 'जु' धातुसे 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' [अष्टा० ३-४-७२] सूत्रसे 'क्त' प्रत्यय पृषोदरादिगणमें पठित होनेसे 'ज' के स्थानपर 'द' होकर 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' उणादि ३७७ सूत्रसे दीर्घ होकर 'दूत' शब्द बनता है । अथवा [भ्वा० प०] 'द्रु' 'द्रु गतौ' धातुसे पृषोदरादि गणपठित होनेसे द्रको दु और दीर्घ होकर बनता है । अथवा [अनर्थोंसे] वारण करनेवाला होनेसे [दूत कहलाता है । 'तुम देवताओंके और मनुष्योंके [दोनोंके] दूत हो' इस प्रकारका भी वेदमन्त्र पाया जाता है ।

---

२. वाहिष्ठः, ३. दूतः—ये दोनों शब्द इस पादके व्याख्येय पदोंमें हैं । 'वाहिष्ठः' का अर्थ 'वोढृतमः' किया गया है । इन दोनों शब्दोंका प्रयोग एक ही मन्त्रमें निम्नप्रकार पाया जाता है—

वावशानो वष्टेर्वा वाश्यतेर्वा ।

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानः । [ऋ० १०-५-५]

इत्यपि निगमो भवति ।

'वावशानः' पद 'वश' ['वश कान्तौ'] धातुसे अथवा 'वाश' ['वाश्टृ'] धातुसे बनता है । [हे अग्ने परमात्मन् । अपने अन्तरिक्षमें सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनि रूप अरुषीः अर्थात् चमकती हुई [सप्त स्वसॄः] सात बहिनोंको [वावशानः] चाहनेवाले [आह्वने अन्तरिक्षे मध्ये उज्जभार अन्तरिक्षके मध्यमें उत्पन्न किया] इस प्रकारका निगम [वेदमन्त्र] भी मिलता है ।

वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा ।
युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥ [ऋ० ८-२६-१६]

यह मन्त्रका अर्थ है । आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'वोढृतमः' इत्यादि ।

'वाहिष्ठो वां हवानां' इत्यादि पहिले मन्त्रमें 'वाहिष्ठः' तथा 'दूतः' दोनों पदोंका प्रयोग हुआ था । फिर भी यहाँ ग्रन्थकारने 'दूत' पदका प्रयोग दिखलानेवाला दूसरा उदाहरण भी दिया है । यह अधूरा मन्त्र ही दिया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महांश्चरसि रोचनेन ॥ [ऋ० १०-४-२]

४ वावशानः—इस पादके व्याख्यातव्य पदोंमें चौथा पद 'वावशानः' है । यास्कने इस शब्दको 'वश कान्तौ' तथा 'वाश्टृ शब्दे' दो धातुओंसे निष्पन्न माना है । अर्थात् उसका अर्थ अत्यन्त चमकता हुआ अथवा अत्यन्त शब्द करता हुआ हो सकता है । उसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र-खण्ड दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

वार्यं वृणोतेरथापि वरतमम् ।

यद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम् । [ऋ० ८-२५-१३]

तद्वार्यं वृणीमहे वर्षिष्ठं गोपायितव्यम् । गोपायितारो यूयं स्थ युष्मभ्यमिति वा ।

'वार्यम्' पद 'वृ' ['वृञ् वरणे' स्वा०] धातुसे बनता है और वरतम श्रेष्ठतमको भी वार्य कहते हैं ।' हम उस वरण करने योग्य तथा रमणीयका वरण करते हैं ।

उस वरणीय और [वर्षिष्ठ] सबसे महान् स्वीकार करते हैं । [उसकी शरण जाते हैं । तुम जिसके रक्षक हो अथवा जो तुम्हारी रक्षा करनेवाला है ।

सुत स्वसूररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम् ।

अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन् वव्रिमविदत् पूषणस्य ॥

[ऋ० १०-५-५]

इस 'वावशानः' पदकी व्याख्या निरुक्तकार निम्नप्रकार करते हैं—'वावशानः' इत्यादि ।

५. वार्यम्—इस पादका छठा पद 'वार्यम्' है । इसका अर्थ वरण करनेयोग्य अथवा श्रेष्ठतम होता है । इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रखण्ड दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है —

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम् ।

मित्रो यत्पान्ति वरुणो यदर्यमा ॥

[ऋ० ८-२५-१३]

यास्क इस 'वार्यम्' पदकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'वृणीते' इत्यादि ।

यह 'वार्यम्' पदके प्रयोगके उदाहरणरूप मन्त्रभागका अर्थ है । आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'तद्' इत्यादि ।

अन्ध इत्यन्ननाम, आध्यानीयं भवति ।

आमत्रेभिः सिञ्चतामद्यमन्धः ॥ [ऋ० २-१४-१]

आसिञ्चताम्त्रैर्मदनीयमन्धः । अमत्रं पात्रममा अस्मिन्नदन्ति । अमा पुनरनिर्मितं भवति । पात्रं पानात् ।

तमोऽप्यन्ध उच्यते । नास्मिन् ध्यानं भवति, न दर्शनम् ।

'अन्धः' यह अन्नका वाचक है, क्योंकि ध्यान करने योग्य होता है । [जैसे—हे अध्वर्यवो, अमत्रेभिः अर्थात् पात्रों] चमसोंसे [मद्यम् अर्थात्] उत्साह-वर्द्धक [अन्धः अन्न अर्थात्] सोमरसको [सोमरससे] सींचो । [सोमरसको अग्निमें डालो] ।

पात्रोंके द्वारा आनन्ददायक अन्नको [सोमको आसिंचत] अग्निमें डालो । 'अमत्र' पात्रको कहते हैं । अमा अर्थात् अमित [वहुतसे व्यक्ति] जिसमें खाते हैं वह [वहुत बड़ा पात्र अमत्र कहलाता है । इसका मूल अमा शब्द है, अतः उसका अर्थ करते हैं] और 'अमा' का अर्थ [अनिर्मितम् अर्थात्] अमित [बहुत बड़ा] होता है । 'पात्र' शब्द पान करनेसे [अर्थात् 'पा पाने' धातुसे बनता] है ।

---

६. अन्ध इस पादका छठा पद 'अन्ध' है । इसके दो अर्थ हैं एक अन्न और दूसरा ध्यान करने योग्य । इसकी व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं—'अन्धः' इत्यादि ।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ । आगे यास्क अपनी पद्धतिसे इसकी व्याख्या करते हैं—'आसिञ्चत' इत्यादि ।

'अन्धस्' पदका प्रयोग दिखलानेके लिए यहाँ जो मन्त्रभाग उद्धृत किया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः ।
कामी हि वीरः सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि ॥

[ऋ० २-१४-१]

अधन्तम इत्यभिभाषन्ते । अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव ।

पश्यंदक्ष्ण्वान्न वि चे॑तदुन्धः । [ऋ० १-१६४-१६]

इत्यपि निगमो भवति ॥१॥

[२]

असंश्चन्ती भूरि॑धारे पय॑स्वती । [ऋ० ६-७०-२]

[तम अर्थात्] अन्धकारको भी 'अन्धस्' कहते हैं। क्योंकि इस [अन्धकार] में ध्यान अर्थात् दर्शन नहीं होता है। इसीलिए [गाढ अन्धकार अर्थात् अदर्शनरूप अन्धकार] 'अन्धं तमः' कहा जाता है। यह दूसरा अन्धा [पुरुष] भी इसी कारणसे [अर्थात् न देख सकनेके कारण] ही 'अन्ध' कहलाता है। [और आँखें होते हुए भी किसी बातको न देख सकनेवाला अर्थात् न समझ सकनेवाला पुरुष भी अन्धा कहा जाता है जैसे कि] 'आँखोंवाला और देखते हुए भी न समझनेवाला अन्धा होता है' यह भी वेदमें पाया जाता है ॥१॥

[२]

[असश्चन्ती अर्थात्] परस्पर न मिलनेवाले [दूर-दूर स्थित 'भूरिधारे'] सारे जगत्को धारण करनेवाले [पयस्वती] जलसे परिपूर्ण और [शुचिव्रते पवित्र लोकोपकाररूप व्रतको धारण करनेवाले द्यावा-पृथिवी 'घृतं दुहाते' जलको प्रदान करनेवाले हैं। 'घृतम्'का अर्थ जल है। वे 'सुकृते' शोभन कर्मोंके करनेवाले तथा 'अस्य भुवनस्य राजन्ती' इस संसारके राजा रक्षण और पालन करनेवाले हैं।

यह जो 'पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः' वाक्य यहाँ उद्धृत किया है वह पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है—

स्त्रियः॑ सतीस्ताँ उ॑ मे पुंस आ॑हुः पश्य॑दक्ष॒ण्वान्न वि चे॑तदुन्धः ।

कुविर्यः॑ पुत्रः स ई॒मा चि॑केत॒ यस्ता वि॑जा॒नात्स पितुष्पि॒तास॑त् ॥

[ऋ० १–१६४–१६]

असज्यमाने इति वा अव्युदस्यन्त्याविति वा बहुधारे उदकवत्यौ।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्माऽनवगतसंस्कारो भवति ।

वंनुयामं वनुष्यतः। [ऋ० ८-४०-७] इत्यपि निगमो भवति।

[असश्चन्ती अर्थात्] असज्यमाने परस्पर मिलनेवाले अथवा अव्युदस्यन्त्यौ एक दूसरेको न हटानेवाले अर्थात् परस्पर मिले हुए, [भूरिधारे अर्थात्] बहुतोंको धारण करनेवाले [पयस्वती अर्थात्] जलसे परिपूर्ण द्यावा-पृथिवी]।

८. वनुष्यति—'वनुष्यति' यह पद हननार्थक और अनवगत-संस्कारवाला पद है। [वनुयाम वनुष्यतः अर्थात्] 'हिंसा करनेवाले या सतानेवालेको हम नष्ट कर डालें' यह भी वेदमन्त्र [इस 'वनुष्य' धातुका प्रयोग दिखलानेवाला] मिलता है।

---

७. असश्चन्ती—पंचमाध्यायके व्याख्यातव्य शब्दोंमें सातवाँ शब्द 'असश्चन्ती' है। यास्कने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) 'असज्यमाने' अर्थात् एक-दूसरेके साथ न जुड़े हुए, पृथक् स्थित और (२) 'अव्युदस्यन्त्यौ' अर्थात् न हटनेवाले संयुक्त या मिश्रित। उदाहरणरूपमें जो मन्त्र-खण्ड दिया है। वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

असंश्चन्ती भूरिंधारे पर्यस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिंव्रते।
राजंन्ती अस्य भुवंनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुंर्हितम्॥

[ऋ० ६-७०-२]

इस मन्त्रकी देवता 'द्यावा-पृथिव्यौ' हैं। मन्त्रके पूर्वार्द्धमें आये हुए सारे पद उन दोनोंके गुणवाचक विशेषण पद हैं। मन्त्रके अन्तमें 'अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्' यह मुख्य प्रार्थना की गयी है। इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्यके लिए हितकर है इस प्रकारका 'रेतस्' इसको प्रदान कीजिये। 'रेतस्'का अर्थ जल भी हो सकता है और वीर्य या पराक्रम भी। उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये गये मन्त्रके प्रारम्भिक भागमें 'असश्चन्ती' आदि पद द्यावा-पृथिवीके विशेषण हैं।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'असज्यमाने' इत्यादि।

दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ॥
[ऋ० ७-८२-१]

दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु ।

[यः दूढ्यः यः दुर्धीः] जो मूर्ख आदमी [दीर्घप्रयज्युमति] दीर्घ सत्र अर्थात् बड़े-बड़े महायाग करनेवालेको [वनुष्यति]हानि पहुँचाना या उसकी हिंसा करना चाहता है [वयं पृतनासु जयेम] हम युद्ध करके बल द्वारा उसपर विजय प्राप्त करें ।

[दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति अर्थात्] बड़े-बड़े यज्ञोंको करनेवालेको जो मारना या हानि पहुँचाना चाहता है उस [दूढ्यं दर्धियं पापधियं] मूर्ख पापबुद्धिपर [वयं पृतनासु जयेम] हम युद्धोंमें विजय

यह मन्त्रका थोड़ासा भाग ही यहाँ उद्धृत किया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यदिन्द्राग्नी जना इमे विह्वयन्ते तना गिरा ।
अस्माकेभिर्नृभिर्वयं सासह्याम पृतन्यतो
वनुयाम वनुष्यतो नभंतामन्यके समे ॥ [ऋ० ८-४०-७]

इस मन्त्रमें 'वनुयाम' और 'वनुष्यतः' पदोंका प्रयोग पाया जाता है । 'वनुष्यति' पदका नहीं । इसलिए अगला एक ऐसा मन्त्र और उद्धृत करते हैं जिसमें साक्षात् 'वनुष्यति' पद प्रयुक्त हुआ है। मन्त्रका अर्थ ऊपर निर्दिष्ट है ।

यह मन्त्रका अर्थ है । आगे यास्क उसकी व्याख्या करते हैं—'दीर्घ०' इत्यादि ।

यह जो दूसरा मन्त्र 'वनुष्यति' पदके उदाहरणरूपमें दिया है वह भी मन्त्रका केवल उत्तरार्द्ध भाग है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम् ।
दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ॥ [ऋ० ७-८२-१]

दूढ्यं दुर्धियं पापधियम् । पापः पाता अपेयानाम् । पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा । पापत्यतेर्वा स्यात् ।

तरुष्यतिरप्येवंकर्मा । इन्द्रे॑ण युजा त॑रुषेम वृत्रम् ॥
[ऋ० ७-४८-२]

इत्यपि निगमो भवति ।

भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।

प्राप्त करें । [आगे निरुक्तकार प्रसक्तानुप्रसक्त 'पाप' शब्दका निर्वचन करते हैं—] अपेय मद्यादिका पान करनेवाला 'पाप' कहलाता है । अथवा पतित होनेपर अधिकाधिक पतित हो जाता है, इसलिए 'पाप' कहलाता है । [यह 'पाप' शब्द पापी पुरुषका वाचक है । स्वयं पापका वाचक नहीं है । अथवा बार-बार गिरनेवाला इस अर्थके सूचनार्थ] 'पत' धातुका यङ् लुगन्तका प्रयोग है ।

९. तरुष्यति—'तरुष्ययति' पद भी इस अर्थ में है [अर्थात् हिंसार्थक हैं] । जैसे—'इन्द्रके साथ मिलकर हम वृत्रका नाश करें' यह वेदमन्त्र भी तरुष्यति धातुका हिंसार्थमें प्रयोग दिखलानेवाला] पाया जाता है ।

१०. भन्दना—भन्दना पद स्तुत्यर्थक 'भदि' धातुसे बनता है ।

ऋ॒भुर्ऋ॒भुभि॑र॒भि वः॑ स्याम॒ विभ्वो॑ वि॒भुभिः॒ शव॑सा शवां॑सि ।
वाजो॑ अ॒स्माँ अ॑वतु॒ वाज॑साता॒विन्द्रे॑ण यु॒जा त॑रुषेम वृ॒त्रम् ॥
[ऋ० ७-४८-२]

यह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

पि॒ता य॒ज्ञाना॒मसु॑रो विप॒श्चितां॑ वि॒मान॑म॒ग्निर्व॒युनं॑ च वा॒घता॑म् ।
आवि॑वेश॒ रोद॑सी॒ भूरि॑वर्पसा पुरु॒प्रियो॑ भन्दते॒ धाम॑भिः क॒विः ॥
[ऋ० ३-३-४]

'इसमें एक ही वैश्वानर अग्निका 'यज्ञोंका पिता', 'विपश्चिताम् असुरः', 'विद्वानोंका प्राणदाता', 'वाघतां वयुनं' और बुद्धिमानोंका प्रशंसापात्र आदि अनेक

पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः ॥ [ऋ० ३-३-४]

इत्यपि निगमो भवति ।

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः । [ऋ० ९-८६-४१] इति च ।

अन्येन मदाहनो याहि तूयम् ॥ [ऋ० १०-१०-८]

[उसका अर्थ स्तुति करना या स्तुति है। जैसे—पुरुप्रियः] सबका प्रिय और [कवि] विद्वान् [अग्निः अर्थात् अग्रणी] नेता [धामभिः] अपने प्रभावके द्वारा [भदन्ते अर्थात्] स्तुतिको प्राप्त करता है। यह भी निगम पाया जाता है।

और [वह] समग्र मनुष्य-समुदाय [अहर्दिव] रात-दिन आपकी [प्रजावतीः] उत्तम सृष्टिरचना-विषयक [भन्दनाः] स्तुतियोंको [उदियर्ति] उच्चारण करता है। यह भी [भन्दना पदके प्रयोगको दिखलानेवाला वेदमन्त्र पाया जाता है]।

रूपोंमें उल्लेख किया गया है; इसलिए यह 'उल्लेखालंकार'का उदाहरण है। 'क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्। एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥' यह उल्लेखालंकारका लक्षण है। इसमें ग्रहीताओंके भेदसे एक ही वैश्वानर अग्निका अनेकधा उल्लेख होनेसे यह उल्लेखालंकारका उदाहरण बनता है।

'भन्दना' पदकी व्याख्याके प्रसंगमें यह मन्त्र उद्धृत किया गया है। किन्तु इसमें 'भन्दना' पदका नाम या संज्ञावाचक पदके रूपमें प्रयोग न होकर उससे बनी हुई 'भन्दते' इस क्रियापदके रूपमें प्रयोग पाया जाता है। इसलिए 'भन्दना' इस संज्ञा पदके रूपमें प्रयोग दिखलानेके लिए दूसरा उदाहरण आगे दिया गया है। यह दूसरा मन्त्र भी पूरा उद्धृत नहीं किया गया है। पूरा मन्त्र-निम्नप्रकार है—

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीर्विश्वायुर्विश्वाः सुभरा अहर्दिवि ।
ब्रह्म प्रजावद्रयिमश्वपस्त्यं पीत इन्द्रविन्द्रमस्मभ्यं याचतात् ॥

[ऋ० ९-८६-४१]

अन्येन मदहननो गच्छ क्षिप्रम् । आहंसि इव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवत्येतस्मादाहनः स्यात् ।

ऋषिर्नदो भवति, नदतेः स्तुतिकर्मणः ।

नुदस्य मा रुधुतः काम आगंन् । [ऋ० १-१७९-४]

---

११. आहनः—[हे आहनः पुरुषको वन्धनमें डालकर] हे आघात कारिणि प्रकृति ! मुझ [श्रेयोमार्गी पुरुष] को छोड़कर [अन्येन याहि] दूसरे प्रेयोमार्गी [पुरुष] के पास जा [तूयं] शीघ्र [याहि] भाग जा ।

आघात करनेवाली हे यमी [प्रकृति], मुझे छोड़कर दूसरेके पास जा । तू बोलती हुई आघात-सा करती है [इसलिए यमीके लिए यहाँ आहना प्रयोग किया गया है], क्योंकि असभ्य भाषणके द्वारा आहननसा करती है । इसीसे पुल्लिंगमें 'आहनः' पद बना है ।

१२. नदः—'नद' यह ऋषिका वाचक पद है । वह स्तुत्यर्थक 'नद' धातुसे बनता है । [इसका उदाहरण देते हैं । जैसे 'रुधतः' अर्थात्] इन्द्रियोंका निरोध करनेवाले [नदस्य] ऋषिका काम [अर्थात् भोग-वासना] मुझ [लोपामुद्रा] में आ गया ।

यह मन्त्रके उद्धृत भागका अर्थ है । यह यम-यमी-सूक्तके मन्त्रका एक टुकड़ा है । पूरा मन्त्र देकर उसकी व्याख्या पहिले पृ० ४५३ पर कर चुके हैं । आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे इस भागकी व्याख्या करते हैं—'अन्येन' इत्यादि ।

यह इस मन्त्रभागका अर्थ है । आगे ग्रन्थकार इसकी व्याख्या करते हैं—'नदनस्य' इत्यादि ।

नदनस्य मा रुधतः काम आगमत् । संरुद्धप्रजनस्य ब्रह्मचारिणः । इति ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ॥२॥

[३]

न यस्य॒ द्यावा॑पृथि॒वी न धन्व॒ नान्तरि॑क्षं॒ नाद्र॑यः॒ सोमो॑ अक्षाः । [ऋ० १०-८९-६] अश्नोतेरित्येके ।

नदन अर्थात् स्तुति करनेवाले रुधतः अर्थात् सन्तानोत्पादन यज्ञका निरोध करनेवाले ब्रह्मचारीका काम मुझमें आ गया । इसको [कुछ व्याख्याकार] ऋषिपुत्री [लोपामुद्रा]का विलाप बतलाते हैं ॥२॥

[३]

जिसके प्रभावको न द्यावा-पृथिवी प्राप्त कर सकते हैं, जान सकते हैं, [न धन्व] समुद्र [या मरुस्थल] समझ सकता है और न अन्तरिक्ष जान पाता है । केवल [सोमो अक्षाः] सोम ही उसको पहुँच पाता [व्याप्त कर पाता] है ।

[इस मन्त्रमें आया हुआ अक्षाः 'पद']'अशूङ् व्याप्तौ' धातुसे बना है यह कुछ व्याख्याकार मानते हैं ।

यह मन्त्र यहाँ थोड़ा-सा ही उद्धृत किया गया है । पूरा मन्त्र निम्न-प्रकार है—

न॒दस्य॑ मा रुध॒तः काम॒ आग॑न्नि॒त आजा॑तो अ॒मुतः॒ कुत॑श्चित् ।
लोपा॑मुद्रा॒ वृष॑णं॒ नीरि॑णाति॒ धीर॒मधी॑रा धयति श्व॒सन्त॑म् ॥

[ऋ० १-१७९-४]

इस मन्त्रमें 'लोपामुद्रा' पद आया है । महाभारत आदिमें 'लोपामुद्रा' अगस्त्य ऋषिकी पत्नी बतलायी जाती है । इस सूक्तमें, छठे मन्त्रमें, अगस्त्य और इस मंत्रमें लोपामुद्रा' पद आनेके कारण ही वेदोंमें अनित्य इतिहास माननेवाले व्याख्याकार इस सूक्तमें अगस्त्य तथा लोपामुद्राके संवादको इतिहास मानते हैं । वे ही व्याख्याकार इसे ऋषिपुत्री लोपामुद्राका विलाप बतलाते हैं ।

स्कन्दस्वामीने अनित्य इतिहास न माननेवाले पक्षमें इस मन्त्रकी संगति लगाते हुए लिखा है—

'नित्यपक्षे तु काचिद् ब्राह्मणी पत्यौ प्रव्रजिते कामार्ता प्रब्रवीतीति योज्यम्। लोपामुद्रेति। मुद्रेति उत्सेकलुप्तोत्सेका विनयाच्छिन्नमन्मथा। अन्यत् समानम्। अथवा पत्युर्गमने ब्रह्मचर्यनिर्विण्णा भार्या अस्यामवस्थायां नोपेक्षितव्या इत्यर्थ आर्तवे।'

१३ अक्षाः—इस अध्यायका अगला शब्द 'अक्षाः' है। निघण्टुमें 'सोमो अक्षाः' पद दिया है। इसका अर्थ व्याप्त करना है। यास्कने इसे 'अशूङ् व्याप्तौ' धातुसे निष्पन्न बतलाया है। इसलिए उसका अर्थ व्याप्त करना, पहुँचना या जाना होता है। इसके उदाहरणरूपमें दिया मन्त्र अधूरा है। पूरा मन्त्र निम्न-प्रकार है—

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि॥

[ऋ० १०–८९–६]

इस मन्त्रका देवता इन्द्र है। जिस इन्द्रका 'अधिनीयमानः मन्युः' वृद्धिको प्राप्त हुआ क्रोध 'वीळु' कठोर पदार्थोंको भी 'शृणाति' नष्ट कर डालता है और 'स्थिराणि' स्थिर रहनेवाले पर्वतादिको भी 'रुजति' विनष्ट कर देता है। [शेष भागका अर्थ मूलार्थमें द्र०]।

यह जो मन्त्र दिया है इसमें 'अक्षाः' पद व्याप्त्यर्थक 'अशूङ्' धातुसे बना है। किन्तु अन्यत्र 'क्षि निवासे' तथा 'क्षर संचलने' धातुओंसे भी 'अक्षाः' पदकी सिद्धि मानी गयी है। इसलिए ग्रन्थकार अगला एक और मन्त्र देते हैं जिसमें 'अक्षाः' शब्दका प्रयोग दो बार हुआ है। और दोनों जगह उसके स्वरूपमें समानता होते हुए भी अर्थमें भेद पाया जाता है। यह मन्त्र भी मूलमें अधूरा दिया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन् मन्दी मदाय तोशते॥ [ऋ० ९-१०७-९]

मन्त्रका देवता पवमान सोम है और उसमें गौकी महिमाका वर्णन है। उसका अर्थ है— 'जव' इत्यादि।

अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः ।

[ऋ० ९-१०७-९]

(लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः । [ऋ० १०-२८-४])

क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके । अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियति अथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति । सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः ।

जब [गोमान् अर्थात्] गौओंका स्वामी [गोभिः] गौओंके साथ [अनूपे] जलके समीपवर्ती हरे-भरे प्रदेशमें [अक्षाः 'क्षि निवासे'] निवास करता है तब [समुद्रं न] समुद्रके समान [संवरणानि अर्थात्] उमड़ता हुआ [सोमः] दूध [दुग्धाभिः] दुही जानेवाली गौओंसे [अक्षाः क्षरति] प्रवाहित होता है [और 'मन्दी' प्रसन्नवदन गोस्वामी 'मदाय तोशते' आनन्दकारक दुग्धका सेवन करता है] ।

[इस मन्त्रमें] पहिला [अक्षाः शब्द] निवासार्थक ['क्षि निवासे' धातुसे बना] है । और दूसरा [अक्षाः शब्द 'क्षर संचलने' धातुसे बना होनेसे] क्षरणार्थक है यह कुछ व्याख्याकार मानते हैं । जब गौओंके साथ जलके समीपवर्ती हरे-भरे प्रदेशमें रहता है तब दुही जानेवाली गौओंसे सोम अर्थात् दुग्ध [प्रचुर मात्रामें] निकलता है । यह इस मन्त्रभागका अर्थ है ।

शाकपूणिका मत यह है कि [पहिले मन्त्रमें तथा दूसरे मन्त्रमें दो बार प्रयुक्त होनेवाले] ये सारे [तीनों 'अक्षाः' शब्द] निवासार्थक ही हैं ।

मन्त्रमें 'अनूप' पद आया है । नदी आदि जलके समीपवर्ती इसलिए सदा हरे-भरे रहनेवाले प्रदेशको अनूप कहते हैं । जैसा कि अमरकोशके टीकाकारने लिखा है—

'नानाद्रुम-लता-वीरुन्निर्झरप्रान्तशीतलैः ।
वनैर्व्याप्तमनूपं तत् सस्यव्रीहि-यवादिभिः ॥'

स पं॒त॒त्री॑त्व॒रं स्था जग॒द्यच्छ्वा॒त्रम॒ग्निर॑कृणोज्जा॒तवे॑दाः ।
[ऋ० १०-८८-४]

स पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च तत्तत् क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः ।

---

१४. श्वात्रम्—'श्वात्रम्' यह शीघ्रवाचक है। क्योंकि 'आशु अतन' शीघ्र चला जानेवाला होता है। ['श्वात्रं' पदके प्रयोगका उदाहरण देते हैं]—

उस [जातवेदा अर्थात्] सर्वज्ञ [अग्नि] परमात्माने [पतत्रि] उड़नेवाले [इत्वरं अर्थात् नभश्चर], [इत्वरं अर्थात्] गतिशील [भूचर और स्थावर] वृक्षादि तथा जंगम सभी पदार्थोंको [श्वात्रम् अकृणोत्] शीघ्रतासे [अनायास] बना दिया।

उस [जातवेदाः]अग्नि या परमात्माने उड़नेवाला [नभश्चर] और चलनेवाला [स्थलचर] एवं जो कुछ स्थावर जंगमात्मक जगत् है उस सबको शीघ्रतासे झटपट बना दिया।

इस मन्त्रमें 'गोभिरक्षाः' और 'दुग्धाभिरक्षाः', 'अक्षाः'. तथा 'रक्षाः' अथवा 'भिरक्षाः' इन वर्णोंकी दो वार उसी क्रमसे आवृत्ति हुई। इस प्रकार स्वर-व्यंजन-संघातकी आवृत्तिको साहित्यशास्त्रमें यमक नामक शब्दालंकार कहा जाता है। उसमें आवृत्त हुए वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थमें भेद होना आवश्यक माना गया है। 'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥' इस लक्षणके अनुसार इस मन्त्रमें यमकालंकार है।

यह मन्त्रभागका अर्थ है। आगे यास्क स्वयं उसकी व्याख्या करते हैं—'सः' इत्यादि।

यह मन्त्र भी आधा यहाँ दिया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यो होतासी॑त् प्र॒थमो दे॒वजु॑ष्टो यं स॒माञ्ज॒न्नाज्ये॑ना वृणा॒नाः ।
स पं॒त॒त्री॑त्व॒रं स्था जग॒द्यच्छ्वा॒त्रम॒ग्निर॑कृणोज्जा॒तवे॑दाः ॥
[ऋ० १०-८८-४]

ऊतिः अवनात् । आ त्वा रथं यथोतये [ऋ० ८-६८-१]
इत्यपि निगमो भवति ।
हासमाने इत्युपरिष्टात् [निरु० ९-३९] व्याख्यास्यामः ।
वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम् । [ऋ० १०-९९-१२]

---

१५. ऊतिः—ऊतिः [पद 'अव रक्षणे' धातुसे 'ऊति-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च' [अष्टा० ३-३-९७] इस सूत्रसे सिद्ध किया गया है। [इसलिए] रक्षण करनेसे ऊति कहलाता है। 'अपनी रक्षाके लिए हम रथके समान आपका आश्रय लेते हैं' यह निगम भी इसके उदाहरणरूपमें] पाया जाता है।

१६. हासमाने—'हासमाने' इसकी व्याख्या आगे [९-३९ में] करेंगे।

१७. पड्भि—[वम्रकः वमन कर देनेवाला अर्थात्] दुष्प्रवृत्तियोंका परित्याग कर देनेवाला साधक [पड्भिः अर्थात्] सोमपानादिके द्वारा अथवा सद्गुणोंके स्पर्शके द्वारा इन्द्र परमात्माको प्राप्त करता है।

ऊपर निर्दिष्ट उदाहरणरूप मन्त्रखण्ड जिस मन्त्रसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते ॥ [ऋ० ८-६८-१]

यह 'पड्भिः' पदके प्रयोगका उदाहरण जहाँसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम् ।
स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः ॥

[ऋ० १०-९९-१२]

१८ ससम्—'ससम्' पदका अर्थ यास्कने 'माध्यमिक ज्योतिः' अर्थात् विद्युत् किया है। 'स्वप्' धातुसे उसकी सिद्धि करके सोनेवाला जैसे 'अनित्य-दर्शन'

पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा । सुसं न पुक्वमविदच्छुचन्तम् । (ऋ० १०-७९-३] स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम् । तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम् ।

द्विता च सत्ता' च स्वधया' च शम्भुः । [ऋ० ३-१७-५]

[पक्वं] प्रकट हुए [शुचन्तं] दीप्यमान [ससं न] विद्युत्के समान [कुमारम्] पुत्रको पिता [अविदत्] प्राप्त करता है।

स्वपनम् अर्थात् सोते हुएसे [यह ससम् पदका मूल है उसका अर्थ] यह अनित्य दर्शनवाला अर्थात् सदा दिखलायी न देनेवाला [माध्यमिक ज्योति अर्थात्] विद्युत् है उस विद्युत्के समान जाज्वल्यमान [पुत्रको पिता] प्राप्त करता है।

१९. द्विता—[जगत्के भीतर और उसके बाहर सर्वत्र व्यापक होनेसे] जिसकी दो प्रकारकी सत्ता है और जो [स्वधया अर्थात्] अन्नादिप्रदान करके जगत्के लिए [शम्भुः] कल्याणप्रद है।

होता है अर्थात् सदा दिखलायी नहीं देता है। इसी प्रकार विद्युत् भी सदा दिखलायी नहीं देती है। कभी कभी चमक जाती है। इसी साम्यके आधारपर यास्कने 'स्वप्' धातुके साथ 'ससम्' पदका सम्बन्ध जोड़कर 'ससम्' का अर्थ 'अनित्यदर्शन माध्यमिक ज्योतिः' अर्थात् सदा दिखलायी न देनेवाली विद्युत् किया है। उसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्रभाग दिया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

प्र-मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।
ससं न पुक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥

[ऋ० १०-७९-३]

यह 'ससम्' पदके प्रयोगका उदाहरण है। आगे यास्क उसका निर्वचन करते हैं—'स्वपनम् इत्यादि।

द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च । शम्भुः सुखभः ।
मृगं न व्रा मृगयन्ते । [ऋ० ८-२-६]
मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः ॥३॥

[४]

वराहः मेघो भवति वराहारः । 'वरमाहारमाहार्षीः' इति च

मध्यम स्थानमें और उत्तम स्थानमें दोनों जगह जिसकी सत्ता है । शम्भुः अर्थात् सुखका प्रदाता है ।

२०. व्राः—[व्राः व्रात्य] शिकारी भृत्य जिस प्रकार [मृग] सिंह आदिको खोजते हैं ।

व्रात्य अर्थात् [प्रैष] भृत्यगण जैसे मृग [सिंहादि] को खोजते हैं । इस प्रकार दूसरे शत्रुगण [जिसकी खोज करते हैं] ॥३॥

[४]

२१. वराहः—'वराह' मेघका नाम है । क्योंकि उत्तम आहार [अन्नादि] को देनेवाला होता है । जैसे कि 'तू उत्तम आहारको [पृथिवीपर] लाया [इसलिए हे मेघ ! तुझको वराह कहा जाता है]'

यह इस उदाहरणभागका अर्थ है । इसीको आगे यास्क अपने शब्दोंमें दिखलाते हैं—'द्वैधम्' इत्यादि ।

यह अधूरा मन्त्र यहाँ दिया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः ।
तस्यानु धर्म प्रयजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ ॥

[ऋ० ३-१७-५]

इस मन्त्रभागमें 'व्राः' पदका प्रयोग पाया जाता है । आगे यास्क उसका अर्थ करते हैं—'मृगमिव' इत्यादि ।

यह मन्त्र भी आधा ही यहाँ दिया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते ।
अभित्सरन्ति धेनुभिः ॥

[ऋ० ८-२-६]

ब्राह्मणम् । विध्यंद्वराहं तिरो अद्रिमस्तां । [ऋ० १-६१-७] इत्यपि निगमो भवति ।

यह ब्राह्मण [ग्रन्थमें वराह पदका निर्वचन] पाया जाता है। '[वराहं विध्यद्] मेघका भेदन करके [अहिम्] वृत्रको अथवा जलको [तिरः अस्ता] नीचे फेंक देता है।' यह भी [वराह पदका मेघ अर्थमें प्रयोग दिखलानेवाला] मन्त्र पाया जाता है।

यह अधूरा मन्त्रभाग ही यहाँ दिया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना ।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥

[ऋ० १-६१-७]

इस स्थलपर 'वराह' पद मेघका वाचक बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त निरुक्तके द्वितीय अध्यायके २२ वें खण्डमें 'वराह' शब्दको पर्वतवाचक भी बतलाया गया है और लोकमें 'वराह' शब्द शूकरके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। मेघपक्षमें उत्तम आहारका प्रदान करनेवाला होनेसे मेघको वराह कहा गया है। 'पर्वत' अर्थमें प्रयुक्त होनेपर भी वराह पदका इसी प्रकारका निर्वचन समझना चाहिये। क्योंकि पर्वतपर भी फल, मूल, औषधि आदि उत्तम आहार प्राप्त होता है। किन्तु शूकर अर्थमें प्रयुक्त होनेपर उसका निर्वचन 'वरं वरं मूलं वृहति' उत्तम उत्तम मुस्ता आदि औषधियोंको खोदकर खाता है, इसलिए 'वराह' कहलाता है इस प्रकारका निर्वचन करना होगा। इसी निर्वचनके अनुसार कालिदासने 'विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले' इस पद्यखण्डमें वराहपतियोंकी 'मुस्ताक्षतिः' अर्थात् मुस्ता औषधिकी जड़को खोदकर खानेका वर्णन किया है। इसलिए अगली पंक्तिमें यास्क पर्वतवाचक तथा शूकरवाचक रूपमें प्रयुक्त होनेवाले 'वराह' पदके दो प्रकारके निर्वचन दिखलाते हैं— 'अयम०' इत्यादि।

अयमपीतरो वराहः एतस्मादेव। वृहति मूलानि। वरं वरं मूलं वृहतीति वा। वराहमिन्द्र एमुषम्। [ऋ० ८-७७-१०] इत्यपि निगमो भवति।

यह दूसरा [पर्वत-वाचक] 'वराह' पद भी इसी कारणसे है [अर्थात् उत्तम फल, मूलादि आहारको प्रदान करनेवाला होनेसे पर्वतको 'वराह' कहा जाता है। आगे शूकर-वाचक वराह पदका निर्वचन करते हैं—'वृहति मूलानि' अर्थात्] जड़ोंको खोदता है अथवा उत्तम-उत्तम मूलोंको खोदता है [इसलिए शूकरको 'वराह' कहा जाता है। आगे उसके प्रयोगका उदाहरण देते हैं]—हे इन्द्र, [त्वा ईषितः] आपके द्वारा प्रेरित किये हुए ['उरुक्रमः विष्णुः'] महापराक्रमी विष्णु अर्थात् सूर्य अथवा मेघने [विश्वा इत् ता] इन सभी वस्तुओंको [आभरत्] सूर्यपक्षमें अपने प्रकाशसे और मेघ-पक्षमें जलसे परिपूर्ण कर दिया। जिन वस्तुओंको भर दिया उनको गिनाते हैं—[शतं महिषान्] सैकड़ों अगणित [महिषान्] महिस्थान अर्थात् भूभागोंको [क्षीरपाकमोदनम्] दुग्धादिको परिपक्व बनानेवाले भक्षीय शस्य आदिको अर्थात् शस्यसे हरे-भरे खेतोंको [एमुषम्] इस जलको अथवा प्रकाशको अपने भीतर छिपा लेनेवाले [वराहम्]पर्वतको [इन सबको महापराक्रमी विष्णु, सूर्य या मेघने अपने प्रकाश अथवा जलसे भर दिया]।

यह मन्त्र यहाँ यास्कने आधा ही उद्धृत किया है। उस आधे मन्त्रका यहाँ अर्थ ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है, इसलिए हमने पूरे मन्त्रका अर्थ ऊपर दिया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥

[ऋ० ८-७७-१०]

यह मन्त्र कठिन मन्त्र है। उसे यों तो 'वराह' पदके मेघसे भिन्न दूसरे पर्वतरूप अर्थमें किये गये प्रयोगके उदाहरणरूपमें उद्धृत किया गया है। किन्तु उसमें 'महिषान्' तथा 'एमुषम्' पद 'वराह' पदसे भी अधिक कठिन पद हैं। इनके अर्थ व्याख्याकारोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये हैं। दुर्गाचार्यने 'शतं महिषान्—बहून् महतो यज्ञान्' यह 'महिषान्' शब्दका अर्थ किया है और 'एमुषम्'का अर्थ 'एमुषम्—मोहस्थानीयम्' किया है। स्कन्दस्वामीने 'शतं महिषान्—शतसंख्याकांश्च महिषाख्यान् पशून्। अथवा शतशब्दो बहुनाम महिष इत्यपि महन्नाम। बहून् महतश्च। कान्? सामर्थ्याद् यज्ञान्' यह अर्थ किया है। हमने 'महिषान्' का अर्थ 'महिस्थानानि' अर्थात् भूभाग और 'एमुषम्' का अर्थ 'विष्णुके अर्थात् सूर्यके अथवा मेघके प्रकाश अथवा जलको छिपा लेनेवाले किया है। दूसरे व्याख्याकार इस मन्त्र तथा इससे पहिलेवाले 'अस्येदु मातुः' वाले दोनों मन्त्रोंकी इतिहासपरक व्याख्या करते हैं। उनके मतका उल्लेख करते हुए स्कन्दस्वामीने लिखा है—

'ऐतिहासिकास्तु द्वे अप्येते ऋचावन्यथा व्याचक्षते। अत्र च चरकब्राह्मणे पठितमितिहासमाचक्षते। विष्णुर्यज्ञः। स देवेभ्य आत्मानमन्तरधात्। तमन्यदेवता नाविदन्। इन्द्रस्त्ववेत्। स इन्द्रमब्रवीत् को भवानिति? तमिन्द्रः प्रत्यब्रवीत् अहं दुर्गाणामसुराणां च हन्ता इति। ततोऽयं वराह एमुष एकविंशत्याः पुरां पारे अश्मन्मयीनां वसति। तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति। तमिमं जहाति। तस्य इन्द्रस्ताः पुरो हित्वा हृदयमन्विध्यात्। अथ यत्र यदासीत् तद्विष्णुराभरदिति। तदेतेन मन्त्रद्वयेनोच्यते।

यद्यपि 'अस्येदु' इत्यादि पहिला मन्त्र प्रथम मण्डलका और 'विश्वेत्ता' आदि दूसरा मन्त्र अष्टम मण्डलका होनेसे उनमें साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। फिर भी ऐतिहासिक व्याख्याकारोंने दोनोंको एक साथ मिलाकर इतिहास-परक व्याख्या कर दी है और उनके आधापर यह कथा भी बना ली है कि यज्ञरूप विष्णु वराहका रूप धारण करके देवताओंसे छिप गये। इन्द्रने जब उनको पहिचान लिया तो वह २१ पुरोंके पार जहाँ असुरोंका धन रहता था वहाँ जा छिपे। किन्तु इन्द्रने उनको वहाँ भी न छोड़ा और उस वराहरूपधारी यज्ञके हृदयका भेदनकर उसको ले आये। ऐतिहासिक व्याख्याकारोंके अनुसार इन मन्त्रोंका

सम्बन्ध इसी कथासे है। स्कन्दस्वामीने ऐतिहासिकोंकी इस व्याख्याका उल्लेख आगे इस प्रकार किया है—

'अस्येदु मातुरिति। सामान्यव्याख्यानं पूर्वार्धर्चम्। एवं पीतसोमो भक्षित-चर्वाद्यन्न इन्द्रो विध्यद् हृद् हृदये विद्धवान्। वराहं वराहनामानमसुरं वराहाकारं वा। तिरः प्राप्तनामैतत् प्राप्तः सन्नित्यर्थः। अद्रिमस्ता इत्युक्तार्थम्। मुषायद् विष्णुस्तदेव च मुषितवान्। पचतं परिपक्वं मोषयोग्यम्। अतिशयेन बलवान्।'

ऐतिहासिक पक्षवालोंने यह 'अस्येदु मातुः' आदि प्रथम मन्त्रकी व्याख्या की है। आगे इस दूसरे मन्त्रके साथ उसका सम्बन्ध दिखलाते हुए स्कन्दस्वामी इस ऐतिहासिक पक्षको निम्नप्रकार प्रस्तुत करते हैं—

किं पुनर्मुषितवान्? उच्यते—विश्वेत्ता तानि तत्र धनानि सर्वाणि। शतं महिषान् क्षीरपाकं चौदनम्। पक्वमात्रमेतद्वा ओदनम्। वराहमसुरम् इन्द्र एमुष-नामानं हृदये विध्यदिति वाक्यशेषः। समानमन्यत् पूर्वेण। एवमितिहासपक्षकाः।

यह जो इतिहासपक्षवालोंने इन दोनों मन्त्रोंकी संगति लगानेका यत्न किया है वह सर्वथा असंगत है। यदि ये दोनों मन्त्र एकसाथ पढ़े हुए होते तो भी कोई बात थी। किन्तु एक प्रथम मण्डलका मन्त्र है उसकी संगति अष्टम मण्डलके मन्त्रके साथ इस प्रकारसे जोड़ना किसी भी दृष्टिसे न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता है। फिर पहिले मन्त्रमें 'वराह' पदका मेघ अर्थमें और दूसरे मन्त्रमें मेघसे भिन्न पर्वत आदिरूप अर्थमें उसका प्रयोग दिखलानेके लिए यह दूसरा मन्त्र दिया गया है। इसलिए भी इसकी संगति पूर्व मन्त्रके साथ जोड़ना उचित नहीं है।

'वराह' शब्दके दो अर्थ देनेके बाद आगे निरुक्तकारने 'अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते' लिखकर 'वराह' शब्दका तीसरा अर्थ अंगिरस भी किया है। किन्तु यह 'अंगिरस' पद स्वयं भी व्याख्याकी अपेक्षा रखता है। वेदमें इतिहास माननेवाले 'अंगिरा' या अंगिरस ऋषिविशेषका नाम मानते हैं। किन्तु इतिहास न मानने-वाले नैरुक्त पक्षमें इसका अर्थ तेजस्वी व्यक्ति होगा। इसके उदाहरणरूपमें ग्रन्थकारने जो मन्त्र दिया है उसमें 'वराहैः' पद विशेषणके रूपमें आया है। 'अंगिरसैः' पद नहीं आया हैं। किन्तु उसी सूक्तके अन्य मन्त्रमें 'अंगरस' पद भी

अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते ।

ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः । [ऋ० १०-६७-७]

अंगिरस [तेजस्वी महापुरुष] भी 'वराह' कहलाते हैं । [जैसे— स ब्रह्मणस्पतिः अर्थात्] वह वेदोंका विद्वान् [वृषभिः] शक्तिशाली ['वराहैः' उत्तम आहारवाले] तेजस्वी मित्रोंके साथ मिलकर [भगवान्का आदर पूजन करता है]।

आया है । उसीका विशेषण 'वराहैः' को मानकर 'अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते' यह पंक्ति यहाँ लिखी गयी है । वे दोनों मन्त्र निम्नप्रकार हैं—

१—ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥
[ऋ० १०-६७-३]

इस मन्त्रका अर्थ यह है कि [ऋतं शंसन्तः] सत्यकी प्रशंसा करनेवाले, [ऋजु दीध्यानाः] सरल धर्म-मार्गका ध्यान रखनेवाले, [दिवस्पुत्रासः] तेजस्वी धर्मात्मा पुरुष, [असुरस्य वीराः] ज्ञानवान् लोगोंके पुत्र [अङ्गिरसः] तेजस्वी महापुरुष [विप्रं पदं दधानाः] विप्र पदको धारण करते हुए [यज्ञस्य धाम] यज्ञस्वरूप परमात्माके मोक्षरूप धामको [प्रथमं मनन्त] सर्वोत्कृष्ट मानते हैं ।

इसमें 'अङ्गिरस' पद आया है । इसीके विशेषणरूपमें अगले मन्त्रमें अन्य अनेक पदोंके साथ 'वराहैः' पद भी प्रयुक्त हुआ है । इसलिए यास्कने अङ्गिरसको 'वराह' नामसे कहा है । वह दूसरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

२—स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं विधनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥
[ऋ० १०-६७-७]

[सत्येभिः] सत्यपरायण [शुचद्भिः] पवित्र [विधनसैः] त्यागशील [वृषभिः] शक्तिशाली [घर्मस्वेदेभिः] परिश्रमशील [सखिभिः] अपने मित्रभूत [वराहैः] उत्तम आहारवाले अंगिरसोंके साथ अर्थात् तेजस्वी विद्वानोंके साथ मिलकर [स ब्रह्मणस्पतिः] वह वेदोंका विद्वान् [ईम् अदर्दः] इस परमात्माका पूजन करता है, आदर करता है ।

अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते ।
पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून् ॥
[ऋ० १-८८-५]

स्वसराणि अहानि भवन्ति स्वयंसाराणि । अपिवा स्वरादित्यो भवति । स एनानि सारयति । उस्रा इव स्वसराणि । [ऋ० १-३-८] इत्यपि निगमो भवति ।

ये माध्यमिक देवगण [अर्थात् मरुत्] भी 'वराह' कहलाते हैं । [जैसे कि निम्न मन्त्रभागमें पाया जाता है] सोनेके समान चमकते हुए चक्रवाले और लोहेके समान दंष्ट्रावाले [अर्थात् लोहेके समान मजबूत कठोर 'विधावतः' आकाशमें] दौड़ते हुए इन [वराहान् पश्यन्] माध्यमिक देवगणों [मरुतों अथवा नक्षत्रों] को देखते हुए । [शेष अर्थ टिप्पणीमें द्र०]

२२. स्वसराणि—स्वसराणि यह दिनोंका वाचक है, क्योंकि वे स्वयं चलनेवाले होते हैं । अथवा 'स्वः' यह आदित्यका नाम है । वह इनको चलाता है । इसलिए दिनके लिए 'स्वसराणि' पदका प्रयोग होता है । [जैसे उस्रा अर्थात्] सूर्यकी रश्मियाँ [स्वसराणि इव] जिस प्रकारसे दिनोंको प्राप्त होती हैं । [शेषार्थ टि० में द्र०]

यह भी निगम ['स्वसराणि' पदका प्रयोग 'दिन' अर्थमें दिखलानेवाला] पाया जाता है ।

इसी मन्त्रका एक भाग ग्रन्थकारने यहाँ 'वराह' पद अंगिरसका भी वाचक है इस बातके सिद्ध करनेके लिए उद्धृत किया है । इसीको यास्कने निम्न प्रकारसे लिखा है—'अङ्गिरसोऽपि' इत्यादि ।

'वराह' पदके तीन अर्थ देनेके बाद अब उसका चौथा अर्थ 'माध्यमिका देवगणाः' देते हैं—'अथाप्येते' इत्यादि ।

शर्या अङ्गुलयो भवन्ति सृजन्ति कर्माणि ।
शर्या इषवः । शरमय्यः । शरः शृणातेः ।
शर्या॑भि॒र्न भर॑माणो॒ गभ॑स्त्योः ॥ [ऋ० ९-११०-५]
अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति यदने-

२३. शर्याः—'शर्याः' अंगुलियोंको कहते हैं, क्योंकि वे कार्योंको करती हैं। 'शर्याः' बाणोंको भी कहते हैं, क्योंकि वे सरकण्डेसे बनते हैं। 'शर' शब्द 'शॄ हिंसायाम्' धातुसे बनता है, इसलिए मारनेवाला होनेसे [बाणको 'शर' कहा जाता है]। उसका उदाहरण देते हैं—[गभस्त्योः भरमाणः अर्थात्] दोनों हाथोंमें [धनुषको पकड़े हुए [शर्याभिर्न] जैसे कोई [शर्याभिः] बाणोंसे [विदीर्ण करता है। इस प्रकार आप 'उत्सं ततर्दिथ' मेघको विदीर्ण करते हो] यह भी निगम [वेदमन्त्र] पाया जाता है।

२४. अर्क—'अर्क' देवको कहते हैं, क्योंकि उसकी अर्चना करते हैं। 'अर्क' मन्त्रको भी कहते हैं, क्योंकि उसके द्वारा अर्चना

हे मरुतः ! हे मरुद्गण [गोतमः] वेदज्ञ विद्वान्ने [वः यत् सस्वः] आप लोगोंको जो कुछ कहा या उपदेश दिया है [उतत् योजनं] इस रहस्यको [त्यत् न] उन अन्य लोगोंके समान [अवेति] आप लोगोंने भली प्रकार समझ लिया।

इस प्रकारसे [अप्तुरः] सर्वत्र पहुँचनेवाले [तूर्णयः] त्वरित गतिवाले [हे विश्वेदेवासः] हे विद्वद्गण, आप लोग [सुतम् आगन्त] यज्ञमें निकाले हुए सोमरसका पान करनेके लिए पधारें]।

यह मन्त्र आधा ही उद्धृत किया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अ॒भ्य॑भि॒ हि श्रव॑सा त॒तर्दि॒थोत्सं॒ न कं चि॑ज्जन॒पान॒मक्षि॑तम् ।
शर्या॑भि॒र्न भर॑माणो॒ गभ॑स्त्योः ॥ [ऋ० ९-११०-५]

नार्चन्ति । अर्कमन्नं भवति अर्चति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना ।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥

[ऋ० १-१०-१]

गायन्ति त्वा गायत्रिणः । प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणः । ब्राह्मणाः त्वा शतक्रतो उद्येमिरे वंशमिव । वंशः वनशयो भवति । वननाच्छ्रूयत इति वा ।

की जाती है । अर्क अन्नको भी कहते हैं, क्योंकि वह प्राणियोंकी पूजा अर्थात् रक्षा करता है । 'अर्क' [आँकके] वृक्षको भी कहते हैं, क्योंकि वह कड़वेपनसे व्याप्त होता है । उसका उदाहरण दिखलाते हैं] ।

हे शतक्रतो परमात्मन् ! [गायत्रिणः त्वा गायन्ति] गायन करनेवाले [आपके गुणोंका] गान करते हैं । [अर्किणः] अर्चना करनेवाले [अर्क] पूजा करने योग्य आपकी [अर्चन्ति] पूजा करते हैं । और [ब्राह्मणाः] वेदपाठी लोग [उद्वंशमिव] उन्नत पताकाके समान [त्वा येमिरे] आपको सदा सर्वत्र प्रकाशित करते रहते हैं ।

[प्रसक्तानुप्रसक्त 'वंश' शब्दका निर्वचन करते हैं]—वंश [अर्थात् बांस [वनशयः अर्थात्] जलमें उत्पन्न होनेवाला होता है । अथवा [वननात् 'वण षण संभक्तौ] अधिक उपयोगमें आनेसे [श्रूयते] प्रसिद्ध होनेसे 'वंश' कहलाता है ।] अथवा बजानेसे सुनायी देता है [इसलिए बाँसरीको 'वंश' कहते हैं] ।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ । आगे निरुक्तकार अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'गायन्ति' इत्यादि ।

पवी रथनेमिर्भवति । यद् विपुनाति भूमिम् ।

उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा ॥[ऋ० ५-५२-९]। तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः [मै० १-१०-१४] इत्यपि निगमो भवति । वक्षः व्याख्यातम् [नि० ४-१६] । धन्व अन्तरिक्षम् । धन्वन्ति यस्मादापः । तिरो धन्वातिरोचते । [ऋ० १०-१८७-२] इत्यपि निगमो भवति ।

---

२५ पविः—'पविः' रथकी नेमि [पहियेके घेरे]को कहते हैं । क्योंकि वह भूमिको उखाड़ती है । [उसका उदाहरण देते हैं—जैसे रथानां पव्या] रथचक्रकी धारसे [ओजसा] बलपूर्वक [अद्रिं भिन्दन्ति] पहाड़को तोड़ देते हैं । [इसीका दूसरा उदाहरण देते हैं–] मरुद्गण उस [पर्वत]को [क्षुरपविना] रथ-चक्रकी तेज धारसे [व्ययुः] नष्ट कर देते हैं । ये दोनों मन्त्र भी ['पवि' शब्दका रथनेमि अर्थमें प्रयोग दिखलानेवाले पाये जाते हैं ।

२६. वक्षः—वक्षःकी व्याख्या [४-२४में] की जा चुकी है ।

२७. धन्वः—'धन्वः' अन्तरिक्षको कहते हैं । क्योंकि उससे पानी प्रवाहित होता है । [उसका उदाहरण देते हैं—] जो [सूर्य अथवा अग्नि धन्वा तिरः] आकाशको प्राप्त करके [अथवा आकाशको पार करके 'अतिरोचते'] अत्यन्त शोभायमान होता है । ['स नः द्विषः पर्षदति' वह हमारे शत्रुओंका नाश करता है] ।

पहिला मन्त्र यहाँ अधूरा उद्धृत किया गया है । पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः ।

उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा ॥ [ऋ० ५-५२-९]

दूसरा भी पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ [ऋ० १०-१८७-२]

सिनम् अन्नं भवति । सिनाति भूतानि ।

येनं स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः । [ऋ० ३-६२-१]

इत्यपि निगमो भवति ।

इत्था अमुथा [नि० ३-१६] इत्येतेन व्याख्यातम् । सचा सहेत्यर्थः ।

वसुभिः सचाभुवा । [ऋ० ८-३५-१] । वसुभिः सहभुवौ ।

---

२८. सिनम्—'सिनम्' अन्नका नाम है, क्योंकि वह प्राणियों [के जीवन]को बांधता [रोकता] है। [उसका उदाहरण देते हैं— [सखिभ्यः] मित्रोंके लिए [सिनं भरथः] अन्नका संग्रह करो। यह भी ['सिनम्' पदका अन्नार्थक प्रयोग दिखलानेवाला] मन्त्र पाया जाता है।

२९. इत्था'—'इत्था इसकी व्याख्या [३-१६ तथा ४-५४ में आये हुए] 'अमुथा'की व्याख्यासे समझ लेनी चाहिये] हो गयी।

३०. सचा—'सचा'का अर्थ 'सह' साथ है। [उसका उदाहरण देते हैं—

[वसुभिः सचा] वसुओंके साथ [भुवा] होकर [हे अश्विनो आप सोमका पान करें]। [आगे इस टुकड़ेकी यास्क स्वयं व्याख्या करते हैं—] वसुओंके साथ रहनेवाले [हे अश्विनो !]

'सिनम्'वाला पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

इमा उ वां भृमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या अभूवन् ।
क्व१ त्यदिन्द्रावरुणा यशो वां येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः ॥
[ऋ० ३-६२-१]

'वसुभिः सचाभुवा' यह मन्त्रखण्ड जहाँसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनाऽऽदित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचा भुवा ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥ [ऋ० ८-३५-१]

चित् इति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव [नि० १-४] व्याख्यातः। अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः। चिदसि मनासि धीरसि [मै० १-२-४]। चितास्त्वयि भोगाः। चेतयसे इति वा। आ इति आकार उपसर्गः पुरस्तात् [नि० १-३] एव व्याख्यातः। अथापि अध्यर्थे दृश्यते।

---

३१. चित्—'चित्' यह अनुदात्त निपात है। इसकी पहिले ही व्याख्या की जा चुकी है। और आद्युदात्तरूपमें यह पशुवाचक भी होता है। [उसका उदाहरण देते हैं]—'चिदसि मनासि धीरसि' [इत्यादि मन्त्रमें 'गौ' पशुके लिए 'चिदसि' आदि कहा गया है। उसका निर्वचन देते हैं—] क्योंकि तेरे भीतर भोग संचित हुए हैं। अथवा तू [दुग्धपान द्वारा मनुष्यको] चेतना प्रदान करती है, [इसलिए गौके लिए यहाँ चित् पदका प्रयोग किया गया है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है]—

३२ आ—'आ' यह आकार उपसर्ग है। इसकी व्याख्या पहिले ही १-३, १-४, और ३-१६ में [की जा चुकी है और अधिके अर्थमें भी यह देखा जाता है। जैसे—'अभ्र आ अपः' इसका अर्थ 'अभ्रे आ अपः' 'अर्थात् मेघमें जल है' [यह होता है। अतः यहाँ 'आ' यह उपसर्ग 'अधि' के अर्थमें प्रयुक्त है। उसका अर्थ सप्तमी विभक्तिके अनुसार मेघमें यह हो जाता है]।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनः पात्विन्द्रायाध्यक्षाय॥

[यजुः ४–१९]

'अभ्र आं अपः' यह उदाहरण जिस मन्त्रमेंसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयशसे महे वयम्।
आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपो वृणाना वितनोति मायिनी॥

[ऋ० ५-४८-१]

अभ्र आँ अपः [ऋ० ५-४८-१] अभ्रे आ अपः। अपोऽभ्रेऽधीति। द्युम्नं द्योततेः। यशो वा अन्नं वा। अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि [ऋ० ७-२५-३] अस्मासु द्युम्नञ्च रत्नञ्च धेहि ॥५॥

इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः।

द्वितीयः पादः

[६]

पवित्रं पुनातेः। मन्त्रः पवित्रमुच्यते।
येनं देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ॥
[साम उ० ५-२-८-४]

---

३३ द्युम्नम्–'द्युम्नम्' पद [प्रकाशार्थक] 'द्युत' धातुसे [बनता है]। उसका अर्थ यश अथवा अन्न है। उसका उदाहरण देते हैं— हे परमात्मन्! [अस्मे] हमको [द्युम्नम् अर्थात्] अन्न अथवा यश और [रत्नं च] रत्नादि [धेहि] प्रदान कीजिये। [आगे मन्त्रांशकी ग्रन्थकार स्वयं व्याख्या करते हैं], हमको [द्युम्नम् अर्थात्] अन्न अथवा यश और रत्न प्रदान कीजिये ॥५॥

पञ्चमाध्यायका प्रथम पाद समाप्त हुआ।

द्वितीयः पादः

[६]

३४ पवित्रम्–'पवित्र' पद [शोधनार्थक] 'पू' धातुसे बनता है। मन्त्रको 'पवित्र' कहते हैं। [मन्त्र अर्थमें 'पवित्र' पदके प्रयोगका उदाहरण देते हैं—] 'जिस पवित्र मन्त्रके द्वारा देवता लोग सदा

यह उदाहरण जिसमेंसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—
शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासे सहस्रं शंसा उत रातिरस्तु।
जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्याऽस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि ॥ [ऋ० ७-२५-३]

इत्यपि निगमो भवति ।

रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते । गभस्तिपूतः [शु० यजुः ७-१] । इत्यपि निगमो भवति । गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः । [ऋ० ९-८६-३४] आपः पवित्रमुच्यन्ते ।

अपनेको पावन करते हैं'। यह निगम भी [पवित्र शब्दके मन्त्र अर्थमें प्रयोगके उदाहरणरूपमें] पाया जाता है।

ख—रश्मियोंको भी 'पवित्र' कहते हैं। [इसके उदाहरणरूपमें ग्रन्थकार दो मन्त्रोंके टुकड़े प्रस्तुत करते हैं। इन दोनोंमें 'गभस्तिपूतः' पद आया है। पवित्र पद नहीं आया है, किन्तु पूत शब्दसे ही पवित्र अर्थ ले लिया गया है]। 'गभस्तियोंसे पवित्र किया हुआ'। [यह एक उदाहरण हुआ। आगे दूसरा उदाहरण देते हैं—]' तू [सोमरस] गभस्तियों अर्थात् सूर्यरश्मियोंसे पवित्र किया हुआ और [अद्रिभिः नृभिः] आदरणीय मनुष्योंके द्वारा [अथवा पीसनेवाली शिलाओंकी सहायतासे मनुष्यों द्वारा] निकाला गया है।' ये दोनों मन्त्र भी [पवित्र शब्दके रश्मि-बोधक होनेके उदाहरणरूपमें] मिलते हैं।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

येनं देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।
तेनं सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥ [साम उ० ५-२-८-४]

ये दोनों मन्त्र, जिनसे कि ये उदाहरण लिये गये हैं, निम्नप्रकार हैं—

१—वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः ।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोसि ॥ [यजुः ७—१]।

२-पवमान मह्यर्णो विधावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया ।
गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो महे वाजाय धन्याय धन्वसि ॥
[ऋ० ९-८६-३४]

शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः । [ऋ० ७-४७-३] ।

बहूदकाः । अग्निः पवित्रमुच्यते । वायुः पवित्रमुच्यते । सोमः पवित्रमुच्यते । सूर्यः पवित्रमुच्यते । इन्द्रः पवित्रमुच्यते ।

अग्निः पवित्रं समा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः ।
पवित्रं ते मां पुनन्तु ॥

इत्यपि निगमो भवति । तोदः तुद्यतेः ॥६॥

ग–जलको भी पवित्र कहा जाता है । [उसका उदाहरण देते हैं— 'शतपवित्राः' अर्थात् [प्रचुर जलवाली [स्वधया मदन्तीः अपने] जलसे खेतोंको सींचती हुई [नदियाँ या नहरें [देवानां पाथः अपियन्ति] देवोंके योग्य सात्त्विक अन्नको प्रदान करती हैं ।

[शतपवित्राः अर्थात्] बहुत जलवाली ।

घ–अग्निको पवित्र कहते हैं । ङ–वायु भी पवित्र कहलाता है । च–सोमको भी पवित्र कहा जाता है । छ–सूर्य पवित्र कहलाता है । ज–इन्द्रको पवित्र कहा जाता है । [इन सबके लिए पवित्र शब्दका प्रयोग एक ही मन्त्रमें पाया जाता है उसीको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत करते हैं—'अग्नि पवित्र है वह मुझको पवित्र करे । वायु, सोम, सूर्य और इन्द्र पवित्र हैं वे मुझको पवित्र करें ।' यह भी मन्त्र ['पवित्र' शब्दके उदाहरणरूपमें] पाया जाता है ।

यह मन्त्रांशका अर्थ है । आगे ग्रन्थकार 'शतपवित्राः' पदका स्वयं अर्थ करते हैं—'बहूकाः' ।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवी देवानामपि यन्ति पाथः ।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत ॥

[ऋ० ७-४७-३]

[७]

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥ [ऋ० १-१५०-१]

बहु दाश्वान् त्वामेव अभिह्वयामि । अरिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव । यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्ते,

---

३५. तोदः—'तोद' पद 'तुद व्यथने' धातुसे बनता है। ['तोद' शब्दका यह निर्वचन तो कर दिया, किन्तु इसके ठीक अर्थके विषयमें मतभेद है। दुर्गाचार्यने 'तोदस्य इव तुन्नस्येव कस्यचित् कूपस्योपरि' लिखकर 'तोद' शब्दका अर्थ कूप किया है। स्कन्दस्वामीने 'तुद्यति भृत्यजनान् तैर्वा तोदमात्मन इच्छति इति गृहस्थोऽत्र तोदोऽभिप्रेतः' तोद शब्दका अर्थ गृहस्थ किया है। इसके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र दिया गया है उसका अर्थ निम्नप्रकार है]--॥६॥

[७]

हे अरि! अर्थात् गन्तव्य प्राप्तव्य [अथवा अर्थः स्वामिरूप] अग्ने! [तव स्वित्] मैं आपका ही [सेवक या भक्त उपासक] हूं, इसलिए [पुरु दाश्वान्] सब कुछ आपको समर्पित करके [महस्य] विशाल [तोदस्येव] गृहस्थ अथवा गृहके समान आपकी [शरणे आ] शरणमें आया हूँ।

सब कुछ देकर मैं आपका ही आवाहन करता हूँ। 'अरि' शब्द अमित्रका वाचक है। 'ऋच्छ' धातुसे बनता है। ईश्वर [शक्तिशाली अथवा परमात्मा] भी इसी कारणसे [अर्थात् सब लोग उसके पास जाते हैं इसलिए] अरि कहलाता है। [यहाँ अग्निको जो 'अरि' कहा

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे ग्रन्थकार अपनी पद्धतिसे उसका अर्थ करते हैं—'बहु' इत्यादि।

इत्येतद् दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्—"तोदस्येव शरण आ महस्य" तुदस्येव शरणेऽधि महतः । स्वञ्चाः सु अञ्चनः ।

आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः ॥ [ऋ० ५-३७-१]

इत्यपि निगमो भवति ।

शिपिविष्टः विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ॥७॥

गया है उसका उपपादन करते हैं] क्योंकि अन्य देवताओंकी भी आहुतियाँ [अग्निमें ही] दी जाती हैं, इसी बातको देखकर यह कहा है कि बड़े गृह [अथवा गृहस्थ अथवा कूप] के समान [आपको शरण-में आया हूँ]।

३६. स्वञ्चाः—'स्वञ्चाः' यह [पद सु अञ्चनः] सुन्दर गतिवाला [इस अर्थका वाचक है । जैसे—] घृतसे संसिक्त और [स्वञ्चाः] सुन्दर गतिवाले अग्निको [आजुह्वानः] आहुतियाँ प्रदान करनेवाला [याज्ञिक भानुना संयतते] सूर्योदयके साथ अपने यागको प्रारम्भ करता है ['तस्मै आमृध्राः उषसो व्युच्छन्ति' उसीके लिए सुन्दर उषाओंका उदय सार्थक होता है] यह भी मन्त्र ['स्वञ्चाः' पदके प्रयोगके उदाहरणरूपमें] पाया जाता है ।

३७. शिपिविष्टः ३८ विष्णुः—'शिपिविष्ट' और 'विष्णुः' ये दोनों विष्णुके नाम हैं । उनमेंसे पहिला [अर्थात् 'शिपिविष्टः' यह नाम] निन्दापरक है ऐसा औपमन्यव आचार्य मानते हैं । [आगे उसका उदाहरण देते हैं] ॥७॥

वह पूरा मन्त्र, जिससे कि यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

सं भानुना यतते सूर्यस्याजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः ।

तस्मा अमृध्रा उषसो व्युच्छान् य इन्द्राय सुनवामेत्याह ॥

[ऋ० ५-३७-१]

[८]

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ॥

[ऋ० ७-१००-६]

किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद् भवति अप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीति। अप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्। किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद् भवति

---

[८]

हे विष्णो अर्थात् सूर्य! [किमित्ते] क्या यह आपका रूप [परिचक्ष्यं] छिपानेके योग्य है जो [शिपिविष्टोऽस्मि इति वक्षे] मैं [शिपिविष्टः अर्थात्] शेप [पुरुषकी जननेन्द्रिय]के समान खुला हुआ [किरणोंसे रहित लाल-लाल प्रातःकालीन सूर्यबिम्बरूप] हूँ। [मा वर्पः] अपने असली रूपको [अस्मद् मा उपगूह] हमसे मत छिपाओ। [यत्] क्योंकि आप [समिथे] संग्राममें [अर्थात् अन्धकारका नाश करनेमें [अन्यरूपः बभूथ] कुछ और ही [अत्यन्त उग्र तेजस्वी] रूप धारण कर लेते हो।

हे [विष्णो] सूर्य, क्या यह आपका छिपाने योग्य न कहने योग्य [रूप] है जो आप हमसे अपनेको 'शिपिविष्टः' अर्थात् शेप [लिंग] के समान खुला हुआ कहते हो। यह रश्मियोंसे रहित [उदयकालीन-सूर्यके रूप] का बोधक है। अथवा यह [शिपिविष्ट पद] प्रशंसा-वाचक ही है [निन्दापरक नहीं इस पक्षमें मन्त्रभागका यह अर्थ होगा कि] हे अर्य! क्या आपका यह रश्मियोंसे युक्त प्रसिद्ध रूप भी प्रख्यात करने योग्य है [अर्थात् इस स्वयंप्रकाशमान सूर्यरूपको भी क्या प्रकाशित करने या दीपक दिखानेकी आवश्यकता है]। जो

प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति । प्रपन्नरश्मिः । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यते । तैराविष्टो भवति । मा वर्पो अस्मदुपगूह एतत् । वर्प इति रूपनाम वृणोतीति सतः यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयतरश्मिः तस्योत्तराभूयसे निर्वचनाय ॥८॥

कहते हो कि मैं 'शिपिविष्टः' अर्थात् रश्मियोंसे परिवेष्टित हूँ। इस पक्षमें 'शिपि' नाम रश्मियोंका है। उनसे आवेष्टित होनेसे सूर्यको 'शिपिविष्ट' कहा गया है। हमसे अपनेको मत छिपाओ। यह 'मा वर्पो अस्मदुपगूह' इस भागका अर्थ है। इसमें ['वर्पः' यह रूपका वाचक है। 'वृञ् वरणे' धातुसे ['वृञ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च' उणादि ४-१९६ सूत्रसे 'असुन्' प्रत्यय और पुट्का आगम होकर ['वर्पः' पद] बनता है। क्योंकि [समिथे] संग्राममें संयत-रश्मिवाले होनेसे आप अन्य प्रकारके हो जाते हो।

अगली ऋचा इस ['शिपिविष्ट' पदके अर्थ] को और अधिक अच्छी तरहसे खोलनेवाली है--॥८॥

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे ग्रन्थकार अपनी पद्धतिसे इस मन्त्रकी व्याख्या स्वयं करते हैं। इस व्याख्यामें ग्रन्थकारने 'शिपिविष्टः' पदके दो प्रकारके निर्वचन दिखलाये हैं। पहिला निर्वचन प्रातःकालके उदय होते समयके रश्मियोंसे रहित लाल-लाल सूर्यबिम्बको लक्ष्यमें रखकर 'शेप इव निर्वेष्टितो अप्रतिपन्नरश्मिः' यह किया है। रश्मि-विहीन सूर्यबिम्बको इसमें पुरुषकी नग्न जननेन्द्रियके समान लाल-लाल कहा गया है, इसलिए इस निर्वचनके पक्षमें 'शिपिविष्ट' पद औपमन्यव-मतानुसार निन्दापरक है। दूसरे निर्वचनमें 'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति इति शिपिविष्टः प्रतिपन्नरश्मिः सूर्यः' रश्मियोंसे युक्त सूर्यको शिपि अर्थात् रश्मियोंसे युक्त होनेके कारण 'शिपिविष्टः' कहा गया है। यह प्रशंसापरक निर्वचन है। इन दोनों प्रकारके निर्वचनोंको देते हुए यास्क इस मन्त्रकी व्याख्या निम्न प्रकारसे करते हैं—'किं ते' इत्यादि।

[९]

प्र तत्ते॑ अ॒द्य शि॑पिविष्ट॒ नामा॒र्यः शं॑सामि व॒युना॑नि॒ वि॒द्वान् ।
तं त्वा॑ गृणामि त॒वस॒मत॑व्या॒न् क्षय॑न्तम॒स्य रज॑सः परा॒के ॥

[ऋ० ७-१००-५]

तत्तेऽद्य शिपिविष्टनाम अर्यः प्रशंसाम्यर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानामर्यस्त्वमसीति वा तं त्वा स्तौमि तवसमतव्यांस्तवस इति महतो नामधेयम् उदितो भवति ।

---

[९]

हे शिपिविष्ट [हे परमात्मन् अथवा सूर्यदेव] [अर्यः अहम्] स्तुति करनेमें समर्थ मैं [वयुनानि विद्वान्] आपके कार्योंको समझकर [तत् ते नाम] आपके उस प्रसिद्ध नामको [प्रशंसामि] जपता हूँ कहता हूँ। और [अतव्यान् अहम्] स्वल्प शक्तिवाला मैं [तवसं] उस महाशक्तिशाली एवं [अस्य रजसः पराके] इस लोकसे अत्यन्त दूर [क्षियन्तं] रहनेवाले [तं त्वा] उन अत्यन्त प्रसिद्ध आपकी [गृणामि] स्तुति करता हूँ।

हे शिपिविष्ट [परमात्मन् अथवा सूर्यदेव]! [अर्यः] स्तुति करनेमें समर्थ मैं आज आपके उस प्रसिद्ध नामको कहता हूँ, जपता हूँ। [मन्त्रमें आये 'अर्यः' पदका अर्थ है कि] मैं 'अर्य' अर्थात् स्तुति करनेमें समर्थ [ईश्वरः स्तोमानाम्] हूँ। अथवा तुम 'अर्य' [जगत्के स्वामी] हो। यह भी अर्थ हो सकता है]। [अतव्यान्] स्वल्पशक्तिवाला मैं [तवसं] महाशक्तिवाले [तं त्वा] उन प्रसिद्ध आपकी [गृणामि] स्तुति करता हूँ। 'तवस' यह पद महान्का वाचक है। क्योंकि वह [उदित अर्थात्] बढ़ा हुआ होता है [अर्थात् वृद्ध्यर्थक 'तु' धातुः से उ० ३-११३ सूत्रसे 'असच्' प्रत्यय होकर 'तवसं' पद बनता है]। और [अस्य रजसः] इस लोकके [पराके अर्थात्] अत्यन्त दूर [क्षियन्तं] रहनेवाले [आपकी स्तुति करता हूँ]

निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते ।

आघृणिः आगतहृणिः ।

आगतहृणे संसेवामहे। आघृणे संसंचावहै।[ऋ० ६-५५-१]

पृथुज्रयाः पृथुजवः । पृथुज्रयो अभिनादायुर्दस्योः ॥
[ऋ० ३-४९-२]

प्रामापयदायुर्दस्योः ॥९॥

३९ आघृणिः—आघृणि अर्थात् आगतहृणि अर्थात् दीप्तियुक्त। हे दीप्तयुक्त पूषन्] ! आओ हम दोनों मिलकर एक-दूसरेका सेवन करें [अन्योन्यं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्नुमः] ।

४० पृथुज्रयाः—'पथुज्रयाः' पृथुजवः अर्थात् तीव्र गतिवाले। [उसका उदाहरण देते हैं]—'अत्यन्त वेगवाले [वीरगण दस्योः] दुष्टोंकी [आयुः अभिनात्] आयुको नष्ट कर देते हैं। [वीरगण वेग-वान् शूरवीर दुष्टोंको नष्टकर डालते हैं। [यह इस मन्त्रभागका अर्थ हुआ। आगे यास्क उसको व्याख्या करते हैं—] शूरवीर दुष्टजनोंकी आयुको विनष्ट करता है ॥२॥

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'तत्ते' इत्यादि ।

जिसमेंसे यह उदाहरणभाग लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

एहि वां विमुचो नपादाघृणे सं संचावहै ।
रथीर्ऋतस्य नो भव ॥ [ऋ० ६-५५-१ ।]

जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति नृतमं हरिष्ठाम् ।
इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषैः पृथुज्रया अभिनादायुर्दस्योः ॥
[ऋ० ३-४९-२] ।

[१०]

अ॒ग्निं नरो॒ दीधि॑तिभिर॒रण्यो॒र्हस्त॑च्युती जनयन्त प्रश॒स्तम्।
दू॒रे॒दृशं॑ गृ॒हप॑तिमथ॒र्युम् ॥ [ऋ० ७-१-१]

दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति धीयन्ते कर्मसु । अरणी प्रत्यृत एने अग्निः । समरणाज्जायत इति वा । हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या जनयन्त, प्रशस्तम्, दूरेदर्शनम्, गृहपतिमतनवन्तम् ॥१०॥

---

[१०]

[नरः] याज्ञिक लोग [दीधितिभिः] अंगुलियोंसे पकड़कर [हस्त-च्युती] हाथोंकी गति द्वारा [अरण्योः] दोनों अरणियोंमेंसे [दूरेदृशम्] दूरसे दिखलायी देनेवाले [अथर्युम्] सदा गतिशील [प्रशस्तम्] अत्यन्त प्रशंसायोग्य [गृहपतिं] गृहस्थोपयोगी [अग्निं जनयन्त] अग्निको उत्पन्न करते हैं ।

'दीधिति' अंगुलियोंका नाम है । क्योंकि उनको कार्योंमें लगाया जाता है । अरणी [शब्दका निर्वचन यह है कि 'एने अग्निः प्रत्यृतो भवति] इन दोनोंके भीतर अग्नि पहुँचा हुआ अर्थात् व्याप्त होता है। अथवा [इन दोनोंके समरणात्] संघर्षसे रगड़से [अग्नि] उत्पन्न होता है । हस्तच्युती [का अर्थ करते हैं—] हाथोंकी गतिके द्वारा [जनयन्त अर्थात्] उत्पन्न करते हैं । प्रशस्त, दूरसे दिखलायी देनेवाले, गृह-पति अर्थात् गृहस्थोपयोगी और 'अथर्युम्' अर्थात् [अतनवन्तम्] गतिशील [अग्निको याज्ञिक लोग अरणि-मन्थन द्वारा उत्पन्न करते हैं] ॥१०॥

---

४१ अथर्यु—निघण्टुमें नैगमकाण्डका अगला शब्द 'अथर्यु' दिया गया है। यह अनवगत-संस्कारवाला शब्द है । यास्कने इसको 'अत सातत्यगमने' धातुसे सिद्ध करके इसका अर्थ 'अथर्युम्' 'अतनवन्तम्' अर्थात् सदा गतिशील किया है । आगे उसका जो उदाहरण दिया है उसमें 'अथर्युम्' यह पद 'अग्निम्'

काणुका।

[११]

एकया प्रतिधाऽपिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम् ।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ [ऋ० ८-७७-४]

[११]

[सोमस्य काणुका अर्थात्] सोमप्रिय इन्द्रने [एकया प्रतिधा] एक ही बैठकमें [साकं] एक साथ [त्रिंशतं सरांसि] तीस सर [सोमके तीस प्याले] पी डाले। [यह याज्ञिक पक्षका अर्थ हुआ]।

का विशेषण है। अरणि-मन्थन द्वारा अग्निके उत्पन्न करनेकी प्रक्रियाका वर्णन इस मन्त्रमें निम्नप्रकार किया गया है।—'[नरः]' इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ है। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'दीधितयः' इत्यादि।

४२ काणुका—नैगमकाण्डका 'काणुका' शब्द भी अनवगत-संस्कारवाला तथा अनेकार्थक है। यास्कने इसकी तीन प्रकारसे व्याख्या की है। एक याज्ञिक-पक्षसे और दूसरी नैरुक्तपक्षसे। दो प्रकारकी व्याख्याएँ तो ये की हैं। इनमेंसे 'काणुका' का सम्बन्ध मन्त्रके 'सोमस्य' पदके साथ किया गया है। मन्त्रमें इन्द्रके द्वारा 'त्रिंशत्-सरांसि सोमस्य काणुका' सोमके तीस सरोंके 'एकया प्रतिधा' एक ही बारमें एक साथ 'अपिबत्' पान किये जानेका वर्णन पाया जाता है। याज्ञिक लोग इसकी यह व्याख्या करते हैं कि 'सोमस्य काणुका' अर्थात् सोमके प्रिय इन्द्रके लिए माध्यन्दिन-सवनमें तीस पात्रोंमें सोम रखा जाता है। उन तीस पात्रोंको ही मन्त्रमें तीस सर 'त्रिंशत् सरांसि' कहा गया है। इस पक्षमें 'काणुका' का अर्थ 'कान्तः' होता है। दूसरे नैरुक्तपक्षमें इस मन्त्रमें 'इन्द्र' पदसे सूर्यका ग्रहण किया जाता है। सोमका अर्थ चन्द्रमा है। कृष्णपक्षके १५ दिन और १५ रात मिला कर तीस सर 'त्रिंशत् सरांसि' कहे जाते हैं। कृष्णपक्षमें सूर्य इस सोमरूप चन्द्रमाके 'त्रिंशत् सरांसि' तीस अहोरात्रोंमें होनेवाली कलाओंका पानकर जाता है, यह अर्थ किया जाता है। इस पक्षमें 'काणुका' के १. कान्त-कानि, २. क्रान्तकानि, ३. कृतकानि ये तीन अर्थ होते हैं। चन्द्रमाकी वे तीस अहोरात्रोंमें व्याप्त रहनेवाली कलाएँ १. 'कान्तकानि' अति मनोहर हैं। अथवा २. क्रान्तकानि सूर्यके द्वारा चन्द्रमामें संक्रान्त होनेवाली हैं। अथवा ३. सूर्यसे

एकेन प्रतिधानेनाऽपिबत् साकं सहेत्यर्थः । इन्द्रः सोमस्य काणुका । कान्तकानीति वा क्रान्तकानीति वा कृतकानीति वा ।

[एकेन प्रतिधानेन] एक ही बैठकमें [साकम्] एकसाथ [अपिवत्] पी गया । [सोमस्य काणुका] यह 'सरांसि' का विशेषण है । कैसे सरांसि ? मनोहर अथवा [कान्तकानि अर्थात् इन्द्रको] प्रदान किये हुए, अथवा [कृतकानि अर्थात् इन्द्रके लिए] वनाये गये ।

प्राप्त होनेके कारण वे चन्द्रमाकी असली कला न होकर 'कृतकानि' वनावटी कलाएँ हैं । इस पक्षमें 'इन्द्रः सोमस्य त्रिंशत् काणुका सरांसि एकया प्रतिधा अपिवत्' सूर्य चन्द्रमाकी तीस दिन-रातोंमें व्याप्त रहनेवाली 'काणुका सरांसि' सुन्दर अथवा सूर्यसे संक्रान्त होनेवाली अथवा कृतक—वनावटी 'सरांसि' कलाओंको एकसाथ पान कर जाता है, यह अर्थ होता है ।

इस प्रकार 'काणुका' शब्दके यहाँतक चार अर्थ हुए । इनके अतिरिक्त 'काणुका' पदका एक और भी अर्थ दिया गया है । वह है 'यथेच्छ' जीभर कर । इन्द्रने सोमके तीस सरोंको 'काणुका अपिवत्—कणेहत्य अपिवत्' जीभर-कर यथेच्छ पान किया, यह 'काणुका' पदका पाँचवाँ अर्थ होता है ।' 'कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते' १-४-६६ यह अष्टाध्यायीका सूत्र है । इसकी व्याख्या करते हुए काशिकाकारने 'कणेहत्य पयः पिवति' यह उदाहरण दिया है । और उसको स्पष्ट करते हुए 'तावत् पिवति यावदस्य अभिलाषो निवृत्तः श्रद्धा प्रतिहता इत्यर्थः' यह लिखा है । इसका भाव यह है कि जीभरकर यथेच्छ पान किया यह 'कणे-हत्य पिवति' का अर्थ है । 'कणेहत्य' से सम्बन्ध रखनेवाला 'काणुका' शब्दका एक छठा अर्थ भी यास्कने दिया है । वह है 'कणेघातः कणे हतः कान्तिहतः' अर्थात् कान्तिसे प्रधावित । इस प्रकार 'काणुका' पदके ६ अर्थ यास्कने किये । उनके अनुसार उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये गये मन्त्रका अर्थ ऊपर दिया है ।

आगे यास्क अपनी पद्धतिसे पहिले मन्त्रका सामान्य अर्थ देते हैं—'एकेन' इत्यादि ।

इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा। आकणेघात इति वा। कणेहतः कान्तिहतः।

तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते, त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि। तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति। तथापि निगमो भवति।

[सोमके तीस शरावोंको इन्द्रने एकसाथ पी डाला। ये 'काणुका' पदके तीन अर्थ हुए। उसकी चौथी व्याख्या करते हैं] अथवा इन्द्र सोमके [काणुका अर्थात्] कान्त [प्रिय इन्द्रने पान कर डाला]।

याज्ञिक लोग ऐसा बतलाते हैं कि माध्यन्दिन सवन [यज्ञ-विशेष] में एक ही देवता [इन्द्र] के लिए ३० उक्थपात्र [जिनमें सोम-रस भरा जाता है] होते हैं, उनको एक ही समय [एकेन प्रति-धानेन] एक ही बैठकमें पान किया जाता है। उन्हींको यहाँ [इस मन्त्रमें] 'सरांसि' कहा गया है।

उत्तरपक्ष [अर्थात् कृष्णपक्ष] के [१५ दिन तथा १५ रात्रि मिल कर] ३० अहो-रात्र होते हैं और ३० अहो-रात्र पूर्वपक्ष [अर्थात् शुक्लपक्ष] के होते हैं। उनमेंसे जो चन्द्रमाकी प्रथमपक्ष [शुक्लपक्ष] में आनेवाली रश्मियाँ होती हैं, उनको पिछले [कृष्ण] पक्षमें [सूर्यकी रश्मियाँ] पानकर जाती हैं। [इसीको यहाँ ३० सरोंका पान कहा गया है। इस आशयका निम्न मन्त्र भी पाया जाता है—जिस

मन्त्रकी इस व्याख्याको आगे ग्रन्थकार याज्ञिक प्रक्रियाका विवरण देकर सम्पुष्ट करते हुए लिखते हैं—'तत्रैतद्' इत्यादि।

यह याज्ञिक-पक्षमें मन्त्रका अर्थ दिया। अब आगे नैरुक्त-पक्षसे उसका दूसरा अर्थ देते हैं—'त्रिंशत्' इत्यादि।

यमक्षितिमक्षितयः पिबन्तीति । तं पूर्वपक्षे आप्याययन्ति । तथापि निगमो भवति । यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति [मै० सं० २-२-७] इति ।

अभ्रिगुः मन्त्रो भवति, गवि अधिकृतत्वात् । अपि वा

[अक्षितिं अर्थात्] स्थिर न रहनेवाली [चन्द्रमाकी रश्मियों] को [अक्षितयः अर्थात् सूर्यमें] स्थिर रहनेवाली [सूर्य-रश्मियाँ] पान कर जाती हैं। और [वे ही सूर्य-रश्मियाँ] प्रथमपक्ष [शक्लपक्ष] में उस [चन्द्रमा] को [परिपूर्ण करती हैं। इस विषयमें भी वेदमें मिलता है कि—देवता लोग [अर्थात् सूर्यकिरणें उस चन्द्रमा] को परिपूर्ण बनाते हैं।

क—'अभ्रिगु' मन्त्रको कहते हैं, क्योंकि वह [गवि अधिकृतत्वात्] वेदवाणीमें [अथवा गायके विषयमें] पढ़ा गया है।

सूर्यकी किरणों द्वारा चन्द्रमाके पूर्ण किये जाने तथा पान किये जानेके विषयमें जो दो वाक्य यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं वे दोनों एक ही मन्त्रमें आये हैं। वह मन्त्र निम्नप्रकार है—

यथा॑ दे॒वा अं॒शुमा॑प्याययन्ति॒ यमक्षि॑ति॒मक्षि॑तयः॒ पिब॑न्ति ।
तेन॒ चेन्द्रो॒ वरु॑णो॒ बृह॒स्पति॒राप्याय॑न्तु॒ भुव॑नस्य॒ गो॒पाः ॥

४३ अभ्रिगु—अगला शब्द 'अभ्रिगु' है। 'काणुका' शब्दके समान 'अभ्रिगु' पद भी अनवगत-संस्कार तथा अनेकार्थक शब्द है। यास्कने इस शब्दके तीन अर्थ किये हैं। 'अभ्रिगु' मन्त्रको कहते हैं, अग्निको भी 'अभ्रिगु' कहा जाता है, और इन्द्र भी 'अभ्रिगु' कहलाता है। इनमेंसे अग्नि तथा इन्द्र अर्थमें प्रयोग दिखलानेके लिए यास्कने जो उदाहरण दिये हैं वे सीधे और प्रायः स्पष्टसे उदाहरण हैं। किन्तु मन्त्र अर्थमें 'अभ्रिगु' पदका प्रयोग दिखलानेके लिए जो उदाहरण दिया है वह तनिक कठिन है। उसमें दो समस्याएँ आ जाती हैं। एक तो यह बात है कि उसका उदाहरण वेदमन्त्रोंमेंसे न लेकर ऐतरेयब्राह्मणका वाक्य प्रस्तुत किया है। आगे यास्क इस 'अभ्रिगु' शब्दकी विवेचना निम्नप्रकार करते हैं—'अभ्रिगुः' इत्यादि।

प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात्, तच्छब्दवत्त्वात्। अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगा इति। अग्निरपि अध्रिगुरुच्यते। तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः ॥ [ऋ० ३-२१-४] अधृतगमन कर्मवन्।

इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते। अध्रिगव ओहमिन्द्राय [ऋ० १-६१-१] इत्यपि निगमो भवति।

ख—अथवा [अध्रिगो शमीध्वम् इत्यादिरूप] प्रशासन ही ['अध्रिगु' पदसे] अभिप्रेत हो सकता है, क्योंकि [तच्छब्दवत्त्वात्] उसमें अध्रिगु शब्द [साक्षात्‌रूपसे] आया है। [वह प्रशासन अर्थात् प्रेरणा देनेवाला वाक्य एतरेयब्राह्मणका है और निम्नप्रकार है—] [अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वम् अध्रिगो [ऐ० ब्रा० २-६-७]

ग—अग्निको भी 'अध्रिगु' कहा जाता है। [जैसे-] हे अध्रिगो! [अधृतगमन अर्थात् जिसकी गतिको कोई रोक न सके इस प्रकारके अग्ने तथा हे शचीवः! अर्थात्] हे कर्म-निरत अग्ने! [याज्ञिकगण घृतधाराओंसे] तुम्हारा सिंचन करते हैं।

हे अधृतगमन [जिसकी गतिको कोई रोक न सके इस प्रकारके। यह अध्रिगो पदका अर्थ है।] हे कर्मवन् [यह 'शचीवः' का अर्थ है]।

घ—इन्द्रको भी 'अध्रिगु' कहा जाता है। [जैसे-अध्रिगवे अर्थात्] जिसकी गतिको कोई रोक न सके इस प्रकारके [इन्द्राय] इन्द्रको [ओहं 'वह' धातुसे बना है, दातव्य उत्तम पदार्थ] प्रदान करता हूँ। [इसमें 'अध्रिगवे' पद इन्द्रके विशेषणरूपमें प्रयुक्त होनेसे इन्द्र-परक कहा गया है]।

यह मन्त्रांशका अर्थ है। आगे यास्क उसकी स्वयं व्याख्या करते हैं— 'अधृत०' इत्यादि।

आङ्गूषः स्तोमः । आघोषः ।
एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः [ऋ० १-१०५-१९]
अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः ॥११॥

---

४४ आङ्गूषः—'आङ्गूष' स्तोम [अर्थात् स्तुति] को कहते हैं। 'इस स्तोत्रके द्वारा हम इन्द्र [की कृपा प्राप्त करने] वाले बनते हैं।

इस स्तोम [स्तोत्र] के द्वारा हम इन्द्रकी कृपाके अधिकारी बनते हैं ॥११॥

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह वाक्य लिया गया है, निम्नप्रकार है—

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य ।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर ॥ [ऋ० ३-२१-४]

यह उदाहरण जिसमेंसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ [ऋ०१-६१-१]

यह मन्त्रभागका अर्थ है। आगे यास्क उसकी व्याख्या स्वयं करते हैं— 'अनेन' इत्यादि ।

यह उद्धरण जिसमेंसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभि ष्याम वृजने सर्ववीराः ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥
[ऋ०१-१०५-१९]

४५ आपान्तमन्यु—अगला शब्द 'आपान्तमन्यु' है। इसका अर्थ 'आपातित-मन्यु' अर्थात् मन्युसे युक्त किया गया है। इसके उदाहरणरूपमें पूरा मन्त्र उद्धृत किया गया है। किन्तु उस मन्त्रके विषयमें विशेष बात यह है कि उसका देवता इन्द्र होनेपर भी उसकी व्याख्यामें तीन चरणोंकी व्याख्या सोमपरक है। केवल एक अन्तिम चरणकी व्याख्या इन्द्रपरक की गयी है। मन्त्रका अर्थ निम्न-प्रकार है—'[आपान्तमन्यु]' इत्यादि ।

[१२]

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी ।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ॥

[ऋ० १०-८९-५]

आपातितमन्युः । तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी । सोमो वा इन्द्रो वा । धुनिः धूनोतेः, शिमीति कर्मनाम । शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा ।

---

[१२]

[आपान्तमन्युः] मन्यु अर्थात् क्रोधसे युक्त, [अथवा सोम-पक्षमें शक्तिप्रदायक, तृपलप्रभर्मा अर्थात्] क्षिप्रप्रहारी [धुनिः अर्थात्] शत्रुओंको कम्पित करनेवाला, [शिमीवान्] कर्म-परायण [शरु-मान् अर्थात्] शस्त्रोंसे युक्त, [ऋजीषी अर्थात्] छूँछवाला [सोमका रस निचोड़ लेनेके बाद जो छूँछ भाग शेष रह जाता है उसको 'ऋजीष' कहा जाता है] सोम है । [विश्वानि] सारे [अतसा] विपुल [वनानि] उत्तम [प्रतिमानानि शक्तिके प्रतीकभूत] उपमान [अर्वाक् इन्द्रसे] पीछे रह जाते हैं [इन्द्रं न देभुः] इन्द्रकी बराबरी करनेमें समर्थ नहीं होते हैं ।

[आपान्तमन्यु अर्थात् आपातितमन्यु अर्थात्] मन्युसे युक्त [तृपलप्रभर्मा अर्थात्] क्षिप्रप्रहारी, सोम अथवा इन्द्र [अर्थात् ये और आगे कहे हुए अन्य सब विशेषण सोम अथवा इन्द्र दोनोंके हो सकते हैं] धुनिः पद 'धूञ् कम्पने' धातुसे बना है [उसका अर्थ शत्रुओंको कम्पित करनेवाला है । 'शिमीवान्'में आया हुआ] 'शिमी' पद कर्मका नाम है । 'शम' धातुसे अथवा 'शक्ल' धातुसे बना है ।

यह मन्त्रका अर्थ है । आगे यास्क स्वयं इसकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं—'आपातित०' इत्यादि ।

ऋजीषी सोमः । यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम् । अपार्जितं भवति । तेन ऋजीषी सोमः । अथापि ऐन्द्रो निगमो भवति । ऋजीषी वज्री । [ऋ० ५-४०-४] इति ।

हर्योरस्य स भागः । धानाश्चेति । धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति । फले हिता भवन्तीति वा ।

[अतः शिमीवान्का अर्थ कर्मनिरत होता है] 'ऋजीषी' सोमको कहा गया है । सोमको निचोड़नेके बाद जो [छूँछभाग] बच रहता है उसको 'ऋजीष' कहते हैं, क्योंकि वह ['ऋजीष' अपार्जितम्] दूर फेकने योग्य होता है [इसलिए उसको 'ऋजीष' कहा जाता है]। इसीके कारण सोमको ऋजीषी कहा गया है ।

ऋजीषी पदका प्रयोग जिसमें इन्द्रके लिए किया गया हो इस प्रकारका भी मन्त्र मिलता है । जैसे 'ऋजीषी वज्री' इसमें [वज्री अर्थात् इन्द्रको ऋजीषी कहा गया है । इन्द्रको ऋजीषी क्यों कहा गया है इसका उपपादन करते हैं ।] क्योंकि इस इन्द्रके घोड़ोंका वह [ऋजीष] भाग होता है । और धाना भी [इन्द्रके घोड़ोंका भाग होता है । इसका अर्थ यह है कि घोड़े 'धाना' अर्थात् चना आदि अन्न खाते हैं और लीदके रूपमें सारहीन छूँछरूप ऋजीषको निकालते हैं । इसलिए उन अश्वोंके मालिक इन्द्रको भी ऋजीषी कहा गया है । आगे 'धाना' पदका निर्वचन 'धाना भ्राष्ट्रे हिता निहिता भवन्ति' इस प्रकार करते हैं अर्थात्] भाड़में रखे जाने [भूँजे जाने] के कारण [जौ, चना आदि धान्य] 'धाना' कहे जाते हैं ।

वह मन्त्र, जिसमेंसे इन्द्रके लिए 'ऋजीषी आदि पदका प्रयोग दिखलानेके लिए 'ऋजीषी वज्री' आदि उद्धरण दिया गया है, निम्नप्रकार है—

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ्माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥
[ऋ० ५-४०-४]

बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम् । इत्यपि निगमो भवति । आदिना अभ्यासेनोपहितेन उपधामादत्ते बभस्तिरत्ति-कर्मा । सोमः सर्वाणि अतसानि वनानि । नार्वाग् इन्द्रं प्रतिमा-नानि दभ्नुवन्ति । यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति ।

[हे इन्द्र] आपके दोनों घोड़े [धाना बब्धां] धाना [दाना] खावें और ऋजीष [लीद] सूघें । यह भी वेद-मन्त्र पाया जाता है। [जिससे धाना तथा ऋजीष दोनों इन्द्रके घोड़ोंके भाग हैं इस बातकी सिद्धि होती है । आगे मन्त्रमें आये हुए 'बब्धाम्' पदका निर्वचन करते हैं] आरम्भमें अभ्यास [अर्थात् द्वित्वसे युक्त तथा ['भस्' धातुके] उपधा [अर्थात् अकार] का लोप [घसिभसोर्हलि च ६-४-१०० सूत्रसे होकर ['भस्' धातुसे बब्धां पद] बनता है । [उसका मूलभूत 'भस्' धातु भोजनार्थक है ।

[इस प्रकारका अर्थात् 'आपान्तमन्यु आदि विशेषणोंसे युक्त] सोम है । [विश्वानि अर्थात्] सारे [अतसानि] महान् [वनानि अर्थात्] उत्तम [वननीय] [प्रतिमानानि] उपमान [अर्वाक्] इन्द्रके पीछे रह जाते हैं । [इन्द्रं न प्रति देभुः] इन्द्रकी बराबरी नहीं कर पाते हैं । जिन [उपमानों] से उस [इन्द्र] की उपमा दी जाती है वे

पिछले अनुच्छेदमें यह कहा था कि 'धाना' और 'ऋजीष' दोनों इन्द्रके घोड़ोंके भाग हैं इस बातके समर्थनके लिए इसी आशयका मन्त्रभाग देकर उसकी व्याख्या करते हैं—'हे इन्द्र' इत्यादि ।

आपान्तमन्यु' पदके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये गये 'आपान्तमन्यु' आदि मन्त्रकी व्याख्या चल रही थी । उसके बीचमें ही 'ऋजीष'का इन्द्रके साथ सम्बन्ध दिखलानेके लिए दो मन्त्र प्रसंगतः दे दिये गये थे । उनके समाप्त हो जानेके बाद प्रकृत मन्त्र 'आपान्तमन्यु' आदि मन्त्रका जो भाग व्याख्याके लिए शेष रह गया था आगे ग्रन्थकार फिर उसकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—'सोमः' इत्यादि ।

अर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति। इन्द्रप्रधाना इत्येके। नैघण्टुकं सोमकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्।

श्मशा शु अश्नुते इति वा। श्म अश्नुते इति वा। आवं श्मशा रुंधद्वाः [ऋ० १०-१०५-१] अवारुधत् श्मशा वार् इति ॥१२॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

सब उसके पासतक [उसकी बराबरीतक] नहीं पहुँच पाते हैं। उसतक न पहुँच कर पहिले ही नष्ट हो जाते हैं, [व्यर्थ हो जाते हैं]।

कुछ लोग यह कहते हैं कि इस मन्त्रमें इन्द्रकी प्रधानता है और सोमका अर्थ गौण है। दूसरे लोग इसमें [इन्द्र तथा सोम] दोनोंकी [समानरूपमें] प्रधानता मानते हैं।

'श्मशा' शु अर्थात् शीघ्र 'अश्नुते' व्याप्त हो जाने फैल जानेवाली होनेसे [नदीको श्मशा कहते हैं]। अथवा 'श्मा' [अर्थात्] शरीरमें [अश्नुते] फैली होती है [इसलिए नाडीको श्मशा कहते हैं]। आगे उसके प्रयोगको दिखलानेवाला उदाहरण देते हैं—श्मशा वाः अवारुधत्] जैसे नदी पानीको रोक लेती है [अथवा जैसे नाड़ी रक्तको रोक लेती है तब इन्द्रकी स्तुति करनी चाहिये ॥१२॥

पञ्चम अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त।

४९ श्मशा—इस पादका अन्तिम शब्द 'श्मशा' है। यह भी पूर्व शब्दोंके समान अनवगत-संस्कारवाला तथा अनेकार्थक शब्द है। यास्कने इसके दो प्रकारके निर्वचन किये हैं जिनसे इसके १ नदी और २ नाड़ी ये दो अर्थ प्रतीत होते हैं।

यह मन्त्रभागका अर्थ है। 'आगे यास्क अपने शब्दोंमें इसके अर्थको लिखते हैं—'अवारुधत्' इत्यादि।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आवं श्मशा रुंधद्वाः।
दीर्घं सुतं वाताप्याय॥ [ऋ० १०-१०५-१]

तृतीयः पादः

[१३]

उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुते ऊरुभ्यामश्नुते उरुर्वा वशोऽस्या

तृतीय पाद

[१३]

४७ उर्वशी–अप्सराको कहते हैं। [उरु अभ्यश्नुते अर्थात् उषा या विद्युत् अत्यन्त व्यापक होती है। ख—उरुभ्यां अश्नुते [धनात्मक तथा ऋणात्मक दो भागों द्वारा व्याप्त होती है [इसलिए विद्युत्को उर्वशी कहते हैं। ग–अथवा जिसका बहुत सामर्थ्य है वह उर्वशी कहलाती है। [विद्युत् तथा उषा दोनोंका प्रचुर सामर्थ्य होनेसे दोनों-को उर्वशी कहा जा सकता है। उर्वशी शब्दके ये तीनों निर्वचन नित्य पक्षमें भली भाँति संगत हो जाते हैं। ऐतिहासिक पक्षमें 'उरुभ्याम् अश्नुते'का अर्थ जाँघोंके द्वारा व्याप्त करती है ऐसा किया है]।

नैगमकाण्डमें संगृहीत निघण्टुके द्वितीय विभागके ३२ शब्दोंकी व्याख्या पञ्चमाध्यायके प्रथमपादमें और १५ शब्दोंकी व्याख्या द्वितीय पादमें इस प्रकार ४७ शब्दोंकी व्याख्या यहाँ दो पादोंमें की जा चुकी है। अब इस तीसरे पादमें ४७—६४ तक १८ शब्दोंकी व्याख्या की जायगी। इनमेंसे सबसे पहिला शब्द 'उर्वशी' है। यह शब्द विवादग्रस्त है। ऐतिहासिक पक्षवाले उर्वशी एक अप्सराका नाम मानते हैं। किन्तु वेदमें अनित्य इतिहास न माननेवाले उर्वशी शब्दको विद्युत्परक मानते हैं। स्कन्दस्वामीने 'नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युत्' लिखकर [पृ० ३४५] नित्य पक्षमें विद्युत्को उर्वशी बतलाया है। नित्यपक्षवाले अन्य लोग उर्वशीका अर्थ उषा करते हैं। ऋग्वेदके दशम मण्डलके ९५ वें सूक्तमें उर्वशी शब्द आया है। इसीमें 'पुरूरवा' शब्द भी है। ऐतिहासिक पक्षने इसी आधार-पर उर्वशी तथा पुरूरवाकी कथा बनायी है। इस कथाका संस्कृत साहित्यमें अत्यन्त महत्त्व पाया जाता है। कालिदासका विक्रमोर्वशीयम् नाटक इसी कथाके आधारपर लिखा गया है। महाभारत और भागवत आदिमें भी इस कथाको

अप्सरा अप्सारिण्यपि वाऽप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवत्यादर्शनीयं व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः । यदप्स

अप्सरा अर्थात् अप् जलमें सरण करनेवाली [इस निर्वचनके अनुसार विद्युत्को अप्सरा कहा जा सकता है] ख–अथवा अप्स यह रूपका वाचक शब्द है। [उससे मतुप् अर्थमें 'र' प्रत्यय और स्त्रीलिंगमें टाप् करके 'अप्सरा' पद बनता है। आगे रूप अर्थमें 'अप्सरा' शब्दका निर्वचन करते हैं। इस पक्षमें 'प्सा भक्षणे' धातुसे पूर्व 'नञ्' कर 'अप्स' पद बनाया गया है। तदनुसार 'अप्स' पदका अर्थ होगा] जो भक्षण करनेके योग्य नहीं अपितु केवल देखने योग्य है। अथवा ग—स्पष्टरूपसे देखनेके लिए [रूप व्यापक होता है] इसलिए रूपको 'अप्स' कहा जाता है। इस पक्षमें 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे इस 'अप्स' शब्दकी सिद्धि मानी जायगी] यह शाकपूणिका मत है।

बहुत विस्तारपूर्वक दिया गया है। भागवतमें इस सूक्तके १८ मन्त्रोंमें उक्त पुरूरवा तथा उर्वशीका संवाद दिखलानेका यत्न किया गया है। किन्तु सृष्टिके आदिमें उत्पन्न या नित्य होने आदि कारणोंसे जो वेदमें अनित्य इतिहास नहीं मानते हैं उनके मतसे इस सूक्तमें उषा तथा सूर्यके सम्बन्धमें अथवा विद्युत् और मेघके सम्बन्धमें वर्णन पाया जाता है। यास्कने यहाँ 'उर्वशी' पदके जो निर्वचन दिये हैं उनकी व्याख्या यद्यपि ऐतिहासिक पक्षकी ओर अधिक झुकी हुई प्रतीत होती है फिर भी नित्यपक्षमें उसकी संगति लगायी जा सकती है। उन्होंने 'उर्वशी अप्सरा' लिखा है। इससे ऐतिहासिक पक्ष सूचित होता है। किन्तु अप्सु संचारिणी होनेसे विद्युत् तथा अप् अर्थात् रूपसौन्दर्यसे प्रसिद्ध होनेके कारण उषाको भी अप्सरा कहा जा सकता है। यास्क इस शब्दकी व्याख्या निम्न-प्रकार आरम्भ करते हैं—'उर्वशी' इत्यादि।

यास्कने उर्वशी शब्दका अर्थ करते हुए 'उर्वशी अप्सराः' यह लिखा था। इसलिए वे अपने द्वारा प्रयुक्त 'अप्सरा' शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं।

इत्यभक्षस्य । अप्सो नामेति व्यापिनः ।

तद्रा भवति रूपवती । तदनयाऽऽत्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा ॥१३॥

'यदप्सः' [यजु० २०-१७] इसमें अभक्ष्यका तथा 'अप्सो नाम' [यजु० १४-४] इसमें व्यापकका [वाचक 'अप्स' शब्द आया है। इसलिए 'अप्स' पद रूपवाचक है। उससे मतुवर्थमें 'र' प्रत्यय करके] उससे युक्त अर्थात् रूपवती [यह 'अप्सरा' पदका अर्थ होता है]।

उस [रूप] को जिसने लिया है अथवा वह [रूप] जिसको दिया गया है [वे दोनों अप्सरा कही जा सकती। 'अप्सरा' शब्दके ये दोनों निर्वचन भी उषा तथा विद्युत् पक्षमें संगत हो सकते हैं। इसलिए उर्वशीको ऐतिहासिक व्यक्ति ही मानना यहाँ आवश्यक नहीं है। नित्य पक्षवाली व्याख्या अधिक संगत है] ॥१३॥

ऊपर ग्रन्थकारने अप्सरा पदका निर्वचन करते हुए उसके अवयवभूत 'अप्स' के दो प्रकारके निर्वचन किये हैं। एक 'अप्सनीयं भवति अर्थात् अभक्षणीयं भवति' और दूसरा 'व्यापनीयं भवति'। इन दोनों निर्वचनोंकी पुष्टिके लिए वेदमें उन दोनों अर्थोंमें 'अप्स' शब्दका प्रयोग दिखलाते हैं। यजुर्वेदके २० वें अध्यायके १७ वें मन्त्रमें 'यदप्सश्चकृमा वयम्' पाठ आता है। इसमें जो 'अप्स' पदका प्रयोग है वह अभक्ष्य अर्थका सूचक है—'यदेनश्चकृमा वयम्' हमने जो कुछ पाप किया और 'यदप्सश्चकृमा वयम्' जो अभक्ष्य-भक्षणादि किया उस सबका प्रायश्चित्त करनेका विधान इस मन्त्रमें है। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यदेनश्चकृमा वयं यदप्सश्चकृमा वयम्। तदेकस्यापि चेतसि तदेकस्यापि धर्मणि। तत्सर्वस्यांहसो अवयनमसि ॥'

यह मन्त्र मुख्यतः यजुर्वेदकी मैत्रायणीसंहितामें काण्ड १ प्रपाठक १५ खण्ड २ में पाया जाता है। किन्तु यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखामें भी थोड़े अन्तरसे २०-१७ में मिलता है।

'व्यापिनः' अर्थमें भी 'अप्सः' पदका प्रयोग दिखलानेके लिए 'अप्सो नाम' यह प्रतीकभाग ग्रन्थकारने उद्धृत किया है। इसमें 'अप्स' शब्दका अर्थ 'व्यापनीयम्' है। पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह अंश लिया गया है, निम्नप्रकार है—

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः।

स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ [यजु० १४-४]।

इन दोनों मन्त्रोंके द्वारा 'अप्स' शब्दका अभक्षणीय तथा व्यापनीय दोनों अर्थोंमें प्रयोग दिखलाकर 'अप्स' शब्दका रूप अर्थ करते हुए उससे 'अप्सरा' पदकी सिद्धि अगली पंक्तिमें निम्न प्रकार दिखलाते हैं— 'यदप्सः' इत्यादि।

इस निर्वचनमें 'अप्स' पदसे मतुवर्थमें 'र'-प्रत्ययकर बने अप्सराका अर्थ रूपवती किया गया है। किन्तु 'र'-प्रत्यय न करके 'अप्स' के बाद 'रा' धातुका प्रयोग करके भी 'अप्सरा'शब्दकी सिद्धि की जा सकती है। 'रा'-धातुके दान और आदान अर्थात् देना और लेना दोनों अर्थ होते हैं। इसलिए इस प्रक्रियामें उस रूपको जिसने लिया है अथवा वह रूप जिसको दिया गया है ये दोनों अर्थ अप्सराके अर्थ हो सकते हैं। इस अभिप्रायसे ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें इस प्रकारका निर्वचन करते हैं—'तद्रा' इत्यादि।

यह 'उर्वशी' तथा 'अप्सरा' पदके निर्वचन हुए। ऐतिहासिक व्याख्याकारोंने इनका सम्बन्ध उर्वशी नामकी अप्सराके साथ जोड़ा है। यह तो उचित हुआ ही नहीं है। उससे वेदोंके गौरवको क्षति पहुँचती है। किन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि यह अनर्थ-परंपरा यहीं नहीं रुकी है। इन ऐतिहासिक व्याख्याकारोंके अनुसार इस उर्वशीको देखकर मित्र और वरुण दो देवताओंका वीर्य स्खलित हो गया। जिस समय इन दोनोंका वीर्य निकल रहा था उस समय सारे देवता 'विश्वे देवाः' पत्ता या पत्तेका दोना लेकर दौड़े और उन्होंने इन मित्र-वरुणका वीर्य उस दोनेमें इकट्ठा कर लिया और उस वीर्यसे उस दोने 'पुष्कर' के भीतर वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई। इसलिए वसिष्ठजी मैत्रावरुण अर्थात् मित्र और वरुण दोके वीर्यसे उत्पन्न किन्तु उर्वशीके मानसपुत्र कहे जाते हैं। यह इन ऐतिहासिक वेदव्याख्याताओंकी सूझ है। पता नहीं इस प्रकारकी अनर्गल कल्पना करते समय इन व्याख्याकारोंकी बुद्धि कहाँ चली गयी थी। अपनी इस

[१४]

तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द तदभिवादिन्येषा ऋग् भवति—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करेत्वा ददन्त ॥

---

[१४]

उस [उर्वशी] के दर्शनसे मित्र और वरुण दोनोंका वीर्य निकल पड़ा। [और उससे वसिष्ठजी उत्पन्न हो गये] इसका वर्णन निम्न ऋचामें पाया जाता है—

अथवा हे वसिष्ठ ! तुम ब्रह्मन् ! तुम मित्र तथा वरुण [के वीर्य] से उत्पन्न हो और उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुए हो। [क्यों जी उर्वशी-का मन तो बिगड़ा नहीं था। वीर्य तो मित्र और वरुणका निकला था। फिर उर्वशीके मत्थे इस कांडको क्यों थोप रहे हैं। जरा और सुनिये 'दैव्येन ब्रह्मणा' दिव्य वेदवाणी द्वारा [मित्र वरुणके ब्रह्मचर्य-की स्तुति करते हुए 'विश्वे देवाः'] सारे देवताओंने भागकर उस वीर्य रूपमें बैठे हुए आपको [द्रप्सं स्कन्नं] स्खलित हुए वीर्यरूप आपको 'पुष्करे अददन्त' दोनेमें या पत्तेपर ग्रहण कर लिया।

अनर्गल कल्पनाकी खोज इन व्याख्याकारोंने वेदमेंसे करनेका दावा किया है। जरा यास्कके ही शब्दोंमें इस अनोखे आविष्कारकी बात सुनिये—'तस्याः' इत्यादि।

यह यास्कने इन बुद्धिहीन ऐतिहासिक व्याख्याकारोंकी बुद्धिका चमत्कार दिखलाया है। पता नहीं इन व्याख्याकारोंको यह सब अर्थ करते समय लज्जा नहीं आयी। क्या वेदोंके प्रति श्रद्धा बढ़ानेका यही मार्ग था और क्या इसी व्याख्यासे वसिष्ठ मुनिके गौरवकी वृद्धि की जा सकती है। इन सज्जनोंको यह तो सोचना चाहिये था कि इस कथाको लिखकर वे वेदोंके साथ अन्याय कर रहे हैं। उनके और वसिष्ठ, मित्र, वरुण आदि ऋषियोंके गौरवको नष्ट कर रहे

हैं। यदि यही वेदमन्त्रका विवक्षित अर्थ होता तो भी अपने परमादरणीय धर्म-ग्रन्थके गौरवकी रक्षाके लिए और अपने परम पूजनीय मित्र, वरुण और वसिष्ठ जैसे महापुरुषोंके गौरवकी रक्षाके लिए ही सही एक बार इसका परिमार्जन करना चाहिये था। इस अर्थको बदलकर परिमार्जित अर्थ करनेकी प्रतिभा संस्कृतके विद्वानोंमें नहीं थी सो बात नहीं है। 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः' इस वाक्यके 'प्रभुओंकी बुद्धि परतन्त्र नहीं होती है' इस सुन्दर अर्थको बदल कर 'नखलुपरतन्त्राः प्रभुधियः' आपकी बुद्धि 'नख-लु' नाखून काटनेवाले नाईके अधीन है, ऐसा गन्दा अर्थ कर डालनेकी सामर्थ्य जिनमें है वे इस अर्थको परिमार्जित कर सकते थे। किन्तु दुर्भाग्यसे उन्होंने अपनी प्रतिभाका प्रयोग गन्दी दिशाकी ओर चलनेमें ही किया है। यदि उन्हें संस्कृत और सभ्यताकी मर्यादाका वेदों और ऋषियोंके गौरवकी रक्षाका और उदात्त मानवताका ध्यान होता तो निश्चय ही वे ऐसे गन्दे अर्थोंवाले मार्गपर न जाकर कोई अन्य मार्ग खोजते। और खोजनेपर कोई न कोई सुन्दर मार्ग निकल ही जाता। और संस्कृतिकी तथा मानवताकी वेदों और ऋषियोंको कलंकित करनेवाले इन अनर्थोंसे रक्षा हो जाती।

उदाहरणके लिए इसी मन्त्रको लीजिये। इसमें 'वसिष्ठ' किसी व्यक्ति-विशेषका नाम नहीं है। अपितु 'वसिष्ठ' शब्द मेघका वाचक है। उसका निर्वचन 'वसन्ति स्थावरा यस्मात्' जो स्थावर अर्थात् वृक्षादिको बसाता है, उनकी रक्षा करता है। अथवा 'वशे तिष्ठति सर्वं जगत् 'यस्य' जिसके वशमें सारा जगत् है उसको वशिष्ठ या वसिष्ठ कहते हैं। इस प्रकार किया जा सकता है। मन्त्रमें वसिष्ठ अर्थात् मेघको मैत्रावरुण अर्थात् मित्र और वरुणका पुत्र कहा है। सो बिल्कुल उचित ही है। मित्रका अर्थ सूर्य प्रसिद्ध ही है और वरुणका अर्थ जल अथवा जलोंका अधिपति सागर है। मेघ समुद्र तथा सूर्य दोनोंसे उत्पन्न होता है। इसलिए उसे मित्र तथा वरुण दोनोंकी सन्तान कहना सर्वथा उचित है। इसके बाद मन्त्रमें उस वसिष्ठ मेघको 'उर्वश्या मनसोऽधिजातः' कहा गया है। सो अभी हम कह चुके हैं कि नित्य पक्षमें उर्वशी शब्द विद्युत्का वाचक है। मेघकी उत्पत्ति या रचनामें अप्रत्यक्षरूपसे विद्युत्-शक्ति भी काम करती है। किन्तु विद्युत्का कार्य मनोव्यापारके समान ही अप्रत्यक्ष होता है।

अप्यसि मैत्रावरुणो वशिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन। द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवति

हे ब्रह्मन् वसिष्ठ अर्थात् शक्तिशालिन् मेघ ! [उत मैत्रावरुणोऽसि] आप सूर्य तथा सागरकी सन्तान हैं तथा [उर्वश्या मनसोऽधिजातोऽसि] विद्युत्के अप्रत्यक्ष व्यापार द्वारा उत्पन्न हुए हैं। जब आप [स्कन्नं] मर्यादाका अतिक्रमण कर [अतिवृष्टि द्वारा, द्रप्सं] संसारके लिए उत्क्लेशकर हो जाते हैं तब [विश्वे देवाः] वायु, आदित्य आदि सारे देवगण मिलकर [दैव्येन ब्रह्मणा] दिव्य शक्ति द्वारा [पुष्करे त्वा अददन्त] आपको अन्तरिक्षमें रोक देते हैं।

इसलिए उसे 'उर्वश्या मनसोऽधिजातः' कहा गया है। यह मन्त्रके पूर्वार्द्धभागका अर्थ हुआ जो मेघपक्षमें बड़ी सुन्दरताके साथ समन्वित हो जाता है। अब मन्त्रका उत्तरार्द्ध लीजिये इसमें 'द्रप्सं और स्कन्नं' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। और पुष्कर शब्द भी। ऐतिहासिक पक्षवालोंने 'द्रप्सं स्कन्नं' से 'मित्र और वरुणके निकलते हुए वीर्य' अर्थको लिया है और 'पुष्कर' का अर्थ पत्ता या दोना किया है। किन्तु ये तीनों शब्द मेघसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। स्कन्नं शब्द 'स्कुदि आप्रवणे' धातुसे बना है। आप्रवणका अर्थ 'आप्रवणमुत्प्लवनम् उद्धरणं च, अर्थात् मर्यादाका अतिक्रमण करके चलना, बहना और विनाश करना है। द्रप्सं पद 'दृप दृम्प उत्क्लेशे' धातुसे बनता है। तब 'स्कन्न' का अर्थ और द्रप्सं पद मेघकी उस अवस्थाके वाचक हैं जब कि मेघ मर्यादाका अतिक्रमण कर अत्यधिक अतिवृष्टि द्वारा जगत्का उत्क्लेशकर हो जाता है। ऐसी अवस्थामें उसको 'विश्वे देवाः' वायु, सूर्य आदि सारे देवता मिलकर 'दैव्येन ब्रह्मणा' दिव्य शक्ति द्वारा 'पुष्करे' अर्थात् अन्तरिक्षमें ही बन्द कर देते हैं। यह इस मन्त्रका सुसंगत और विज्ञानसम्मत अर्थ किया जा सकता है। इसलिए हम आगे मन्त्र तथा यास्ककृत व्याख्याका अर्थ इसी अभिप्रायसे निम्नप्रकार कर सकते हैं—'हे ब्रह्मन्' इत्यादि।

सर्वे देवाः पुष्करे त्वाधारयन्त। पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतान्युदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यं वा।

इदमपीतरत् पुष्करमेतदस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा पुष्पं पुष्यतेः ॥१४॥

हे [वशिष्ठ] मेघ आप सूर्य तथा समुद्रकी सन्तान हैं। हे ब्रह्मन् शक्तिशालिन्, आप विद्युत्के मनोव्यापारके समान अप्रत्यक्ष व्यापार द्वारा उत्पन्न होते हैं। उन्मार्गप्रवण और जगत्के उत्क्लेशदायक हो जानेपर दिव्यशक्तिके द्वारा सारे देवता अन्तरिक्षमें आपको रोक देते हैं। [पूर्वकथित ऐतिहासिकाभिमत अर्थके अनुसार यास्कने द्रप्सः पदका अर्थ 'संभृतः प्सानीयो भवति' किया है। इसीकी व्याख्या दुर्गाचार्यने यह की है वह रेतःसंज्ञक रस पुरुषके अंगोंसे 'संभृतः' उत्पन्न होता है और स्त्रीकी योनि द्वारा 'प्सानीय' अर्थात् भक्षण करने योग्य होता है]। पुष्कर नाम अन्तरिक्षका है। क्योंकि प्राणियोंका पोषक होता है। जलको भी पुष्कर कहते हैं। पूजा करनेवाला अथवा पूजा करने योग्य होता है। यह दूसरा [अर्थात् कमलका वाचक] पुष्कर शब्द भी इसी कारणसे [अर्थात् सुन्दर होनेके कारण] पूजा [अर्थात् शोभा] का करनेवाला अथवा पूजाके योग्य होता है। अथवा वपुष्करं शरीरको उत्तम बनानेवाला होनेसे 'पुष्कर' कहलाता है। [कमल-पुष्पके प्रसंगसे पुष्प पदका निर्वचन करते हैं—] 'पुष्प' पद [दिवादिगणपठित विकासार्थक] 'पुष्प' धातुसे बनता है ॥१४॥ पुष्प विकसने

[१५]

वयुनं वेतेः । कान्तिर्वा प्रज्ञा वा ।

स इत्तमो॑ऽवयुनं त॑तन्वत् सूर्ये॑ण वयुनं॑वच्चकार ।

[ऋ० ६-२१-३]

स तमोऽप्रज्ञानं ततन्वत् सूतं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार ।

---

[१५]

४८ वयुनम्—पद 'वी' धातुसे बनता है। कान्ति अथवा प्रज्ञा [ये दो उसके] अर्थ हैं। [उसका उदाहरण देते हैं—[स इत्] उस परमात्माने ही। [ततन्वत्] फैले हुए [अवयुनं तमः] जिसमें कुछ दिखलायी नहीं देता है इस प्रकारके गहन अन्धकारको [सूर्येण] सूर्यके द्वारा [वयुनवत् चकार] जिसमें दिखलायी दे सके इस प्रकार-का अर्थात् प्रकाशमय बनाया।

उस इन्द्रने ही जिसमें कुछ दिखलायी नहीं देता है, इस प्रकारके अज्ञानरूप अन्धकारको फैला दिया था सूर्यके द्वारा उसको देखने योग्य बनाया।

यह मन्त्रभागका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'स तमः' इत्यादि।

वह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह 'स इत्तमो' आदि उद्धरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

स इत्तमो॑ऽवयुनं त॑तन्वत् सूर्ये॑ण वयुनं॑वच्चकार ।
कुदा ते॒ मर्ता॑ अमृत॑स्य धामेयं॑क्षन्तो न मि॑नन्ति स्वधावः ॥

[ऋ० ६-२१-३]

वाजस्पत्यं वाजपतनम् ।
सनेम वाजस्पत्यम् ॥ [ऋ० ९-९८-१२]
इत्यपि निगमो भवति । वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम् ।
अश्याम वाजगन्ध्यम् [ऋ० ९-९८-१२] इत्यपि निगमो भवति।

वाजपस्त्यम् अर्थात् वाजपतनं अर्थात् बलको प्रदान करनेवाला [आगे उसका उदाहरण देते हैं—'वयम्' हम] [वाजपस्त्यम् अर्थात्] बलप्रदायक [सोम] को [सनेम अर्थात्] प्राप्त करें। [सोमके अर्थमें 'वाजपस्त्य' पदके प्रयोगके उदाहरणरूपमें] यह मन्त्रभाग भी मिलता है।

वाजगन्ध्यमें ['वाज' पद पहिलेके ही समान है केवल] 'गंध' धातु उत्तरपदमें है। ['गध' धातु नहीं है चुरादिगणमें 'गन्ध अर्दने' धातु है] अन्नकी गन्धवाले सोमका भक्षण करें। यह भी निगम पाया जाता है [जिससे 'वाजगन्ध्यम्' पदका सोमके अर्थमें प्रयोगका उदाहरण मिलता है]।

---

४९ वाजपस्त्यम्, ५० वाजगन्ध्यम्—नैगमकाण्डके अगले दो शब्द 'वाजपस्त्यम्' तथा 'वाजगन्ध्यम्' हैं। ये दोनों सोमके वाचक हैं। 'वाजः' का अर्थ शक्ति अर्थात् बल है। उस वाजका 'पस्त्यं पतनं यस्माद् भवति' उस शक्ति या बलरूप वाजकी प्राप्ति जिसके द्वारा होती है उसको 'वाजपत्य' कहा जाता है। दुर्गाचार्यने 'वाजमन्नं तदस्माकमिति मन्यमानाः सन्तो यमाभिमुख्येन देवाः पतन्ति स वाजपस्त्यः' इस प्रकार इस शब्दका निर्वचन किया है। इसी प्रकार 'वाजगन्ध्यम्' का अर्थ शक्तिका ग्रहण जिसके द्वारा होता है अथवा वाज अर्थात् अन्न अर्थात् भक्षणीय द्रव्यके रूपमें देवता जिसको ग्रहण करते हैं वह 'वाजगन्ध्य' हुआ। ये दोनों ही शब्द सोमके विशेषण अथवा सोमके वाचकके रूपमें एक ही मन्त्रमें प्रयुक्त हुए हैं। यास्कने उदाहरणरूपमें मन्त्रके दो अलग-अलग टुकड़े उद्धृत किये हैं। पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥ [ऋ० ९-९८-१२]

यास्कने इन दोनों शब्दोंकी व्याख्या निम्न प्रकारसे की है—

गध्यं गृह्णातेः ।

ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्। [ऋ० ४-१६-११]

इत्यपि निगमो भवति । गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा । आगंधिता परिंगधिता [ऋ० १-१२६-६] इत्यपि निगमो भवति ।

---

५१ गध्यम्—'गध्यम्' पद [क्र्यादिगण-पठित] 'ग्रह' धातुसे बनता है । [उसका उदाहरण देते हैं—] ग्रहण करने योग्य अन्नकी तरह सरल मार्गसे अपनेको [युयूषन्] जोड़ता हुआ [कविः विद्वान् पाप आदिका नाश करके 'पार्याय भूषात्' संसार-सागरसे पार जानेमें समर्थ हो सकता है] यह भी निगम पाया जाता है ।

५२ गधिता—'गध' धातु मिश्रीभावके अर्थमें है । 'आगधिता परिगधिता' आदि मन्त्र [इसके उदाहरणरूपमें] मिलता है ।

यह उदाहरण जिस मन्त्रमेंसे लिया गया है वह पूरा मन्त्र निम्नप्रकार है—

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः ।
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन् कविर्यदहन् पार्याय भूषात् ॥

[ऋ० ४-१६-११]

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

आगंधिता परिंगधिता या कशीकेव जङ्गहे ।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता ॥ [ऋ० १-१२६-६] ।

ऐतिहासिक पक्षको माननेवाले भाष्यकारोंने इस मन्त्रकी बड़ी छीछालेदर की है । उन्होंने इस मन्त्रमें और इसके आगेके 'उपोप मे परामृश' आदि मन्त्रमें भावयव्य राजा और उसकी पत्नी रोमशाका संवाद माना है । उनकी विचारधारा किस गन्दगीकी ओर प्रवाहित हो रही है इसका परिचय स्कन्दस्वामीकी व्याख्यासे उद्धृत निम्न शब्दोंसे प्राप्त होगा—

भावयव्यस्य । स स्वया भार्यया रोमशया संभुक्ष्व माम् इत्युक्तस्ताम् अनया ऋचा प्रत्याह—आगधिता आगृहीता आमिश्रिता अवयवैर्गाढं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः। परिगधिता सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रिता आलिंगन-चुम्बनपुरःसरं प्रक्षिप्तप्रजना



सानुरागं सम्भोगाय परिगृहीता च सती इत्यर्थः। या कशीकेव यथा पूतिकेशी सम्भोगकाले गृह्णीयात् तद्वत्। जङ्गहे गृह्णाति पूतिकेशीव परिष्वजत इत्यर्थः। परिष्वज्य च ददाति मह्यं यादुरी यादुरित्युदकनाम, रो मत्वर्थे। रेतोलक्षणकेनोदकेन तद्वती। भूम्नि च मत्वर्थीयः। प्रभूतं रेतः क्षरन्ती आविर्भूतस्नेहरसा इत्यर्थः। याशूनां शता याशुशब्दः सम्भोगे, सम्भोगानां शतानि च। सा भोज्या भोगार्हा सम्भोगयोग्या त्वमत्यन्तबालत्वान्न तावदेवंरूपेत्यर्थः।

यह इन ऐतिहासिक विचारधारावाले भाष्यकारोंने इस मन्त्रका अर्थ किया है। पता नहीं इनको इस प्रकारके अश्लील और असंगत अर्थ करनेमें लज्जाका अनुभव क्यों नहीं होता है। और आश्चर्यकी बात यह है कि ऐतिहासिक भाष्यकारोंकी भावना वेदमन्त्रोंके इस प्रकारके अनर्थ करके उनको कलंकित करनेका यत्न क्यों करती है। इस मन्त्रका जो यह गन्दा अर्थ इन्होंने किया है उसके स्थानपर सुन्दर अर्थ भी किया जा सकता है। किन्तु वे तो इसी गन्दगीको फैलानेमें रस लेते हैं। इस मन्त्रका सीधा और सुन्दरसा अर्थ है जिसमें विद्याकी प्रशंसा की गयी है। वह अर्थ निम्नप्रकार है—विद्याका जितना ही अधिक आलोडन-विलोडन [आगधिता परिगधिता अर्थात्] श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया जाय वह उतनी ही अधिक [कशिकेव जङ्गहे] प्रकाशवती होकर अर्थात् अत्यन्त स्पष्टरूप होकर पुरुषको ग्रहण करती है। अर्थात् विद्याके गूढ़ रहस्यों और तत्त्वोंका परिचय प्राप्त होता है। वह विद्या 'याशूनाम्' पापोंको [यादुरी] नाश करनेवाली होती है और [मह्यं भोज्या शता ददाति] सैकड़ों प्रकारके भोग देती है। उस विद्यासे सैकड़ों प्रकारके लाभ मनुष्यको प्राप्त होते हैं।

यह इस मन्त्रका सीधा-साधा और अत्यन्त सुन्दर-सा अर्थ है इसको छोड़कर ऊपर दिया हुआ जो अश्लील अर्थ ऐतिहासिक व्याख्याकारोंने प्रस्तुत किया है वह सर्वथा असंगत है। इसी प्रकार 'उपोप मे परामृश' आदि अगले मन्त्रको जिसे कि इन ऐतिहासिक भाष्यकारोंने रोमशाकी उक्ति बतलाकर अपने साथ सम्भोगके लिए प्रेरणा देनेवाला अश्लील अर्थ किया है वह भी असंगत अर्थ है। उसकी भी व्याख्या विद्याप्रशंसाके इसी प्रसंगमें की जा सकती है। इसकी व्याख्या हम इसके पूर्व 'दभ्र' पदकी व्याख्याके प्रसंगमें पृ० ३४८ पर दे चुके हैं।

कौरयाणः कृतयानः । पाकस्थामा कौरयाणः ।

[ऋ० ८-३-२१]

इत्यपि निगमो भवति । तौरयाणस्तूर्णयानः ।

स तौरयाण उपयाहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः ।

इत्यपि निगमो भवति ।

कौरयाणः—कौरयाणः [का निर्वचन] कृतयानः अर्थात् गतिशील और गति देनेवाला है। [उसका उदाहरण देते हैं—'पाकस्थामा' अर्थात्] महाबलशाली और ['कौरयाणः' अर्थात्] गतिशील [और 'मरुतः इन्द्रः' वायुके स्वामी परमात्माने 'यं मे दुः' जो कुछ हमको प्रदान किया है 'विश्वेषां उन सबमें; 'दिवि धावमानम्' आकाशमें दौड़नेवाला सूर्य 'त्मना शोभिष्ठम्' स्वयं प्रकाशमान और अत्यन्त सुन्दर है]।

५३ तौरयाणः—तौरयाणः [का निर्वचन] तूर्णयानः अर्थात् शीघ्र चलनेवाला [उसका उदाहरण देते हैं—] हे इन्द्र! [सजोषः] प्रीतिपूर्वक सेवन करनेकी इच्छावाले आप [सखिभिः मरुद्भिः] अपने मित्र मरुद्गणके साथ [यज्ञम् उपयाहि] यज्ञमें पधारने की कृपा करें। यह भी वेदमन्त्र ['तौरयाणः' पदका प्रयोग दिखलानेवाला मिलता है]।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः ।
विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम् ॥ [ऋ० ८-३-२१]

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उद्धरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

स तौरयाण उपयाहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः ।
जातं यत् त्वा परि देवा अभूषन्महे भराय पुरुहूत विश्वे ॥

अह्रयाणः अह्रीतयानः । अनुष्ठु॒या कृ॑णुह्यह्रयाण ।
[ऋ० ४-४-१४]

इत्यपि निगमो भवति ।

हरयाणः हरमाणयानः । र॒जतं हर॑याणे । [ऋ० ८-२५-२२]

इत्यपि निगमो भवति ।

---

५५ अह्रयाणः—'अह्रयाणः' [का निर्वचन] अह्रीतयानः अलज्जित गमनवाला है। उसका उदाहरण देते हैं—] हे अलज्जित गतिवाले अर्थात् उत्तमगतिवाले अग्ने! राजन्! [अनुष्ठुया] कर्मानुष्ठानपूर्वक शासनादि करो।

५६ हरयाणः—'हरयाणः' [का निर्वचन] हरमाणयानः अर्थात् चलते हुए यानवाला है। [उसका उदाहरण देते हैं—] रजत [अर्थात् चाँदीके समान चमकते हुए और चलते हुए यानवाले [सूर्य] में [सुषामणि असनाम] सौन्दर्यको पाते हैं]।

यहाँ यास्कने तौरयाणः पदके प्रयोगके उदाहरणरूपमें जो मन्त्र दिया है वह चारों वेदोंमें कहीं नहीं पाया जाता है। ऋग्वेदमें एक इससे मिलता-जुलता मन्त्र निम्नप्रकार पाया जाता है—

स वा॑वशा॒न इ॒ह पा॑हि॒ सोम॑ म॒रुद्भि॑रिन्द्र॒ सखि॑भिः सु॒तं नः ।
जा॒तं यत् त्वा॒ परि॑ दे॒वा अभू॑षन् म॒हे भरा॑य पुरुहूत॒ विश्वे॑ ॥
[ऋ० ३-५१-८]

परन्तु इस मन्त्रमें 'तौरयाणः' पद नहीं आया है। उसके स्थान पर 'वावशानः' पद पाया जाता है। यह 'तौरयाणः' पद चारों वेदोंमें कहीं भी नहीं मिलता है। पता नहीं निघण्टुमें कैसे संगृहीत हो गया है। सम्भव है लिपिकारके प्रमादसे 'वावशानः' के स्थानपर 'कौरयाणः' के प्रसंगसे 'तौरयाणः' का समावेश हो गया होगा।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

त्वया॑ व॒यं स॑धन्य॒! स्त्वोता॒स्तव॒ प्रणी॑त्यश्याम॒ वाजा॑न् ।
उ॒भा शंसा॑ सू॒दय सत्यताते॒ऽनुष्ठु॒या कृ॑णुह्यह्रयाण ॥ [ऋ० ४-४-१४]

आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः । [ऋ० १-१०१-४]
प्रत्यृतः स्तोमान् ।
व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदूभावकर्मणः ॥१५॥

[१६]

नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद्व्रन्दिनो रोरुवद्वना । [ऋ० १-५४-५]

---

५७ आरितः–['आरितः' का अर्थ 'प्रति ऋतः' पहुँचा हुआ या व्याप्त है। उसका उदाहरण देते हैं—] जो [इन्द्र परमात्मा 'आरितः' सब जगह] पहुँचा हुआ तथा प्रत्येक कार्यमें स्थिररूपसे निश्चित-रूपसे विद्यमान रहनेवाला है।

स्तोमोमें सर्वत्र पहुँचा हुआ।

५८ व्रन्दी–'वन्द्री' पद मृदुभावके बोधक 'व्रन्द्री' धातुसे बनता है। [उसका उदाहरण देते हैं—] ॥१५॥

[१६]

'हे इन्द्र ! आप जो [श्वसनस्य मूर्ध्नि] वायुमण्डलके ऊपर और [शुष्णस्य मूर्धनि] रसोंके सुखानेवाले तथा [व्रन्दिनः चिद् फलादिको पकाकर] मृदुभावको उत्पन्न करनेवाले [श्वसनस्य मूर्धनि] वायुमण्डलके ऊपर [रोरुवद्] शब्द करते हुए [वना वनानि जलानि] जलोंको[नि यद् वृणक्षि] जो नीचेकी ओर प्रेरित करते हो।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण दिया गया है, निम्नप्रकार है—

ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे ।
रथं युक्तमसनाम सुषामणि ॥ [ऋ० ८-२५-२२]

यह उदाहरण-भागका अर्थ है। यास्क आगे उसका अर्थ करते हैं—'प्रत्यतः' इत्यादि।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः ।
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ [ऋ० १-१०१-४]



निवृणक्षि यत् श्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः शुषणस्यादित्यस्य च शोषयितू रोरूयमाणो वनानीति वा। वधेनेति वा। अव्रदन्त वीडिता [ऋ० २-२४-३] इत्यपि निगमो भवति। वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ पूर्वेण संप्रयुज्येते।

जो वायुमण्डलके ऊपर शब्द करनेवाले [मेघ] को नीचेकी ओर आनेको प्रेरित करते हो और रसोंको सुखानेवाले आदित्य शब्द करते हुए तुम [अर्थात् मन्त्रके 'रोरुवत्' पदको इन्द्रका भी विशेषण माना जा सकता है और पहिले उसे 'शब्दकारिणः श्वसनस्य' का विशेषण भी कहा जा चुका है। अर्थात् दोनों प्रकारसे उसकी व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार 'वना' पदकी भी दो प्रकारकी व्याख्या हो सकती है] जलोंकी अथवा वधके द्वारा।

[दृढ़ा अश्रथ्नन् दृढ़ वस्तुएँ शिथिल हो जाती हैं और 'अव्रदन्त वीलिता' अर्थात् कठोर [फलादि] मुलायम या कोमल हो जाते हैं। यह भी [व्रन्दी धातुका प्रयोग दिखलानेवाला] मन्त्र पाया जाता है। [वीलिता पदके प्रसंगसे कहते हैं] 'वील' और 'व्रील' धातु [संस्तम्भार्थक अर्थात्] कठोर अर्थके वाचक हैं। [इसलिए उक्त उदाहरणमें 'वीलिता' का अर्थ कठोर और उसके सम्बन्धसे 'अव्रदन्त' का अर्थ कोमल हो जाना ही है यह यास्कका अभिप्राय है]।

यह इस मन्त्रभागका अर्थ है। आगे यास्क उसकी व्याख्या करते हैं—'निवृणक्षि' इत्यादि।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे उद्धरण प्रस्तुत किया है, निम्नप्रकार है—

नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना।
प्राचीनेन मनसा बर्हणावता यदद्या चित् कृणवः कस्त्वा परि॥

[ऋ० १-५४-५]

इसी 'व्रन्दी' धातुके क्रियारूपमें प्रयोग दिखलानेके लिए एक और उदाहरण देते हैं—उसमें सूर्यकी सामर्थ्यको दिखलाते हुए कहा है—'अव्रदन्त' इत्यादि।

निष्षपी स्त्रीकामो भवति। विनिर्गतपसाः। पसः पसतेः स्पृशतिकर्मणः।

मा नो॑ म॒घेव॑ निष्ष॒पी परा॑ दाः॥ [ऋ० १-१०४-५]

यथा स धनानि विनाशति मा नः त्वं तथा परादाः।

निष्षपी स्त्रीकाम [पुरुषको कहा जाता है]। क्योंकि उसका [सप अर्थात् उपस्थ निकला हुआ होता है। [उपस्थका वाचक] 'सप' शब्द स्पर्शार्थक 'सप' धातुसे बनता है। [इस 'निष्षपी' शब्दके प्रयोगका उदाहरण देते हैं-] स्त्रीकाम व्यभिचारी पुरुष जैसे [अस्थान-में] धनका नाश करता है, इस प्रकार हमको आप नष्ट मत करो।

जैसे वह [स्त्रीकाम] धनोंको नष्ट करता है इस प्रकार आप हमारा नाश मत कीजिये।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

तद् दे॒वानां॑ दे॒वत॑माय॒ कर्त्व॒मश्र॑थ्नन् दृ॒ळ्हाव्र॑दन्त वीळि॒ता।
उद्गा आ॑ज॒दभि॑न॒द् ब्रह्म॑णा व॒लमगू॑ह॒त् तमो॒ व्य॑चक्षय॒त्स्वः॥

[ऋ० २-२४-३]

५९. निष्षपी—नैगमकाण्डका अगला ५९ वाँ शब्द 'निष्षपी' है। यास्कने इसका अर्थ स्त्रीकाम पुरुष किया है। और 'विनिर्गतसपः' अर्थात् 'जिसका लिंग तेजित अवस्थामें निकला हुआ है' यह किया है। किन्तु न तो यह अर्थ सुरुचिपूर्ण है और न यह निर्वचन। दोनों ही भाष्यकारोंकी कुरुचिके परि-चायक हैं। यास्क लिखते हैं—'निष्षपी' इत्यादि।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क अपनी पद्धतिसे उसकी व्याख्या करते हैं—'स यथा' इत्यादि।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

प्रति॒ यत्स्या नीथाद॑र्शि॒ दस्यो॒रोको॒ नाच्छा॒ सद॑नं जान॒ती गा॑त्।
अध॑ स्मा नो मघवञ्चर्कृ॒तादिन्मा नो॑ म॒घेव॑ निष्ष॒पी परा॑ दाः॥

[ऋ० १-१०४-५]।

तूर्णाशम् उदकं भवति । तूर्णमश्नुते ।

तूर्णाशं न गिरेरधि [ऋ० ८-३२-४]

इत्यपि निगमो भवति । क्षुम्पम् अहिच्छत्रकं भवति । यत् क्षुभ्यते ॥१६॥

[१७]

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥

[ऋ० १-८४-८]

---

६० तूर्णाशम्—'तूर्णाश' जलका नाम है, क्योंकि वह शीघ्र फैल जानेवाला होता है । [उसका उदाहरण देते हैं—] जैसे [गिरेरधि अर्थात्] पर्वत अथवा मेघपरसे [तूर्णाशम् अर्थात्] जलको [बुलाते हैं इस प्रकार हे इन्द्र ! हम आपको बुलाते हैं] । यह भी निगम ['तूर्णाश' पदके प्रयोगको दिखलानेवाला] पाया जाता है ।

६१. 'क्षुम्प' अहिच्छत्रक [बरसातके दिनोंमें कुकुरमुत्ताके समान उगनेवाली छतरी] को कहते हैं, क्योंकि वह बहुत जल्दी हिल जाती है । [उसका उदाहरण देते हैं]—॥१६॥

[१७]

हे इन्द्र ! आप ['अराधसम्' अर्थात् आराधना न करनेवाले अर्थात्] नास्तिक जनोंको कब [पदा क्षुम्पं न] पैरसे अहिच्छत्रककी भाँति [स्फुरत्] कम्पित करेंगे और कब आप हमारी स्तुतिवाणियोंको सुनेंगे ।

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

प्रति श्रुताय वो धृषत् तूर्णाशं न गिरेरधि ।
हुवे सुशिप्रमूतये ॥ [ऋ० ८-३२-४]

यह मन्त्रका अर्थ हुआ । आगे यास्क उसकी व्याख्या करते हैं—'कदा' इत्यादि ।

कदा मर्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति । कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग । अङ्गेति क्षिप्रनाम । अञ्चितमेवाङ्कितं भवति ।

निचुम्पुणः सोमो निचान्तपृणो निचमनेन प्रीणाति ॥१७॥

[१८]

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये ।
अपां जग्मिर्निचुम्पुणः ॥ [ऋ० ८-९३-२२]

पत्नीवन्तः सुता इमेऽद्भिः सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये

आराधना न करनेवाले [नास्तिक] मनुष्यको पैरसे अहिच्छत्रककी भाँति आप कब कम्पित करेंगे । और हे इन्द्र ! कब आप [अङ्ग अर्थात्] जल्दीसे हमारी प्रार्थना [गिरः] को सुनेंगे । 'अंग' यह शीघ्रताका वाचक है । प्राप्त सरीखा-सा ही होनेसे ।

६२ निचुम्पुण—'निचुम्पुण' सोमको कहते हैं । क्योंकि [निचान्तपृणः अर्थात्] पान करनेसे प्रसन्नता प्रदान करनेवाला होता है । अथवा [निचमनेन प्रीणाति] पीनेसे आनन्द-दायक होता है, [इसलिए सोमको 'निचुम्पुणः' कहते हैं] ॥१७॥

[१८]

[पत्नीवन्तः अर्थात्] पान करने योग्य रससे युक्त [सुताः] निचोड़े हुए [इमे] ये सोम [उशन्तः कामयमाना इव] प्रसन्न हुएसे [वीतये इन्द्रके] पानके लिए [यन्ति] प्रवाहित हो रहे हैं । [निचुम्पुणः] यह सोमरस [अपां जग्मिः] जलमें मिश्रित हो जायगा [अर्थात् जल-मिश्रित सोमरसका पान किया जायगा] ।

[अद्भिः पत्नीवन्तः] जलोंके साथ पान करने योग्य [अथवा जलको सोमकी पत्नी कहा जा सकता है] निचोड़े हुए ये सोमरस [कामयमानाः] उत्सुक हुएसे पान करनेके लिये जा रहे हैं । और

यह मन्त्रका अर्थ हुआ । आगे यास्क अपनी शैलीसे उसकी व्याख्या करते हैं—'पत्नीवन्तः' इत्यादि ।

पानायापां गन्ता निचुम्पुणः। समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते, निचमनेन पूर्यते। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैर्दधतीति वा। अवभृथ निचुम्पुण [शु०यजुः ८-२७] इत्यपि निगमो भवति। निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च ॥१८॥

[१९]

पदिर्गन्तुर्भवति यत् पद्यते।

यह सोमरस पान करने [योग्य बनने] के लिए जलको प्राप्त होगा। समुद्रको भी 'निचम्पुण' कहा जाता है। क्योंकि [निचमनेन अर्थात्] जलके द्वारा भरा जाता है। 'अवमृथ' अर्थात्] यज्ञकी समाप्ति-पर किया जानेवाला विशेष स्नान भी 'निचम्पुण' कहलाता है। क्योंकि उसमें [यज्ञपात्र नीचैः क्वणन्ति] धीमा शब्द करते हैं। अथवा [प्रक्षालनादिके निमित्त] नीचे [जलके भीतर] रख दिये जाते हैं। [उसके उदाहरणरूपमें अगला वाक्यांश देते हैं जिसमें निचुम्पुण अवभृथके विशेषणरूपमें प्रयुक्त किया गया है] हे [निचुम्पुण अर्थात्] धीमा शब्द करनेवाले [अवभृथ अर्थात्] यज्ञकी समाप्तिपर किये जानेवाले स्नान! यह भी निगम [इस विषयमें उदाहरणरूप] पाया जाता है।

'निचुम्पुण' के समान 'निचुंकुण' यह [पद] भी [इसी अर्थमें] पाया जाता है।

[१९]

६३. पदिम्—'पदि'का अर्थ 'गमनशील' होता है। क्योंकि [गत्य-र्थक] 'पदि' धातुसे [पदि शब्द] बनता है। [उसका उदाहरण देते हैं]—

यह पूरा मन्त्र, जिसमेंसे यह उदाहरण लिया गया है, निम्नप्रकार है—

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।

अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि॥

[यजुः० ३-४०]

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वा यन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति।

सुगुर्भवति सुहिरण्यः स्वश्वो महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति यस्त्वा यन्तमन्नेन प्रातरागामिन्नतिथे! मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति। कुमारः मुक्षीजा—मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च।

हे प्रातः चलनेवाले [सोम]! जो कोई [पदिम्] गमशील आपको [अर्थात् सोमरसके प्रवाहित होते समय [मुक्षीजया अर्थात्] पाशसे [पदिमिव] गमनशील पक्षी आदिके समान [वसुना अर्थात्] हवि [रूप धन] से [त्वा उत्सिनाति] तुमको रोक लेता है, बाँध लेता है [अस्मै इन्द्रः] इसके लिए इन्द्र [सुगुरसत्] सुन्दर गौओं [को प्रदान करने] वाला हो जाता है। सुन्दर रत्नादि [हिरण्यवाला] और सुन्दर अश्वोंवाला हो जाता है। तथा [बृहद् वयः दधाति] प्रचुर अन्नादि प्रदान करता है।

[इन्द्र उसके लिए] सुन्दर गौओंवाले हो जाते हैं। सुन्दर रत्नादिवाले तथा सुन्दर अश्वोंवाले [हो जाते हैं] और इन्द्र इस [याज्ञिक] को प्रचुर अन्न प्रदान करते हैं। हे प्रातःकाल आनेवाले अतिथे! जो जो गमनशोल आपको, [मुक्षीजया अर्थात्] पाशसे जैसे [कुमार अर्थात्] बालक [पदिम् अर्थात्] पक्षीको बाँध लेता है इस प्रकार जो, आपको अन्नके द्वारा बाँध लेता है। 'मुक्षीजा' पद खोले जानेसे, बाँधे जानेसे और फैलाये जानेसे [अर्थात् 'मुच्' 'सि' तन्,' इन तीन धातुओंसे] बनता है।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ आगे यास्क अपनी शैलीसे उसकी व्याख्या करते हैं—'सुगुः' इत्यादि।

पादुः पद्यतेः ।

आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य
निर्णिजो न मुच्यते ॥ [ऋ० १०-२८-२४]

आविष्कुरुते भासमादित्यो गूहते बुसम् । बुसमित्युदकनाम ब्रवीतेः शब्दकर्मणः । भ्रंशतेर्वा । यद् वर्षन्पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते ॥१९॥

इति तृतीयः पादः।

६४. पादुः—'पादु' शब्द [गत्यर्थक] 'पदि' धातुसे बना है [इसलिए सदा गतिशील सूर्यके विशेषणरूपमें उसका प्रयोग होता है। जैसे—]

[स्वः अर्थात्] प्रकाशको प्रकट करता है। [बुसं अर्थात्] जलको [गूहते अर्थात्] विलीन कर देता है और [पादुः अर्थात्] गतिशील सूर्य [अस्य निर्णिजः अर्थात्] इस शोधनकार्यसे [न मुच्यते] कभी मुक्त नहीं होता है [सदैव इस कार्यको करता रहता है]।

आदित्य [स्वः अर्थात्] प्रकाशको आविष्कृत [प्रकट] करता है। जलको विलीन करता है। 'बुस' यह जलका नाम है। क्योंकि शब्दार्थक 'ब्रू' धातुसे बनता है। अथवा [पातनार्थक] भ्रंश धातुसे ['बुस' पद बनता है] क्योंकि बरसाते समय जलको आदित्य नीचे गिराता है। और फिर रश्मियोंके द्वारा उसको पुनः खींच लेता है [इसलिए 'भ्रंश' धातुसे भी 'बुसं' पदकी सिद्धि हो सकती है] ॥१९॥

इति तृतीयः पादः।

यह मन्त्रका अर्थ हुआ। आगे यास्क उसकी व्याख्या ... है—'आविष्कुरुते' इत्यादि।



मम

आ

से

श्रीमदानन

आन

वा

ज्ञानम

कवीरचैं